प्राकृतजैनशोध-संस्थान ग्रन्थमाला

संख्या—१३

प्रधान सम्पादक

डा० नागेन्द्र प्रसाद, एम० ए०, डी० लिट्०

निदेशक, प्राकृत, जैनशास्त्र एवं अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली

कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन

डा० प्रेम सुमन जैन

एम०ए० पालि, प्राकृत एवं जैनिज्म तथा प्राचीन भारतीय इतिहास एवं एशियायी
अध्ययन, पीएच० डी०, सहायक प्रोफेसर-प्राकृत, संस्कृत विभाग
उदयपुर विश्वविद्यालय (राजस्थान)

प्रकाशक

प्राकृत-जैन-शास्त्र एवं अहिंसा शोध-संस्थान
वैशाली, बिहार

१९७५

KUVALAYAMĀLĀKAHĀ KĀ SĀMSKṚTIKA ADHYAYANA

(A Cultural Study of the Kuvalayamālākahā)

BY

Dr. PREM SUMAN JAIN, M. A, Ph. D.

☐ Published in 1975

☐ Price : 24.00

☐ Published on behalf of the Research Institute of Prakrit, Jainology and Ahimsa, Vaishali, Bihar by Dr. Nagendra Prasad, M.A., D Litt., Director.

☐ Printed in India at the Tara Printing Works, Varanasi.

The Government of Bihar established the Research Institute of Prakrit Jainology and Ahimsa at Vaishali in 1955 with the object *inter alia* to promote advanced studies and research in Prakrit and Jainology and to Publish works of permanent value to scholars. This Institute is one of the six Research Institutes being run by the Government of Bihar. The other five are : (i) Mithila Institute of Post-graduate Studies and Research in Sanskrit Learning at Darbhanga ; (ii) Kashi Prasad Jayaswal Research Institute for research in ancient, medieval and modern Indian History at Patna ; (iii) Bihar Rastrabhasa Parishad for Research and advanced Studies in Hindi at Patna ; (iv) Nava Nalanda Mahavihar for Research and Postgraduate Studies in Buddhist Learning and Pali at Nalanda, and (v) Institute of Post-graduate Studies and Research in Arabic and Persian Learning at Patna.

As part of this programme of rehabilitating and reorientating ancient learning and scholarship this is the Research Volume No. 13 which is a study on Kuvalayamālākahā of Udyotanasūri by Dr. Prem Suman Jain. The Government of Bihar hope to continue to sponsor such projects and trust that this humble service to the world of scholarship and learning would bear fruit in the fulness of time.

प्रधान सम्पादकीय

प्राकृत भाषा में आगम एवं व्याख्या साहित्य के अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण कथा ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। उद्योतनसूरिकृत "कुवलयमालाकहा" प्राकृत कथा का अनुपम उदाहरण है। आठवीं शताब्दी के भारत के सांस्कृतिक जीवन का सम्पूर्ण चित्र इसमें उपलब्ध है। डा० ए० एन० उपाध्ये द्वारा प्रस्तुत "कुवलय-मालाकहा" के परिणामस्वरूप यह कृति विद्वत्-जगत् में पर्याप्त चर्चित है। इसके सांस्कृतिक अध्ययन की अपेक्षा थी। डा० प्रेमसुमन जैन, सहायक प्रोफेसर, प्राकृत, उदयपुर विश्वविद्यालय, ने कुवलयमाला का सांस्कृतिक विवेचन प्रस्तुत कर इस कमी को पूरा किया है। डा० जैन के इस ग्रन्थ से "कुवलयमालाकहा" के प्रायः सभी पक्ष उद्घाटित हुए हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ को डा० जैन ने सात अध्यायों में विभक्त किया है। इनमें कुवलयमाला का साहित्यिक स्वरूप, उसमें वर्णित भौगोलिक-विवरण, सामाजिक-जीवन, आर्थिक जीवन, शिक्षा, भाषा और साहित्य, ललित कलाएँ एवं शिल्प तथा धार्मिक जीवन सम्बन्धी तथ्यों का विवेचन व्यवस्थित और तुलनात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। लेखक का निष्कर्ष है कि उद्योतन सूरि ने सदाचार से अनुप्राणित समाज का चित्र इस कथा द्वारा उपस्थित करना चाहा है। व्यक्ति के विकास के वीज नैतिक मूल्यों में निहित रहते हैं, यह इस कथा और कथाकार की निष्पत्ति है।

प्राकृत के इस विशाल ग्रन्थ में डा० सुमन की गहरी पैठ है। तभी इतने सांस्कृतिक तथ्यों को कुवलयमाला से एकत्र कर सके हैं। इस ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि भारत का विदेशो से व्यापारिक सम्बन्ध था। जल एवं स्थल मार्गों द्वारा व्यापारी दूर-दूर की यात्रा करते थे। उन दिनो विजयपुरी एवं सोपारक प्रमुख मण्डियाँ थीं। समाज में विभिन्न आयोजन होते थे। अनेक जातियों का उस समय अस्तित्व था। भिन्न प्रकार के वस्त्र, अलंकार एवं वाद्यों का व्यवहार होता था। विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से डा० जैन ने इन-सब के रेखाचित्र भी ग्रन्थ के अन्त में दिये है।

कुवलयमाला में विभिन्न भाषाओं का प्रयोग हुआ है। अपभ्रंश के विविध प्रयोग इसमें उपलब्ध हैं। लेखक ने ऐसे महत्त्वपूर्ण शब्दों की सन्दर्भ सूची भी इस ग्रन्थ में प्रस्तुत की है। इससे न केवल मूल ग्रन्थ को समझने में सहायता मिलती है वरन् भारतीय भाषाओं के विकास-क्रम का ज्ञान भी प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में कुवलयमाला में वर्णित विभिन्न धार्मिक मत-मतान्तरों

का भी विवेचन किया गया है। इससे स्पष्ट है कि उस समय चिन्तन और धर्म के बीच सामञ्जस्य था।

आशा है कि डा० जैन का यह ग्रन्थ भारतीय भाषाओं के अध्येताओं तथा कला और इतिहास के मर्मज्ञों का भी ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करेगा।

जिस लगन एवं परिश्रम से पुस्तक को आकर्षक रूप में मुद्रित किया गया है उसके लिए तारा प्रिंटिंग वर्क्स वाराणसी के प्रबन्धकों को हम हृदय से धन्यवाद देते हैं।

नागेन्द्रप्रसाद
निदेशक

प्राथमिक

उद्योतनसूरि (७७९ ई०) कृत प्राकृत कुवलयमालाकहा लगभग ६० वर्ष पूर्व भारतीय विद्या के मनीषियों की जानकारी में आयी थी। उसके बाद से अनेक भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। यद्यपि स्व० डा० आदिनाथ नेमिनाथ, उपाध्ये द्वारा कुवलयमाला का समालोचनात्मक संस्करण १९५९ ई० में तथा प्रस्तावना आदि १९७० में प्रकाशित हुए तथापि इसके पूर्व ही अनेक विद्वानों ने कुछेक महत्त्वपूर्ण पक्षों पर निबन्ध लिख कर इस ग्रन्थ की महत्ता की ओर विशेष ध्यान आकृष्ट किया था। अब तक कुवलयमाला पर जो कार्य हुआ है उसकी एक पूरी सूची इस ग्रन्थ के अन्त में दी है।

कुवलयमालाकहा की सांस्कृतिक सामग्री का दिग्दर्शन स्व० डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने अपने 'ए कल्चरल नोट आन द कुवलयमाला,' जो डा० उपाध्ये द्वारा सम्पादित कुवलयमाला के द्वितीय भाग में छपा है, में किया था। इससे ग्रन्थ की सांस्कृतिक सामग्री की महत्ता और उपयोगिता का पता चलता है। भारत के सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से उस समग्र सामग्री का विस्तृत, तुलनात्मक और समालोचनात्मक विवेचन अत्यन्त आवश्यक था। पिछले लगभग १० वर्षों के अध्ययन-अनुसन्धान द्वारा तैयार किया गया प्रस्तुत ग्रन्थ इस आवश्यकता की पूर्ति करेगा।

भारतीय विद्या के मनीषी डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' 'हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन' आदि संस्कृत ग्रन्थों के सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत करके सर्व प्रथम विद्वानों के समक्ष सप्रमाण रूप से इस तथ्य को प्रस्तुत किया कि भारत के सांस्कृतिक इतिहास के निर्माण के लिए प्राचीन साहित्य में प्रचुर और अप्रतिम सामग्री उपलब्ध है। उनके बाद कई अन्य संस्कृत ग्रन्थों के सांस्कृतिक अध्ययन भी प्रकाश में आये है।

संस्कृत जैन साहित्य में सांस्कृतिक अध्ययन का प्रारम्भ डा० गोकुलचन्द्र जैन के सोमदेवसूरिकृत 'यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन' से होता है। इस प्रकार के अध्ययन के लिए यह एक आधारभूत ग्रन्थ है। प्राचीन भारतीय साहित्य के ग्रन्थ विशेष के सांस्कृतिक अध्ययन की परम्परा में कुवलयमाला का यह सांस्कृतिक विवेचन एक महत्त्वपूर्ण कडी के रूप में है। प्राकृत ग्रन्थ का यह पहला सांस्कृतिक अध्ययन है, जो भारतीय साहित्य, इतिहास व पुरातत्त्व के विभिन्न साक्ष्यों के प्ररिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया है।

महाकवि बाण के ग्रन्थ गुप्तकाल की भारतीय संस्कृति के उजागर दस्तावेज हैं। आचार्य सोमदेव का यशस्तिलक १०वी शताब्दी के भारत की

सांस्कृतिक चेतना को प्रतिबिम्बित करता है। उद्योतनसूरिकृत कुवलयमालाकहा बाण और सोमदेव की रचनाओं के समय के अन्तराल को अपनी साहित्यिक और सांस्कृतिक विशेषताओं से जोड़ती है। इस तरह महाकवि बाण, उद्योतनसूरि और सोमदेव के ग्रन्थों का सांस्कृतिक अध्ययन छठी से १०वीं शताब्दी तक के भारत के उस सांस्कृतिक स्वरूप को पूर्ण करता है, जो मात्र इतिहास व पुरातत्त्व के प्रमाणों से पूरा नहीं हो सकता था। इस तरह प्रत्येक शताब्दी की संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं की उन प्रतिनिधि रचनाओं का सांस्कृतिक अध्ययन आवश्यक है जिनमें देश के सांस्कृतिक इतिहास को पूर्णता मिलने की सम्भावनाएँ हैं।

उद्द्योतनसूरि की यह एकमात्र कृति उपलब्ध है। इसके अध्ययन से स्पष्ट है कि लेखक प्राचीन साहित्य, परम्परा, समकालीन संस्कृति तथा भाषाओं आदि से कितना अभिज्ञ था। उनके अगाध पांडित्य एवं बहुमुखी प्रतिभा का जीता-जागता प्रमाण है—कुवलयमालाकहा। इसके अध्ययन में प्रारम्भ से ही मैं सजग रहा हूँ कि प्रस्तुत कृति के मूल सन्दर्भों के आधार पर ही कोई बात कही जाय और लेखक के मन्तव्य को सही रूप में प्रगट किया जाय। स्व० डा० बुद्धप्रकाश, आदरणीय डा० रामचन्द्र द्विवेदी एवं पं० दलसुख भाई मालवणिया ने जिस परिश्रम और रुचि के साथ इस प्रबन्ध का अवलोकन किया है, उससे मेरे संकल्प और प्रस्तुतीकरण को बल मिला है। इस ग्रन्थ में कुव० के मूल सन्दर्भ उतने ही उद्धृत किये गये है, जितनों से बोझलता न बढ़े। अन्य सन्दर्भ प्रकाशित कुव० के पृष्ठ और पंक्ति को अंको द्वारा सूचित कर दिये गये हैं। ग्रन्थ में वर्णित वस्त्र, अलंकार, शस्त्र, वाद्य एवं शिल्प के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए रेखाचित्र भी अन्त में दिये गये हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ कुवलयमालाकहा के अध्ययन की पूर्णाहुति नहीं है। इस ग्रन्थ के साहित्यिक और भाषावैज्ञानिक पक्ष को लेकर दो स्वतन्त्र अध्ययन प्रस्तुत किये जाने चाहिये। मेरा संकल्प है कि कु० के हिन्दी अनुवाद के साथ ही उक्त पक्षों पर भी तुलनात्मक अध्ययन भविष्य में प्रस्तुत करूँ। बहुत-सी इस विषयक सामग्री संकलित होने पर भी इस ग्रन्थ के साथ विस्तार भय से नहीं दी जा सकी है, जिसका उपयोग 'कुवलयमालाकहा का साहित्यिक मूल्यांकन' प्रस्तुत करते समय किया जा सकेगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ में कुवलयमालाकहा में प्रयुक्त साहित्यिक स्वरूप, ऐतिहासिक सन्दर्भ, भौगोलिक विवरण, सामाजिक जीवन, आर्थिक व्यवस्था, शिक्षा, भाषा और साहित्य, ललित कलाएँ एवं विज्ञान तथा धार्मिक जीवन के विविध पहलुओं को विवेचित किया गया है। विषयानुक्रमणिका से इस कृति की विषयवस्तु स्पष्ट हो जाती है। कुवलयमाला का यह प्रस्तुतीकरण आदि से अन्त तक मेरे अग्रज डा० गोकुलचन्द्र जैन, प्राच्यविद्या संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की

विद्वत्तापूर्ण दृष्टि से अनुप्राणित रहा है। उनके प्रति कृतज्ञता शब्दों से परे है।

प्राचीन भारतीय संस्कृत के विभिन्न क्षेत्रों में कुवलयमालाकहा के अध्ययन के आधार पर प्रस्तुत ग्रन्थ का जो योगदान है वह इसके उपसंहार में प्रतिपादित है। इस अध्ययन द्वारा यह पहली बार ज्ञात होता है कि साहित्य की सदाचार-परक दृष्टि का कैसे उपयोग किया गया है। आठवीं सदी तक समाज आर्य और अनार्य संस्कृति में विभक्त था। वाणिज्य-व्यापार की उन्नति के कारण भारत के वैदेशिक सम्बन्ध बढ़ रहे थे। पथ-पद्धति का विकास हो रहा था। धातुवाद जैसी रासायनिक प्रक्रिया धनोपार्जन के लिए प्रयुक्त होती थी। विभिन्न भाषाओं के इतने उदाहरण प्रस्तुत करने वाली कृति एकमात्र कुवलयमाला है। ललित कलाओं और शिल्प के क्षेत्र में चित्रकला का इतना सूक्ष्म दिग्दर्शन कराना उद्योतन की कला-प्रियता का द्योतक है। धार्मिक मत-मतान्तरों की इतनी भीड़ में मिल-बैठ कर चिन्तन-मनन करने का प्रसंग तत्कालीन समाज में स्वतन्त्र-चिन्तन और उसकी अभिव्यक्ति की मुक्तता का परिचायक है। अतः प्रस्तुत अध्ययन भारतीय संस्कृति के विभिन्न आयाम उद्घाटित करने में उपादेय होगा, ऐसी आशा है।

मेरा यह सौभाग्य रहा है कि भारतीय विद्या और संस्कृत के उत्कृष्ट मनीषियों द्वारा प्रकाशन के पूर्व इस पुस्तक का अवलोकन होता रहा है। इससे यह कृति यथा-सम्भव परिष्कृत रूप में प्रकाशित हो सकी है।

कुवलयमाला के इस गुरुतर कार्य को पूर्णता गुरुजनों की असीम कृपा और विद्वान् मित्रों एवं स्नेही स्वजनों के सहयोग से ही मिली है। उन सबका कृतज्ञ हूँ। ग्रन्थ में जिन प्राचीन और नवीन कृतियों का उपयोग किया गया है उन सभी के लेखकों का आभारी हूँ। पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर, वीर सेवा मन्दिर दिल्ली, भारतीय पुरातत्त्व विभाग, दिल्ली, प्राकृत शोध संस्थान, वैशाली एवं उदयपुर विश्वविद्यालय के समृद्ध पुस्तकालयों के प्रबन्धकों का भी आभारी हूँ, जिन्होंने यथासमय उनका उपयोग करने में मुझे सहयोग प्रदान किया है।

पुस्तक के यथाशीघ्र प्रकाशन के लिए बिहार शासन द्वारा संचालित प्राकृत शोध संस्थान, वैशाली के भूतपूर्व निदेशक स्व० डा० गुलाबचन्द्र चौधरी एवं वर्तमान निदेशक डा० नागेन्द्रप्रसाद जी का मैं हृदय से आभार मानता हूँ। मुद्रण कार्य के लिए तारा प्रिन्टिंग वर्क्स वाराणसी के प्रबन्धक बन्धुओं का धन्यवाद है।

हियय पउम्मि सा मे हिरि-देवी होउ संणिहिया

४, रवीन्द्र नगर, उदयपुर
३ नवम्बर, १९७५

प्रेम सुमन जैन

विषयानुक्रमणिका

सन्दर्भग्रन्थ-संकेत

अ० को० : अमरकोश
अ० शा० : अर्थशास्त्र
आ० चू० : आचारांगचूर्णी, जिनदासगणि रतलाम
आ० नि० : आवश्यक निर्युक्ति, भद्रबाहु
का० मी० : काव्यमीमांसा
का०—रा० : कल्हण-राजतरंगिणी
नि० चू० : निशीथ-चूर्णि, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
म० भा० : महाभारत
मनु० : मनुस्मृति
मेघ० : मेघदूत
पा० स० : पाइयसद्दमहण्णवो
सो० यश० : सोमदेव-यशस्तिलकचम्पू
सं० र० : संगीत रत्नाकर
ह०—स० क० : हरिभद्र — समराइच्चकहा
अ०—का० सा०अ० : अग्रवाल, कादम्बरी—एक सांस्कृतिक अध्ययन
अ०—पा० भा० अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष
अ०—ह० अ० : अग्रवाल, हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन
अ०—ए० टा० : अल्तेकर, एंशियण्ट टाउन्स एण्ड सिटीज इन गुजरात एण्ड काठियावाड़
अ०—प्रा०भौ० स्व० : अवस्थी, प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप
उ० कुव० इ० : उपाध्ये, कुवलयमाला (द्वितीय भाग), इन्ट्रोडक्शन
उ०—बु० भू० : उपाध्याय, बी० एस०, बुद्धकालीन भारती भूगोल
उ०—पू०भा०इ० उपाध्याय, पूर्व मध्यकालीन भारतीय इतिहास
उ०—प्रा० सां०भू० : उपाध्याय, प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका
क०—ए० ज्यो० : कनिंघम, एन्शियण्ट ज्योग्राफी आफ इण्डिया।
ज०—ला० जै०कै० : जगदीशचन्द्र, लाइफ इन एन्शियण्ट इण्डिया एज डिपिक्टेड इन जैन केनन्स
ब०—जै० भा०स० : जगदीशचन्द्र, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज
जाम०—कु०क०स्ट० : जामखेडकर : कुवलयमाला—ए कल्चरल स्टडी
जै०—भा० सं० यो० : जैन, हीरालाल, भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान
जै०—यश०सां०अ० : जैन, जी० सी०, यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन
डे०—ज्यो० डिक्श० : डे०, एन० एल०, ज्योग्राफिकल डिक्शनरी आफ एन्शियण्ट एण्ड मिडिएवल इण्डिया

बा०—कौ० नि०	: बागची, पी० सी०, कौल-निर्णय
बु०—इ० व०	: बुद्धप्रकाश, इण्डिया एण्ड वर्ल्ड
बु०—पो० सो० पं०	: बुद्धप्रकाश, पोलिटिकल एण्ड सोशल मूवमेन्ट इन एन्शियण्ट पंजाब
बु०—स्ट० इ० सि०	: बुद्धप्रकाश, स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन
बु०—ट्रे० क० म०	: बुलेटिन आफ द इन्स्टीट्यूट आफ ट्रेडीशिनल कल्चर, मद्रास
भ०—वै० शै० म०	: भण्डारकर, वैष्णव, शैव एवं अन्य धार्मिक मत
म०—ए० इ०	: मजूमदार, एंशियण्ट इण्डिया
मो०—सा०	: मोतीचन्द्र, सार्थवाह
मो०—प्रा० भा० वे०	: मोतीचन्द्र, प्राचीन भारतीय वेशभूषा
रा०—प्रा० न०	: राय, प्राचीन भारत में नगर एवं नगर-जीवन
ल०—इ० ला० इ०	: लल्लन जी, द इकानामिक लाइफ इन नार्दन इण्डिया
ला०—हि० ज्यो०इ०	: ला, बी० सी०, हिस्टोरिकल ज्योग्राफी आफ एन्शियण्ट इण्डिया
श०—रा० ए०	: शर्मा, दशरथ, राजस्थान थ्रू द एजेज
शा०—आ० भा०	: शास्त्री, एन० सी०, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत
शा०—ह० प्रा० प०	: " " हरिभद्र के प्राकृत कथा-साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन
शु०—भा० स्था०	: शुक्ला, भारतीय स्थापत्य, लखनऊ
स०—स्ट० ज्यो०	: सरकार, स्टडीज इन द ज्योग्राफी आफ एंशिएण्ट एण्ड मिडिएवल इण्डिया
हु—य० इ० क०	: हुन्दिकी, यशस्तिलक एण्ड इंडियन कल्चर
B. AIHC	: Buddha Prakash, Aspects of Indian History and Civilization.
B. IAW	: Buddha Prakash, Indian and the World.
B. PSMP	: ,, Political and Social Movement in Ancient Panjab.
S. RTA	: Sharma, Dashrath, Rajasthan Through the Ages.

अध्याय एक

उद्द्योतनसूरि और उनकी कुवलयमालाकहा

परिच्छेद एक

ग्रन्थकार और ग्रन्थ

उद्द्योतनसूरि का परिचय एवं पाण्डित्य

प्राचीन भारतीय साहित्य के लेखकों ने अपने विषय में प्राय: बहुत कम सूचनायें प्रदान की हैं। किन्तु कुवलयमालाकहा के लेखक श्री उद्द्योतनसूरि ने ग्रन्थ के अन्त में प्रशस्ति में अपनी कुल-परम्परा और गुरु-परम्परा का स्पष्ट परिचय दिया है। ग्रन्थ का रचनास्थल एवं समय भी निर्दिष्ट किया है।[1] इस प्रामाणिक विवरण से ग्रन्थकार एवं ग्रन्थ के विषय में असंदिग्ध सूचनाएँ मिलती हैं। साथ ही उस काल की महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक सामग्री पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

आचार्य उद्द्योतनसूरि भारतीय वाङ्मय के बहुश्रुत विद्वान् थे। उनकी एकमात्र कृति कुवलयमालाकहा उनके पाण्डित्य एवं सर्वतोमुखी प्रतिभा का पर्याप्त निकष है। उन्होंने न केवल सिद्धान्तग्रन्थों का गहन अध्ययन और मनन किया था, अपितु भारतीय साहित्य की परम्परा और विद्याओं के भी वे ज्ञाता थे। अनेक प्राचीन कवियों की अमर कृतियों का अवगाहन करने के अतिरिक्त लौकिक कलाओं और विश्वासो के भी वे जानकार थे। अत: सिद्धान्त, साहित्य और लोक-संस्कृति के सुन्दर सामञ्जस्य का प्रतिफल है उनकी कुवलय-मालाकहा।

ग्रन्थान्त की प्रशस्ति में उद्द्योतनसूरि ने लिखा है कि महाद्वार नगर में प्रसिद्ध क्षत्रिय राजा उद्द्योतन निवास करता था। उसके पुत्र का नाम सम्प्रति था, किन्तु वह वटेश्वर नाम से अधिक प्रसिद्ध था। इसी वटेश्वर के पुत्र कुव० के रचनाकर उद्द्योतनसूरि थे। आगे की वंश परम्परा का लेखक ने

---

१. सग-काले वोलीणे वरिसाण सएहिं सत्तहिं गएहिं।
एग-दिणेणूणेहिं रइया अवरण्ह-वेलाए॥ आदि, कुव० २८३.६

कोई संकेत नहीं दिया है। उन्होंने अपने को चन्द्रकुल का सदस्य कहा है, जो उनके धार्मिक गच्छ का नाम है।[1]

उद्द्योतनसूरि ने अपनी कुलपरम्परा की अपेक्षा गुरुपरम्परा का विस्तृत वर्णन किया है। उत्तरापथ में चन्द्रभागा नदी के किनारे पर्वतिका नाम की प्रसिद्ध नगरी में तोरमाण राजा राज्य करता था। उसके धार्मिक गुरु आचार्य हरिगुप्त थे, जो सम्भवतः गुप्तवंश से सम्बन्धित थे। हरिगुप्त का प्रमुख शिष्य देवगुप्त था, जो महाकवि था तथा अनेक कलाओं का मर्मज्ञ भी। देवगुप्त के शिष्य शिवचन्द्रगणिन् थे, जो मंदिरों की वन्दना करने के लिए इधर-उधर घूमते रहते थे। वे एक बार भिन्नमाल में आकर ठहर गये। शिवचन्द्रगणि के शिष्य क्षमा-श्रमण यक्षदत्त थे, जो बहुत प्रसिद्ध थे। यक्षदत्त के अनेक शिष्य थे, जो गुजरात में भ्रमण करते थे। उनमें निम्न छह शिष्य षड्मुख की भांति प्रसिद्ध थे—नाग, बृन्द, मम्मट, दुर्ग, अग्निशर्मा एवं वटेश्वर। वटेश्वर ने आकाशवप्र (आगासवप्प) नगर में सुन्दर जिनमंदिर बनवाया था। वटेश्वर के शिष्य तत्वाचार्य थे, जो अपने ज्ञान एवं आचरण के लिए प्रसिद्ध थे। उनके शिष्य उद्द्योतनसूरि थे, जिन्होंने ह्री देवी का ध्यान कर कुवलयमालाकहा की रचना की है तथा जिनका उपनाम दाक्षिण्य-चिह्न भी है। इस प्रकार उद्द्योतनसूरि की गुरुपरम्परा ज्ञान एवं आचरण से युक्त एक विशुद्ध परम्परा थी।

उद्द्योतनसूरि की शैक्षणिक गुरुपरम्परा में दो नाम उल्लिखित हैं। सिद्धान्त-ग्रन्थों का अध्ययन उद्द्योतनसूरि ने आचार्य वीरभद्र से किया, जो कल्पवृक्ष की भाँति सभी प्रश्नों को समाहित करने की क्षमता रखते थे। तथा लेखक के प्रमाण और न्याय (युक्तिशास्त्र) के गुरु आचार्य हरिभद्रसूरि थे, जिन्होंने समराइच्चकहा आदि अनेक ग्रन्थ लिखे हैं।

उद्द्योतनसूरि के व्यक्तित्व में वे सभी गुण विद्यमान हैं, जो एक निष्ठावान् लेखक में होने चाहिए। कुव० के अध्ययन से स्पष्ट है कि उद्द्योतनसूरि एक आदर्श मनोवैज्ञानिक शिक्षक थे। वे समाज में व्याप्त अनैतिकता को मानव की मूल वृत्तियों के परिष्कार द्वारा तिरोहित करना चाहते थे, दमन द्वारा नहीं। कथा के किसी भी पात्र को उन्होने जबरन नहीं गढ़ा, वल्कि उसे स्वतन्त्र रूप से विकसित होने दिया है।

उद्द्योतनसूरि ने कुवलयमाला में अपनी विनयशीलता व्यक्त की है तथा सम्भावित भूलों की ओर भी संकेत किया है, इससे उनकी काव्यप्रतिभा और उभरकर सामने आयी है। नगर, ऋतु, प्राकृतिक दृश्यों आदि के वर्णन जितने काव्यात्मक हैं, उतने ही लुभावने। कथा के वातावरण एवं सन्दर्भ के अनुकूल भी। लेखक प्राकृत भाषा के प्रयोग में सिद्धहस्त है। पात्रों की सामाजिक एवं व्यक्तिगत योग्यता के अनुरूप ही उनके कथनोपकथन निर्मित किये

१. देसाई, एम० डी० जैन साहित्यनो इतिहास, बम्बई, १९३३, पृ० १९२

गये हैं। एक ही ग्रन्थ में प्राकृत के विविध रूपों एवं संस्कृत, अपभ्रंश, पैशाची और देशी भाषाओं के शब्दों का बहुविध प्रयोग उद्द्योतनसूरि की भाषागत सजगता का प्रतीक है।

धार्मिक व्याख्याता के रूप में उद्द्योतनसूरि को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। कुडुंगद्वीप, जुगसमिला-दृष्टान्त, प्रियंकर एवं सुन्दरी की कथा, रणुन्दुर आदि के दृष्टान्त धार्मिक वर्णनों में जान डाल देते हैं। धर्मकथा होते हुए भी कुव० की साहित्यिकता बाधित नहीं हुई है।

उद्द्योतनसूरि की विद्वत्ता अगाध थी। विभिन्न दर्शनों का उन्हें ज्ञान था। अश्वशास्त्र, राशिफल, लग्नशास्त्र, खन्यवाद, समुद्रशास्त्र, धातुवाद आदि अनेक विद्याओं के वे ज्ञाता एवं अनेक कलाओं के मर्मज्ञ थे। एक धार्मिक सन्त होते हुए लौकिक कलाओं में मर्मज्ञता उनके गहन अध्ययन और मनन की ही द्योतक है। उद्द्योतनसूरि के अगाध पाण्डित्य का परिचय डा० ए० एन० उपाध्ये ने निम्न शब्दों में दिया है—

"Uddyotana is primarily a religious moralist, out to teach lessons in good behaviour. He is endowed with deep learning, wide experience of men and matters, mastery over catching expression and entertaining style and earnestness of purpose. As such, he deserves to be ranked, as the author of the Kuvalayamālā, with the great classical writers of our country. ....Uddyotana is deep in his learning, cosmopolitan in outlook and broadbased in his information. His exposition of Jaina dogmatics and religious doctrines shows his thorough study of Jaina scriptures."—Kuv. Int. P. 111, 112.

उद्द्योतनसूरि की साहित्यिक प्रतिभा एवं अपने समय की सांस्कृतिक चेतना के प्रति उनकी सूक्ष्म दृष्टि के सम्बन्ध में यहाँ कुछ अलग से कहना ठीक नहीं लगता। प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रत्येक अध्याय में उनके व्यक्तित्व के विभिन्न आयाम उद्घाटित हुए हैं। ग्रन्थकार की उपलब्ध एकमात्र यह रचना उनकी बहुश्रुतता को पूर्णरूपेण उजागर करती है।

कुवलयमालाकहा का समय एवं रचना-स्थल

कुवलयमालाकहा की रचना का समय सुनिश्चित है। ग्रन्थान्त प्रशस्ति में उद्द्योतनसूरि ने कहा है—

सग-काले वोलीणे वरिसाण सएहिं सत्तहिं गएहिं।
एग-दिणेणूणेहिं रइया अवरण्ह-वेलाए॥ २८३.६

तत्थ ठिएणं अह चोद्दसीए चेत्तस्स कण्ह-पक्खम्मि ।
णिम्मविया बोहिकरी भव्वाणं होउ सव्वाणं ।। २८२.२३

'जब शक सम्वत् ७०० पूर्ण होने में एक दिन शेष था तब चैत्रवदी १४ के दिन अपराह्न काल में कुव० की रचना पूर्ण की, जो सभी भव्य लोगों को प्रतिबोध प्रदान करे। तत्कालीन लेखकों द्वारा प्रायः शक सम्वत् का उल्लेख किया जाता था। जिनसेन ने शक सम्वत् ७०५ एवं हरिषेण ने शक सम्वत् ८५३ का अपने ग्रन्थों में उल्लेख किया है। कुवलयमाला के शक सम्वत् के सम्बन्ध में डा० हर्मन जैकोबी ने विस्तार से प्रकाश डाला है। उनकी गणना के अनुसार कुव० की रचना २१ मार्च ७७९ ई० को लगभग एक बजे अपराह्न में पूर्ण हुई थी। यद्यपि जैकोबी ने अध्ययन पूर्वक यह गणना की है, किन्तु फिर भी कुछ विद्वानों ने इसमें शंका की है, जो० डा० ए० एन० उपाध्ये के अनुसार निराधार है।[1]

कुव० के रचना-स्थल के सम्बन्ध में भी उद्द्योतनसूरि ने स्पष्ट उल्लेख किया है। उद्द्योतनसूरि आचार्य वीरभद्र के साक्षात् शिष्य थे। आचार्य वीरभद्र जावालिपुर (जालौर) में निवास करते थे, जहाँ के राजा का नाम श्री वत्सराज रणहस्तिन् था। वीरभद्र आचार्य ने जावालिपुर में ऋषभ जिनेश्वर का एक भव्य ऊँचा मंदिर बनवाया था। इसी मंदिर के उपासरे में बैठकर उद्द्योतनसूरि ने कुवलयमालाकहा की रचना की थी।[2]

कुवलयमाला में उल्लिखित यह जावालिपुर आधुनिक जालौर है, जो जोधपुर नगर से ७५ मील दूर सुकरी नदी के बायें किनारे पर स्थित है। जालौर वर्तमान में भिल्लमाल से ३३ किलोमीटर दूर भिलदी-रनिवार-समदरी रेल्वे-लाइन का स्टेशन है। उद्द्योतनसूरि ने जावालिपुर को तुंग अलंघ अष्टापदम् व श्रावककुलम् विशेषण से युक्त कहा है। वर्तमान में जालौर नगर सोवनगिरि या सोनगिरि पहाड़ी की तलहटी में बसा है, जो प्राचीन अनुश्रुति के अनुकूल है। लगभग दो हजार जैन वहाँ बसते हैं एवं एक दर्जन जैन मंदिर हैं, जिनमें चार मंदिर प्रसिद्ध हैं। इससे जालौर जैनधर्म का केन्द्र था, इस बात की पुष्टि होती है।

---

१. Even though H. Jacobi had worked out the details about this date, some have expressed doubt about its correctness, of course, without offering any evidence to substantiate their view.
—Kuv. Int. p. 108 (Note).

२. जावालिउरं अट्ठावयं व अह अत्थि पुहईए ।
तुंगम-जिणिदायणं कराविय वीरभद्देण ।।
तत्थ ठिएणं अह—णिम्मविया बोहिकरी——। —कुव० २८२.२१, २३.

जिस ऋषभदेव के मंदिर में उद्द्योतनसूरि ने कुव० की रचना की थी, उसकी पहिचान आधुनिक मंदिरों से नहीं की जा सकी है।[1] डा० ए० एन० उपाध्ये ने स्वयं जालौर का भ्रमणकर उसके लिए प्रयत्न किया था तथा जालौर का ऐतिहासिक विवरण भी आपने प्रस्तुत किया है।

उद्द्योतनसूरि द्वारा उल्लिखित रणहस्तिन् श्री वत्सराज का सन्दर्भ पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। यह वत्सराज प्रसिद्ध गुर्जर प्रतिहार राजा था, जिसका उस समय भिल्लमाल में शासन था और जालौर उसके राज्य में सम्मिलित था। वत्सराज के सम्बन्ध में डा० दशरथ शर्मा और डा० बैजनाथ पुरी ने[2] जो प्रकाश डाला है, उससे कुवलयमालाकहा का उपर्युक्त समय और रचनास्थल प्रमाणित होता है।

●

---

१. None of these can be definitely proposed for identification with the temple of Ṛṣabha, which was got built by Vīrabhadra and referred to in the Kuvalayamālā.

—Kuv. Int. p. 103.

२. Puri, B. N., 'The History of the Gurjara-Pratiharas' Bombay, 1957.

परिच्छेद दो

कुवलयमालाकहा का साहित्यिक स्वरूप

कथा के भेद-प्रभेद

उद्द्योतनसूरि ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में कथाभेद की गणना करते हुए कुवलयमाला को संकीर्णकथा कहा है। कथा के पाँच भेद हैं—सकलकथा, खंडकथा, उल्लापकथा, परिहासकथा एवं संकीर्णकथा।[1] जिसके अन्त में समस्त फलों—अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति हो जाय, ऐसी घटना का वर्णन सकलकथा में होता है।[2] खंडकथा की कथावस्तु बहुत छोटी होती है, जैसे इन्दुमतीकथा। प्राकृत कथा साहित्य की यह वह विधा है, जिसमें मध्यस्थान में मार्मिकता रहती है। उल्लापकथा एक प्रकार की साहसिक कथा है, जिसमें समुद्रयात्रा या साहसपूर्वक किये गये प्रेम का निरूपण रहता है। परिहासकथा हास्य-व्यंगात्मककथा है। इसमें कथा के अन्य तत्त्व कम पाये जाते हैं।

संकीर्णकथा—संकीर्णकथा या मिश्रकथा की प्रशंसा सभी प्राकृत कथाकारों ने की है। उद्द्योतनसूरि ने इसके स्वरूप के सम्बन्ध में न केवल प्रकाश डाला है, अपितु कुवलयमालाकहा को सङ्कीर्णकथा में लिखकर उसका उदाहरण भी प्रस्तुत किया है। दशवैकालिक निर्युक्ति में सङ्कीर्णकथा को मिश्रकथा कहा गया है। जिस कथा में धर्म और काम इन तीन पुरुषार्थों का निरूपण किया जाता है वह मिश्रकथा कहलाती है।[3] आचार्य हरिभद्र ने इस परिभाषा को मानते हुए

---

१. ताओ पुण पंच कहाओ। तं जहा। सयलकहा, खंडकहा, उल्लावकहा, परिहास-कहा तह—संकिण्ण-कह त्ति णायव्वा—कुव० ४.५

२. समस्तफलान्तेति वृत्तवर्णना समरादित्यादिवत् सकलकथा, काव्यानुशासन हेमचन्द्र, अ० ५, सूत्र ९-१०, पृ० ४६५

३. धम्मो अत्थो कामो उवइस्सइ जत्त सुत्त कव्वेसुं
लोगे वेए समये सा उ कहा मीसिया णाम ॥
दशवैकालिकनिर्युक्ति गा० २०६, पृ० २२७

यह भी आवश्यक माना है कि संकीर्णकथा में कथासूत्रों में तारतम्य होना चाहिये। समराइच्चकहा धर्मकथा होते हुए भी संकीर्णकथा का उदाहरण है। उद्द्योतनसूरि ने संकीर्णकथा की प्रशंसा करते हुए कहा है कि सभी कथागुणों से युक्त, श्रृङ्गारयुक्त किसी गुणवती युवती के सदृश मनोहर संकीर्णकथा को जानना चाहिए।[1] महाकवि बाण ने भी मनोहर कथा की तुलना एक नववधू से की है, जो कथा रसिक जनों के हृदय में अनुराग उत्पन्न करती है।[2] संकीर्णकथा का प्रयोग गुणपाल ने अपने जम्बुचरियं में भी किया है। इन ग्रन्थों के विषय एवं स्वरूप को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि संकीर्णकथाओं के प्रधान विषय राजाओं या वीरों के शौर्य, प्रेम, न्याय, ज्ञान, शील, वैराग्य, समुद्री-यात्राओं के साहस, आकाश तथा अन्य अगम्य पर्वतीय प्रदेशों के प्राणियों के अस्तित्व, स्वर्ग-नरक के विस्तृत वर्णन, क्रोध-मान-माया-लोभ-मोह आदि के दुष्परिणाम एवं इन विकारों का मनोवैज्ञानिक चित्रण आदि है।[3] यही कारण है, प्राकृत की अनेक कथाएँ धर्मकथा होते हुए भी उनमें कामप्रवृत्ति आदि का चित्रण होने से संकीर्ण-कथाएँ कही गयी हैं—ता एसा धम्मकहा वि होउण कामत्थ संभवे संकिण्णत्तणं पत्ता—(कुव० ४.१६)।

उद्द्योतनसूरि ने संकीर्णकथा के तीन भेद माने हैं—धर्मकथा, अर्थकथा एवं कामकथा। जबकि दशवैकालिक में चारों को कथा का भेद माना है। मानव की आर्थिक समस्याओं और उनके विभिन्न प्रकार के समाधानों को कथाओं, आख्यानों, दृष्टान्तों के द्वारा व्यक्त या अनुमित करना अर्थकथा है।[4] राजनैतिक कथाएँ भी इसके अन्तर्गत आती हैं। कामकथाओं में केवल रूप-सौन्दर्य का वर्णन ही नहीं होता अपितु यौन-सम्बन्धों की समस्याओं का भी विश्लेषण होता है। समाज के परिशोधन में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान होता है।

धर्मकथा—प्राकृतकथाओं में धर्मकथा का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। उद्द्योतनसूरि ने जीवों के नाना प्रकार के परिणाम, भाव-विभाव का निरूपण करने वाली कथा को धर्मकथा कहा है।[5] वास्तव में धर्मकथाओं मे धर्म, शील, संयम, तप, पुण्य और पाप के रहस्य के सूक्ष्म विवेचन के साथ मानव-जीवन और

---

१. सव्व-कहा-गुण-जुत्ता सिंगार-मणोहरा सुरइयंगी।
सव्व-कलागम-सुहया संकिण्ण-कह त्ति णायव्वा॥

कुव० ४.१३

२. स्फुरत्कलालापविलासकोमला करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम्।
रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता कथा जनस्याभिनवा वधूरिव॥

काद० पूर्व० ८.

३. शा०-हू० प्रा० प० पृ० ११३

४. याकोबी, समराइच्चकहा—पृ० २

५. सा उण धम्मकहा णाणा-विह-जीव-परिणाम-भाव-विभावणत्थं. ४.२१

प्रकृति की सम्पूर्ण विभूति के उज्ज्वल, सुन्दर चित्र पाये जाते हैं। इन कथाओं की यह विशेषता होती है कि ये पाठक को धार्मिक वर्णनों से ऊबने नहीं देतीं।

धर्मकथा के चार भेद पाये जाते हैं—आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेगिनी और निर्वेदिनी धर्मकथा। आक्षेपिणीकथा को आजकल की प्रधान कहानी माना जा सकता है। यह पाठक के मन के अनुकूल होती है—**अक्खेवणी मणोणुकूला**। विक्षेपिणीकथा में प्रतिपाद्य लक्ष्य के प्रतिकूल वस्तुओं के दोष प्रगट किये जाते हैं, अतः यह प्रारम्भ में मन के प्रतिकूल होती है—**विक्खेवणी मणो-पडिकूला**। संवेगिनीकथा श्रृंगार या वीररस से प्रारम्भ होकर वैराग्य के रूप में समाप्त होती है। जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण देना और मानवीय अनुभूतियों को जगाना इन कथाओं का लक्ष्य है। निर्वेदिनीकथा पापाचरण से निवृत्त कराने के लिए कही या लिखी जाती है। इसमें धर्मकथा के सभी रूप पाये जाते हैं। उद्द्योतन-सूरि ने इस प्रकार की चतुर्विध धर्मकथा के रूप में कुव० को लिखा है—**अम्हेहिं वि एरिसा चउव्विहा धम्म-कहा-समाढत्ता**—(५.११)।

उद्द्योतन द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त कथाओं के भेद-प्रभेद इस प्रकार हैं[1]—

चम्पूकाव्यत्व

कुवलयमालाकहा को चम्पूकाव्य कहा गया है—**प्राकृतभाषा निबद्धा चम्पू-स्वरूपा महाकथा**।[2] क्योंकि प्राकृत साहित्य के इतिहास में कुवलयमालाकहा अपने निजी स्वरूप के कारण प्राकृत साहित्य की सभी विधाओं से भिन्न है। यद्यपि उद्द्योतनसूरि ने इसे संकीर्णकथा कहा है, किन्तु गद्य-पद्य का इसमें मिश्रण आदि होने से यह शुद्ध कथाग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। इसमें चरित-

१. प्राकृत कथाओं के भेद-प्रभेदों के लिए द्रष्टव्य—
(१) हेमचन्द्र का काव्यानुशासन (२) लीलावईकहा, डा० उपाध्ये, का इण्ट्रोडक्शन एवं (३) बृहत्कथाकोष का इण्ट्रोडक्शन, पृ० ३५

२. प्राकृत कुवलयमालाकहा के प्रकाशित मुख पृष्ठ पर उल्लिखित

ग्रन्थ के भी लक्षण नहीं मिलते। अतः इसके विशिष्ट स्वरूप के कारण विद्वानों ने इसे चम्पूग्रन्थ स्वीकार किया है।

डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने कुवलयमालाकहा में चम्पूकाव्य के निम्नांकित लक्षणों की ओर संकेत किया है[1]—

१. विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का चित्रण प्रायः पद्यों में ही किया गया है।

२. दृश्यों और वस्तुओं के चित्रण में प्रायः गद्य का प्रयोग किया गया।

३. गद्य और पद्य कथानक के सुश्लिष्ट अवयव हैं। दोनों में किसी एक के एकाध अंश के निकाल देने पर कथानक में यत्र-तत्र विश्रृङ्खलता आ जाती है। अतः इसमें संश्लिष्ट रूप से गद्य-पद्य का सद्भाव पाया जाता है।

४. शैली की दृष्टि से कवि ने चम्पूविधा का अनुकरण किया है। इसमें दृश्य और भावों के चित्रण में शैलीगत भिन्नता है।

५. वस्तु-विन्यास में प्रबन्धात्मकता आद्योपान्त व्याप्त है। काव्य के परिवेश में ही घटनावलि को प्रस्तुत किया गया हैं।

६. धर्मतत्त्व के रहने पर भी काव्य की आत्मा दबी नहीं है। कवि ने काव्यत्व का पूर्ण निर्वाह किया है।

७. चरित, आख्यान, पात्रों की चेष्टाएँ, नायक और नायिका के क्रिया-कलाप आलंकारिक रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

८. अन्योक्तियों द्वारा चरित्रों की व्यंजना की गई है।

उपर्युक्त जिन विशेषताओं का उल्लेख डा० शास्त्री ने किया है वे काव्य, कथा, चम्पू आदि सभी साहित्यिक विधाओं में समान हैं। गद्य और पद्य दोनों में वर्णन होना—यही एक ऐसी विशेषता है जिसके आधार पर कुव० को चम्पू कहा जा सकता है। अन्यथा चम्पूकाव्य के अन्य लक्षण इसमें प्राप्त नहीं होते। जैसे—कथावस्तु का आश्वासों में विभाजन, दृश्य और भाव चित्रण की शैलीगत भिन्नता आदि।

कुवलयमालाकहा को चम्पूकाव्य कहने पर एक प्रश्न यह उठता है कि संस्कृत में जो विपुल नीति-कथा साहित्य है वह भी गद्य-पद्यमय है। फिर क्या इसी आधार पर उसे चम्पूकाव्य कहना उचित होगा? मेरा तो अभिमत है कि कुवलयमालाकहा को ग्रन्थकार के अनुसार कथा कहना ही उपयुक्त होगा, जिसकी पूर्ववर्ती और परवर्ती परम्परा प्राप्त होती है—प्राकृत में भी और संस्कृत में

---

१. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ३६०

भी। इस प्रकार यद्यपि काव्यग्रन्थों के रचनाकारों द्वारा निर्धारित चम्पूकाव्य के पूर्ण लक्षण कुवलयमालाकहा में नहीं मिलते।[१] तथापि डा० उपाध्ये के इस मत को स्वीकारने में अधिक आपत्ति न होगी कि समराइच्चकहा की अपेक्षा कुवलयमाला का चम्पूकाव्यत्व अधिक स्पष्ट है।[२]

कथा-स्थापत्य-संयोजन

कुवलयमालाकहा की स्थापत्य (टेकनीक) की दृष्टि से भी अनेक विशेषताएँ हैं, जिनका संक्षिप्त विवेचन यहाँ प्रस्तुत करना अनावश्यक न होगा।

स्थापत्य का बोध अंग्रेजी के 'टेकनीक' शब्द से किया जाता है। कुशल कलाकार सर्वप्रथम एक कथावस्तु की योजना करता है, कथावस्तु की अन्विति के लिए पात्र गढ़ता है, उनके चरित्रों का उत्थान-पतन दिखलाता है। अनन्तर रूपशैली या निर्माणशैली के सहारे घटनाएँ घटने लगती हैं और कथा मध्य-बिन्दुओं का स्पर्श करती हुई चरम परिणति को प्राप्त होती है। इस कार्य के लिए वर्णन, चित्रण, वातावरण-निर्माण, कथनोपकथन एवं अनेक परिवेशों में कथाकार को योजना करनी पड़ती है। यह सारी योजना स्थापत्य के अन्तर्गत आती है।

प्राकृत कथा-साहित्य के स्थापत्य-भेदों का विस्तृत वर्णन डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने अपने शोध-प्रबन्ध में किया है।[३] उनमें से निम्न भेद कुवलयमाला के स्थापत्य निर्माण में प्रयुक्त हुए हैं—

पूर्णदीप्त प्रणाली :—'इस स्थापत्य द्वारा घटनाओ का वर्णन करते-करते कथाकार अकस्मात् कथाप्रसंग के सूत्र को किसी विगत घटना के सूत्र से जोड़ देता है, जिससे कथा की गति विकास की ओर अग्रसर होती है।' कुवलयमाला में इस प्रकार के स्थापत्य का प्रयोग हुआ है। कुवलयचन्द्र अश्वहरण के बाद जब एक मुनिराज का दर्शन करता है तो उनके द्वारा उसे पूर्व घटनाएँ अवगत हो जाती हैं और वह उन निर्देशों के अनुसार कुवलयमाला को प्राप्त करने चला जाता है—

---

१. चम्पूकाव्य के लक्षणों के लिए द्रष्टव्य—
   (१) कीथ, 'ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, आक्सफोर्ड, १९४८, पृ० ३३२
   (२) त्रिपाठी, चम्पूकाव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन, १९६५।

२. Comparatively speaking the Kuvalayamālā has better claims for being called a Campū than the Samarāiccakahā.
—Kuv. Int. P. 110 (Note).

३. शा०—ह० प्रा० अ०, पृ० १२१-१३६

(पृ० ३०)। कुवलयमाला को भी अपने अतीत की सारी स्मृति हो आती है (१६३.१६)।

कालमिश्रण :—कथाकार कथाओं में रोचकता की वृद्धि के लिए भूत, वर्तमान और भविष्यत् इन तीनों कालों का तथा कहीं दो कालों का सुन्दर मिश्रण करता है। प्राकृत कथा-साहित्य में इस स्थापत्य का बहुत प्रयोग हुआ है। कुव० में कथाकार ने अतीत, वर्तमान और भविष्य का इतना सुन्दर सामंजस्य स्थापित किया है कि पाठक कथाओं से ऊबता नहीं है। कुवलयमाला के पात्रों के प्रथम भवों की कथा अतीत में कही जाती है, वर्तमान में दूसरे भव की और अगले दो भवों की कथा भविष्यमिश्रित वर्तमान में उपस्थित की गयी है।

कथोत्थप्ररोह शिल्प :—'केले के स्तम्भ की परत के समान जहाँ एक कथा से दूसरी कथा और दूसरी कथा से तीसरी कथा निकलती जाय तथा वट के प्ररोह के समान शाखा पर शाखा फूटती जाय, वहाँ इस शिल्प को मानते हैं।' कुव० में इसका कलात्मक प्रयोग हुआ है। क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह के प्रथम जन्म की कथाएँ, उनके प्रतिफल स्वरूप अन्य पाँच कथाएँ तथा बीच-बीच में अनेक छोटी-छोटी कथाएँ इस ढंग से गुम्फित हैं कि उनका सिलसिला ही समाप्त नहीं होता, जब तक मुख्य कथा समाप्त नहीं हो जाती। इस तरह की कुल २६ कथाएँ कुव० में वर्णित हैं। कथोत्थप्ररोह-शिल्प का प्रयोग कुवलयमाला में मात्र किस्सा-गोई का सूचक नहीं है, अपितु जीवन के शाश्वत तथ्यों और सत्यों की वह अभि-व्यंजना करता है।

सोद्देश्यता :—कुवलयमाला की कथा एक निश्चित उद्देश्य को लेकर अग्रसर होती है। वह है, मनुष्य की विकारात्मक प्रवृत्तिओं का सुन्दररूपेण पर्यवसान। सोद्देश्यता के कारण ग्रन्थ के कथाप्रवाह में कोई रुकावट नहीं आती।

अन्यापदेशिकता :—'कथाकार किसी बात को स्वयं न कहकर व्यंग्य या अनुमिति द्वारा उसे प्रकट करने के लिए इस स्थापत्य का प्रयोग करता है।' कुव० में अपुत्री राजा दृढ़वर्मन् को कुमार महेन्द्र की प्राप्ति, पुत्र-प्राप्ति के लिए संकेत है। इसी प्रकार कुमार कुवलयचन्द्र का घोड़े द्वारा अपहरण भी उसके भावी जीवन की घटनाओं की अभिव्यंजना करता है। आगे भी उद्द्योतनसूरि ने सामुद्रिक यात्राओं का वर्णन प्रस्तुत कर यह सूचित कर दिया है कि क्रोधभट आदि पाँचों व्यक्तिओं के जीव इस संसार समुद्र में यात्रा कर रहे हैं। समुद्रयात्रा में जब जहाज टूट जाता है तो मुश्किल से यात्री फलक आदि के सहारे किनारे लगता है, उसी प्रकार उन सबके जीव कई भवों को धारण कर अन्त में मुक्ति को प्राप्त होते हैं।

वर्णन-क्षमता :—'निर्लिप्तभाव से कथा का वर्णन करना और वर्णनों में एकरसता या नीरसता को नहीं आने देना वर्णन-क्षमता में परिगणित है।'

कुवलयमालाकार ग्रन्थ के प्राय: सभी वर्णनों के प्रति पूर्ण सचेत हैं, ईमानदार हैं। नगर-वर्णन (७.१४), युद्ध-वर्णन (१०.२), प्रकृति-चित्रण (१६.५), विवाह-वर्णन (१७०-१७१) आदि के चित्र कुवलयमाला में द्रष्टव्य हैं। कथाकार ने जिसे छुआ है, भरसक उसे अधूरा नहीं रहने दिया।

सोगायतन-शिल्प :—कथा के समस्त अंगों की पुष्टि कर कथा में रस का यथेष्ट संचार इस शिल्प के द्वारा किया जाता है। आधुनिक समालोचक कथा-वस्तु, पात्र, कथोपकथन, वातावरण, भाषा-शैली और उद्देश्य, कथा के ये छः तत्त्व मानते हैं। कुवलयमाला में इन सबको परिपुष्ट किया गया है। पात्र यद्यपि व्यष्टिरूप नहीं है, फिर भी चित्रण में विविधता है। कथोपकथन अत्यन्त स्वाभाविक, सजीव और साभिप्राय हैं। कुतूहल और जिज्ञासा उत्पन्न करने में समर्थ हैं।

प्ररोचन-शिल्प :- 'रुचि संवर्द्धन के लिए कथाकार जिस स्थापत्य का प्रयोग करता है, वह प्ररोचन-शिल्प है।' कुवलयमाला के कथाकार ने गद्य-पद्यमय शैली को अपनी कथा का माध्यम चुना है। प्राकृत कथाओं का यह एक शिल्प-विशेष रहा है, जिसे बहुत लोग भ्रमवशात् चम्पू का नाम दे देते हैं। वस्तुत: बात ऐसी नहीं है। यह एक रमणीक संकीर्णकथा है। इसका प्ररोचन शिल्प कुछ इस प्रकार का है कि उसे भारतीय चम्पूकाव्यों का जनक कहा जा सकता है।

रोमांस-योजना :—'प्राकृतकथाओं के स्थापत्य में रोमांस-योजना का तात्पर्य यह है कि कथाएँ काव्य के उपकरणों के सहारे अपने स्वरूप को प्रकट करती हुई आश्चर्य का सृजन करती हैं।' कुवलयमाला में काव्य के प्राय: सभी उपकरण विद्यमान हैं। इसमें एक सुन्दरी कन्या की प्रतिष्ठा सूत्र रूप में पहले से कर दी जाती है। 'कुवलयमाला' इस नाम के प्रभाव से ही पाठक को कथाओं के बीच गुजरने में भी उत्सुकता बनी रहती है। उत्सव-वर्णन, विवाह-वर्णन, प्रहेलिका आदि का वर्णन कुवलयमाला में रोमांस-योजना को पुष्ट करते है। फिर भी यहाँ रोमांस का मिश्रितरूप ही हमें देखने को मिलता है।

कुतूहल-योजना :—'कुतूहल या सस्पेंस कथा का प्राण है।' कुवलयमाला में कुमार महेन्द्र की प्राप्ति से कुतूहल का प्रारम्भ हो जाता है। कुवलयचन्द्र का अश्व द्वारा अपहरण भी एक कुतूहल ही है, जो समग्र कथा का उद्‌घाटक है। उसके बाद मुनि के पास बैठा हुआ शेर भी कुतूहल उत्पन्न करता है। यक्षकन्या, ऐणिका सन्यासिनी आदि अवान्तर-कथाएँ भी कुतूहल के साथ आती हैं और समाधान देती हुई विलीन हो जाती हैं।

वृत्ति-विवेचन :—कथाओं में निबद्ध पात्र और चरित्रों के द्वारा मनुष्य की विभिन्न वृत्तियों का विश्लेषण करना वृत्तिविवेचन शिल्प है। इस शिल्प द्वारा कथाओं में दर्शन-तत्त्व की योजना बड़े सुन्दर ढंग से सम्पन्न की जाती है। कुव०

का मुख्य स्थापत्य ही रही है। क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह मनुष्य की इन प्रमुख वृत्तियों को कथात्मक जामा पहिनाकर पाठक के सामने उपस्थित किया गया है। इनमें से प्रत्येक का क्या स्वभाव है, क्या कार्य करता है और उसका क्या फल होता है, यह पूरी प्रक्रिया वृत्ति-विवेचन स्थापत्य द्वारा उपस्थित की गयी है।

उदात्तीकरण—कुव० के पात्र वर्गविशेष का ही प्रतिनिधित्व करते हैं, फिर भी उनके चरित्रों में उदात्त-तत्त्व सन्निविष्ट हैं। आरम्भ में चण्डभट, मानभट आदि यद्यपि क्रोध, मान आदि से युक्त दिखलाई पड़ते हैं। एक दूसरे को ठगने और मारपीट करने में नहीं हिचकते। किन्तु कथाकार आगे जाकर पात्रों के समक्ष ऐसे-ऐसे निमित्त कारण उपस्थित करता है, जिससे उनकी जीवनदिशा मुड़ जाती है और चरित्रों का उदात्तीकरण होता चलता है। कुव० में पात्रों को स्वाभाविकता से आदर्श की ओर ले जाया गया है। एकाएक उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता।

उपर्युक्त स्थापत्यों के अतिरिक्त कुव० में कुछ और भी टेकनीक अपनायी गयी है, जिससे कथानक को पूर्णरूपेण संगठित किया गया है। कहीं-कहीं भाग्य और संयोग का भी नियोजन किया गया है, तो धार्मिक तत्त्वों को भी सन्निविष्ट किया गया है। यही कारण है कि कुव० का स्थापत्य बहुत ही संगठित और व्यवस्थित है।

रस-अलंकार

कुवलयमालाकहा धर्मकथा होते हुए भी काव्यग्रन्थ है। अतः इसमें काव्य के प्रधान गुण रस और अलंकारों का भी प्रयोग हुआ है। प्रसंगवश अनेक स्थानों पर श्रृङ्गार, वीर, करुण, हास्य, बीभत्स एवं शान्त आदि रसों की योजना की गयी है। धर्मकथा में श्रृङ्गार रस का संयोजन असंगत सा लग सकता है। किन्तु उद्द्योतनसूरि ने स्वयं इसका समाधान प्रस्तुत किया है। प्रथम तो उन्होंने कथा के भेद-प्रभेदों को गिनाते हुए कहा है कि धर्मकथा में जो संवेगजननीकथा होती है वह पहले कामविषयक बातों के द्वारा पाठक का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती है, तब उसे उपदेश द्वारा वैराग्य की ओर ले जाती है। कुव० में यही किया गया है। श्रृङ्गार रस के जितने भी प्रसंग हैं वे सब अन्तिम उद्देश्य की पूर्ति के लिए संयोजित हैं। दूसरे, प्राचीन कवियों की रचनाओं—वसुदेवहिण्डी आदि में भी श्रृङ्गाररस को छोड़ा नहीं गया है। क्योंकि जिनका चित्त राग वाला है, उन्हें राग ही प्रिय लगता है। पीछे वे वैराग्य की ओर झुकते हैं।[1] इस मनोवैज्ञानिक तथ्य का ध्यान प्रत्येक लेखक को रखना पड़ता है। उद्द्योतनसूरि ने भी इसी परम्परा का निर्वाह किया है।

---

१. रागो एत्थ-पसत्थो विराग-हेऊ भवे जम्हा, कुव० २८१.१२

कुवलयमालाकहा में अलंकार योजना काफी समृद्ध है। संस्कृत एवं प्राकृत के अन्य काव्यग्रन्थों के समकक्ष इसे रखा जा सकता है। ग्रन्थ में उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकार का पद-पद पर प्रयोग किया गया है। कुछ अलंकारों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

उपमा

आलिंगियं पि मुंचइ लच्छी पुरिसं ति साहस-विहूणं।
गोत्तक्खलण-विलक्खा पिय व्व दइया ण संदेहो ।। ६६.१९

तुंगत्तणेण मेरु व्व संठियं हिमगिरि व्व धवलं तं।
पुहई विव वित्थिण्णं धवलहरं तस्स णरवइणो ।। १३८.१६

व्यतिरेक

हूं, बुज्झइ, वट्टइ खलु खलो ज्जि जइसउ, उज्झिय-सिणेहु पसु-मत्तो य। तहेय खलो वि वराओ पीलिज्जंतो विमुक्क-णेहु भयाणंतो य पसूहिं लज्जइ ।। ६.६, ७

परिसंख्या

जत्थ य जणवए ण दीसइ खलो विहलो व। दीसइ सज्जणो समिद्धो व, वसणं णाणा-विण्णाणे व, उच्छाहो धणे रणे व, पीई दाणे माणे व, अब्भासो धम्मे धम्मे व त्ति। ८.१७, १८

श्लेष

अण्णा णंदण-भूमिओ इव ससुराओ संणिहिय-महुमासाओ त्ति। ८.५

तथा

पंडवसेण्ण-जइसिया, अज्जुणालंकिया सुभीम व्व। रण-भूमि-जइसिया, सर-सय-णिरंतरा खग्ग-णिचिय व्व। २७.२६, ३०

चित्रालंकार

दाण-दया-दक्खिण्णा सोम्मा पयईए सव्व-सत्ताणं।
हंसि व्व सुद्ध-पक्खा तेण तुमं दंसणिज्जासि ।। १७६.३२

इस गाथा में 'दासो हं ते' अभिप्राय को पद के प्रत्येक अक्षर द्वारा व्यक्त किया गया है।

इन अलंकारों के अतिरिक्त उद्द्योतनसूरि ने कुव० में एक विशेष शैली का प्रयोग किया है, जिसको प्रभाव-संकुलता शैली कह सकते हैं। इसमें वर्णन करते समय वे प्रत्येक पाद के अन्तिम से आगे का पाद प्रारम्भ करते हैं। गद्य एवं पद्य दोनों में इसका प्रयोग उन्होंने किया है। यथा—

वयण-मियंकोहामिय-कमलं कमल-सरिच्छ-सुपिंजर-थणयं।
थणय-भरेण सुणामिय-मज्झं मज्झ-सुराय-सुपिहुल-णियंबं ।।

विउल-णियंब-समंथर-उरं ऊरु-भरेण सुसोहिय-गमणं ।
गमण-विराविय-णेउर-कडयं णेउर-कडय-सुसोहिय-चलणं ॥ १४.२६, २८

तथा

गाम-खेत्त-सेस-संठिय-महागामु । गामोयर-पय-णिवसेव-सेस संठिय-णिरं-
तर-णवलहरु । णवलहर-पुरोहड-संठिय-वणुज्जाणु । वणुज्जाण-मज्झ-
फलिय-फणस-णालिएरी-वणु । णालिएरी-वण-वलग्ग-पूयफली-तरुयरु ।
तरुयरारूढ-णायवल्ली-लया-वणु । वणोत्थइयासेस-वण-गहणु । वण-गहण-
णिरुद्ध-दिणयर-कर-पब्भारो य त्ति । १४९-६-६

इत्यादि अनेक अलंकार कुवलयमालाकहा में प्रयुक्त हुए हैं।

छन्द-योजना

कुवलयमालाकहा के पद्यभाग में प्रायः गाथा छन्द का प्रयोग हुआ है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में ४१८० गाथाएँ हैं, जिनमें इन ३६ छन्दों का प्रयोग हुआ है।

अधिकाक्षरा (२५.३०), अनुष्टुप (१२६.२६ एवं अन्यत्र), अवलम्बक (९४.११), अवस्कन्धक (३२.२९,९.९), इन्द्रवज्रा (४३.१८), उद्गीति (२६.१८) गलीतक (४.२८, ४.३१), गीति (१४.१५), गीतिका (२.८), चर्चरी (४.२७), चारु (१०.७), चित्तक (२८.१९), दण्डक (१८.११), दोहक (४७.६), द्विपथक (५९.५), द्विपदी (३१.३०, ४१.३३), नाराच (१५४.१२), पंचचामर (२४.२०), पंचपदी (६३.१८), प्रमाणिका (१५४.१२), मात्रासमक (१८.१९), ललिता (३३.१७), विपुला (२९.१३ आदि), शार्दूलविक्रीडित (१०३.१७), संकुलिक (१४.२६), स्कन्धक (१५२.३), सुमना (२.७), हरिणीकुल (२३५.१६), जम्मेहिका (१०.७) आदि।

इन सभी छन्दों के स्वरूप आदि पर विशेष प्रकाश डा० ए० एन० उपाध्ये ने अपने इण्ट्रोडक्शन, पृ० ८५ एवं नोट्स में डाला है। कुछ गाथाएँ ऐसी भी हैं जिनके छन्दों के स्वरूप का पता नहीं चलता। वे इस प्रकार हैं :—

तहे सो वि वरउ किं कुणउ अण्णहो ज्जि कस्सइ वियारु ।
सलो घइं सइं जे बहु-वियार-भंगि-परियल्लउ त्ति ॥—६.६

खर-पवणाइद्धं विसम पत्तं परिब्भमइ गिरि-णिउंजम्मि ।
इय पाव-पवण-परिहट्टिओ वि जीवो परिब्भमई ॥ ३०.२७

सुक्कोदय-तणु-संजण-कडुयालय-अलिय व्व सा सुहय ।
तुह सूर-गोत्त-किरणेहिं ताविया मरइ व फुडंती ॥ २३६.१२

इनके अतिरिक्त कुव० में ६.१७, १२.२१, ३१.२६, ५४.८, २२७.११, आदि भी ऐसी ही गाथाएँ हैं जिनके छन्दों को निश्चित करना कठिन है। छन्दों की उक्त बहुलता कुव० की काव्यात्मक सुषमा की परिचायक है। कुव० रस-

अलंकार एवं छन्द के अतिरिक्त रूपचित्रण, प्रकृतिचित्रण, वस्तु-वर्णन, संवाद-संयोजन आदि की दृष्टि से भी सशक्त है।[1]

कथाओं में लोकतत्त्वों का समावेश

कुवलयमालाकहा में कथानक के रूप में वैसे तो एक ही प्रमुख कथा है, जो परम्परानुगत धार्मिक तत्त्वों से अधिक सम्बंधित है। लेकिन उसकी अवान्तर कथाओं में अनेक लोकतत्त्व विद्यमान हैं। उनमें लोककथा के लोकधर्म, लोकचित्र एवं लोकभाषा ये तीनों ही तत्त्व उपलब्ध होते हैं।

इन कथाओं में लोककथा तत्त्वों का समावेश स्वभाविक ढंग से हुआ है। उद्द्योतनसूरि का युग (८ वीं शताब्दी) अन्धविश्वास, तन्त्रमन्त्र, हिंसामयी पूजा, नाना मतवाद एवं अध्यात्म-सम्बन्धी विभिन्न मान्यताओं का था। समाज, साहित्य में लोकभाषा प्राकृत की बहुलता थी। प्रत्येक प्रबुद्ध साहित्यकार समकालीन सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है। वह जाने-अनजाने रूप मे लोक-मानस से प्रभावित होकर लोक-संस्कृति की विवेचना करता चलता है। उद्द्योतनसूरि ने कुवलयमाला की इन कथाओं को लोकभाषा प्राकृत में लिखा है। अतः स्वभाविक रूप से लोक-चेतना एवं लोक-संस्कृति की अनेक छवियाँ इनमें अंकित हो गयी हैं। विश्लेषण करने पर कुवलयमाला की इन अवान्तर-कथाओं में निम्नांकित लोककथा के तत्त्व उपलब्ध होते हैं:—

(१) मूल प्रवृत्तियों का प्रतीकात्मक विश्लेषण (२) लोकमंगल (३) रहस्योद्घाटन (४) कुतूहल (५) उपदेशात्मकता (६) अनुश्रुति-मूलकता (७) साहस का निरूपण (८) पुनर्जन्म का प्रतिपादन (९) मिलन-बाधाएँ (१०) हास्य-विनोद (११) अन्धविश्वास (१२) अमानवीय तत्त्व (१३) प्रेम के विभिन्न रूप (१४) जनभाषा (१५) लोकमानस (१६) परम्परा की अक्षुण्णता आदि।

इन लोकतत्त्वों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए स्वतन्त्ररूप से विवेचन करना अपेक्षित है। मैंने कुछ फुटकर निबन्धों द्वारा इन पर प्रकाश डाला है।[2]

---

१. द्रष्टव्य—कुवलयमालाकहा का गुजराती अनुवाद—उपोद्घात, पृ० ४०

२. द्रष्टव्य—लेखक के निम्न निबन्ध—

(१) 'कुव० की अवान्तर कथाओं का लोकतात्त्विक अध्ययन'

(२) 'आठवीं शताब्दी के प्राकृत ग्रन्थों में लोकतत्त्व'

—अनुसंधान पत्रिका जुलाई—७३

(३) 'पालि-प्राकृत कथाओं के अभिप्राय : एक अध्ययन'

—राजस्थानभारती भाग ११ अंक ४.

कुवलयमालाकहा की साहित्यिक विशेषताओं का यहाँ मात्र संकेत किया जा सका है। ग्रन्थ के रस-विवेचन, अलंकार-योजना, छन्दविधान, ध्वनि-निरूपण, वस्तु-वर्णन, साहित्यिक-अभिप्राय एवं लोकतत्त्व के सम्बन्ध में कुवलयमालाकहा का साहित्यिक मूल्यांकन करते समय कभी अलग से विशद प्रकाश डाला जा सकेगा।

कुवलयमालाकहा की अन्य कथाग्रन्थों से तुलना

उद्द्योतनसूरि ने कुव० का जो स्वरूप निश्चित किया है, उसकी ठीक-ठीक तुलना किसी संस्कृत-प्राकृत के ग्रन्थ से नहीं की जा सकती। किन्तु ग्रन्थ का विषय एवं कथाओं की शैली आदि प्राचीन कथा-ग्रन्थों से यत्र-तत्र मिलती-जुलती है। जाति-स्मरण द्वारा सम्यक्त्व की प्राप्ति, कर्मफलों की वैराग्य द्वारा समाप्ति में तरंगवतीकथा से, प्राकृतिक दृश्यों, नगर के वर्णनों, विन्ध्याटवी एवं राजकीर के वर्णनों में बाण की कादम्बरी से,[1] यक्षप्रतिमा द्वारा ऋषभदेव की अर्चना के प्रसंग में पउम-चरियं से, अश्व द्वारा कुमार का हरण, भिल्लों से संघर्ष आदि के वर्णन में वरांगचरित से एवं पुनर्जन्म, धर्मकथा, दृष्टान्तों के प्रयोग, धार्मिक पृष्ठभूमि आदि के प्रसंग में समराइच्चकहा से कुवलयमाला की तुलना की जा सकती है। कुछ सिद्धान्त-शास्त्रों के उद्धरण भी कुवलयमालाकहा के धार्मिक प्रसंगों से तुलनीय हैं। कथासरित्सागर को ५९ तरंग में मकरन्दिकोपाख्यान की तुलना कुव० के कथानक से की जा सकती है। किन्तु इन सब ग्रन्थों की अपेक्षा कादम्बरी एवं कुवलयमाला के स्वरूप-गठन आदि में अधिक साम्य है। यथा :—

(१) नववधू से कथा की उपमा (का० ८.९, कु० ४.१८)।

(२) दुर्जन-सज्जन स्मरण (का० ५.६, कु० ५.२६)।

(३) नायक-नायिका की प्रधान कथा दोनों में।

(४) पुत्रविहीना महारानी का पुत्र प्राप्ति के लिए प्रयत्न।

(५) पिता के साथ कुमार की क्रीड़ा का वर्णन।

(६) नगर-वर्णन की शैली में साम्य।

(७) का० में जाबालिऋषि एवं कुव० में धर्मनन्दन आचार्य कथा के मूल-वाचक।

(८) का० में महाश्वेता एवं कीर तथा कुव० में ऐणिका एवं राजकीर की कथा।

(९) पूर्वजन्म का वृतान्त दोनों में।

(१०) शृंगार-कथा होते हुए दोनों का दार्शनिक प्रतिपाद्य। इत्यादि

---

१. द्रष्टव्य—'कुवलयमालाकादम्बर्योस्तुलनात्मकाध्ययनम्'
—प्रो० शालिग्राम उपाध्याय, मागधम्, अप्रैल १९६९

कादं० एवं कुव० में इतना साम्य होते हुए भी यह समझना भूल होगी कि उद्योतनसूरि ने बाण का अनुकरण किया है। दोनों कवियों के अपने अलग व्यक्तित्व थे। योगदान भी भिन्न-भिन्न हैं। यह समानता तो समसामयिक रुचि और साहित्यिक प्रवृत्तियों के प्रति लेखक की सजगता का ही प्रभाव कहा जायेगा।

कुवलयमालाकहा की अन्य कथाग्रन्थों से तुलना के सम्बन्ध में डा० ए० एन० उपाध्ये ने अपने इण्ट्रोडक्शन (पृ० ८६-८८) में प्रकाश डाला है, यद्यपि किसी भी ग्रन्थ के मूल उद्धरण नहीं दिये हैं। अतः उस सबकी यहाँ पुनरावृत्ति करना ठीक नहीं। इतना कहना पर्याप्त है कि धार्मिक पृष्ठभूमि एवं शैलीगत समानता होते हुए भी उद्द्योतनसूरि ने प्राचीन कथाकारों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और प्रामाणिक सूचनाएँ अपने ग्रन्थ में दी हैं। विशेषकर भाषा-विज्ञान एवं सांस्कृतिक सामग्री के क्षेत्र में। उनका विस्तृत विवेचन अगले अध्यायों में किया गया है।

परिच्छेद तीन

ग्रन्थ की कथावस्तु एवं उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

कुवलयमालाकहा में वर्णित सामग्री अपने आप में इतनी महत्त्वपूर्ण है कि उसके अध्ययन-अनुसन्धान मात्र से ही ग्रन्थ की उपयोगिता एवं ग्रन्थकार की महानता स्थापित हो जाती है। प्राचीन भारत के व्यापार-वाणिज्य एवं भाषा-शास्त्र के क्षेत्र में जब कुवलयमालाकहा की उपलब्धियों को जोड़ा जाता है, तो लगता है, उद्द्योतनसूरि का परिश्रम पर्याप्त मात्रा में सफल रहा है। किन्तु इस बाह्य उपयोगिता से परे अन्तरंग दृष्टि से विमुख नहीं हुआ जा सकता। कुवलय-माला का कथानक केवल मनोरंजक कथाएँ नहीं सुनाता, बल्कि हमें उस बिन्दु तक—मानव जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति तक भी ले जाता है, जहाँ पहुँचने के लिए इन कथाओं का संयोजन हुआ है।

उद्द्योतनसूरि ने कुवलयमाला के कथानक को यों ही गढ़कर तैयार नहीं किया है। इसकी पृष्ठभूमि में उनके अहिंसामय एवं तपःपूर्ण जीवन का भी पूर्ण प्रभाव रहा है। मानव की मूल प्रवृत्तियों में परिवर्तन लाना कोई सहज कार्य नहीं है, किन्तु उद्द्योतन ने इस चुनौती को स्वीकारा है। भारतीय संस्कृति के गौरव के प्रति निष्ठावान् होकर कथाओं के माध्यम से उन्होंने यह चाहा है कि यदि छोटे से छोटा भी व्यक्ति अपनी असद्‌वृत्तियों के परिशोधन में प्रवृत्त हो जाय तो एक न एक दिन वह केवल सद्‌वृत्तियों का ही स्वामी बन कर रहेगा। भले इसके लिए उसे जन्म-जन्मान्तरों की यात्रा तय करनी पड़े। ग्रन्थकार की इस सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को और अधिक स्पष्ट करने के लिए आवश्यक है कि पहले कथानक को संक्षेप में एक बार हृदयंगम कर लिया जाय। सम्पूर्ण कथानक इस प्रकार है—

कथावस्तु

जम्बूद्वीप के भारत देश में, वैताढ्य पर्वत की दक्षिण-श्रेणी में गंगा और सिन्धु के बीच मध्य देश था, जिसकी राजधानी विनीता अयोध्या नगरी थी। वहाँ दृढ़वर्मन् राज्य करते थे। उनकी पटरानी का नाम प्रियंगुश्यामा था।

एक दिन राजा अभ्यन्तर आस्थान-मण्डप में रानी एवं कुछ प्रधान मन्त्रियों के साथ बैठा हुआ था, सुषेण नामक शबर सेनापति वहाँ प्रविष्ट हुआ। राजा को प्रणाम कर उसने मालवा के राजा के साथ किस प्रकार युद्ध हुआ,

कैसे उस पर अधिकार किया तथा कैसे मालव-नरेश के पंचवर्षीय पुत्र महेन्द्र को वह पकड़ कर लाया है, यह सब कह सुनाया। राजा दृढ़वर्मन् ने राजकुमार महेन्द्र का स्वागत किया। कुमार ने अपने व्यवहार से राजा एवं रानी का हृदय जीत लिया। राजा ने कुमार को अपने पुत्र की भांति राजमहल में रखने का आदेश दिया।

रानी प्रियंगुश्यामा एक दिन कोपभवन में थी। राजा ने पता किया कि महेन्द्रकुमार जैसा उनके पुत्र न होने से वह दुःखी है। रानी ने राजा से पुत्र-प्राप्ति के लिए देवी की अर्चना करने को कहा। राजा ने कुलदेवता, राजलक्ष्मी की दो दिन तक आराधना की। तीसरे दिन जब राजा स्वयं अपना बलिदान करने के लिए तैयार हो गया तो देवी उसके समक्ष प्रगट हुई और राजा को उसने श्रेष्ठ पुत्ररत्न-प्राप्ति का वरदान दिया।

निश्चित अवधि में रानी ने एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। स्वप्न में रानी ने चन्द्रमा में कुवलयमाला के दर्शन किये थे, अतः पुत्र का नाम कुवलयचन्द्र रखा गया। पंचधात्रियों के संरक्षण में कुमार का लालन-पालन हुआ। आठ वर्ष की आयु में कुमार को लेखाचार्य के पास अध्ययन करने के लिये भेजा गया, जहाँ बारह वर्ष तक रह कर कुवलयचन्द्र ने सभी कलाओं में योग्यता प्राप्त की। गुरुकुल से लौटकर कुमार ने माता-पिता का आशीष प्राप्त किया। तदनन्तर पिता की आज्ञा से कुवलयचन्द्र अश्वक्रीडा के लिए राजा एव अन्य कुमारों के साथ विनीता के बाजारों से होता हुआ अश्वक्रीड़ा-स्थल में पहुँचा।

अश्वक्रीड़ा करते हुए कुवलयचन्द्र का अश्व उसे दक्षिण दिशा में ले जाकर आकाश में उड़ गया। कुवलयचन्द्र ने इस घटना की वास्तविकता ज्ञात करने के लिए अश्व की ग्रीवा में छुरिका से तीव्र प्रहार किया। अश्व भूमि पर गिर पड़ा और मर गया। कुमार इस घटना पर विचार ही कर रहा था कि उसे आकाश-वाणी सुनायी पड़ी कि वह दक्षिण की ओर आगे बढ़े तो उसे आश्चर्यजनक दृश्य देखने को मिलेंगे। कुमार उस ओर बढ़ा। वह विन्ध्याटवी में पहुँचा। वहाँ उसे वटवृक्ष के नीचे बैठे हुए एक मुनिराज दिखायी दिये। मुनिराज की बाँयी ओर एक दिव्यपुरुष तथा दाँयी ओर एक सिंह विराजमान था। कुवलयचन्द्र का उन्होंने स्वागत किया। उसने जब अश्व के उड़ाने की घटना आदि के सम्बन्ध में मुनिराज से प्रश्न किये तो मुनिराज ने उसे अपने समक्ष बैठाकर इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया :—

"वत्स जनपद में कौशाम्बी नगरी है। वहाँ के राजा का नाम पुरन्दरदत्त था। उसका प्रधानमन्त्री वासव जैनधर्म का अनुयायी था। किन्तु राजा जैनधर्म पर विश्वास नहीं करता था। एक दिन नगर के उद्यान में मुनिराज धर्मनन्दन के आगमन पर वासव राजा पुरन्दरदत्त को भी उनके पास ले गया। राजा ने मुनिराज एवं उनके शिष्यों के वैराग्य धारण करने का कारण पूछा। राजा का उत्तर देते हुए मुनिराज धर्मनन्दन ने संसार के स्वरूप का विस्तृत वर्णन किया और बतलाया

कि इस संसार में भ्रमण करने का कारण क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह है। इन पाँचों से सम्बन्धित उन व्यक्तियों का पूर्व जीवन भी मुनिराज ने राजा को सुनाया, जो वहीं बैठे हुए थे।

क्रोध : चंडसोम की कथा

कांची के समीप रगड़ा नाम का सन्निवेश था। वहाँ सुशर्मा देव नामक एक गरीब ब्राह्मण रहता था। उसका बड़ा पुत्र भद्रशर्मा क्रोधी होने के कारण चंडसोम कहा जाने लगा था। माता-पिता चंडसोम का विवाह नन्दिनी नामक कन्या से करके उन्हें गृहस्थी सौंपकर तीर्थ करने चले गये। नन्दिनी पतिव्रता एवं गुणसम्पन्न थी। किन्तु चंडसोम उस पर संदेह करता रहता था। एक दिन नाटक देखकर लौटते समय संदेह के कारण चंडसोम ने अपनी पत्नी एवं उसके प्रेमी के धोखे में अपने छोटे भाई एवं बहिन की हत्या कर दी। इससे चंडसोम को बहुत आत्म-ग्लानि हुई। वह उनके साथ मर जाना चाहता था, किन्तु ब्राह्मणों ने उसे अन्य कई प्रायश्चित्त करने को कहा। अतः वह गंगास्नान द्वारा अपने पाप धोने के लिए आते समय यहाँ धर्मनन्दन मुनि के पास चला आया। मुनि ने उसे दीक्षा देकर अपने कर्मों को क्षय करने का मार्ग बतलाया।

मान : मानभट की कथा

मालवा में उज्जयिनी के उत्तर-पूर्व में कूपवन्द्र नाम का एक गाँव था। वहाँ क्षेत्रभट नाम का एक सामन्त ठाकुर रहता था, जिसकी आर्थिक स्थिति बिगड़ गयी थी। उसके पुत्र का नाम वीरभट था। वृद्धावस्था में क्षेत्रभट गाँव में रहने लगा था और वीरभट राजा की सेवा में था। वीरभट के पुत्र शक्तिभट ने अपने परिवार की परम्परा को कायम रखते हुए राजा की सेवा की। शक्तिभट को अहंकार बहुत था अतः उसे लोग मानभट कहने लगे थे। एक दिन राजा अवन्ति के दरबार में मानभट के आसन पर कोई पुलिन्द राजकुमार आकर बैठ गया। मानभट ने इसे अपना अपमान समझ कर उसके द्वारा क्षमा माँगने पर भी उसे छुरिका से मार डाला और राज-दरबार से निकल कर, अपने पिता के पास गाँव में भाग गया। पिता ने उसे गाँव छोड़ कर अन्यत्र चलने को कहा। तब दोनों नर्मदा के किनारे एक किला बना कर किसी गाँव में रहने लगे।

एक दिन वसन्तोत्सव में मानभट अपनी पत्नी के साथ गया। वहाँ उसने अपने मित्रों के बीच किसी अन्य युवती के रूप की प्रशंसा में गीतिका गायी। उसकी पत्नी इसे अपना अपमान समझ कर अकेली घर लौट आयी। वह गले में फन्दा डाल कर आत्महत्या करने वाली थी, तभी मानभट ने आकर उसे बचा लिया। मानभट ने पत्नी को मनाने के लिए उसके चरण भी छुए, किन्तु पत्नी का गुस्सा कम नहीं हुआ। अतः मानभट अपमानित होकर घर से बाहर निकल गया। उसकी पत्नी एवं माता-पिता ने उसका अनुसरण किया। मानभट ने पत्नी

की परीक्षा के लिए कुँए में एक पत्थर गिरा दिया और स्वयं छुप गया। पत्नी एवं उसके माता-पिता ने समझा मानभट कुँए में गिर गया है। अतः वे तीनों भी कुँए में कूद गये। मानभट ने सोचा कि मेरे कारण ही परिवार नष्ट हुआ है। अतः वह प्रायश्चित्त के लिए चल पड़ा। कौशाम्बी में आकर उसने धर्मनन्दन मुनि से दीक्षा ले ली और सम्यक्त्व का पालन करते हुए अपने पापों को कम करने लगा।

माया : मायादित्य की कथा

वाराणसी के दक्षिण-पश्चिम में सालिग्राम नाम का एक गाँव था। वहाँ गंगादित्य नाम का गरीब वैश्य रहता था। वह कठोर, क्रूर, अनैतिक एवं कपटी स्वभाव वाला था। अतः उसको लोग मायादित्य कहने लगे थे। मायादित्य की स्थाणु नामक युवक से मित्रता थी। दोनों धन कमाने के लिए प्रतिष्ठान गये। वहाँ उन्होंने पाँच-पाँच हजार मुद्राएँ अर्जित की तथा उनके बदले पाँच-पाँच रत्न ले लिये। चोरों से बचने के लिए घर लौटते समय उन्होंने तीर्थयात्रियों का भेष धारण कर लिया। रास्ते में मायादित्य ने स्थाणु के रत्नों को प्राप्त करने के अनेक प्रयत्न किये। एक बार उसे कुएँ में ढकेलकर रत्न लेकर भाग गया। किन्तु चोरों के समूह ने उसे पकड़ लिया और स्थाणु को खोजकर उसके रत्न उसे वापिस करा दिए। फिर भी मायादित्य के प्रति स्थाणु का व्यवहार मित्रवत् बना रहा। अतः मायादित्य को अपने व्यवहार पर ग्लानि हुई और वह प्रायश्चित्त करने चल पड़ा। गाँव के बड़े-बूढ़ों ने उसे गंगा-स्नान करने की सलाह दी। मायादित्य गंगा-स्नान के लिए चल पड़ा। रास्ते में धर्मनन्दन मुनि के उपदेशों को सुनकर उसने जिनधर्म में दीक्षा ले ली।

लोभ : लोभदेव की कथा

तक्षशिला के दक्षिण-पश्चिम में उच्चस्थल नाम का एक गाँव था। वहाँ सार्थवाह का पुत्र धनदेव रहता था। वह अत्यन्त लोभी था अतः उसे लोग लोभदेव कहने लगे। धन कमाने के लिए एक बार वह घोड़े लेकर दक्षिण में सोपारक गया। वहाँ भद्रश्रेष्ठी के यहाँ ठहरा। वहाँ अपने घोड़े बेचकर बहुत धन कमाया। सोपारक की स्थानीय व्यापारियों के संगठन ने उसका स्वागत किया। उस आयोजन में सम्मिलित व्यापारियों ने विभिन्न देशों में किये गये व्यापार विषयक अपने-अपने अनुभव सुनाये। धनदेव अधिक धन कमाने की इच्छा से भद्रश्रेष्ठी के साथ रत्नद्वीप गया। वहाँ उन्होंने अपार धन कमाया। जब वे वापिस लौट रहे थे तो लोभदेव ने भद्रश्रेष्ठी के हिस्से को भी हड़पने के लिए उसे समुद्र में गिरा दिया। भद्रश्रेष्ठी ने राक्षस के रूप में जन्म लेकर लोभदेव के जहाज को समुद्र में डुबो दिया। किसी प्रकार लोभदेव तारद्वीप में जा लगा, जहाँ उसे समुद्रचारियों द्वारा पकड़ कर उसके रुधिर से स्वर्ण बनाने का कार्य

किया गया। किसी प्रकार वहाँ से छूटकर वह भेरुण्ड पक्षियों द्वारा समुद्र में गिरा दिया गया। जब वह किनारे लगा तो उसे अपने कार्यों पर बड़ी ग्लानि हुई। जब वह प्रायश्चित्त करने गंगा की ओर जा रहा था तो रास्ते में मुनि धर्मनन्दन के उपदेशों को सुनकर उसने वहीं दीक्षा ले ली।

मोह : मोहदत्त की कथा

कौशल नगरी का राजा कौशल था। उसके पुत्र का नाम तोसल था जो स्वतन्त्रतापूर्वक नगर में भ्रमण किया करता था। एक दिन तोसल ने नगरश्रेष्ठि के महल में गवाक्ष पर बैठी हुई उसकी सुन्दरी पुत्री सुवर्णा को देखा। उनमें परस्पर प्रेम हो गया। अवसर पाकर तोसल रात्रि में उससे मिलने उसके कक्ष में गया। सुवर्णा ने बताया कि उसका पति हरदत्त व्यापार करने लंका गया था, किन्तु बारह वर्ष हो गये अभी तक नहीं लौटा। वह अकेलेपन के कारण मरने को तैयार थी, किन्तु तभी उसने राजकुमार को देखा अतः वह उसी की शरण में है। तोसल ने उसे अपनी प्रेमिका बना लिया। कुछ समय बाद सुवर्णा गर्भवती हो गयी। पता चलने पर नगरश्रेष्ठी ने राजा से शिकायत की। राजा ने तोसल को मार डालने की आज्ञा दे दी। किन्तु मन्त्री की चतुराई से तोसल पाटलिपुत्र भाग गया और वहाँ जयवर्मन् राजा के यहाँ नौकर हो गया।

सुवर्णा को जब ज्ञात हुआ कि तोसल को मार डाला गया है तो वह भी मरने के लिए नगर से भाग निकली। एक सार्थ के साथ पाटलिपुत्र के लिए चल पड़ी। गर्भभार के कारण वह सार्थ से पीछे रह गयी और जंगल में उसने एक साथ दो बच्चों को जन्म दिया—एक पुत्र, एक पुत्री को। यद्यपि वह मरने के लिए निकली थी, किन्तु अब उसने बच्चों के लिए जीवित रहने का निश्चय कर लिया। उसने अपने उत्तरीय के दोनों छोरों पर दोनों बच्चों को बाँध दिया और स्वयं प्रसव का रक्त आदि धोने के लिए झरने की ओर चली गयी। इधर एक बाघ बच्चों की पोटली को उठाकर ले गया। रास्ते में लड़की पोटली से छूटकर गिर गई, जिसे रास्ते में जाते हुए जयवर्मन् का संदेशवाहक उठाकर अपने घर पाटलिपुत्र ले गया। उसका नाम बनदत्ता रखा गया। लड़के को जयवर्मन् का कोई सम्बन्धी बाघ से छुड़ाकर ले गया। पाटलिपुत्र में उसका नाम व्याघ्रदत्त अथवा मोहदत्त रखा गया। कुछ समय बाद सुवर्णा भी पाटलिपुत्र पहुँच गई और संयोग से वनदत्ता की धात्री के रूप में अपनी पुत्री को न पहचानते हुए संदेशवाहक के घर में काम करने लगी।

क्रमशः मोहदत्त एवं वनदत्ता यौवन को प्राप्त हुए। मदनमहोत्सव के अवसर पर दोनों ने परस्पर एक-दूसरे को देखा और प्रेमबन्धन में बँध गये। राजकुमार तोसल की भी नजर वनदत्ता पर पड़ी और वह उसे चाहने लगा। वनदत्ता की तरफ से कोई उत्तर न मिलने पर तोसल ने उसे तलवार के बल पर पाना चाहा। मोहदत्त ने तोसल को वहीं उद्यान में मार डाला और वनदत्ता

के साथ जैसे ही कामक्रीड़ा प्रारम्भ की, उसे एक आवाज सुनाई दी कि वह अपने पिता की हत्या कर अपनी बहिन के साथ संसर्ग करने जा रहा है। यह एक मुनि की आवाज थी, जिन्होंने बाद में मोहदत्त को पूरी घटनाओं से परिचित कराया। मोहदत्त ने अपने इस पाप का प्रायश्चित्त करना चाहा। अन्त में वह भी मुनि धर्मनन्दन के पास आया और उनसे दीक्षा ले ली।

इस प्रकार धर्मनन्दन मुनि ने वासव मन्त्री और पुरन्दरदत्त राजा को क्रोध आदि इन पाँचों विकारों पर संयम करने के लिए कहा। मुनि के उपदेश सुनकर राजा और मन्त्री दोनों नगर में लौट गये।

रात्रि में पुरन्दरदत्त राजा का हृदय परिवर्तित हो गया। वह वेष परिवर्तन कर मुनि धर्मनन्दन के समीप उद्यान में पहुँचा, जहाँ मुनिराज नये दीक्षित इन पाँचों मुनियों को उपदेश दे रहे थे। पुरन्दरदत्त ने सोचा कि पहले वह सांसारिक सुखों का उपभोग करेगा। बाद में वैराग्य धारण करेगा। मुनिराज ने उसके मन की बात जानते हुए सांसारिक सुखों की नश्वरता का वर्णन किया। राजा ने श्रावक धर्म स्वीकार कर लिया।

उन पाँचों मुनियों ने सम्यक्त्व का पालन करने के लिए परस्पर सहायता करने का निश्चय किया। चंडसोम को यह दायित्व सौंपा गया कि वह अन्य चारों को अगले जन्म में सम्यक्त्व धारण करने का स्मरण करायेगा। पाँचों ने इस बात पर सहमति प्रकट की।

लोभदेव मरणोपरान्त सौधर्मकल्प के पद्म विमान में पद्मप्रभ नाम का देव हुआ। इसी प्रकार कुछ समय बाद मानभट पद्मसर के रूप में, मायादित्य पद्मवर के रूप में, चंडसोम पद्मचन्द्र तथा मोहदत्त पद्मकेशर के रूप में उसी विमान में देव हुए। वहाँ मित्रतापूर्वक रहते हुए उन्होंने परस्पर सम्यक्त्व पालन का स्मरण कराया।

धर्मनाथ तीर्थंकर के समवसरण मे ये सभी देव उपस्थित हुए। समवसरण समापन के बाद पद्मप्रभ (लोभदेव) ने अपने सबके अगले जन्मों के विषय में भगवान् से पूछा। इन्हें ज्ञात हुआ कि वे सभी भव्य जीव है और यहाँ से चौथे जन्म में मुक्ति प्राप्त करेंगे। उन्होने सलाह की कि मुक्ति प्राप्ति के लिए हम परस्पर सहयोग करते रहेगे तथा पद्मकेशर (मोहदत्त), जो सबसे अन्त में देव-लोक से चलेगा, सबको सम्बोधित करेगा। स्मरण के लिए उन पाँचों ने अपनी-अपनी रत्नमयी प्रतिमाएँ बनाकर एक पत्थर के नीचे रख दीं, जहाँ पद्मचन्द्र (चंडसोम) सर्वप्रथम सिंह के रूप में जन्म लेगा।

पद्मप्रभ (लोभदेव) चम्पा में धनदत्त श्रेष्ठी के यहाँ उत्पन्न हुआ, जिसका नाम सागरदत्त रखा गया। एक बार स्वअर्जित धन कमाने की इच्छा से सागर-दत्त घर से निकल गया और उसने यह प्रतिज्ञा कर ली कि यदि वर्ष भर में सात करोड़ मुद्राएँ न कमा लेगा तो अग्नि में जल कर मर जायेगा। वह दक्षिणसमुद्र

के पास जयश्री नगरी में पहुँचा। वहाँ मालूर वृक्ष की जड़ से धन प्राप्त कर वह नगर में एक सेठ के पास पहुँचा। मित्रता हो जाने पर सेठ ने उससे अपनी कन्या का विवाह कर देने का वचन दिया एवं यवनद्वीप जाने के लिए तैयारी कर दी। सागरदत्त ने यवनद्वीप में जाकर सात करोड़ मुद्राएँ अर्जित कीं। किन्तु लौटते समय जहाज भग्न हो जाने से सब सम्पत्ति नष्ट हो गयी। फलक के सहारे वह चन्द्रद्वीप में जा लगा। वहाँ उसने भग्न प्रेम-व्यापार से पीड़ित एक कन्या को अग्नि में जल कर मरने के लिए तत्पर देखा। उसकी कथा सुनकर सागरदत्त भी अग्निदाह के लिए तैयार हो गया। किन्तु प्रवेश करते ही अग्नि की ज्वाला कमलों में परिवर्तित हो गयी। पद्मकेशर देव (मोहदत्त) ने सागरदत्त के इस कार्य की निन्दा की। उसे उसका उत्तरदायित्व स्मरण कराया तथा २१ करोड़ मुद्राएँ प्रदान की। तदनन्तर जयश्री नगरी में ले जाकर दोनों कन्याओं से विवाह कराया और सबको वह चम्पा पहुँचा दिया।

कुछ समय बाद सागरदत्त ने धनदत्त मुनि से दीक्षा ले ली। सो हे कुमार कुवलयचन्द्र ! मैं वही सागरदत्त हूँ। निरन्तर तपस्या करते हुए मैंने जो ज्ञान प्राप्त किया उससे जाना कि मेरे चारों साथी कहाँ हैं। पद्मचन्द्र (चंडसोम) विन्ध्याटवी में सिंह के रूप में पैदा हुआ है, पद्मसर (मानभट) कुवलयचन्द्र के रूप में अयोध्या में तथा पद्मवर (मायादित्य) दक्षिण में विजयानगरी के राजा महासेन की पुत्री कुवलमाला के रूप में पैदा हुए हैं। पद्मकेशर (मोहदत्त) ने मुझे सम्बोधित किया ही था। वहाँ से मैं यहाँ सिंह (चंडसोम) के पास चला आया और पद्मकेशर अश्व के रूप में तुम्हे यहाँ ले आया है। अतः आश्चर्य की कोई बात नहीं है। हम सबको परस्पर सम्यक्त्व पालन करने में सहयोग करना चाहिए।

यह सब सुनकर कुवलयचन्द्र ने श्रावक के व्रत धारण किये एवं सम्यक्त्व का पालन करने का वचन दिया। मुनिराज ने उसे कुवलयमाला से विवाह करने को कहा और बतलाया कि पद्मकेशर (मोहदत्त) उनके यहाँ पुत्र के रूप में उत्पन्न होगा। यह सब सुनकर सिंह ने भी व्रत धारण किए और धार्मिक आचरण में रत हो गया, किन्तु आयु शेष न होने से वह वहीं मरणासन्न हो गया। कुमार कुवलयचन्द्र ने उसके कान में पंच नमस्कार मन्त्र सुनाया। शान्तिपूर्वक उसकी मृत्यु हो गयी। सिंह मरणोपरान्त वैडूर्य विमान में देव उत्पन्न हुआ।

तदनन्तर कुवलयचन्द्र दक्षिण की ओर विन्ध्याटवी में होता हुआ आगे बढ़ा। एक सरोवर के किनारे उसने एक यक्षप्रतिमा के दर्शन किये, जिसके मुकुट में मुक्ताशैल निर्मित जिन-प्रतिमा थी। वहाँ कुमार ने यक्षकन्या कनकप्रभा से भेंट की, जो यक्ष रत्नशेखर द्वारा वहाँ जिन-प्रतिमा की पूजा के लिए नियुक्त थी। कुमार जब वहाँ से चलने लगा तो कनकप्रभा ने कुमार को एक औषधिवलय उसकी रक्षार्थ भेंट की।

कुवलयचन्द्र ने नर्मदा पार की। वह संन्यासिनी ऐणिका और उसके सेवक राजकीर से मिला। राजकीर ने ऐणिका की कहानी कुमार को सुनायी। ऐणिका राजा पद्म और रानी श्रीकान्ता की पुत्री थी। बचपन में पूर्व-जन्म के पति द्वारा उसे जंगल में छोड़ दिया गया था, जहाँ वह मृगों के साथ बड़ी हुई। राजकीर ने उसे पढ़ना-लिखना सिखाया एवं सम्यक्त्व धारण कराया। कुवलयचन्द्र ने भी अपनी यात्रा का उद्देश्य उन्हें बताया। ऐणिका ने राजकीर को अयोध्या भेजकर कुमार की कुशलता के समाचार उनके माता-पिता के पास भिजवाये। तदनन्तर कुवलयचन्द्र उनसे विदा लेकर आगे चल पड़ा।

कुवलयचन्द्र मध्यपर्वत में पहुँचा तथा कांचीपुरी को जानेवाले सार्थ के साथ हो लिया। रास्ते में भिल्लों ने सार्थ पर आक्रमण कर दिया। कुमार ने साहस एवं वीरता-पूर्वक उनका मुकाबला किया। भिल्लपति ने कुमार से समझौता कर लिया और जब पता चला कि दोनों श्रावक हैं तो उनमें मित्रता हो गयी। कुवलयचन्द्र को भिल्लपति अपनी पल्ली मे ले गया, जहाँ कुमार सुख-पूर्वक रहा। वास्तव में भिल्लपति दृढ़वर्मन् के चचेरे भाई रत्नमुकुट का पुत्र दर्पपरिघ था, जो राज्य से निष्कासित होने के कारण भील बन गया था। कुवलयचन्द्र ने अपने चचेरे भाई को जैनधर्म का उपदेश दिया और दक्षिण की ओर चल पड़ा। उसके जाते ही दर्पपरिघ ने वैराग्य ले लिया।

कुवलयचन्द्र विजयपुरी पहुँचा। वहाँ उसने सुना कि कुवलयमाला ने राज्य-दरबार में एक अधूरा श्लोक लिखकर टांग रखा है, जो उसे पूरा कर देगा उसी के साथ उसकी शादी होगी। कुमार राज्य-दरबार की ओर चल पडा। रास्ते में उसने १८ देशों के बनियों के समूह को देखा। तभी एक पागल हाथी उधर आ निकला। राजमहल में हलचल मच गयी। कुवलयचन्द्र ने हाथी को वश में कर लिया। उस पर चढ़कर श्लोक (गाथा) की पूर्ति कर दी। कुवलयमाला ने माल्यार्पण करके उसे अपना वर स्वीकार कर लिया। इधर महेन्द्रकुमार भी कुवलयचन्द्र को खोजते हुए विजयपुरी पहुँच चुका था। उसने राजा महासेन को कुमार का पूरा परिचय दिया। कुमार से अयोध्या के समाचार कहे। राजा महासेन ने विवाह की लग्न की प्रतीक्षा में दोनों कुमारों को ससम्मान महल में ठहराया।

विवाह के लग्न की प्रतीक्षा में कुवलयचन्द्र एवं कुवलयमाला विभिन्न उपहारों द्वारा अपने उद्‌गारों का आदान-प्रदान करते रहे। अन्त में उत्साहपूर्वक विवाह-कार्य सम्पन्न हुआ। आमोद-प्रमोद करते हुए अवसर देखकर कुवलयचन्द्र ने कुवलयमाला को पूर्व-जन्मों का वृतान्त कह सुनाया और सम्यक्त्व पालन करने का आग्रह किया। कुवलयमाला ने उसका पालन किया।

अयोध्या से पिता का पत्र पाकर कुवलयचन्द्र अपनी पत्नी एवं महेन्द्रकुमार के साथ सास-ससुर से विदा लेकर अयोध्या की ओर चल पड़ा। सह्यपर्वत में उनकी

भेंट एक मुनिराज से हुई, जिन्होंने विस्तृत पटचित्रों द्वारा संसारदर्शन कराया। इसे देखकर महेन्द्रकुमार ने सम्यक्त्व ग्रहण किया। तदनन्तर कुमार रात्रि में कुछ धातुवादियों से मिला एवं उन्हें स्वर्ण बनाने में सहयोग दिया। अन्त में कुवलय-चन्द्र अयोध्या पहुँचा। माता-पिता ने उसका भव्य स्वागत किया और तुरन्त ही उसका राज्याभिषेक कर दिया, जिसकी पूरे नगर ने खुशी मनायी। कुमार को राज्यभार सौंप कर दृढ़वर्मन् ने सभी धर्मों की परीक्षाकर उनमें जैनधर्म को श्रेष्ठ मानकर वैराग्य ले लिया और मुनि बन गया।

कुवलयचन्द्र ने कुछ वर्षों तक राज्य किया। पद्मकेशर देव (मोहदत्त) उनके यहाँ पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ, जिसका नाम पृथ्वीसार रखा गया। पृथ्वीसार के समर्थ होते ही कुवलयचन्द्र, कुवलयमाला एवं महेन्द्रकुमार ने मुनि दर्पपरिघ से भेंट की, जिससे ज्ञात हुआ कि दृढ़वर्मन् अन्तकृत् केवली हो गये हैं। इन तीनों ने भी फिर दीक्षा ले ली। कुवलयमाला सौधर्मकल्प में उत्पन्न हुई। कुवलयचन्द्र वैडूर्य विमान में देव उत्पन्न हुआ। वहीं मुनि सागरदत्त भी मरणो-परान्त देव होकर पहुँच गये। कुछ समय तक राज्य करने के बाद अपने पुत्र मनोरथादित्य को राज्यभार सौंप कर पृथ्वीसार भी उसी विमान में देव उत्पन्न हुआ। परस्पर परिचय प्राप्त कर उन्होंने मुक्ति प्राप्ति के लिए सबको सम्बोधित करने का फिर निश्चय किया।

भगवान् महावीर के समय में कुवलयचन्द्र की आत्मा काकन्दी नगरी में राजा कांचनरथ और रानी इन्दीवर के गृह में पुत्र के रूप में उत्पन्न हुई। उसका नाम मणिरथ रखा गया। मणिरथ को शिकार का व्यसन हो गया। एक समय भगवान् महावीर काकन्दी पधारे। उन्होंने श्रोताओं एवं राजा कांचनरथ से कहा कि मणिरथ इसी जन्म से मुक्ति प्राप्त करेगा। एक मृग, जो पूर्व जन्म में मणिरथ (सुन्दरी) का पति था, मणिरथ का हृदय परिवर्तन कर देगा। उसी समय मणिरथ वहाँ आया और अपने पूर्व जन्म की कथा सुनकर उसने वैराग्य धारण कर लिया।

भगवान् महावीर जब काकन्दी से श्रावस्ती पधारे तो उन्होंने कहा कि मोहदत्त कामगजेन्द्र के रूप में उत्पन्न हुआ है। वह इसी जन्म में मुक्ति प्राप्त करेगा। तभी वहाँ कामगजेन्द्र आया और उसने वैराग्य धारण कर लिया। महावीर ने उसे बतलाया कि उसके अन्य चार साथी कहाँ-कहाँ पर हैं।

वैडूर्य विमान से सागरदत्त (लोभदेव) ने ऋषभपुर में वज्रगुप्त के रूप में जन्म लिया। ऋषभपुर निरन्तर किसी डाकू द्वारा लूटा जा रहा था। वज्रगुप्त ने सात दिन के अन्दर चोर का पता लगाने का प्रण किया। अन्त में उसने एक राक्षस को पकड़ा जो रोज नगर को लूटता था तथा उस दिन वज्रगुप्त की पत्नी को भी ले आया था। वज्रगुप्त राक्षस को मारकर उसकी सम्पत्ति का उपभोग करने

लगा। बारह वर्ष व्यतीत हो गये। अन्त में सात दिन तक लगातार उसने सुबह आकाशवाणी सुनी, जिसके द्वारा मायादित्य और चंडसोम की आत्माएँ उसे सम्बोधित कर रही थीं। वज्रगुप्त संसार से विरक्त होकर भगवान् महावीर के पास आया। दीक्षा लेकर तप करने लगा।

चंडसोम की आत्मा वैडूर्य विमान से एक ब्राह्मण परिवार के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुई, जिसका नाम स्वयम्भूदेव रखा गया। धन कमाने के लिए वह चम्पा नगरी गया। वहाँ तमाल वृक्ष के नीचे विश्राम करते हुए उसने किन्हीं चोरों का गड़ा हुआ धन देख लिया। चोरों के भाग जाने पर उसने उस धन को निकाला और अपने घर की ओर चल पड़ा। रास्ते में वह वटवृक्ष के नीचे विश्राम करने लगा। वहाँ उसने एक पक्षी और उसके परिवार के सदस्यों के बीच हुई बातचीत को सुना, जिसमें वह पक्षी संसार त्यागने की अनुमति माँग रहा था। स्वयम्भूदेव की आँखे इससे खुल गयीं और वह भगवान् महावीर के पास हस्तिनापुर चला आया। वहाँ उसने दीक्षा ले ली।

भगवान् महावीर मगध में राजगृह पहुँचे। वहाँ श्रेणिक का आठ वर्षीय पुत्र महारथ अपने स्वप्न का अर्थ पूछने लगा। महावीर ने बतलाया कि वह कुवलयमाला (मायादित्य) का जीव है तथा इसी भव से मुक्ति प्राप्त करेगा। महारथ ने दीक्षा ली और अपने अन्य चार साथियों में जा मिला। ये पाँचों भगवान् महावीर के साथ अनेक वर्षों तक रहे। जब उनका अंतिम समय नजदीक आ गया तो उन्होंने सल्लेखना धारण कर ली और आलोचना एवं प्रतिक्रमण करने के बाद अन्तकृत् केवली हो गये।[1]

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

कुवलयमालाकहा की कथावस्तु से स्पष्ट है कि ग्रन्थकार प्राचीन भारतीय संस्कृति की दो प्रमुख विचारधाराओं से पूर्णरूप से प्रभावित हैं। वे हैं :—१. पुनर्जन्म एवं कर्मफल की सम्बन्ध-शृंखला तथा २. आत्मशोधन द्वारा मुक्ति की प्राप्ति। सम्पूर्ण ग्रन्थ में इन्हीं दो विचारधाराओं का ही प्रकारान्तर से प्रस्फुटन हुआ है।

कथावस्तु से ज्ञात होता है कि ग्रन्थ में क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह के मूर्तिमान प्रतीक चडसोम, मानभट, मायादित्य, लोभदत्त, एवं मोहदत्त के चार-चार जन्मों की कहानी है। पहले जन्म में ये पाँचों यथानाम तथा गुण के अनुसार अपनी-अपनी पराकाष्ठा लांघते देखे जाते हैं। चंडसोम क्रोध के कारण अपने भाई-बहिन का वध कर देता है। मानभट मानी होने के कारण अपने माता-पिता एवं पत्नी की मृत्यु का कारण बनता है। मायादित्य अपने मित्र से कपटकर

---

१. अंग्रेजी कथावस्तु के लिए द्रष्टव्य—'जैन जर्नल' अक्टूबर १९७०.

उसे कुएँ में डाल देता है। लोभदेव लोभ के वशीभूत होकर अपने मित्र को समुद्र में डूबा देता है और मोहदत्त कामराग से अन्धा होकर अपने पिता की हत्या कर माँ की उपस्थिति में अपनी बहिन के साथ संसर्ग करने का प्रयत्न करता है।

तात्पर्य यह कि ये पाँचों व्यक्ति इस संसार में जो पाप होते हैं या हो सकते हैं—हत्या, छल-कपट, मिथ्या-घमण्ड, बेईमानी एवं व्यभिचार आदि उनका प्रतिनिधित्व करते हैं। इतना नीचे गिरते हैं जहाँ से केवल उन्हें नरक की यातनाएँ ही प्राप्त होंगी। किन्तु मानवीय जीवन के इस अन्धकारमय पहलू को उभारना ही लेखक का अभीष्ट नहीं है। अभीष्ट की प्राप्ति के लिए यह आधार-शिला भी है। भारतीय संस्कृति की आस्तिक विचारधारा इस बात की माँग करती है कि इन पाँचों व्यक्तिओं को उनके जघन्य कर्मों का पूरा फल मिलना चाहिए। अत: कर्मफल को पूर्णतया स्पष्ट करने के लिए उद्द्योतनसूरि ने इन पाँचों के अगले चार जन्मों के कथानक का निर्माण किया है। पाँचों व्यक्तियों ने जघन्य कृत्यों के बाद पश्चात्ताप ही नहीं किया, अपितु असद्वृत्तियों के परिष्कार के लिए साधु जीवन को अंगीकार कर लिया था। यही कारण है कि वे अगले जन्मों में नरक की अपेक्षा स्वर्ग में जन्म लेते हैं। यहाँ परोक्ष में उद्द्योतनसूरि स्वनिरीक्षण और आत्मालोचना के महत्व को भी प्रतिपादित कर देते हैं। वे यह भी चाहते हैं कि पाठक इन व्यक्तियों के कर्मफल को देखकर दूर से ही इन पापों से बचने का प्रयत्न करे :—

> जं चंडसोम-आई-वुत्तंता पंच ते वि कोआई।
> ससारे दुक्ख-फला तम्हा परिहरसु दूरेण ॥ २८०.२०

इसके बाद ग्रन्थ के कथानक में दूसरी सांस्कृतिक विचारधारा पृष्ठभूमि के रूप में आती है। उद्द्योतनसूरि सामान्य लेखक नहीं थे। एक ओर जहाँ उन्होने क्रोध आदि तीव्र कषायों की पराकाष्ठा प्रस्तुत की, दूसरी ओर इन कषायों के वशीभूत व्यक्तियों को मलिन आत्मा के परिशोधन का मार्ग भी उन्होंने प्रशस्त किया है। पाप कितना ही बड़ा क्यों न हो यदि उसका हृदय से प्रायश्चित्त कर लिया जाय तो उसके फल में न्यूनता हो सकती है, आगे का जीवन सुधर सकता है। इन सभी व्यक्तियों को आचार्य धर्मनन्दन की शरण में पहुँचाने के पीछे लेखक का यही उद्देश्य रहा है। परोक्ष रूप में उन अन्धविश्वासों का खण्डन करना भी, जो आत्मशोधन के बजाय स्वार्थपूर्ति के साधन अधिक थे। दूसरे शब्दों में, लेखक असद्वृत्तियों का दमन करने के स्थान पर उनका परिशोधन कर उन्हें सद्वृत्तियाँ बनाने में अधिक विश्वास करता है। यही बात वह अपने पाठकों से कहना चाहता है कि असद्वृत्तियाँ ही बलवती नहीं हैं, उन पर सद्वृत्तियों की भी विजय हो सकती है, जो संयम और तप के द्वारा सम्भव है। अधम से अधम पापी भी निराश होने के बजाय प्रायश्चित्त द्वारा वैराग्य की ओर अग्रसर हो सकता है :—

जाओ पच्छायावो जह ताणं संजमं च पडिवण्णा।
तह अण्णो वि हु पावी पच्छा विरमेज्ज उवएसो ॥ २८०.२१

मूल कथानक की पृष्ठभूमि में स्थित इन सांस्कृतिक विचारधाराओं को विकसित करने के लिए ग्रन्थकार को अन्य अवान्तर-कथाओं की संघटना भी करनी पड़ी है, जिनके प्रतिफल अलग-अलग हैं। जिनशेखरयक्ष के वृत्तान्त द्वारा तिर्यंचगति में भी सम्यक्त्व की प्राप्ति, शबर के वृतान्त द्वारा शरणागत की रक्षा, चित्रपट द्वारा संसार की विचित्रता का ज्ञान, धातुवाद द्वारा जिनेन्द्र नाम का महत्त्व, सामुद्रिक-यात्राओं और जलयान-भग्न के प्रसंगों द्वारा सांसारिक जीवन का दिग्दर्शन आदि अनेक सांस्कृतिक पक्षों का उद्घाटन होता है (अनु० ४२७)।

कुवलयमाला की कथावस्तु से एक और महत्त्वपूर्ण पक्ष उद्घाटित होता है—प्रतीकपात्रों के निर्माण की मौलिकता। भारतीय साहित्य में इसे रूपकात्मक शैली के नाम से जाना जाता है। इसमें अमूर्त भावों को रूपक आदि के द्वारा मूर्त रूप दे दिया जाता है जिससे वे सर्वाधिक प्रभाव डालने में समर्थ हो जाते हैं। उद्द्योतनसूरि ने क्रोध, मान, माया, लोभ, एवं मोह जैसी अमूर्त कषायों को पात्रों के रूप में खड़ा कर दिया है। इससे उनके स्वरूप एवं परिणामों को समझने में सहृदय को कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। साहित्य के उपयोग के क्षेत्र में उद्द्योतन का यह विशिष्ट योगदान है। अमूर्त को मूर्तविधान करनेवाली शैली का काव्यपरम्परा में सूत्रपात करनेवाले ये प्रथम आचार्य हैं। इसके वाद संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं आधुनिक भाषाओं में भी इस प्रकार के साहित्य की परम्परा चल पड़ी। सिद्धर्षि की 'उपमितिभवप्रपंचकथा', जयशेखरसूरि की 'प्रवोधचिन्तामणि', कृष्णमिश्र का 'प्रवोधचद्रोदय', हरिदेव का 'मयणपराजय-चरिउ', वुच्चराय का 'मयणजुज्झ', भारतेन्दु की 'भारतदुर्दशा' एवं जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' आदि रूपकात्मक शैली की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं[1], जिनका आदि स्रोत साहित्यिक कृति के रूप में कुवलयमालाकहा को माना जा सकता है। यद्यपि प्राचीन धार्मिक-सूत्रों में भी इस शैली के यत्र-तत्र उल्लेख मिलते हैं।

उद्द्योतनसूरि अपने ग्रन्थ में धार्मिक एवं साहित्यिक प्रवृत्तियों का ही उल्लेखकर विराम नहीं लेते, वल्कि उन्होंने इतना बड़ा कैनवास तैयार किया है कि जिसमें सम्पूर्ण जगत् चित्रित हो उठा है। अखण्ड भारत के प्रसिद्ध जनपद, सांस्कृतिक नगर, दुर्भेद्य अटवियाँ एवं नदी-पर्वत ही उनके भौगोलिक ज्ञान में समाविष्ट नहीं थे, अपितु तत्कालीन वृहत्तर-भारत एवं पड़ोसी देशों के सम्बन्धों से भी वे परिचित थे। अर्थोपार्जन के साधन, वाणिज्य-व्यापार एवं जल-थल के

१. द्रष्टव्य—डा० राजकुमार जैन, मदनपराजय (नागदेव)-प्रस्तावना, पृ० १९-२८.

यात्रा-मार्गों की उन्हें जानकारी थी। सामाजिक-संरचना, रहन-सहन एवं तत्कालीन रीति-व्यवहारों को उन्होंने निकट से देखा था। देशाटन द्वारा न केवल उन्होंने उत्तर-दक्षिण भारत के शिक्षाकेन्द्रों की गति-विधियों का ज्ञान प्राप्त किया था, अपितु समस्त भाषाओं की बारीकियों को भी हृदयंगम किया था। फलस्वरूप कला, स्थापत्य, शिल्प एवं दार्शनिक-चिंतन की धाराओं को वे सूक्ष्मता से अपने ग्रन्थ में संजो सके हैं। प्रतीत होता है कि उद्द्योतनसूरि के मन में अपने इस ग्रन्थ द्वारा वस्तु-जगत् की सम्पूर्ण जानकारी देने की प्रबल आकांक्षा थी। प्रस्तुत ग्रन्थ के अगले अध्यायों से यह बात अधिक स्पष्ट हो सकेगी।

●

परिच्छेद चार

ऐतिहासिक-सन्दर्भ

उद्द्योतनसूरि ने कुवलयमालाकहा में दो प्रकार के ऐतिहासिक सन्दर्भ प्रस्तुत किये हैं : १. पूर्व आचार्यों एवं कृतियों का उल्लेख तथा २. ऐतिहासिक राजाओं के सन्दर्भ। इन दोनों प्रकार के सन्दर्भों का अध्ययन अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। एक ओर इनसे जहाँ उद्द्योतन के विस्तृत ज्ञान का पता चलता है, वहाँ दूसरी ओर कुछ ऐतिहासिक गुत्थियाँ भी सुलझती हैं।

पूर्व आचार्यों के स्मरण की परम्परा

अपने से पूर्ववर्ती कवियों और लेखकों को स्मरण करने की यह पद्धति गद्य-कथाओं का आवश्यक अंग समझी जाने लगी थी। कालिदास, सुबन्धु एवं बाण ने अपनी रचनाओं में पूर्ववर्ती कवियों को नमस्कार या स्मरण किया है। बाण के बाद के लेखकों में तो यह प्रवृत्ति और अधिक बढ़ी हुई मिलती है। धनपाल ने तिलकमंजरी में तथा पुष्पदन्त ने महापुराण की उत्थानिका में अनेक पूर्ववर्ती कवियों को स्मरण किया है।[1] प्राकृत और अपभ्रंश के प्रायः सभी कवियो ने इस परिपाटी का अनुसरण किया है। पूर्व के कवियों की रचनाओं के परिप्रेक्ष्य में लेखक अपनी रचना की नवीनता स्पष्ट कर सके, इसके लिए उनको स्मरण करना आवश्यक रहा होगा। उद्द्योतनसूरि के कवि-स्मरण-प्रसंग द्वारा यह बात स्पष्ट हो जाती है। उनका कहना है कि यद्यपि पूर्वकवियों ने जगत् में शायद ही कोई ऐसी बात हो जो न कही हो, किन्तु वस्तुओं (के नानात्मक रूपों) को अनन्त अर्थों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है, इसलिए मैं कथा को रचना कर रहा हूँ :—

एयाण कहाबंधे तं णत्थि जयम्मि जं कह वि चुक्कं।
तहवि अणन्तो अत्थो कीरइ एसो कहा-बंधो।।४.४।।

---

१. प्रेमी, नाथूराम—जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३२५.

प्राचीन ग्रन्थकार और उनके ग्रन्थ

उद्द्योतनसूरि ने कुवलयमालाकहा में अपने पूर्ववर्ती २२ ग्रन्थकारों एवं ३१ रचनाओं का उल्लेख किया है। वर्णनक्रम से उनका परिचय इस प्रकार है :—

छप्पण्णय—छप्पण्णय का अर्थ स्पष्ट नहीं है। उद्द्योतन ने इस शब्द का तीन बार प्रयोग किया है (३.१८, २५ एवं १७७.२)। प्रथम में पादलिप्त और सातवाहन के नाम के अनन्तर समस्त पद में[1], द्वितीय में बहुवचन में निर्देश है जिन्हें कविकुंजर कहा गया है[2] तथा तीसरे में एक चित्रालंकार युक्त पद्य का उल्लेख करते हुये कहा गया है कि इस पद्य को पढ़कर छप्पण्णय की बुद्धि के विकल्पों से मति का विस्तार होता है (१७७.२)। इन तीनों सन्दर्भों से एक तो यह स्पष्ट है कि यह कवि के बारे में ही उल्लेख है।[3] दूसरे, समासान्त पद और बहुवचन में आने के कारण यह स्पष्ट नहीं है कि यह किसी एक कवि का नाम था (जैसा की प्रथम सन्दर्भ से आभासित होता है) अथवा विशिष्ट कवि-परम्परा का। इतना अवश्य लगता है कि छप्पण्णय विदग्ध भणितिओं और चित्रवचनों के प्रयोग में दक्ष थे।

यदि डा० उपाध्ये के अनुसार छप्पण्णय का संस्कृत रूप षट्प्रज्ञ मान लिया जाये तो उससे भी यही प्रमाणित होता है कि यह कवि या कवि-परम्परा अत्यन्त विचक्षण एवं विदग्ध थी। डा० उपाध्ये ने यह लिखा है कि यह किसी एक कवि का नाम न होकर कवि समुदाय का नाम था। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल भी इसी मत को मानते हैं और वे छप्पण्णय को कवि-समूह (क्लब आफ पोईट्स) बताते है। जो भी हो, इतना निश्चित है कि पादलिप्त, सातवाहन, व्यास, वाल्मीकि के साथ छप्पण्णय का उल्लेख और साथ ही यह कहना कि उनके साथ अनेक कविकुंजरों की उपमा दी जाती है, इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि उद्द्योतनसूरि स्वयं छप्पण्णय से अत्यन्त प्रभावित थे। यह दुर्भाग्य ही है कि छप्पण्णय को किसी कृति या संकलन का उल्लेख न उद्द्योतनसूरि ने किया है और न आज हमे प्राप्त हो होता है।

पादलिप्त एवं तरंगवती—उद्द्योतनसूरि ने श्लेषालंकार द्वारा इनका परिचय दिया है। जिस प्रकार पर्वत से गंगानदो प्रवाहित हुई है, उसो प्रकार चक्रवाक युगल से युक्त सुन्दर राजहंसी को आनन्दित करनेवालो तरंगवती कथा पादलिप्तसूरि से निःसृत हुई (३.२०)। पादलिप्तसूरि का जन्म का नाम नगेन्द्र था, साधु होने पर आप पादलिप्त कहलाये। आप सातवाहनवंशी राजा हाल के दरबारी कवि थे। इनका समय ई० सन् ७८-१६२ के मध्य माना जाता

---

१. पालित्तय-सालाहण-छप्पण्णय-सीह-णाय-सद्देहिं—(३.१८)।

२. छप्पण्णयाण किं वा भण्णउ कइ-कुंजराण भुवणम्मि। (३.२५)।

३. 'छप्पण्णय गाहाओ' जर्नल आफ द ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट बड़ोदा, भाग ११, नं० ४, पृ० ३८५-४०२ पर डा० उपाध्ये का लेख।

है। इनकी प्राकृत कथाकृति तरंवती मूलरूप में प्राप्त नहीं है। तरंगलोला नाम से उसका संक्षिप्तरूप प्राकृत में उपलब्ध है, जो सम्भवतः पादलिप्त के सौ वर्ष बाद लिखा गया था। इसमें तरंगवती नामक युवती के पूर्व-जन्म के प्रेम एवं वर्तमान जन्म के वैराग्य की कथा वर्णित है।[1]

हाल एवं गाथासप्तशती—पादलिप्त के साथ हाल का उल्लेख हुआ है। हाल ने कोश की रचना की थी। कोश का आशय यहाँ हाल की गाथासप्तशती से है, जिसका प्राचीन नाम गाथाकोष था।[2] गाथासप्तशती मुक्तककाव्य है, इसमें प्रसिद्ध कवियों की लगभग सात सौ गाथाओं का संकलन है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल साधारणतः ई० प्रथम शताब्दी माना जाता है। यह ग्रन्थ सांस्कृतिक दृष्टि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है।[3]

गुणाढ्य एवं बृहत्कथा—'ब्रह्मा स्वरूप गुणाढ्य की सरस्वती स्वरूप बृहत्कथा सभी कलाओं से युक्त कविजनों को शिक्षा देनेवाली है (३.२३)।' उद्द्योतनसूरि का यह कथन बृहत्कथा और गुणाढ्य के महत्त्व को प्रकट करता है। वर्तमान में महाकवि गुणाढ्य की बृहत्कथा मूलरूप में उपलब्ध नहीं है, किन्तु उस पर आधारित सोमदेव द्वारा रचित कथासरित्सागर उसके विकसित स्वरूप को प्रकट करता है। गुणाढ्य एवं उनकी बृहत्कथा पर विन्टरनित्ज,[4] कीथ,[5] डा० उपाध्ये,[6] आदि ने विशेष प्रकाश डाला है।

महाभारत और रामायण—उद्द्योतन ने इन दोनों महाकाव्यों के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए कहा है कि व्यास और वाल्मीकि ने इतनी महान् रचनाएँ कर दी हैं कि उनको लांघना दुष्कर है (३.२४)। इससे ज्ञात होता है कि सातवीं, आठवीं सदी में भी इन महाकाव्यों का पर्याप्त महत्त्व था। बाण ने कहा है कि महाभारत की कथा तीनों लोकों में फैल गयी थी।[7]

बाण और कादम्बरी—बाण सातवीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि थे। उनकी कादम्बरी कथा तत्कालीन कवियों में पर्याप्त सराही जाती थी। उद्द्योतनसूरि ने चन्द्रापीड की जाया कादम्बरी और बाण की कृति कादम्बरी की श्लेषालंकार से प्रशंसा करते हुए उसे लावण्य और वदन से सुभग (सौन्दर्य तथा उक्तिसौष्ठव

---

१. द्रष्टव्य—हिन्दीसार—'तरंगवती'—ज्ञानभारिल्ल, बीकानेर।
२. श्री वा० वि० मिराशी—'द ओरिजनल नेम आफ द गाथा-सप्तशती', नागपुर ओरियन्टल कान्फ्रेंस (१९४६), पृ० ३७० ७४.
३. दृष्टव्य—लेखक का—'गाथासप्तशती की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि' नामक लेख।
४. विन्टरनित्ज, हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, भाग २.
५. ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० २६६-८१.
६. 'पैशाची लेंग्युएज एण्ड लिटरेचर,' एनल्स आफ द भंडारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, भाग २१, (१९४०), पार्ट १ २.
७. 'कथैव भारती व्याप्नोति जगत्त्रयम्'—हर्षचरित।

से सुन्दर), सुन्दर वर्ण (रंग) और रत्नों से उज्ज्वल (तथा सुन्दर शब्द-रत्नों से उज्ज्वल) कहा है (३.२६)। बाण की कादम्बरी आज भी अपनी रसात्मकता के लिए पर्याप्त प्रसिद्ध है।

विमल एवं पउमचरियं—उद्द्योतनसूरि को विमल का 'पउमचरियं' अमृत-सदृश सरस प्रतीत होता था तथा विमल कवि की प्रतिभा को पाना वे कठिन मानते थे (३.२७)। वास्तव में पउमचरियं कृति ही ऐसी है, जिसका गुणगान कई कवियों ने किया है। यह रामकथा से सम्बद्ध सर्व प्रथम प्राकृत चरित काव्य है। संस्कृत साहित्य में जो स्थान वाल्मीकि रामायण का है, प्राकृत में वही स्थान इसका है। इसके रचयिता विमलसूरि जैन आचार्य थे। प्रशस्ति में इनका समय ई० सन् प्रथम शती है, पर ग्रन्थ के अन्तः-परीक्षण से इसका रचनाकाल ३-४ शती प्रतीत होता है।[1]

देवगुप्त एवं सुपुरिसचरियं—उद्द्योतनसूरि ने देवगुप्त नाम के महाकवि का दो वार उल्लेख किया है (३.२८, २८२.८)। सम्भवतया देवगुप्त प्रसिद्ध गुप्तवंश के कोई राजर्षि थे। इनके 'सुपुरिसचरियं' का अभी तक पता नहीं चला है।

बंदिक एवं हरिवंश—कुवलयमाला के इस प्रसंग की १२वीं गाथा[2] (३.२९) के अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद रहा है[3], जिसका उल्लेख डा० उपाध्ये ने अपनी भूमिका के नोटस् (पृ० १२६) में किया है। उन्होंने इस गाथा के हरिवरिसं पाठ को शुद्ध मानकर 'हरिवर्ष' को सुलोचनाकथा का लेखक स्वीकार किया है। तथा '**वंदियं**' शब्द को '**वन्द्यमपि**' मानकर इसे हरिवर्ष का विशेषण मान लिया है।

किन्तु 'वंदिय' एवं 'हरिवरिसं' इन दोनों शब्दों के पाठान्तर तथा अन्य साक्ष्यों[4] के आधार पर प० अमृतलाल भोजक ने एक नयी बात कही है। वे बंदिक कवि की 'हरिवंश' नामक पौराणिक रचना का यह उल्लेख मानते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने जो प्रमाण[5] दिये हैं उनसे उनके इस मत को स्वीकारा जा

१. द्रष्टव्य—'पउमचरियं' सं० डा० भयाणी, प्रथम भाग।

२. बुहयण-सहस्स-दइयं हरिवंसुप्पत्ति-कारयं पढमं।
वंदामि वंदियं पि हु हरिवरिसं चेय विमल-पयं। — कुव० ३ २९.

३. डा० जी०सी० चौधरी—'तथाकथित हरिवंशचरियं की विमलसूरि-कर्त्तृता का निरसन'—जैनसिद्धान्तभास्कर, भाग २६, किरण २.

४. श्रीभोजक द्वारा स्वीकृत पाठान्तर—**बंदामि बंदियं वि हु हरिवंसं चेव विमलपयं।**

५. प्रथम प्रमाण-पाठभेद, द्वितीय प्रमाण—कुव० के संस्कृतरूपान्तरकार द्वारा बन्दिक कवि का उल्लेख तथा तृतीय प्रमाण—'बृहत् टिप्पनिका' नाम की जैन ग्रन्थों की सूची में—"**हरिवंश चरित सं० बंदिककविकृतं पुराणभाषानिबद्धं नेम्या-दिवृत्तवाच्यं ६०००**" इस तरह का उल्लेख।

द्रष्टव्य—'सम्बोधि' (त्रैमासिक)—भाग १, नं० ४, जनवरी ७३, पृ० १-४.

सकता है। ९वीं शताब्दी के आचार्य श्री जयसिंहसूरिकृत धर्मोपदेशमाला-विवरण के सन्दर्भ के अनुसार बंदिक कवि जैनाचार्य-श्रमण थे तथा उनके ग्रन्थ हरिवंश की भाषा संस्कृत थी।[1]

हरिवर्ष एवं सुलोचनाकथा[2]—डा० उपाध्ये का कथन है कि हरिवर्ष कवि ने सुलोचनाकथा नाम की कोई कृति लिखी होगी, जिसका स्मरण उद्योतन ने किया है। अन्यत्र भी सुलोचनाकथा के सन्दर्भ मिलते हैं। कृति मिलने पर इस पर अधिक प्रकाश पड़ सकेगा।[3]

किन्तु उपर्युक्त विवरण द्वारा 'हरिवंश' ग्रन्थ का नाम है, यह निश्चित हो चुका है। अतः सुलोचनाकथा का लेखक कोई अन्य रहा होगा, जिसका स्पष्ट नामोल्लेख इस गाथा (३.३०) में नहीं है। यदि इस गाथा में प्रयुक्त 'जेण' सर्वनाम का सम्बन्ध पूर्ववर्ती गाथा से माना जाय तो बन्दिक कवि को इस सुलोचनाकथा का लेखक माना जा सकता है। किन्तु पं० दलसुखभाई मालवणिया 'जेण' सर्वनाम का सम्बन्ध परवर्ती गाथा[4] (३.३१) से मानते हैं। तदनुसार कवि प्रभंजन इस सुलोचनाकथा के कर्त्ता होना चाहिए। अभी तक इन दोनों सम्भावनाओं की पुष्टि के लिए अन्य दूसरे प्रमाण उपलब्ध नहीं है। सुलोचनाकथा नामक इस कृति के मिलने पर ही निश्चयपूर्वक कुछ कहा जा सकेगा।

प्रभंजन एवं यशोधरचरित—उद्योतनसूरि ने कहा है कि शत्रु के यश को हरण करनेवाला, 'यशोधरचरित' द्वारा लोक में प्रसिद्ध तथा पाप-मल को नष्ट करनेवाला प्रभंजन नाम का राजर्षि था (३.३१)। अभी तक यशोधरचरित नाम के जितने ग्रन्थ मिले हैं[5], उनमें प्रभंजन का यह ग्रन्थ सबसे प्राचीन प्रतीत होता है।[6]

रविषेण एवं पद्मचरित—'पद्मचरित' में महाकवि रविषेण ने रामकथा संस्कृत में लिखी है। इनका समय लगभग ७७६ ई० माना जाता है। पद्मचरित अब हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित हो चुका है। रविषेण और उद्योतन एक

---

१. वही, 'कवि बंदिक' नामक लेख का दूसरा भाग।
२. संणिहिय-जिणवरिंदा धम्मकहा-बंध-दिक्खिय-णरिंदा।
कहिया जेण सुकहिया सुलोयणा समवसरणं व ॥
३. The verse itself does not mention the name of the author but it has Pronoun जेण which, usually, should go with the author mentioned in the earlier verse. In that case हरिवर्ष will have to be taken as the author of सुलोचनाकथा.—Kuv. Int. (Notes), P. 126.
४. सत्तूण जो जस-हरो जसहर-चरिएण जणवए पयडो।
कलि-मल-पभंजणो च्चिय पभंजणो आसि राय-रिसी ॥
५. द्रष्टव्य—डा० जी० सी० जैन—य० सां० अध्ययन, पृ० ५०-५६.
६. 'जसहरचरिउ'—सं० पी०एल० वैद्य, कारंजा, १९३१ प्राक्कथन, पृ० २४-२५.

हो समय के होने के कारण परस्पर परिचित भी हो सकते हैं तथा इन दोनों के ग्रन्थों में कुछ पारस्परिक प्रभाव खोजे जा सकते हैं।

जटिल एवं वरांगचरित—६-७वीं शदी का वरांगचरित एक प्रसिद्ध धर्मकथा ग्रन्थ है। इसके रचयिता जटासिंहनन्दि थे, जो जटिल अथवा जटाचार्य के नाम से प्रसिद्ध थे।[1] इनका समय सातवीं शताब्दी का अन्तिम चरण निर्धारित किया गया है।[2] वरांगचरित में वरांग नामक राजकुमार की साहसिक यात्राओं एवं धर्माचरण का वर्णन है।

हरिभद्रसूरि और समरमियंककथा—उद्द्योतनसूरि ने अपने गुरु का स्मरण करते हुए उनकी समराइच्चकहा का भी उल्लेख किया है। समयमियंक-कहा समराइच्चकहा का अपरनाम है। इस विषय पर डा० उपाध्ये ने पर्याप्त प्रकाश डाला है।[3] इस कथा में गुणसेन और अग्निशर्मा के नौ भवों की जीवन-गाथा वर्णित है। प्राकृतसाहित्य की यह अनुपमकृति है।

अभिमान, पराक्रम साहसांक एवं विणए—इन कवियों के अतिरिक्त ग्रन्थ (४-३) में अन्य महाकवियों का भी उल्लेख किया गया है जो गौरव गाथा की कथा का चिंतन-मनन और सृजन करते थे:—

> **अण्णे वि महा-कइणो गरुय-कहा-बंध-चिंतिय-मईओ।**
> **अभिमाण-परक्कम-साहसंक-विणए विइंतेमि।।४-३**

इस पद्य के द्वितीयार्थ में अभिमान, पराक्रम और साहसांक के नाम स्पष्ट है। अन्त में शायद किसी 'विण' या 'विणए', 'वृण' का भी उल्लेख माना जा सकता है। ये सभी कवियों के उपनाम रहे होंगे, ऐसा प्रतीत होता है। प्रथम दो और अन्तिम कवियों के सम्बन्ध में और कोई जानकारी प्राप्त नहीं है, पर साहसांक को डा० बुद्धप्रकाश ने सम्राट् चन्द्रगुप्त का साहित्यिक उपनाम माना है।[4] साहसांक के सदृश विरहांक उपाधि भी कवियों द्वारा धारण की जाती थी। उद्द्योतन के गुरु आचार्य हरिभद्रसूरि 'विरहांक' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। अतः उपर्युक्त उपाधियो वाले कवियो का अस्तित्व भी रहा होगा।

उद्द्योतनसूरि द्वारा उपर्युक्त कवियों एवं उनकी रचनाओं को स्मरण करने से यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपने से पूर्व की साहित्यिक परम्परा का गहन अध्ययन अवश्य किया होगा। इस महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ से अभी तक अज्ञात कवियों एवं उनकी रचनाओं को खोजने का प्रयत्न भी किया जा सकता है।

---

१. 'वरांगचरित' डा० उपाध्ये, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, १९३८, पृ० ६२.
२. वही, ६५-६६.
३. भारतीय विद्या, ७, पृ० २३-४, बम्बई, १९४७.
४. 'समुद्रगुप्त एण्ड चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य एज संस्कृत पोयट्स्'— विश्वेश्वरानन्द जर्नल, मार्च १९७१.

अन्य फुटकर ग्रन्थ

उपर्युक्त कवियों एवं उनकी रचनाओं के अतिरिक्त कुवलयमालाकहा में यत्र-तत्र अन्य फुटकर ग्रन्थों एवं लेखकों का भी उल्लेख हुआ है। यथा—भरत और उनका भरतशास्त्र (१६.२३), विसाखिल—युद्धशास्त्रप्रणेता (१६.२३, १२३.२४), बंगालऋषि और बंगाल-जातक (२०.२,३)—राशिफल एवं ज्योतिष का ग्रन्थ।[1] मनु एवं मनुस्मृति तथा मार्कण्डेय एवं सम्भवतः उनका पुराण। चाणक्य एवं उनका चाणक्यशास्त्र (सम्भवतः अर्थशास्त्र)—(५६-२८)।

अन्य प्रसंगों में निम्न ग्रन्थों का उल्लेख कुवलयमाला में हुआ है—योनि-पाहुड (३४.२४), गीता (४८.१७, ८२.२३) गायत्री (११२.२२), कामशास्त्र (७८.६), समुद्रशास्त्र (१२६.३), तन्त्राख्यान (२३६.३०), नीतिशास्त्र (२५५.२६), धम्मिल्लहिण्डी (२८१.११), वसुदेवहिण्डी एवं सुपुरिसचरिय (२८२.८)। इनके अतिरिक्त जैन मुनियों के अध्ययन के प्रसंग में आचारांग आदि ११ अंग शास्त्रों के नाम भी उल्लिखित हैं (३४.११, १८)। 'विपाकसूत्र' का उल्लेख नहीं है, जो स्वयं कवि अथवा लिपिकार की असावधानी से छूट गया है।[2]

प्राचीन ग्रन्थों के उद्धृत अंश

कुवलयमाला कहा में प्राचीन ग्रन्थों के नामों का ही उल्लेख नहीं है, अपितु कई प्राचीन ग्रन्थों के महत्त्वपूर्ण अंश भी उद्धृत किये गये हैं। उनका प्राचीन ग्रन्थों से मिलान करना समय एवं अध्ययन सापेक्ष है। जिस प्रकार डा० उपाध्ये ने कुवलयमाला के संस्कृत भाषा के उद्धरणों को एकत्र कर उनके स्रोत खोजने का प्रयत्न किया है,[3] वैसे ही विभिन्न प्राकृतों के उद्धरण, अपभ्रंश के उद्धरण एवं शकुन, नक्षत्रविद्या व सामुद्रिकविद्या के उद्धरणों के मूल स्रोतों का भी पता लगाया जा सकता है। इससे उद्द्योतनसूरि के विस्तृत ज्ञान का तो पता चलेगा ही, कई नये ग्रन्थ भी प्रकाश में आ सकते हैं। ग्रन्थ में उपलब्ध कुछ उद्धरण एवं सूक्तियाँ यहाँ प्रस्तुत हैं :—

नीति-वाक्य

१. जिन कार्यों को व्यक्ति हृदय से नहीं करता वे नष्ट हो जाते हैं। हृदय से कार्य करने पर बड़े-बड़े कार्यों को सिद्ध किया जा सकता है (१३.२०)।

---

१. द्रष्टव्य-डा० उपाध्ये—'वङ्कालकाचार्य—ए फार्गाटन अथारटी आन्, अस्ट्रालाजी' —पी० के० गुणे स्मृतिग्रन्थ, पृ० २०३—४, पूना, १९६०.

२. द्रष्टव्य, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १, प्रस्तावना, पृ० ३४.

३. 'ब्रह्मविद्या' जुबलीसंस्करण, भाग १—४, १९६१.

२. भाग्य के अनुकूल न होने पर अर्थ, विद्या, एवं अन्य हजारों गुण होने पर भी मनुष्य का कार्य नष्ट हो जाता है (१२.२४)।

३. यदि विमल यश की आकांक्षा है तो अपनी प्रशंसा मत करो (४३.३२)।

४. आत्मप्रशंसा दुर्जनों का मार्ग है (४६.३)।

५. धर्म, अर्थ काम से रहित, बुधजनों के निंदक तथा गुणों से हीन व्यक्ति मृतसदृश होकर जीते हैं (४८.१४)।

६. सत्पुरुष दीनों पर स्वभाव से ही वत्सल होते हैं (४९.१३)।

७. जो मूढ़ व्यक्ति मन से भी किसी का बुरा सोचता है तो स्वयं उसका ही बुरा होता है (५८.२६)।

८. प्रियविरह, अप्रिय-दर्शन, धनक्षय एवं विपत्तियों में जो नहीं घबड़ाते वे पुरुष हैं, शेष महिलाएँ (५९-७)।

९. हिम सदृश शीतल, चन्द्रसदृश विमल तथा मृणाल सदृश मुदु सज्जन पुरुष पद-पद पर अपमानित (खंडित) होने पर भी अपना स्नेह नहीं त्यागते (६३.१०)।

१०. आलिंगन किये जाने पर भी लक्ष्मी साहसहीन पुरुषों को उसी प्रकार त्याग देती है जैसे गोत्रस्खलन करनेवाले प्रेमी को उसकी प्रेमिका (६६.१९)।

११. भाग्य के द्वारा जो कार्य निश्चित हो गया है उस पर व्यक्ति को रोष नहीं करना चाहिए (६७.२८)।

१२. अपने भुजबल द्वारा सैकड़ों दु:खों से अर्जित धन का जो दान करता है, वही प्रशंसनीय है, शेष तो बेचारे चोर हैं (१०३.२३)।

१३. जिस प्रकार हवा से उड़नेवाला धूल का एक कण भी आँख में गिर जाने से दु:ख देता है उसी प्रकार थोड़ा-सा भी अपमान विमल सज्जनों के हृदय को भेद देता है (१०३.२९)।

१४. व्यक्ति के रूप से कुल का, कुल से शील का, शील से गुणों का तथा गुणों से उसकी शक्ति का पता चल जाता है (१०५.२२)।

१५. जो कुछ कभी दूसरों के द्वारा न कथा में सुना, न स्वप्न में देखा और न हृदय में स्थित होता है वह भी विधि के द्वारा उपस्थित कर दिया जाता है (१०६.३१)।

१६. लोक में जो व्यक्ति धन, मान से हीन एवं अपने अपराध को जानने वाले होते हैं। नि:संदेह उनके लिए विदेश या वन में ही शरण होती है (११८.१३)।

१७. यदि पाताल, अटवी, पर्वत, वृक्ष एवं समुद्र में भी कोई प्रवेश कर जाय तो भी मृत्यु-सिंह वहाँ भी उसे नहीं छोड़ता (११९.२२)।

सूक्तियाँ

१. पुत्रहीन की गति नहीं है (१३.२२)।
२. डोंब के कबूतर को भेरीशब्द से क्या (३८.२१)?
३. कुम्हारिन के प्रसूता होने पर लुहारिन द्वारा घी पीने से क्या (४८.२७)?
४. लोक में नारियों के लिए पति देवता होते हैं (५४.२१, २६५.२६)।
५. महानिधि को प्राप्त करने में उत्पात होते ही हैं (७९ १०)।
६. अज्ञान दुःख और भय का कारण है (८०.१)।
७. महिला के हृदय की गति और देवगति सर्वथा चपल होती है (१०५.४)।
८. अपना दुःख उससे कहना चाहिए जो हृदय के काँटे को निकाल सके (१०७.१२)।
९. सुन्दरता अथवा कुरूपता प्रेम का कारण नही होती (१०७ २९, २३२-३३)।
१०. मिलन और विछोह करानेवाली दृष्टि में जो पड़ जाय वही प्रियतम हो जाता है (१०७-३०)।
११. सत्पुरुष प्रतिज्ञा भंग नहीं करते (१०८.१७)।
१२. महिलाएँ प्रकृति से ही किसी कार्य में स्थिर नहीं होतीं (१२१.२२)।
१३. महिलाएँ निम्न-कोटि के कार्यों की ओर प्रवृत्त होती हैं (१२१.२३)।
१४. तपस्वियों के लिए असाध्य क्या है (१२२-१६)?
१५. सज्जन कभी दूसरों को दुःख देनेवाले वचन नहीं बोलते (१३४ १)।
१६. सज्जन के समागम से सज्जनों को कभी संतोष नहीं होता (१३४.३)।
१७. जिसके हृदय में व्यवहार-कुशलता हो ऐसे प्रियजन को कौन छोड़ता है (१४७.१९)?
१८. लोक में कुल-बालिकाएँ शीलवती होती हैं (१८१-१२)।
१९. यह जगत् में प्रसिद्ध है कि विष की औषधि विष ही होती है (२३६-३)।
२०. वैद्य को बुलाने कोई अकेला नहीं जाता है (२३६-१७)।

२१. यार होकर के अब तुम घर के मालिक बन गये (२५२.२२)।
२२. जल में रहकर मगर से बैर नहीं होता (२५४.५)।
२३. पूँछ पकड़ने में हाथी का ध्यान नहीं रहता (२०४-१७)।
२४. पत्थर की शिला कहीं जल पर तैरती है (२०४.२१) ?
२५. विष भी कभी अमृत हुआ है (२०४-३३) ?
२६. अग्नि कभी शीतल हुई है (२०५-५) ?

इनमें कुछ सूक्तियाँ ऐसी हैं जो संस्कृत में सुप्रसिद्ध हैं; जैसे—

१. अपुत्रस्य गतिर्नास्ति।
२. विषस्य विषमौषधम्।

इसके अतिरिक्त स्त्रियों, सज्जनों, भाग्य आदि के सम्बन्ध में कवि का जो सूक्तिगत दृष्टिकोण है वह अनेक संस्कृत सुभाषितों में बिखरा पड़ा है। उदाहरण के लिए स्त्रियों के सम्बन्ध में कथासरित्सागर की कुछ सूक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं:—

१. प्रत्ययः स्त्रीषु मुष्णाति विमर्शं विदुषामपि।
२. प्रायः स्त्रियो भवन्तीह निसर्गविषमाः शठाः।
३. बत स्त्रीणां प्रगल्भानां चञ्चलाश्चित्तवृत्तयः।
४. भर्तारं हि विना नान्यः सतीनामस्ति बान्धवः।
५. भर्तृमार्गानुसरणं स्त्रीणां च परमं व्रतम्।

उद्द्योतनसूरि के समस्त सूक्ति-नीति-वाक्यों का तुलनात्मक अध्ययन एक ओर तो उनके प्रेरणामूल साहित्य को जानने में सहायक होगा और दूसरी ओर उनके साहित्यिक वैशिष्ट्य को सूक्ति-परम्परा के आधार पर रेखांकित कर सकेगा।

सज्जन-दुर्जन वर्णन

उद्द्योतनसूरि ने कथा प्रारम्भ करने से पूर्व सज्जन-दुर्जन व्यक्तियों के स्वभाव की भी चर्चा की है। इस वर्णन द्वारा वे अपनी कथा का क्षेत्र अधिक व्यापक करना चाहते हैं और अपनी त्रुटियों के प्रति विनम्र भाव भी व्यक्त करना चाहते हैं। सज्जन-दुर्जन का वर्णन कृतियों में देने की परम्परा का प्रथम उल्लेख कालिदास ने रघुवंश (१-१०) में किया है। महाकवि बाण ने कादम्बरी में सज्जन-दुर्जन स्वभाव को सुन्दर ढंग से स्पष्ट किया है और यह कथा प्रारम्भ करने से पूर्व उन्हें स्मरण किया है।[१] उद्द्योतनसूरि का प्रस्तुत प्रसंग कादम्बरी[२]

---

१. अकारणाविष्कृतवैरदारुणादसज्जनात्कस्य भयं न जायते।
विषं महाहेरिव यस्य दुर्वचः सदुःसहं संनिहितं सदा मुखे॥
इत्यादि। काद० पृ० ५-७.

२. अ०—का० सा० अ०, पृ० १४.

से विस्तृत एवं विशिष्ट है। ग्रन्थकार ने दुर्जन को कुत्ता, काग, खर, कालसर्प, विष, खली एवं अशुचि पदार्थ सदृश तथा सज्जन को पूर्णचन्द्र, मृणाल, गज, मुक्ताहार एवं समुद्र-सदृश कहा है (४.५)। कालान्तर में यह अभिप्राय संस्कृत-प्राकृत और अपभ्रंश काव्यों की परम्परा में प्रयुक्त होता हुआ हिन्दी के प्रबन्ध-काव्यों में भी पाया जाता है, जिसका सर्वोत्तम उदाहरण तुलसीदास के रामचरित-मानस में मिलता है।[1] कुवलयमाला के इस वर्णन का अनुकरण गुणपाल ने अपने जम्बुचरियं में किया है। एक-दो गाथाएँ भी मिलती-जुलती हैं—पृ० १.२, गाथा नं० ६)।

ऐतिहासिक राजाओं के सन्दर्भ

कुवलयमालाकहा यद्यपि एक कथा ग्रन्थ है, किन्तु प्रसंगवश उद्द्योतनसूरि ने कई ऐतिहासिक तथ्य उद्घाटित किये हैं, जिनसे राजस्थान एवं मालवा के इतिहास पर नवीन प्रकाश पड़ सकता है। लेखक ने न केवल प्राचीन कवियों का, अपितु कई ऐतिहासिक राजाओ का भी ग्रन्थ में उल्लेख किया है। विभिन्न प्रसंगों में निम्न २७ राजाओं के नाम उल्लिखित हैं, जिनमें से अधिकांश ऐतिहासिक हैं :—

अवन्ति (२३३.१९), अवन्तिवर्द्धन (५०.३१), कर्ण (१६.१९), कोसल (७३.३), चन्द्रगुप्त (२४७.१३), चारुदत्त (२३.१०), जयवर्मन् (७५.१०), तोरमाण (२८२.६), दिलीप (१५.११), देवगुप्त (३ २८, २८२.८), देवराज (२३.१०), दृढ़वर्मन् (९ १३), नल (१५.११), नहुप (१५.११), प्रभजन(३.३१), पांडव (२७.१६), बलिराज (२३.१०), भरत (१५.११), भिगु (१२३.१६), भीम (२३.११), मंधात (१५.११), महेन्द्र (९९ १४), माधव (कृष्ण) (१५.११), रणसाहस (२३.१०), विजयसेन (१६२.१), महासेन (११०.८), विजयनराधिप (१२५.४), वोप्पराज (२३.९), वैरिगुप्त (२५०.८), श्रीवत्सराजरणहस्तिन् (२८३.१), श्रीवत्स (१२५.३), श्रीवर्द्धन (१२५ ३), शीलादित्य (२३.१०), शूरषेण (२३.१०), सगर (१५.११), हाल (३.१९) एवं हरिगुप्त (२८२.७)।

इनमे से कुछ ऐतिहासिक राजाओं की पहचान एवं परिचय इस प्रकार है :—

अवन्ति एवं अवन्तिवर्द्धन

कुवलयमाला में उद्द्योतन ने अवन्ति नरेश के सम्बन्ध में तीन प्रमुख सन्दर्भ दिये हैं। प्रथम संदर्भ में उज्जयिनी के राजा की सेवा में कोई क्षत्रिय वंश उत्पन्न क्षेत्रभट नाम का एक ठाकुर रहता था। बाद में उसके पुत्र वीरभट एवं उसके पुत्र शक्तिभट ने उज्जयिनी के राजा की सेवा की। शक्तिभट क्रोधी स्वभाव का था। एक बार राज्य-सभा में शक्तिभट आया। उसने राजा अवन्तिवर्द्धन को प्रणाम कर अपने आसन की ओर देखा, जहाँ भूल से कोई पुलिंदराजपुत्र बैठ

१. अ०-का० सां० अ०, पृ० १४.

गया था। शक्तिभट ने उसे न केवल अपने आसन से उठा दिया, अपितु इसमें अपना अपमान समझ कर उसकी हत्या भी कर दी और वहाँ से भाग गया।[1]

इस प्रसंग में **'राइणो अवन्तिवद्धणस्स कय-ईसि-णमो-क्कारो'** का उल्लेख अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ हुआ कि उज्जयिनी का राजा अवन्तिवर्द्धन था, जिसकी सभा में वंश-परम्परा से सेवक ठाकुरों का अधिक सम्मान था तथा पुलिंद राजकुमार भी वहाँ उपस्थित रहते थे। यह अवन्तिवर्द्धन राजा कौन था, अवन्ति के राजनैतिक इतिहास की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है?

उद्द्योतन ने एक दूसरे सन्दर्भ में उज्जयिनी के राजा का नाम श्रीवत्स कहा है, जो पुरन्दर के समान सत्य और वीर्यशाली था। उसका पुत्र श्रीवर्द्धन था।[2] सम्भव है, उपर्युक्त प्रसंग के अवन्तिवर्द्धन एवं इस श्रीवर्धन में कोई वंशानुगत सम्बन्ध रहा हो। उज्जयिनी अथवा मालवा के साथ अवन्तिवर्द्धन राजा का सम्बन्ध तत्कालीन इतिहास में नहीं मिलता। किन्तु इससे यह सोचने के लिए आधार प्राप्त होता है कि उद्द्योतन के थोड़े समय बाद लगभग ८१० ई० में कश्मीर के उत्पलवंश में अवन्तिवर्द्धन नाम का लोकप्रिय राजा हुआ है।[3] सम्भव है उसका मालवा से उद्द्योतन के समय में कोई सम्बन्ध रहा हो। किन्तु इसकी प्रामाणिकता के लिए अभी अनेक साक्ष्यों की प्रतीक्षा करनी होगी।

अवन्ति नाम के नरेश के सम्बन्ध में उद्द्योतन द्वारा प्रस्तुत कुवलयमाला का तीसरा उल्लेख अधिक महत्त्वपूर्ण है। अरुणाभ नगर के राजा कामगजेन्द्र के समक्ष एक चित्रकार अपने चित्र की यथार्थता को प्रमाणित करते हुए कहता है कि—'राजन्, उज्जयिनी में अवन्ति नाम का एक राजा है, उसकी पुत्री के सौंदर्य को देखकर ही मैंने यह तदरूप चित्र बनाया है' :—

उज्जेणीए राया अत्थि अवन्ति त्ति तस्स धूयाए।
दट्ठूण इमं रूवं तइउ च्चिव विलिहियं एत्थ॥—२३३.१६

आगे भी अवन्ति की रानी—**'रण्णो अवन्तिस्स'** (३१) तथा **'अवन्तिणा'** (३२) जैसे शब्दों के प्रयोग से यह स्पष्ट हो जाता है कि उज्जयिनी के राजा का नाम अवन्ति था।

उद्द्योतनसूरि द्वारा उल्लिखित उज्जयिनी के राजा अवन्ति की पहचान यशोवर्मन् के उत्तराधिकारी अवन्तिवर्मन् से की जा सकती है। प्राचीन ग्वालियर

---

१. तओ राइणो अवन्तिवद्धणस्य कय-ईसि-णमोक्कारो....पहओ वच्छत्थलाभोए पुलिंदो इमिणा रायउत्तो। . ....वही, ५०.३१-५१.६.

२. उज्जयणीपुरी रम्मा (१२४.२८).......तम्मि य पुरवरीए सिरिवच्छो णाम राया पुरन्दर सम-सत्त-विरिय-विहवो। तस्स य पुत्तो सिरिवद्धणो णाम। वही, १२५.३.

३. राजतरंगिणी-कल्हण।

राज्य से प्राप्त रनोड़ अभिलेख से ज्ञात होता है कि अवन्तिवर्मन् नाम का एक राजा हुआ है, जो कि शैवधर्म का अनुयायी था।[१] तथा मत्तमयूरनाथ (पुरन्दर) का समकालीन था।[२] डा० बुद्धप्रकाश ने विस्तृत एवं सूक्ष्म अध्ययन के आधार पर अवन्तिवर्मन् का समय ७६२ ई० से ७९७ ई० के मध्य निश्चित किया है।[३] तथा यशोवर्मन् के पुत्र आम एवं अवन्तिवर्मन् को एक माना है, जिसका ग्वालियर राज्य पर शासन था।[४] अवन्तिवर्मन् का पुत्र पुण्डुक था, सम्भवतः या जिसे उद्द्योतनसूरि ने दृढ़वर्मन् कहा है।[५]

इस अवन्तिवर्मन् से उद्द्योतन द्वारा उल्लिखित अवन्ति राजा की पहचान करना अधिक उपयुक्त है। क्योंकि इसका समय भी उद्द्योतन के समय से मिलता-जुलता है तथा उसका राज्य भी ग्वालियर स्टेट में था, जो सम्भव है उज्जयिनी तक फैला रहा हो।[६]

तोरमाण

कुवलयमाला में तोरमाण का उल्लेख एक महत्त्वपूर्ण सूचना है। उद्द्योतन के अनुसार पर्वतिका नगरी का राजा श्रीतोरराज (तोरमाण) था, जिसके गुरु हरिगुप्त थे।[७] मुनि जिनविजय जी के अनुसार यह तोरराज हूणों का सरदार तोरमाण ही है। इस आधार पर डा० दशरथ शर्मा का कथन है कि सम्भवतः उद्द्योतन के समय तक एव उनके कुछ समय पूर्व हूण राजाओं ने जैन मुनियों के सम्पर्क में आकर जैनधर्म स्वीकार कर लिया था।[८] जेनसाहित्य में तोरमाण के

१. एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग १, पृ० ३५१.

२. तत्त्वप्रभावमहनीयतमस्य तस्य शिष्योऽभवज्जगति मत्तमयूरनाथः।
निःशेपकल्मषमषीमपहृत्य येन संक्रामितस्यपरमहोनृपतेरवन्तेः॥
—कार्पस् इन्सक्रिप्शनस् इण्डीकरुम, भाग ४, पृ० २१३, श्लोक ४९.

३. In any case, it is patent that this saint lived in the latter half of the eight century and his contemporary Avantivarman flourished at that time.
—B. AICS. P. 113-15.

४. It appears that this king (Āma) is the same as Avantivarman, the ruler of the Gwalior region, mentioned above. His real name was Avantivarman and surname Āma.
—B. AICS. p. 116.

५. B. AICS. P. 116.

६. द्रष्टव्य—लेखक का निबन्ध—'कुव० मे उल्लिखित राजा अवन्ति' अनेकान्त, वर्ष २३, कि० ५-६

७. जत्थ ट्ठिएण भुत्ता पुहई सिरि-तोरराएण।
तस्स गुरु हरिउत्तो आयरिओ आसि गुत्तवंसाओ ॥२८२.६,७॥

८. If Toraraya of Parvatika might, as suggested by Muni Jinvijaya ji, be identified with the Hūṇa ruler Tormāṇa, it can be concluded that some Hūṇas actually adopted Jainism as their religion.
—S. RTA. P. 102.

अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं, जिनका विद्वानों ने विस्तार से अध्ययन किया है।[1] कुवलयमाला के इस उल्लेख से भारत में हूण राजाओं का भारतीयकरण होता जा रहा था, इस बात का संकेत मिलता है। डा० उपाध्ये ने अपने इण्ट्रोडक्शन (पृ०९९) में तोरमाण पर विशेष प्रकाश डाला है।

देवगुप्त एवं हरिगुप्त

इन दोनों राजाओं को उद्द्योतनसूरि ने गुप्तवंश से सम्बन्धित कहा है (**देवगुत्तो वंसे गुत्ताण**(३.२८)। किन्तु प्रसिद्ध गुप्त सम्राटों के इतिहास में इस नाम के या इनसे मिलते-जुलते नाम के राजाओं का उल्लेख नहीं मिलता। सम्भवतः ये गुप्तवंश के कोई छोटे राजा रहे होंगे, जो वास्तव में एक महाकवि और दूसरा जैन आचार्य के रूप में अधिक प्रसिद्ध थे, इस कारण बड़े सम्राटों के साथ इनका उल्लेख नहीं हो सका है। डा० उपाध्ये हरिगुप्त को उद्द्योतनसूरि से छह पीढ़ी पूर्व का निश्चित करते हुए उनका समय लगभग ५०० ई० मानते हैं, तभी वे तोरमाण के गुरु रहे होंगे।[2]

श्रीवत्सराजरणहस्तिन्

कुवलयमाला के इस सन्दर्भ से प्रसिद्ध प्रतिहार राजा श्रीवत्सराज के सम्बन्ध मे महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। आचार्य जिनसेन द्वारा उल्लिखित वत्सराज के सम्बन्ध में विद्वानों ने विस्तार से विचार किया था और एक समुदाय वत्सराज को अवन्ति का राजा स्वीकारने लगा था। किंतु कुवलयमाला के उक्त सन्दर्भ एवं अन्य साक्ष्यो के आधार पर डा० दशरथ शर्मा ने वत्सराज को भिन्नमाल (राजस्थान) का राजा सिद्ध किया है, जिसके राज्य में कुवलयमाला का रचना-स्थल जावालिपुर (जालौर) भी था।[3] वत्सराज उद्द्योतनसूरि के समकालीन राजा थे, जिनकी मृत्यु लगभग ७९४ ई० में निर्धारित की गयी है।[4]

१. द्रष्टव्य—(१) जैनसाहित्य संशोधन ३, २, पृ० १६९-९४, १९२७ पूना।
(२) भारतीय विद्या २,१—बम्बई, १९४०.
(३) 'जैन रिकार्डस् आन तोरमाण'—एन० सी० मेहता, जर्नल आफ द बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, १९, भाग, १९२८.
(४) जैनसिद्धान्तभास्कर, भाग २०, २-पृ० १.६, आर०, १९५३.
(५) सिलेक्टेड इन्सक्रिप्सन्स—सरकार, पृ० ३९६, कलकत्ता, १९४२.
(६) द हूण इन इंडिया—उपेन्द्र ठाकुर, १९६७.
(७) 'तोरमाण इन कुवलयमाला'—के०पी० मित्र—इंडियन हिस्टोरिकल क्वाटर्ली, भाग ३३, पृ० ३५३, १९५७.

२. उ०—कुव० इ०, पृ० ९८.

३. श०—रा०ए०, पृ० १२८ एवं कुव० ई०, पृ० १००

४. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य—
(१) श०—रा० ए०, पृ० १३४.

उपर्युक्त ऐतिहासिक सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि उद्द्योतनसूरि भारतीय इतिहास एवं परम्परा के प्रति सजग थे। अपने उदार दृष्टिकोण के कारण उन्होंने वैदिक एवं श्रमण-परम्परा के सांस्कृतिक महापुरुषों, आचार्यों, प्रमुख देशों, नगरों एवं घटनाओं का समान रूप से अपने ग्रंथ में उल्लेख किया है। प्रसंग के अनुसार उनके संबंध में अपना अभिमत भी व्यक्त किया है। इससे तत्कालीन इतिहास, भूगोल, समाज एवं चिंतन पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

●

(२) वी०ए०स्मिथ—द अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया, १९५७.
(३) पुरी, बी०एन०—द हिस्ट्री आफ द गुर्जर-प्रतिहाराज, १९५७.

अध्याय दो

भौगोलिक विवरण

परिच्छेद एक

भारतीय जनपद

कुवलयमालाकहा में भारतीय चौंतीस जनपदों, सैंतालिस नगरों, सात ग्रामों, इक्कीस पर्वतों, आठ नदियों एवं सरोवर तथा उद्यानों का वर्णन प्राप्त होता है। बृहत्तर भारत के भी लगभग बीस देशों का उल्लेख मिलता है। उद्द्योतनसूरि के समय में प्राचीन भारत के विदेशों के साथ निरन्तर सम्बन्ध बढ रहे थे। व्यापारिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में पर्याप्त आदान-प्रदान होने लगा था। इस बात की पुष्टि एवं विवरण के लिए कुव० की भौगोलिक सामग्री पर्याप्त सहायक होती है। ग्रन्थ में अनेक ऐसे भौगोलिक शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, जो तत्कालीन साहित्य एवं कला के पारिभाषिक शब्द थे। उपर्युक्त समग्र भौगोलिक सामग्री का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

ग्रन्थ में जिन चौतीस जनपदों का उल्लेख हुआ है, उनका अकारादि क्रम से परिचय इस प्रकार है :—

अन्तर्वेद (१५२.२७)—उद्द्योतनसूरि ने व्यापारियों का वर्णन करते हुए उनके शारीरिक गठन, स्वभाव एवं भाषा आदि के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी दी है। यहाँ केवल भौगोलिक सन्दर्भों का विवेचन प्रस्तुत है। अन्तर्वेद के व्यापारी कपिल, पिंगल नेत्रवाले एवं भोजनप्रिय थे। उनकी भाषा हिन्दी के प्राचीन रूप से मिलती-जुलती थी। इसकी स्थिति एवं सीमा का कोई उल्लेख नहीं है। काव्य-मीमांसा (९४-१८) के अनुसार पश्चिम में विनशन से लेकर पूर्व में प्रयाग तक गंगा और यमुना नदियों के बीच का भूखण्ड अन्तर्वेद कहलाता था।[1] यह मध्यदेश का एक भाग था।

आगासवप्प (२८२.११-१४) कुव० की नगर प्रशस्ति में इस नगर का उल्लेख हुआ है। उद्द्योतनसूरि के पूर्वज वडेसर ने इस नगर में जिनमन्दिर

---

१. विनशनप्रयागयोर्गंगायमुनयोश्चान्तरमन्तर्वेदीति, का० मी० ९४-१८,

बनवाया था। डा० ए० एन० उपाध्ये ने इस नगर की पहचान अमेरकोट (सिन्ध), आमेर (जयपुर) अथवा अमरगढ़ (राजस्थान) से करने की सम्भावना व्यक्त की है।[१] श्री यू० पी० शाह इसकी पहचान अम्बरकोट अथवा डम्बरकोट से करते हैं।[२] सन्दर्भों के आधार पर यह नगर पंजाब एवं राजस्थान की सीमा के पास कहीं होना चाहिए।

आन्ध्र (१५३.११)—आन्ध्र के निवासी सुन्दर देहधारी, महिलाप्रिय एवं भोजन में रौद्र थे। उनकी भाषा तेलुगु सदृश थी। सामान्यतः कृष्णा और गोदावरी के मध्यवर्ती प्रदेश को आन्ध्र कहा जा सकता है।[३] आदिपुराण में (१६-१५४) आन्ध्र का उल्लेख सम्भवतः आधुनिक आन्ध्र जनपद के लिए व्यवहृत हुआ है। अतः उद्द्योतनसूरि ने भी आन्ध्र के उल्लेख द्वारा इसी प्रदेश के लोगों का वर्णन किया है। वहाँ के लोग महिलाप्रिय इसलिए रहे होंगे क्योंकि आन्ध्र की स्त्रियां प्राचीन समय से हो प्रसाधनप्रिय रही हैं।[४]

अवन्ति (५०.२)—उद्द्योतनसूरि ने अवन्ति जनपद का विशद वर्णन किया है। नर-नारियों से भरपूर, उपवन, सरोवर आदि से रमणीय, एक गव्यूति के अन्तर से जिसमें गाँव बसे थे—(**गाउय-मेत्तोग्गामो** (५०.१) तथा छह खण्ड वाले भारतवर्ष का सारभूत अवन्ति जनपद था।[५] अवन्ति जनपद का वर्णन करते समय कहा गया है कि वह मालवदेश समुद्र जैसा था—**मालव देसो समुद्दो ब्व** (५०.८)। इससे ज्ञात होता है कि अवन्ति जनपद और मालव का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध था। अवन्ति की राजधानी का नाम उज्जयिनी था जो उसके मध्यभाग में स्थित थी।[६] मालव का दूसरा भाग अवन्ति दक्षिणापथ के नाम से प्रसिद्ध था, जिसकी राजधानी महिष्मती थी।[७] बौद्ध-साहित्य के अनुसार उज्जयिनी और महिष्मती के बीच का प्रदेश अवन्ति जनपद के नाम से प्रसिद्ध था।[८]

कर्णाटक (१५०.२२)—कुव० मे कर्णाटक का दो बार उल्लेख हुआ है। कर्णाटक के छात्र विजयपुरी के मठ में पढते थे तथा कर्णाटक के व्यापारी वहाँ के बाजार में उपस्थित थे, जो घमण्डी और पतंगवृत्ति वाले थे (१५३.७)।

---

१. उपाध्ये, कुव० इण्ट्रोडक्शन, पृ० १०२ फुटनोट।

२. शाह यू० पी०, एनल ऑफ भंडारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, भाग xlviii एवं xlix पृ० 247.

३. स०—स्ट० ज्यो०, पृ० ८७-८८ एवं १३६-३७.

४. जै०—यश० सां०, अ० पृ० २६९.

५. छक्खण्ड-भरह-सारो णाममवंती-जणवओ त्ति, ५०.२.

६. तस्स देसस्स मज्झ भाए—उज्जेणी रेहिरा णयरी। ५०.९,१०.

७. कारमाइकल भण्डारकर लेक्चरस्, पृ० ५४.

८. उ० बु० भो०, पृ० ४५०.

वे जो भाषा बोल रहे थे उसके कुछ शब्द उद्द्योतन ने कुव० में दिये हैं। ये शब्द वर्तमान को तेलगु भाषा के अधिक समीप हैं। अतः ज्ञात होता है कि उस समय तेलगु भाषाभाषी प्रदेश भी कर्णाटक के अन्तर्गत था।[1] कर्पूरमंजरी (१-१५) एवं काव्यमीमांसा (३४-४) में कर्णाटक का जो उल्लेख हुआ है, उससे ज्ञात होता है कि इसमें प्राचीन मैसूर और कुर्ग के भूःभाग सम्मिलित थे।[2] यह आन्ध्र के दक्षिण और पश्चिम का जनपद था। गोदावरी और कावेरी के बीच का प्रदेश, जो पश्चिम में अरब सागर के तट के समीप है तथा पूर्व में ७८ अक्षांश तक फैला है, कर्णाटक कहलाता था।[3] विजयनगर के राज्य को भी कर्णाटक कहा गया है।[4]

कन्नौज (१५०.२२)—कन्नौज के छात्र विजयपुरी के मठ में पढ़ते थे।[5] कन्नौज को कान्यकुब्ज, इन्द्रपुर, महोदय, कुशस्थल आदि भी कहा जाता था।[6] ७वीं शताब्दी से १०वीं तक कन्नौज उत्तर भारत के साम्राज्य का केन्द्र था।

कीर (१५२.२८)—उद्द्योतन ने कहा है कि कीर के निवासी ऊंची और वड़ी नाकवाले, स्वर्ण सदृश रंगवाले, भार-वहन करनेवाले तथा 'सारिपारि' शब्द बोलनेवाले थे (१५२ २८)। यह वर्णन काश्मीरी व्यक्तियों से अधिक मिलता-जुलता है। प्राचीन साहित्य में भी इसके उल्लेख मिलते हैं।[7] कीर देश की पहचान पं० जयचन्द्र विद्यालंकार ने पंजाब के कांगड़ा जिले से की है।[8] कांगड़ाघाटी में स्थित बैजनाथ और उसके आस-पास का क्षेत्र कीर कहा जाता था।[9] मोनियर विलियम्स ने वराहमिहिर की बृहत्संहिता तथा मुद्राराक्षस का संदर्भ देकर कीर को काश्मीर माना है।

काशी (५६.२५)—कुव० के अनुसार काशी नामक देश अनेक गाँवों से युक्त था। उसकी शोभा न्यारी थी। काशी जनपद में वाणारसी नगरी थी। सोमदेव के समय भी काशी जनपद के रूप में प्रसिद्ध थी (पृ० ३६०, उत्त०)। जैनसाहित्य में काशी जनपद का महत्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि इसकी राजधानी

१. उ०-कुव० इ०, पृ० १४५.
२. अ०-प्रा० भौ० स्व०, पृ० ६८.
३. सोर्स आफ कर्णाटक हिस्ट्री भाग १, पृ० ७.
४. डे०-ज्यो० डिक्श०, पृ ९४.
५. लाडा कण्णाडा विय मालविय-कण्णुज्ज-मोल्लया केइ।
मरहट्ठ य सोरट्ठा ढक्का सिरिअंठ सेंधवया॥ १५०.२२.
६. अभिधानचिंतामणि, ४, ३९-४०.
७. नि० चू० २, ६८१, विशेषावश्यकभाष्य, ५-४६४.
८. भारतभूमि, पृ० ३४७.
९. एपिग्रेफिया इण्डिका, भाग १, पृ० ९७.

वाराणसी में पार्श्वनाथ का जन्म हुआ था—**वम्मा-सुयस्स जम्म-णयरी वाणारसी णाम**—(५६.२६ कुव०)। काशी जनपद में इस समय वाराणसी, मिर्जापुर, जौनपुर, आजमगढ़ और गाजीपुर जिले का भूभाग सम्मिलित है।[1]

कोशल (७२.३०-३५)—कुव० में कोशल का उल्लेख जनपद एवं देश के रूप में हुआ है। इसकी राजधानी कोशलपुरी थी, जो विश्व की प्रथम नगरी मानी गयी है (७३.१-२)। जैनपरम्परा के अनुसार इसकी स्थापना प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने की थी। कुव० में कोशल के सम्बन्ध में कहा गया है कि एक व्यापारी ने भाइल अश्वों के बदले में कोशल के राजा से गजपोत प्राप्त किये थे (६५.२८-२६)। कोशलपुरी से विन्ध्याटवी को पार कर पाटलिपुत्र जाया जाता था (७५.१२-१४, २९) तथा विन्ध्यावास की सीमा से कोशल नरेश के राज्य की सीमा मिली हुई थी (९९.१४-१५)। कोशल के व्यापारी विजयपुरी की मण्डी में उपस्थित होकर 'जला-तला ले' आदि शब्दों को बोलते थे (१५३.९)।

सामान्यतया कोशल की पहचान उस कोशल जनपद से की जाती है, जिसकी राजधानी अयोध्या थी। किन्तु कुव० के इन उल्लेखों के आधार पर कोशल की पहचान वर्तमान महाकोशल जनपद से की जा सकती है, जिसमें छोटा नागपुर का भूभाग सम्मिलित है। विन्ध्या अटवी एवं हाथियों की प्रसिद्धि इस पहचान का समर्थन करती है।[2] यहाँ के व्यापारियो द्वारा प्रयुक्त 'जल-तल-ले' शब्द भी छत्तीसगढ़ी बोली से मिलते-जुलते है।[3]

गुर्जरदेश (१५३.४)—उद्द्योतनसूरि ने 'गुर्जरदेश' का तीन बार उल्लेख किया है। दक्षिणापथ से वाराणसी को लौटते समय रास्ते में स्थाणु ने एक देवमदिर में ठहर कर रात्रि के अंतिम पहर में किसी गुर्ज्जर पथिक से एक द्विपदी सुनी थी।[4] यह गुर्जरपथिक नर्मदा के आस-पास का रहनेवाला रहा होगा, क्योकि उसकी द्विपदी सुनकर स्थाणु फिर नर्मदातीर पर जा पहुँचा (५९.९)। दूसरे प्रसंग में, गुर्जर देश के निवासी विजयपुरी के बाजार मे उपस्थित थे, जो पुष्ट शरीरवाले, धार्मिक और संधि-विग्रह में निपुण थे (१५३.४) तथा तीसरे प्रसग में उद्द्योतन ने कहा है कि शिवचन्द्रगणि के शिष्य यक्षदत्तगणि ने मंदिरों द्वारा गुर्जरदेश को रमणीक बनाया था—**रम्मो गुज्जरदेसो जेहिं कओ देवहरएहिं** (२८२.११)। इसके साथ ही उद्द्योतन ने जैसे सिन्ध के निवासियों को सैन्धव, मालवा के निवासियो को मालव कहा है, वैसे ही गुर्जरदेश के निवासियों को गुर्जर कहा है। अतः गुर्जर प्रदेश का स्वतन्त्र अस्तित्व इससे प्रमाणित होता है।

---

१. शा०—आ० भा०, पृ० ५३.
२. जाम०, कुव० क० स्ट०, पृ० ११७.
३. उपाध्ये, कुव० इन्ट्रो०, पृ० १४५.
४. राईए पच्छिम-जामे केण वि गुज्जर-पहियएण इमं धवल-दुवहयं गीतं, कुव० ५९-४.

ग्रन्थ के अनुसार भिन्नमाल एवं जालौर के आसपास का प्रदेश, जिसका शासक वत्सराजरणहस्तिन् था (२८३.१), गुर्जरदेश कहा जाता रहा होगा। चीनीयात्री युवान-च्वांग के वर्णन के अनुसार उद्द्योतन के उक्त कथन की पुष्टि होती है। गुर्जर देश के सम्बन्ध में डा० दशरथ शर्मा ने विशेष प्रकाश डाला है।[१]

गोल्ल (१५०.२२)—गोल्लदेश के छात्र एवं व्यापारी विजयपुरी में उपस्थित थे (१५२.२४)। इनको काला, निष्ठुर, कलह-प्रिय आदि कहा गया है। डा० उपाध्ये इन्हें आभीर सदृश मानते हैं (इन्ट्रो० १४४), किन्तु इनके रहने का स्थान कहाँ था, यह स्पष्ट नहीं हो पाता।

डा० बुद्धप्रकाश ने सम्भावना व्यक्त की है कि गोल्ल तक्षशिला के समीप था।[२] किन्तु उपर्युक्त उल्लेखों से इसके दक्षिण में होने की अधिक सम्भावना है। गोल्ल नामक देश का जैन साहित्य में अनेक बार उल्लेख हुआ है।[३] गोल्ल की पहिचान गुन्टूर जिला में कृष्णानदी के किनारे स्थित गोली (गल्लरु) से की जा सकती है। यह प्राचीन भारत का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यहाँ इक्ष्वाकु राजाओं के शिलालेख प्राप्त हुए हैं।[४] श्रवणबेलगोला के एक शिलालेख में गोल्ल और गोलालाचार्य के उल्लेख प्राप्त हैं, जो इस बात के प्रमाण हैं कि यह गोल्ल नामक देश दक्षिण भारत में ही कहीं स्थित था।[५]

ढक्क (१५३.१)—ढक्क का कुव० की 'जे' प्रति में टक्क पाठ है। टक्क के निवासी दाक्षिण्य, दाण, पौरुष आदि से रहित थे तथा 'एहं तेह' शब्दों का अधिक उच्चारण कर रहे थे। सम्भवतः ये टक्क के म्लेच्छ रहे होंगे। टक्क पंजाब के एक प्रदेश को कहते थे। राजतरंगिणी के अनुसार यहाँ का शासक अलखां था, जिससे भोज के शासक ने उसे जीत लिया था। पीर के दक्षिण के प्रदेश एवं लाहौर के पडोसी मैदान को टक्क कहा जाता था, जिसे अलबोरुनी ने टकेसर कहा है।[६] राजतरंगिणी में टक्क की पहचान वर्णित है।[७] उसके अनुसार मोनियर विलियम्स ने इसे बाहीक देश माना है।

---

१. शा०—रा० ए०, पृ० ११०.

२. बु० – स्ट० हि० सि०, पृ० ९४-९५.

३. ज०—ला० कै०, पृ० २८६.

४. बुलेटिन आफ मद्रास गवर्न्मेन्ट म्यूजियम, भाग १, पृ० १.

५. जैनशिलालेख संग्रह, पृ० २६.

६. Ṭakka territory, the region situated to the south of the Pīr Pantkal range and neighbouring on Lāhore, which Albirūni has called Takēṣar. —B. AIHC. P. 159.

७. For the identification of Takkadesa, See— M. A. Stein—Kalhaṇa's Rajatarangini Vol. I, P. 207.

पूर्वदेश (६५.३१)—ग्रन्थ में पूर्वदेश का तीन बार उल्लेख हुआ है। रत्नापुरी का राजकुमार दर्पफलिक जब विन्ध्याटवि में पहुँचा तो उसने वहाँ के बनजारे (**वंजणायार**) को अपना परिचय यह कह कर दिया कि मैं पूर्वदेश से आया हूँ—'**अहं पुव्व-देसाओ आगओ**'—(१४५.२०)। दूसरे प्रसंग में कुवलयचन्द्र को विजयपुरी से अयोध्या भेजने के लिए उसके ससुर ने आदेश दिया कि पूर्वदेश तक पहुँचने में समर्थ मजबूत यान-वाहन तैयार करो—'**भो भो, सज्जीकरेह पुव्वदेस-संपावयाइं दढ-कढिणाइं जाण-वाहणाइं**' (१८०.२४)। इससे ज्ञात होता है कि दक्षिण भारत में उत्तरभारत के निश्चित प्रदेश को पूर्वदेश के नाम से पुकारा जाता था। अयोध्या से रत्नापुरी तक का भाग पूर्वदेश से व्यवहृत होता रहा होगा।

तीसरे प्रसंग में सोपारक का कोई व्यापारी मुक्ताफल लेकर पूर्वदेश गया था और वहाँ से चवर खरीद कर लाया (६५.३१)। सम्भवतया वह हिमालय की तराई तक गया होगा, जहाँ चमरी गायों के चमर सस्ते मिलते रहे होंगे। कनिंघम के अनुसार आसाम, बंगाल, गंगानदी की उपत्यका, संबलपुर, उड़ीसा और गंजम का प्रदेश पूर्वीभारत में सम्मिलित था।[१] प्राचीनसाहित्य में इसी को पूर्व-देश कहा जाता रहा होगा।

मगध (१५२.२६, २६८.९)—विजयपुरी में मगध के व्यापारी उपस्थित थे, जो दुर्बल, आलसी, बड़े पेटवाले तथा सुरतिप्रिय थे (१५२.२६)। दूसरे प्रसग मे, भगवान् महावीर विहार करते हुए मगध नाम के देश में पहुँचे, जिसमे राजगृह नाम का नगर था, जिसका राजा श्रेणिक था।[२]

उद्द्योतनसूरि ने उक्त उल्लेख द्वारा एक ऐतिहासिक तथ्य का उद्घाटन किया है। जैन साहित्य मे सर्वत्र मगध जनपद की राजधानी राजगृह एव राजा श्रेणिक का उल्लेख मिलता है। हुयान्त्सांग की गणना के अनुसार मगध जनपद की परिधि मण्डलाकार रूप में ८३३ मील थी। इसके उत्तर में गंगा, पश्चिम में वाराणसी, पूर्व में हिरण्य पर्वत और दक्षिण में सिंहभूमि थी। कुव० में प्रयुक्त मगध के लिए 'मगहा' शब्द उल्लेखनीय है। यह इस अनुश्रुति को प्रमाणित करता है कि मगधा (मगहा) नामक क्षत्रिय जाति की निवासभूमि होने के कारण यह जनपद 'मगध' कहलाया।[३]

मध्यदेश (७६, १५२.२५)—कुव० में जम्बूद्वीप के भारतदेश में, वैताढ्य पर्वत की दक्षिण श्रेणी में गंगा और सिन्धु के बीच का प्रदेश मध्यदेश,

---

१. Cunningham, A, "Ancient Geography of India" Calcutta, 1924, P. 572.

२. मगहा णाम देसो, तत्थ य रायगिहं णाम णयर, कुव० २६८-९.

३. उ०—बु० भू०, पृ० ३६१.

कहा गया है, जिसकी राजधानी विनीता (अयोध्या) थी।[1] मध्यदेश के लोग न्याय, नीति, संधि-विग्रह करने में कुशल, बहुभाषी थे तथा 'तेरे-मेरे आउ' शब्दों का बोलचाल में अधिक प्रयोग करते थे (१५२.२५)। आदिपुराण में भरत ने मध्यदेश के राजा को अपने अधीन किया था (२९.४२)। मध्यदेश की सीमा कुरुक्षेत्र, प्रयाग, हिमालय और विन्ध्य के समीप में प्रवाहित होनेवाली सरस्वती नदी तक मानी गयी है। मनुस्मृति में गंगा और यमुना की मध्यवर्तिनी धारा मध्यप्रदेश के अन्तर्गत मानी गयी है।[2] बौद्धसाहित्य के अनुसार पूर्व में कजंगल बहिर्भाग में महासाल, दक्षिण-पूर्व में सलावतीनदी, दक्षिण में सेतकत्रिक नगर, पश्चिम में थन नामक नगर और उत्तर में उसिरध्वज पर्वत मध्यदेश की सीमा थी।[3]

मरुदेश (१३४.३३, १७८.१)—उद्द्योतनसूरि ने मरुदेश का तीन बार उल्लेख किया है। विन्ध्यपुरी से कांचीपुरी जानेवाला सार्थ मरुदेश जैसा था, जिसमें ऊँटों का समूह झूमकर चल रहा था।[4] मरुदेश के निवासी मारुक विजयपुरी की मंडी में उपस्थित थे, जो बाँके, जड़, अधिक भोजन करनेवाले तथा कठिन एवं स्थूल शरीरवाले थे और 'अप्पां-तुप्पां' बोल रहे थे (१५३.३)। तीसरे प्रसंग में कहा गया है कि जैसे मरुस्थली में तृष्णावश सूखे कण्ठवाले पथिक के लिए रास्ते के तालाब का पानी भी शीतल जल सदृश होता है वैसे ही संसार रूपी मरुस्थली में तृष्णा से अभिभूत जीव को संतोष शीतल जल एवं सम्यक्त्व सरोवर सदृश है (१७८.१)।

इससे ज्ञात होता है कि मरुदेश में ऊँटों की बहुतायत एवं पानी का संकट प्राचीन समय में भी विद्यमान था। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में (१.१६२, २) में दाशेरक देश के साथ मरुदेश का वर्णन किया गया है। डा० सरकार ने दाशेरक की समता मरु अथवा मारवाड़ से की है।[5] दाशेरक ऊँट को भी कहते हैं, इससे भी यह मारवाड़ प्रदेश का द्योतक है।

महाराष्ट्र (१५०.२०, १५३.१०)—महाराष्ट्र के छात्र एवं व्यापारी विजयपुरी में उपस्थित थे, जिन्हें 'मरहट्ठ' कहा गया है। उद्द्योतनसूरि ने विनीता नगरी के विपणिमार्ग के हलदी बाजार की उपमा मराठिन युवती से दी है (८.४)। अंगसौष्ठव के लिए महाराष्ट्र की युवतियों को उपमा भारतीय-साहित्य

---

१. वेयड्ड-दाहिणेणं गंगा-सिंधूय मज्झयारम्मि।
अत्थि बहुमज्झ-देसे मज्झिम-देसो त्ति सुपसिद्धो ॥ —कुव० ७.६

२. हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्ये यत्प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥ —मनु०, २-२१.

३. डे०—ज्यो० डिक्श०, पृ० ११६.

४. मरुदेसो जइसओ उद्दाम-संचरंत-करह-संकुलो, कुव० १३४.३३.

५. स०—स्ट० ज्यो०, पृ० २६.

में अन्यत्र भी मिलती है। यह मरहट्ठ प्रदेश आधुनिक महाराष्ट्र को ही कहा गया है। व्यापारियों की भाषा से ज्ञात होता है, वह मराठी भाषा का प्राचीन रूप था।

महिलाराज्य (६६-३)—सोपारक का कोई व्यापारी पुरुष लेकर महिला-राज्य गया था और वहाँ से उनकी तौल का स्वर्ण लाया था (६६.३)। प्राचीन साहित्य में 'स्त्रीराज्य' नाम के अनेक उल्लेख मिलते हैं। डा० अग्रवाल ने कुव० के इस महिलाराज्य को केरल राज्य होने की सम्भावना व्यक्त की है।[1] लेकिन प्राचीन समय से स्त्रीराज्य को उत्तरभारत में मानने की एक परम्परा है। महाभारत (३,५१) में स्त्रीराज्य में उत्तर-पश्चिम के लोगों के रहने का संकेत है। बृहत्संहिता (१४-२२) एवं राजतरंगिणी (४,१७३-१७५) मे भी महाभारत के अन्य देशों व लोगों के साथ स्त्रीराज्य का उल्लेख हुआ है। चीनी-परम्परा में भी महिला-राज्य की स्थिति उसकी सीमा पर बतलायी गई है।[2] वास्तव में हिमालय का प्रदेश, जिसमें गढ़वाल और कुमाऊँ के जिले सम्मिलित थे, स्त्रीराज्य कहा जाता था।[3] सम्भव है उद्द्योतन ने इसी को महिला-राज्य कहा हो। मोनियर विलियम्स ने महाभारत और बृहत्संहिता के आधार पर भूटान को 'स्त्रीराज्य' माना है तथा महिलाराज्य को दक्षिण का एक देश माना है। अतः स्त्रीराज्य भारत के उत्तर में और महिलाराज्य दक्षिण भाग में कहीं स्थित रहा होगा। इनकी आधुनिक पहचान किसी प्रदेश विशेष से नहीं की जा सकती है।

मालव (५०.८, १५०.२०)—मालव नरेश और दृढवर्मन् मे शत्रुता होने से अयोध्या और मालव के बीच संघर्ष चल रहा था (९.२३)। मालव देश धन-धान्य से सम्पन्न समुद्र जैसा था, जिसमें अवन्ति जनपद था (५०.८)। मालव के छात्र (१५०.२०) तथा व्यापारी विजयपुरी मे (दक्षिणभारत) आते जाते रहते थे (१५३.६)। इस प्रसंग के अनुसार मालव के निवासी दुर्बल, आलसी एवं मानी अधिक थे। प्राचीन साहित्य में भी इन्हें कठोर शब्द बोलनेवाला कहा गया है।[4] उद्द्योतन ने मालव के छात्रों को 'मालविय' कहा है (१५०-२०)। प्राचीन समय मे मालव के ब्राह्मणो व क्षत्रियेतर जातियों को 'मालव्य' कहा जाता था।[5] मालव जनपद का उल्लेख १६ जनपदो के अन्तर्गत आता है। वर्तमान मालव प्रदेश ही प्राचीन समय में मालव कहा जाता था। यह अवन्ति

१. Mahilarajya was a name applied to several Kingdom, but this was probably the state of Kerala in South India ruled by amagon chiefs. —Kuv. Int. P. 119.

२. Friedrich Hirth, 'China and the Roman Orient, P. 200.

३. In fact, the Himālayan region, including the districts of Garhwāl and Kumāun, was known as Strīrajya. —B. IAW. P. 113.

४. भगवतीसूत्र, बृहत्कल्पभाष्य आदि में।

५. अ०-पा० भा०, पृ० ९३.

के पूर्व और गोदावरी के उत्तर में स्थित था। इसकी प्राचीन राजधानी अवन्ति या उज्जयिनी थी, किन्तु राजा भोज के समय में धारानगरी राजधानी हो गयी थी।[1]

लाट (१५०.२०, १५३.५, १८५.८)—लाट देश के व्यापारी स्नान, विलेपन-प्रिय, सीमान्त बनानेवाले तथा सुशोभित अंगवाले थे (१५३.५)। इससे ज्ञात होता है कि लाट के पुरुष वहाँ की स्त्रियों की सुन्दरता के कारण स्वयं भी बने-ठने रहते थे। लाट की स्त्रियां प्राचीन भारत में अपनी सुन्दरता के लिये प्रसिद्ध थीं।[2] उद्द्योतन ने लाट देश को सब देशों में प्रसिद्ध कहा है, जहाँ की देशीभाषा (प्राकृत) मनोहरा थी।[3] लाट की प्राकृत भाषा की प्रसिद्धि काव्य-मीमांसा (५१-५) से भी ज्ञात होती है। लाटदेश में द्वारकापुरी नाम की प्रसिद्ध नगरी थी (कुव० १८५.६)।

प्राचीन समय में पूर्वी गुजरात को लाट कहते थे।[4] विविधतीर्थकल्प (पृ० ८८) के अनुसार भरुयकच्छ लाट का प्रमुख नगर था। यशस्तिलक के संस्कृत टीकाकार ने भी लाट का अर्थ भृगुकच्छ किया है (पृ० १८०)। इससे प्रतीत होता है कि वर्तमान भड़ौच, बड़ौदा, अहमदाबाद और खेड़ा के जिले लाट देश के अन्तर्गत रहे होंगे। गुजरात राज्य के लाळरट्ठ से प्राचीन लाट की पहिचान की जाती है।[5]

वत्स (३१.३)—कुव० में वत्स जनपद का विस्तृत वर्णन हुआ है। यह जनपद यक्ष-समूहों का केन्द्र था, निरन्तर होम के धुए से आकाश आच्छन्न रहता था, भैंसों की काली एवं गायों की सफेद शोभा सर्वत्र व्याप्त थी। नीले घास एवं धन-धान्य से सम्पन्न यह देश पृथ्वीरूपी युवती के लोचन-युगल की भाँति था।[6] इस जनपद की राजधानी कोशाम्बी नगरी थी, जिसमें पुरन्दरदत्त राजा राज्य करता था (३१.१९-३२)।

जैन-परम्परा में वत्स और कोशाम्बी नगरी का अनेक बार उल्लेख हुआ बौद्धसूत्रों में इसे वंश कहा गया है, जिसका राजा उदयन था। महाभारत से ज्ञात होता है कि इस जनपद का नाम 'वत्स' इसलिए पड़ा क्योंकि काशिराज प्रतर्दन के पुत्र का पालन गोशाला में वत्सों (बछड़ों) द्वारा किया गया

---

१. डे०-ज्यो० डिक्श०, पृ० १२२.
२. का० मी०, १०९-५, सो० यस०, पृ० १८० सं० टी०।
३. अत्थि पुहइ-पयासो देसाण लाड-देसो ति।
णेवत्थ देसभासा मणोहरा जत्थ रेहंति॥ —कुव० १८५.८
४. सांकलिया-एच० डी०—'लाट, इटस् हिस्टोरीकल एण्ड कल्चरल सिगनीफिकेन्स, जर्नल आफ द गुजरात रिसर्च सोसायटी, भाग २२, नं० ४।८८, अक्टूबर १९६०, पृ० ३२९.
५. ज्योग्राफी आफ अर्ली बुद्धिज्म, पृ० ५८.
६. अत्थि लोयणजुयलं पिव पुहई-महिलाए वच्छो णाम जणवओ, (३१.३-४)

था।[1] वत्स जनपद के अन्तर्गत प्रयाग के आस-पास का प्रदेश सम्मिलित था। यह सम्भवतः यमुना के किनारे स्थित था।[2] काशी जनपद इससे सटा हुआ था।

विदेह (२४०.२२, २४३.१३)—कामगजेन्द्र विद्याधर कन्याओं के साथ जब अपरविदेह में पहुँचा तो उसे आश्चर्य होता है कि वह कहाँ आ गया। वह स्वर्ग, विदेह, उत्तरकुरु, जन्मान्तर, विद्याधर-लोक में से किसी एक प्रदेश की कल्पना करता है।[3] किन्तु बाद में श्रीमन्धर स्वामी से पता चलता है कि वह अपरविदेह था, जो भारतवर्ष से प्रत्येक स्थिति में भिन्न था।[4]

प्राचीन भारतीय साहित्य में विदेह के जो उल्लेख मिलते हैं, उनसे ज्ञात होता है कि वर्तमान सीतामढ़ी, जनकपुर और सीताकुण्ड तिरहुत का उत्तरीय भाग तथा चम्पारन का पश्चिमोत्तर भाग प्राचीन विदेह मे परिगणित था।[5] किन्तु अपरविदेह की पहचान भारत के किसी प्रदेश से नहीं होती। सम्भवतः अपरविदेह के उत्तर में ऐसे प्रदेश को कहा जाता रहा हो जहाँ की संस्कृति एवं जीवन भारत के इतर भाग से अच्छा था। जैनसाहित्य में पूर्वविदेह और उत्तरविदेह के पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं।

श्रीकंठ (१५०.२०)—दक्षिण की विजयपुरी नगरी के मठ में श्रीकंठ (सिरिअंठ या सिरिअंग) के छात्र रहते थे। श्रीकठ सम्भवतः कुरुजांगल को कहा जाता था। डा० अग्रवाल ने इसे थानेश्वर कहा है।

सिन्ध (१५०.२०, १५३.२)—सिन्धु देश के निवासी सैंधव कहे जाते थे। सैंधव विजयपुरी के मठ एवं वाजार में आते-जाते रहते थे। उद्द्योतन ने सैन्धवों को गन्धर्वप्रिय कहा है। कालिदास ने भी सिन्ध में गन्धर्वों का निवास बतलाया है।[6] सिन्धुदेश सिन्धुनदी के दोनो किनारो पर उसके मुहाने तक विस्तृत था। ज्ञात होता है कि सिन्धु जनपद उत्तरी और दक्षिणी दो भागो में विभक्त था। भारतीय साहित्य में सिन्धु-सौवीर का एक साथ उल्लेख मिलता है। सम्भवतः इन दोनों की सीमाएँ एक दूसरे से सटी हुई थीं। सिन्ध जनपद अच्छी किस्म के घोड़ों के लिए प्रसिद्ध था।[7] उद्द्योतनसूरि ने सैन्धव अश्वों का भी उल्लेख किया है।

---

१. महाभारत, शान्तिपर्व, ४९-७९
२. क०-ए० ज्यो०, पृ० ७०९
३. कि होज्ज इमो सग्गो कि व विदेहो णणुत्तरा-कुरवो।
　कि विज्जाहर-लोओ कि वा जम्मंतरं होज्ज॥ कु० २४०.२२
४. एस अवरविदेहो, सो उण भरहो—। २४३.१३.
५. शा०—आ० भा०, पृ० ६७.
६. रघुवंश, १५. ८७.
७. अमरकोष ३.८, ४५, यशस्तिलकचम्पू (हिन्दी), पृ० ३१४.

सौराष्ट्र (१५०.२०)—कुव० में सौराष्ट्र के छात्रों को 'सोरट्ठ' कहा गया है। सौराष्ट्र जनपद प्राचीन समय में व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र था। महाभारत के अनुसार सुराष्ट्र देश में चमसोद्भेद, प्रभासक्षेत्र, पिण्डारक एवं उज्जयन्त (रैवतक) पर्वत आदि पुण्य स्थानों का उल्लेख आया है (वनपर्व, ८८.१९, २४)। अतः काठियावाड़ और गुजरात का कुछ प्रदेश सौराष्ट्र के अन्तर्गत था।

कुवलयमालाकहा में उल्लिखित उपर्युक्त जनपदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आठवीं शताब्दी में उत्तर-दक्षिण एवं पूर्व-पश्चिम के जनपदों में पारस्परिक सम्बन्ध थे। व्यापार एवं अध्ययन के लिए विभिन्न जनपदों के लोग उत्तर से दक्षिण की यात्रा करते थे। प्रत्येक जनपद की भाषा एवं रहन-सहन भिन्न होते हुए भी वहाँ के निवासियों के मिलने-जुलने में बाधा नहीं थी।

उद्द्योतनसूरि द्वारा उल्लिखित जनपदों को आधुनिक पहचान के आधार पर कहा जा सकता है कि गुप्तकाल के बाद प्राचीन भारत बड़े-बड़े जनपदों में विभाजित था। उत्तर में कन्नौज, कीर, काशी, स्त्रीराज्य एवं वत्स, दक्षिण में आन्ध्र, कर्णाटक, गोल्ल, महाराष्ट्र, महिलाराज्य एवं श्रीकंठ, पूर्व में मगध, विदेह एवं पूर्वदेश तथा पश्चिम में गुर्जरदेश, ढक्क, मरुदेश, मालव, लाट, सिन्ध एवं सौराष्ट्र जैसे समृद्धशाली एवं प्रसिद्ध जनपद थे। इन सबके मध्य में अन्तर्वेद एवं अवन्ति जैसे जनपद मध्यदेश से जुड़े हुए थे। इन जनपदों के अन्तर्गत अनेक नगर बसे हुए थे।

परिच्छेद दो

नगर

कुवलयमालाकहा में विभिन्न प्रसंगों में चौवालिस नगरों का उल्लेख हुआ है। इनकी विशेष जानकारी इस प्रकार है :—

अरुणाभपुर (२३२.२३)—अरुणाभपुर श्रावस्ती के नजदीक ही स्थित रहा होगा।[1] यहाँ से उज्जयिनी तक आने-जाने का मार्ग था (२३२.३१)। इसकी आधुनिक पहचान नहीं की जा सकी है। उद्द्योतन ने इसका अपर नाम रत्नाभपुर भी दिया है (२३५.२३)।

अलका (३१.३१, १३८.१४)—अलका नगरी इन्द्र की नगरी मानी गयी है, जिसके सदृश रत्न एवं सुवर्ण से युक्त कोशाम्बी नगरी थी।[2] महाकवि कालिदास ने अलका को कुबेर की नगरी कहा है और उनका अत्यन्त काव्यात्मक एवं अलंकृत वर्णन किया है।[3] किन्तु प० सूर्यनारायण व्यास ने मेघदूत में उल्लिखित अलका को जावालिपुर के समीप स्थित माना है,[4] जो प्राचीन वर्णनों के अनुसार सर्वथा सदोष है। साथ ही उद्द्योतनसूरि स्वय जावालिपुर के रहने वाले थे। यदि अलका इस नगर के समीप स्थित होती तो वे निश्चित ही उसका अधिक वर्णन करते। जबकि उन्होने केवल इसका परम्परागत काव्यात्मक रूप से ही उल्लेख किया है। अतः यहाँ ग्रन्थकार का सकेत कालिदास की अलका नगरी की ओर ही जान पडता है।

अयोध्या (८.२७, ११ ५, १७७.७)—अयोध्या का ग्रन्थ में छह बार उल्लेख हुआ है। प्राचीन भारत की यह प्रसिद्ध नगरी थी। उद्द्योतन ने इसको

---

१. अत्थि इओ णाइदूरो अरुणाभं णाम पुरवरं—कुव० २३२.२३.

२. अहव पुरन्दरस्स अलया इव रयण-सुवण्ण-भूसिया—३१.३१.

३. मेघदूत, पृ० ७.

४. विश्वकवि कालिदास : एक अध्ययन, ज्ञानमण्डल प्रकाशन, इन्दौर, पृ० ७७.

विनीता भी कहा है, क्योंकि वहाँ विनीत पुरुषों का निवास था।[1] अयोध्या का सम्बन्ध इक्ष्वाकुवंश के राजाओं से प्राचीन समय से रहा है, उद्द्योतन इस बात की पुष्टि करते हैं (अनु० २२)। जैनग्रन्थों के अनुसार अयोध्या की स्थिति जम्बूद्वीप के मध्य में मानी जाती है। फैजाबाद के समीप स्थित वर्तमान अयोध्या ही प्राचीन अयोध्या है।

उज्जयिनी (५०.१०)—ग्रन्थ में उज्जयिनी का आलंकारिक वर्णन हुआ है। उज्जयिनी मालवदेश के मध्यभाग में उज्ज्वल गृहों से निर्मल आकाश वाली, स्फुरायमान मणिरत्नों की किरणों से तारागणवाली, शरदऋतु की गगन-लक्ष्मी के सदृश शोभायमान हो रही थी (५०.१०)। उज्जयिनी अवन्ति जनपद में थी। इसका अपरनाम कुणालनगर भी था।[2] यह व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र था। यहाँ के व्यापारी विभिन्न देशों में व्यापार के लिए जाते थे।[3] वर्तमान में इसकी पहचान आधुनिक नगर उज्जैन से की जाती है, जो क्षिप्रा के किनारे स्थित है।[4]

काकन्दी (२१७.११, २४४.२९)—कुव० में काकन्दी का दो बार उल्लेख हुआ है। यह नगरी तुंग अट्टालक, तोरण, मंदिर, पुर एवं गोपुरों से युक्त, त्रिगड्डा एवं चौराहों से विभक्त तथा जन-धन एवं मणि-कांचन से समृद्ध थी (२१७.१३)। काकन्दी महानगरी के बाह्य उद्यान में भगवान् महावीर विहार करते हुए पधारे थे (२४४.२९)। काकन्दी या काकन्दी नगरी जैन एवं बौद्ध परम्परा में समान रूप से प्रसिद्ध है। जैन-परम्परा तीर्थंकर पुष्पदन्त (सुविधिनाथ) की जन्मभूमि के रूप में काकन्दी को मानती है।[5] जबकि बौद्ध इसे प्राचीन सन्त काकन्द का निवास स्थान मानते हैं।[6] किन्तु संतोषजनक पहचान अभी काकन्दी की नहीं हो सकी है।

डा० वी० सी० भट्टाचार्य काकन्दी की पहचान रामायण में उल्लिखित किष्किन्धा नगरी से करते हैं। किन्तु काकन्दी और किष्किन्धा का शाब्दिक मेल ठीक नहीं बैठता। तथा किष्किन्धा पम्पा, (मैसूर राज्य में स्थित) के पड़ोस में स्थित बतलायी गयी है, जो जैन और बौद्ध दोनों के कार्यक्षेत्र से बहुत दूर है। बी० सी० ला ने भट्टाचार्य के मत का खण्डन करते हुए काकन्दी की पहचान उत्तरभारत के किसी नगर से करने का सुझाव दिया है।[7] बाद के अनुसंधान एवं

---

१. विणीय-पुरिस विणयंकिया विणीया णाम णयरी—कुव० ७.२१.
२. समवायांगसूत्र, ८२, पृ० ५८.
३. आ० चू० २, पृ० ५४.
४. क०—ए० ज्यो०, पृ० ४२७.
५. भट्टाचार्या, बी० सी०—द जैन आइकोनोग्राफी, पृ० ६४.६९.
६. जी० पी० मलालसेकर—डिक्शनरी आफ पालि-प्रापर नेमस्, भाग १, पृ० ५५८.
७. ला०—हि० ज्यो० इ०, पृ० ३०२.

उत्खनन में प्राप्त सामग्री के आधार पर डी० सी० सरकार ने काकन्दी की पहचान मुंगेर जिला के सिकन्दरा पुलिस स्टेशन के क्षेत्र में काकन नामक स्थान से की है।[१] किन्तु कुछ विद्वान् उत्तरप्रदेश के देवरिया जिले में नोनखार स्टेशन से तीन मील दक्षिण में दूर खुखन्दू नामक ग्राम से काकन्दी की पहचान करते हैं, जहाँ प्राचीन जैन मंदिर भी है एवं उत्थनन में प्राचीन वस्तुएँ प्राप्त हुई है।[२]

कांची (४५.१६, १३५.५)—दमिलों के देश में कांची नगरी थी, जो पृथ्वी की करधनी के समान स्वर्णनिर्मित प्राकारों से युक्त थी (४५.१६)। दमिलों के देश की पहचान तमिल प्रदेश से की जाती है। अतः कांची दक्षिण भारत की प्रमुख नगरी थी। विन्ध्याटवी से कांचीपुरी तक व्यापारियों के सार्थ जाया करते थे।[३] आधुनिक कांजीवरम् को प्राचीन कांची माना जाता है।[४]

कोशाम्बी—कुव० में कोशाम्बी नगरी का सबसे अधिक वर्णन किया गया है। पन्द्रह गाथाओं के इस वर्णन में कोशाम्बी को अलका और लंकापुरी के सदृश बतलाया गया है (३१.३०,३१)। कोशाम्बी की रचना प्राचीन नगर-विन्यास के अनुरूप हुई थी। यह वत्स जनपद की राजधानी थी। कोशाम्बी की पहचान इलाहाबाद के पश्चिम में करीब बीस मील दूर यमुना के किनारे स्थित कोसम नामक स्थान से की जाती है।[५]

चम्पा (१००.१६, १०३.३ आदि)—जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में दक्षिण-मध्यखण्ड में चम्पा नाम की नगरी थी,[६] जो धवलगृह, तोरण, कोट आदि से युक्त थी। कुव० के प्रसंग मे ज्ञात होता है कि काकन्दी से एक योजन दूर कोसम्ब वन था।[७] तथा उस वन से एक कोस पर चम्पापुरी थी।[८] वर्तमान में भागलपुर के पास चम्पा की स्थिति मानी जाती है।[९]

जयन्तीपुरी (१८३ १९)—कुमार कुवलयचन्द्र को विवाह के बाद विजयपुरी में जयन्तीपुर के राजा जयन्त ने एक छत्ररत्न भेंट में भेजा था (१८३.१८, १९)। इससे ज्ञात होता है कि विजयपुरी के समीप ही दक्षिण भारत में जयन्तपुरी स्थित रही होगी। आदिपुराण में विजयार्ध की दक्षिण-श्रेणी में ३१वें नम्बर

---

१. स०—स्ट० ज्यो०, पृ० २५४.
२. जै०—यश० सा० अ०, पृ० २८४.
३. भट्ट, एस विझपु राओ आगओ कंचीउरि वच्चीहि, कुव० १३५.५.
४. क०—ए० ज्यो०, पृ० ६२८.
५. क०—ए० ज्यो०, पृ० ७०९.
६. इहेव जम्बुद्दीवे भारहवासे दाहिण-मज्झिमखंडे चम्पा णाम णयरि—कुव० १०३.३.
७. अत्थि इओ जोयणप्पमाण भूमिभाए कोसंबणाम वणं—२२३.६.
८. ताओ गोसे च्चेय चंपाउरिं उवगओ—२२४.६.
९. रि०—बु० ई०, पृ० ३५.

की नगरी जयन्ती थी, यह उल्लेख मिलता है (१९.५०)। इस जयन्तीपुरी की तुलना पुण्यास्रवकथाकोश में वर्णित भरतक्षेत्र के अन्तर्गत जयन्तपुर से की जा सकती है। डॉ० उपाध्ये ने इसकी पहचान कर्नाटक-राज्य के कनर जिले के 'बनवासी' नामक स्थान से की है।

जयश्री (१०४.८)—चम्पा नगरी से सागरदत्त दक्षिणापथ द्वारा चलता हुआ दक्षिण-समुद्र के किनारे स्थित जयश्री नाम की महानगरी में पहुँचा (१०४-८)। उद्द्योतनसूरि ने इस नगरी का जो वर्णन किया है, उससे इसकी स्थिति समुद्रतट पर होनी चाहिए।

तक्षशिला (६४.२७)—उत्तरापथ में तक्षशिला नाम की नगरी थी, जो प्रथम जिन (ऋषभदेव) के समवसरण से शोभित थी। धर्मचक्र का प्रवर्तन वहाँ हुआ था।[1] द्वीपसमुद्र की भाँति वहाँ असंख्यात धन-वैभव बिखरा पड़ा था (६४.३३)। तक्षशिला गन्धार राज्य की राजधानी थी। जातकों में शिक्षा के प्रमुख केन्द्र के रूप में इसका बहुत उल्लेख हुआ है। इसकी पहचान पंजाब में रावलपिण्डी से बारह मील दूर स्थित शाहधेरी नामक स्थान के खण्डहरों से की जाती है।[2]

द्वारकापुरी (१४९.२३)—विजयनगरी द्वारकापुरी सदृश समुद्र से घिरी हुई थी, किन्तु उसमें कृष्ण का निवास नहीं था।[3] लाट देश में प्राचीन नगरियों में द्वारकापुरी नाम की रम्य नगरी थी।[4] इससे ज्ञात होता है कि जिस नगरी में कृष्ण रहते थे तथा जो समुद्र के किनारे थी वह द्वारका लाट जनपद में स्थित थी। प्राचीन साहित्य में साढ़े पच्चीस आर्य देशों में द्वारका का उल्लेख हुआ है। णायाधम्मकहा (५, पृ० ५८) के अनुसार यह नौ योजन चौड़ो और बारह योजन लम्बी नगरी थी, जो चारों ओर से पत्थर की दीवारों से घिरी हुई थी। द्वारावती के उत्तरपूर्व में रैवतक पर्वत था और उसके पास ही नन्दन वन था।[5] द्वारका व्यापार का बहुत कड़ा केन्द्र था। नेपालवहन से व्यापारी नाव द्वारा द्वारावती आते थे।[6] आजकल द्वारावती की पहचान रेवतक पर्वत के पास स्थित आधुनिक नगर जूनागढ़ से की जा सकती है। श्रीभट्टशाली द्वारका और द्वारावती को भिन्न मानते हैं।[7]

---

१. पढमजिण समवसरणेण सोहिया धम्म चक्कंका—कुव० ६४.३५.
२. क०—ए० ज्यो०, पृ० ६८१, बी० सी० ला—ज्यो० आफ अर्ली बुद्धिज्म, पृ० ५२.
३. वारयाउरि जइसिय समुद्द-वलय परिगय ण संणिहिय-गोविंद—कु० १४९.२३.
४. तम्मि य पुरी पुराणा णामेण य वारयाउरी रम्मा, १८५.९.
५. ज०—ला० कै०, पृ० २७१.
६. नि० चू०, पृ० ११०.
७. एन० के० भट्टशाली—इण्डियन हिस्टोरिकल क्वाटर्ली, १९३४, पृ० ५४१.५०.

धनकपुरी (१३८.१४) विन्ध्याटवी में स्थित चिंतामणि-पल्लि धनकपुरी सदृश धन-समृद्धि से युक्त थी—**धणयपुरी चेय धण-समिद्धीय** (१३८.१४)। विजयपुरी की उपमा भी धनकपुरी की समृद्धि से दी गयी है (१४९.२२)। इसके ज्ञात होता है कि यह कुबेर की नगरी थी। इसकी वास्तविक पहचान मुश्किल है।

पद्मनगर (१२६.१)—पद्मनगर का उल्लेख संन्यासिनी ऐणिका के जीवनवृत्त के प्रसंग में हुआ है। यह नगर कहीं विन्ध्यप्रदेश में स्थित होना चाहिए।

पर्वतिका (२८२.१९)—उद्द्योतनसूरि ने ग्रन्थ की प्रशस्ति में पर्वतिका नगरी का उल्लेख किया है कि वह चन्द्रभागा नदी के किनारे स्थित थी, जिस पर श्री तोरराज का शासन था।[1] यद्यपि भारतीय इतिहास से ज्ञात होता है कि मिहिरकुल की भारतीय राजधानी शाकल या सियालकोट थी, किन्तु उद्द्योतन ने प्रथम बार यह कहा है कि तोरमाण पव्वइया से शासन करता था। पव्वइया जिस नदी के किनारे स्थित था उस चन्द्रभागा की पहचान आधुनिक चिनाव से की जाती है, जिसे टोलेमी ने सन्दवल कहा है।[2] झेलम और चिनाव नदी के मिश्रित वहाव को भी चन्द्रभागा कहा गया है।[3] अतः चिनाव के किनारे पर ही पव्वइया को स्थित माना जा सकता है।

मुल्तान के उत्तर-पश्चिम और रावी तथा सतलज के बीच का पंजाबी प्रदेश पर्वत कहा जाता था।[4] यह पर्वत ही पव्वइया अथवा पर्वतिका हो सकता है। मुनि जिनविजय एवं एन० सी० मेहता ने यह सुझाव दिया है कि हुयान्त्सांग द्वारा उल्लिखित **पो-फा-टो** (Po-fa-to) या **पो-ला फा-टो** की पहचान पर्वतिका से की जा सकती है, किन्तु डा० उपाध्ये अभी इसमें पर्याप्त अनुसंधान की आवश्यकता समझते हैं।[5] पर्वतिका के सम्बन्ध में डा० दशरथ शर्मा का कथन है कि सीहरास (Siharas) ने जो चार गवर्नर नियुक्त किये थे, उनमें से तीसरा अक्षलन्दा एवं पाविया के किले पर किया था।[6] पाविया को चाचपूर कहा जाता था, जो वर्तमान में 'चाचर' के नाम से जाना जाता है।[7] अतः उद्द्योतनसूरि

---

१. तीरम्मि तीय पयडा पव्वलया णाम रयण सोहिल्ला।
   जत्थट्ठिएण भुत्ता पुहई सिरि-तोररएण ॥ २८२.६
२. स०—स्ट० ज्यो०, पृ० ४०.४४.
३. डे—ज्यो० डिक्श०, पृ०, ४७.
४. वही, पृ० १५०
५. उ०—कुव० इ०, पृ० १०० (नोट)।
६. भारतीय विद्या (हिन्दी) भाग २ नं० १, पृ० ६२-३, १९४१-४२.
७ इलियट एवं डासन—हिस्ट्री आफ इण्डिया एज टोल्ड बाइ इटस् ओन हिस्टोरियन्स, भाग १, पृ० १३८-१६६ एवं १४०.

द्वारा उल्लिखित पव्वइया उक्त पाविया हो सकता है, जिसे 'चाचर' कहा जा सकता है। डा० उपाध्ये ने डा० शर्मा के सुझाव का समर्थन किया है।[1] डा० ज्योतिप्रसाद जैन ने पव्वइया की पहचान पद्मावती या पवाया (ग्वालियर के पास) से करने का सुझाव दिया है, किन्तु तब चन्द्रभागा की पहचान चंबल से करनी होगी।[2] जबकि चंबल का अपर नाम चन्द्रभागा अभी तक कहीं प्राप्त नहीं हुआ है।

पाटलिपुत्र (७५.१०, ८८.३०)—राजकुमार तोसल कोसल से भागकर पाटलिपुत्र में राजा जयवर्मन् के यहाँ कार्य करने लगा था।[3] पाटलिपुत्र से रत्नद्वीप को धन कमाने के लिए धनदत्त सेठ गया था (८८.३०)। इससे ज्ञात होता है कि पाटलिपुत्र का राजनैतिक एवं व्यापारिक महत्त्व था। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में पाटलिपुत्र के लिए अन्य १२ नाम प्रयुक्त होते थे।[4] कुसुमपुर इसका प्रसिद्ध नाम था।[5] ईसा की पांचवी शदी पूर्व से छठी शताब्दी तक इस नगर का अपरिमित उत्कर्ष हुआ। किन्तु सातवीं शताब्दी में युवानचुवांग के आगमन के समय यह नगर पतनोन्मुख था। पुरातत्त्व विभाग द्वारा किये गये अन्वेषणों के आधार पर ज्ञात होता है कि प्राचीन पाटलिपुत्र आधुनिक पटना के समीप उस स्थान पर वर्तमान था, जहाँ कुमराहर तथा बुलन्दीबाग नामक ग्राम बसे हुए हैं।[6]

प्रयाग (५५ १९)—प्रयाग का उल्लेख पाप-प्रायश्चित्त के प्रसंग में हुआ है कि वहाँ के वटवृक्ष की परिक्रमा करने से पुराना पाप भी नष्ट हो जाता है। वटवृक्ष की मान्यता आदि के सम्बन्ध में आगे धार्मिक-जीवन वाले अध्याय में प्रकाश डाला जायेगा। कुव० के उल्लेख से प्रयाग और कोशाम्बी का सामीप्य स्पष्ट होता है। प्रयाग का प्राचीन इतिहास, उसकी धार्मिक स्थिति एवं भौगोलिक पहचान आदि पर डॉ० उदयनारायण राय ने पर्याप्त प्रकाश डाला है।[7] वर्तमान प्रयाग ही प्राचीन प्रयाग था।

प्रभास (४८.२५)—यह एक प्रसिद्ध तीर्थ स्थान था। यहाँ शिवपूजा की प्रधानता थी। यहाँ तीर्थयात्रियो की भीड़ लगी रहती थी।[8] काठियावाड़ मे

---

१. वही, पृ० १०१.
२. द जैन सौर्सेज आफ द हिस्ट्री आफ एन्शियण्ट इंडिया, दिल्ली १९६४, पृ० १९५.
३. पत्तो पलयमाणो य पाडलिउत्तं णाम महाणयरं, कु० ७५.१०.
४. रा०—प्रा० नं०, पृ० १४९.
५. पाटलिपुत्र एण्ड एन्शियण्ट इंडिया—युनिवर्सिटी आफ इलाहाबाद स्टडीज़, १९५७, पृ० १९
६ जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी, १९१५, पृष्ठ ६९.
७. रा०—प्रा० न०, पृ० ९८-१०७.
८. अ०—ए० टा०, पृ० ३१.

जूनागढ़ राज्य के सोमनाथ से प्रभास की पहिचान की जाती है।[1] किन्तु संभवतः प्रभास और सोमनाथ दो भिन्न तीर्थ स्थान थे, क्योंकि उद्द्योतन ने दोनों का एक साथ उल्लेख किया है (४८.२५)।

प्रतिष्ठान (५७.२६)—स्थाणु और मायादित्य वाराणसी के शालिग्राम से व्यापार के लिए दक्षिणापथ पर निकले थे—(**ता वच्चिमो दक्खिणावहं**, ५७.२७)। अनेक पर्वत, नदियाँ एवं अटवियों को पार करते हुए वे किसी प्रकार प्रतिष्ठान नगरी में पहुँचे,[2] जो अनेक धन-धान्य एवं रत्नों से उक्त स्वर्ण नगर की तरह था (५७.३०)। वहाँ उन्होने अनेक प्रकार के व्यापार किये—(**णाणा-वाणिज्जाइं कयाइं**) तथा प्रत्येक ने पाँच हजार सुवर्ण कमाये। इसके ज्ञात होता है कि प्रतिष्ठान आठवीं शदी में व्यापार का प्रमुख केन्द्र था। बनारस से प्रतिष्ठान पहुँचने के लिए घना जंगल पार करना पड़ता था, जिसमें चोरों का भय बना रहता था (५७-३१)। प्रतिष्ठान शालिवाहन राजाओं की पश्चिमी राजधानी थी।[3] तथा प्राचीन समय से ही इसे व्यापारिक और धार्मिक महत्त्व प्राप्त था।[4] प्रतिष्ठान की पहिचान आधुनिक गोदावरी के तट पर स्थित पेठान से की जाती है।

भरुकच्छ (९९.१८, १२३.१९)—विन्ध्यवास की रानी तारा ने भरुकच्छ में जाकर शरण ली थी (९९.१८)। भरुकच्छ नगर के राजा का नाम भृगु था (१२३.१९)। दर्पफलिक ने भृगुकच्छ में जाकर महामुनि के दर्शन किये (२१५.२८)। इसके अतिरिक्त उद्द्योतन ने भरुकच्छ के सम्बन्ध में अन्य जानकारी नहीं दी है। प्राचीन भारत में भृगुकच्छ एक प्रसिद्ध नगर था। यह भृगुपुर, भरुकच्छ तथा भृगुतीर्थ आदि नामों से भी जाना जाता था।[5] इस नगर के साथ राजा भृगु का सम्बन्ध पुराणो में विस्तारपूर्वक वर्णित है।[6] डा० अल्टेकर का मत है कि इस राज्य में नर्मदा एवं मही के बीच का प्रदेश सम्मिलित था। इस नगर की पहचान आधुनिक भड़ोच से की जाती है।[7]

भिन्नमाल (२८२.९)—उद्द्योतसूरि ने प्रशस्ति में श्रीभिल्लमालनगर का उल्लेख किया है, जहाँ शिवचन्द्रगणि जिनवन्दना के लिए गये थे।[8] डा० उपाध्ये

---

१. डे०—ज्यो० डिक्श०, पृ० १५७.
२. तत्थ अणेय-गिरि-सरिया-सय-संकुलाओ अडईओ उल्लंघिऊण कह कह वि पत्ता पइट्ठाणं णाम णयरं—कुव० ५७ २८, २९.
३. म०—गा० इ०, पृ० १३३.
४. डे—ज्यो० डिक्श०, पृ० १५९.
५. अ०—ए० टा०, पृ० ३३.
६. कूर्मपुराण २, अध्याय ४१ आदि।
७. अल्टेकर—वही०, पृ० ३५.
८. सो जिण-वंदण-हेउ कह विमम्मंतो कमेण संपत्तो।
सिरि भिल्लमाल-णयरम्मि संठिओ कप्परुक्खो व्व ॥२८२.९.

ने प्राचीन साहित्य एवं लेखों के आधार पर भिन्नमाल का परिचय कुव० के इण्ट्रोडक्शन में दिया है। उससे ज्ञात होता है कि भिन्नमाल प्राचीन समय से जैनधर्म का प्रमुख केन्द्र रहा है। वर्तमान में जोधपुर राज्य के भिन्नमाल नामक स्थान से इसकी पहचान की जाती है। प्राचीन समय में इसे श्रीमाल कहा जाता था। श्रीमाल के जैन वर्तमान में विभिन्न प्रान्तों मे पाये जाते हैं, जो अपने को श्रीमाल मानते हैं।[1] उद्द्योतनसूरि द्वारा उल्लिखित 'श्रीभिल्लमाल' का यह संक्षिप्तीकरण है।

हुएनसांग ने भी गुर्जर देश की राजधानी का उल्लेख Pi-ol-mo-ol के रूप में किया है, जिसका अर्थ भिल्लमाल है। किन्तु कुछ विद्वान् इसकी पहिचान बाड़मेर (Balmer) से भी करते हैं।[2]

मथुरा (५५.२४)—कुव० में नर्मदा के किनारे स्थित एक गांव से मथुरा तक की यात्रा का उल्लेख है। बीच में अनेक विषय, नगर, कव्वड, मंडप, ग्राम, मठ, विहार आदि पार करने के बाद जैसे पृथ्वीमंडल का ही भ्रमण हो गया हो, मानभट मथुरा पहुँचा था—(**संपत्तो महुराउरीए**, ५५.६)। मथुरा में एक अनाथ-आश्रम था, जहाँ रोगी, कोढ़ी, भिखारी, यात्री आदि ठहरते थे (५५.१०-११)। जैन एवं बौद्ध साहित्य में मथुरा के अनेक उल्लेख मिलते हैं। मथुरा सूरसेन की राजधानी थी तथा उत्तरापथ का महत्त्वपूर्ण नगर था। वर्तमान में प्राचीन मथुरा की पहचान आधुनिक मथुरा से दक्षिण-पश्चिम में ५ मील की दूरी पर स्थित माहोली से की जाती है।[3] मथुरा के आस-पास अनेक प्राचीन अवशेष प्राप्त हुए हैं।

माकन्दी (११७.१)—माकन्दी नगरी कनक निर्मित तुंग तोरणों से अलंकृत तथा स्थूल गोपुर, प्राकार एवं शिखरों से शोभित थी (११७.१)। माकन्दी नगरी में १२ वर्षों का एक अकाल पड़ा था, जिससे वहाँ का जीवन तहस-नहस हो गया था (११७.१२)। माकन्दी का जैन साहित्य में काकन्दी नगरी के साथ उल्लेख मिलता है।[4] यह व्यापार का केन्द्र थी तथा दक्षिण पांचाल की राजधानी मानी गयी है। यह गंगा के उत्तर किनारे से चर्मणवती नदी तक के भाग में फैली हुई थी।[5]

मिथिला (१०१.१४)—कुव० में चूहे की कथा के प्रसंग में केवल एक बार मिथिला का उल्लेख हुआ है (१०१.१४)। मिथिला विदेह की राजधानी

---

१. मजूमदार एवं पुसालकर, हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ इंडियन प्यूपिल, भाग ३, पृ० १५३-५४.
२. श्री जिनविजय जी—भारतीयविद्या, जिल्द दो, भाग १-२.
३. क०—ए० ज्यो०, पृ० ४२७.
४. ह०—स० क०, भव-छह।
५. डे, ज्यो० डिक्श०, पृ० १४५.

थी ।[1] डा० राय ने मिथिला के सांस्कृतिक इतिहास पर विशेष प्रकाश डाला है ।[2] नेपाल के आधुनिक नगर जनकपुर से इसकी पहचान की जाती है ।[3]

रत्नापुरी (१४० १)—रत्नापुरी उपवन, वन, सन्निवेश आदि से युक्त तथा जनसमुदाय से परिपूर्ण थी (१४०.१)। आदिपुराण में (१९.८७) भी रत्नपुर नाम के नगर का उल्लेख है, जो कोशल जनपद में था। अयोध्या के राजा दृढ़वर्मन् के भ्राता श्री रत्न-मुकुट की यह राजधानी थी। उद्द्योतन ने इसका काव्यात्मक वर्णन किया है। जैन-परम्परा में १५वें तीर्थङ्कर की जन्मभूमि के रूप मे एक रत्नपुर का उल्लेख मिलता है। इस रत्नपुर की पहचान अवध राज्य के सोहवाल स्टेशन से २ मील दूरी पर स्थित रोइनोइ नामक स्थान से की गई है।[4] सम्भवतः कुव० की रत्नापुरी भी इसी स्थान से सम्बन्धित है।

राजगृह (२६९.९)—उद्द्योतनसूरि ने इस ऐतिहासिक तथ्य की सूचना दी है कि मगध की राजधानी राजगृह थी और वहाँ श्रेणिक राजा का राज्य था। भगवान् महावीर के विहार के स्थानों में राजगृह का अनेक बार उल्लेख हुआ है। विहार में स्थित वर्तमान राजगृह प्राचीन राजगृह है।

ऋषभपुर (२४६ ३२, २५१.१०)—जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के अर्ध-मध्यम-खण्ड में ऋषभपुर नाम का नगर था (२४६.३२)। वहाँ का राजा शूर, धीर एवं संग्राम में शत्रु को हरानेवाला चन्द्रगुप्त था, जो मन्त्रणा में गुप्त था, किन्तु यश मे नहीं।[5] इस चन्द्रगुप्त का प्रसिद्ध गुप्त राजा चन्द्रगुप्त से कोई सम्बन्ध नहीं बन पाता तथा ऋषभपुर की भी पहचान नहीं की जा सकी है।

लंकानगरी (३१ ३०), **लकापुरी** (११८.१८)—उद्द्योतनसूरि ने लंका नगरी के सम्बन्ध में निम्न जानकारी दी है—कोशाम्बी नगरी त्रिकूटशैल-शिखर पर स्थित लकानगरी जैसी थी।[6] सुवर्णदत्ता का पति देश-विदेश के व्यापार के निमित्त जहाज में चढ़कर लकापुरी गया था, किन्तु वारह वर्ष तक वापिस नहीं लौटा।[7] एक यात्री लंकापुरी को जहाज द्वारा जाते हुए रास्ते में जहाज भग्न हो जाने से कुडगद्वीप में जा लगा (८६.६)। विन्ध्याटवी सर्पाकार शिखरों से दुर्लंघ्य

१. वैदेहजनपदे मिथिलियां राजधान्याम्—दिव्यावदान, पृ० ४२४.
२. रा०—प्रा० न०, पृ० १७९ ८१.
३. ज०. ला० कै०, पृ० ३१४.
४. ज०—ला० कै०, पृ० ३२७.
५. तत्थ य राया सुरो धीरो परिमलिय-सत्तु-संगामे।
　णामेण चंदगुत्तो गुत्तो मंते ण उण णामे॥ २४७.१.
६. अहव तिकूड-सेल-सिहरोयरि लंका-णयरिया इमा—कुव० ३१.३०.
७. दिसादेम-वणिज्जेणं जाणवत्तमारुहिउं लंकाउरिं गओ, ७४.११.

होने के कारण लंकापुरी सदृश थी।[1] महाचिंतामणि-पल्लि शूरपुरुषों के द्वारा लंकापुरी सदृश शोभित हो रही थी।[2] 'सूर' पउमचरिय में लंकाधिपति का नाम बताया गया है।[3] विजयपुरी धीर-पुरुषों की उपस्थिति के कारण लंकापुरी सदृश थी, किन्तु वहाँ राक्षसकुल विचरण नहीं करते थे।[4]

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि लंकापुरी भारत के दक्षिण में स्थित सिंहल अथवा सीलोन के प्रदेश को कहा गया है, जहाँ जहाज द्वारा आवागमन होता था और राक्षसों के निवासस्थान के लिए प्रसिद्ध था। यद्यपि लंकापुरी की पहचान, अमरकंटक पर्वत के पास या आसाम का प्रदेश अथवा मध्यभारत से भी की गयी है,[5] किन्तु डा० बुद्धप्रकाश ने अन्य स्रोतों के आधार पर लंकापुरी को आधुनिक श्रीलंका से ही सम्बन्धित माना है।[6]

वाराणसी (५५ १५)—मथुरा के अनाथमण्डप में यह प्रसिद्धि थी कि वाराणसी जाने से कोढ़रोग दूर हो जाता है—**'वाणारसीहिं गयहं कोढो फिट्टइ'** (५५.१५)। वाराणसी काशी जनपद की प्रमुख नगरी थी (५६.२९) तथा अनेक कलाओं और चाणक्यशास्त्र के अध्ययन का केन्द्र थी (५६.२८)। इन सबके अतिरिक्त उन दिनों भी वाराणसी में ठगों द्वारा धमकाने की प्रसिद्धि थी (५७.१५,१६)। वाराणसी के राजनीतिक, व्यापारिक, बौद्धिक एवं धार्मिक इतिहास के सम्बन्ध में अल्टेकर एवं मोतीचन्द्र आदि विद्वानों ने विशेष प्रकाश डाला है।[7]

विजयानगरी (११०.८, १४६.१९, १७७ १६)—उद्द्योतनसूरि ने विजयानगरी (पुरवरी या पुरी) का जो वर्णन किया है उससे ज्ञात होता है कि (१) अयोध्या से दक्षिणापथ में विजयपुरी थी,[8] (२) विन्ध्याटवी, नर्मदानदी एवं सह्यपर्वत पारकर वहाँ पहुँचा जा सकता था, (३) दक्षिण समुद्र के किनारे तक विजयपुरी का प्रदेश था,[9] (४) द्वारकापुरी सदृश विजयपुरी समुद्र से घिरी हुई

---

१. सप्पायार सिहर-दुलंघा य लंकाउरि-जइसिया, ११८.१८.
२. लंकाउरि व्व रेहइ सा पल्ली-पुरिसेहिं, वही १३८.१८.
३. वि०—प० च०, पृ० ५-२६३.
४. जाय लंकाउरि जइसिय धीर-पुरिसाहिट्ठिय ण उण वियरतं रक्खाउल, १४९.२२.
५. Lankāpuri is generally identified either with a peak in Amarakantaka mountain or a place in Assām, Central India are Ceylon. —B. AIHC. P. 282. (Note).
६. 'Rākṣasadvīpi'—B. IAW. P. 105-124.
७. अल्टेकर—हिस्ट्री आफ बनारस, मोतीचन्द्र—काशी का इतिहास, एवं रा० प्रा० न०, पृ० १२१-३२ द्रष्टव्य।
८. दक्खिणावहे विजयाणामाए पुरवरीए, कुव० ११०.८.
९. दाहिण-मयरहर-वेला-लग्गं विजयापुरवरी विसयं—१४९.५.

थी,[1] (५) विजयपुरी के प्रासादतल से नगरी की दक्षिण दीवाल समुद्र के जल में धुलती हुई दिखाई देती थी,[2] तथा महेन्द्रकुमार अयोध्या से ग्रीष्मकाल में चलकर एक माह तीन दिन में विजयपुरी पहुँच गया था (१५७.११)।

विजयपुरी के उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि यद्यपि उद्द्योतन ने स्वयं दक्षिण भारत की यात्रा कर उसे नहीं देखा होगा, किन्तु व्यापारियों के मुख से उसका वर्णन अवश्य सुना होगा। व्यापारिक-मण्डी होने के कारण विजयपुरी दक्षिण से उत्तर एवं पश्चिम भारत में अवश्य प्रसिद्ध रही होगी। डा० ए० एन० उपाध्ये ने स्वयं दक्षिण भारत में जाकर इस विजयपुरी की स्थिति को देखा है। उनके अनुसार रत्नगिरि जिला के विजयदुर्ग नामक नगर से विजयपुरी की पहचान की जा सकती है।[3] डा० आर०जी० भण्डारकर ने विजयदुर्ग की स्थिति एवं मार्ग आदि के सम्बन्ध में जो विवरण दिया है,[4] वह कुव० के वर्णन से मिलता-जुलता है।[5]

विजयपुरी (१३५.४-७)—डा० अग्रवाल ने इसका सम्बन्ध नागार्जुनकुण्डा के इक्ष्वाकु अभिलेखों में उल्लिखित विजया महापुरी से जोड़ा है,[6] किन्तु इसका कोई आधार नही दिया। श्री शाह ने नारियल एवं पनास वृक्षो की बहुतायत तथा मठ के उल्लेख के आधार पर विजयपुरी को केरल मे स्थित माना है।[7] किन्तु इस तर्क मे भी वजन नही है। अतः डा० उपाध्ये द्वारा प्रस्तावित विजयदुर्ग से ही विजयपुरी की पहचान करना ठीक है।

विन्ध्यपुर (१३५.५)—विन्ध्यपुर से कांचीपुर तक सार्थ चला करते थे।[8] इसके अतिरिक्त उसकी स्थिति आदि के सम्बन्ध में कुव० में कोई जानकारी नही दी गई है।

विन्ध्यवास (९९.१४)—विन्ध्यपर्वत के कुहर मे विन्ध्यवास नाम का सन्निवेश था, वहाँ महेन्द्र राजा था, जिस पर कोशल के राजा ने चढ़ाई कर दी थी। उसके बाद महेन्द्र की रानी तारा ने भरुकच्छ जाकर अपनी रक्षा की थी (९९.१४, १८)। इससे ज्ञात होता है कि विन्ध्यवास, कोशल और भरुकच्छ के आस-पास रहा होगा।

१ वारयापुरी-जइसिय समुद्द-वलय-परिगय, १४९.२३.
२. आरुढेहिं दिट्ठं तेहिं विजयपुरवरीए दक्खिण-पायार-सेणी-बंधं धयमाणं महारयणा-यरं, १७३.३१.
३. रत्नगिरि डिस्ट्रिक गजेटियर, पृ० ३७२.
४. भ०—अ० हि० डे०, पृ० ७३ आदि।
५. उ०—कुव० इ०, पृ० ७६.
६. अ०—कुव० क० नोट्स, पृ० १२४.
७. शाह यू० पी०, ए० भ० ओ० रि० इ० भाग XLIX, पृ० २४७-५२.
८. एस विझपुराओ आगओ कंचीउरिं वच्चीहिइ—१३५.५,

सरलपुर-अग्गाहार (२५८.२६)—हस्तिनापुर के पास ही सरलपुर नाम का ब्राह्मणों का अग्गाहार था।[1] वहाँ का स्वयंभूदेव ब्राह्मण आजीविका की खोज में चंपा नगरी तक चला गया था (२५९.१९)।

साकेत (२२४.१६)—साकेत का जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों में अनेक बार उल्लेख हुआ है। यह कोसल का एक प्रसिद्ध नगर था। साकेत तथा अयोध्या को प्रायः विद्वानों ने एक ही नगर के दो नाम माना है, किन्तु रिजडेविडस् ने इन दोनों को लन्दन तथा वेस्टविंस्टर के समान समीपवर्ती नगर माना है।[2] साकेत का जनपद के रूप में और अयोध्या का नगरी के रूप में प्राचीन साहित्य में उल्लेख भी यह प्रमाणित करता है कि साकेत जनपद में अयोध्या अवश्य सम्मिलित थी पर अयोध्या साकेत का पर्याय नहीं है। कुव० में भी अयोध्या और साकेत का उल्लेख अलग-अलग हुआ है, जिससे इन दोनों की स्वतन्त्र स्थिति स्पष्ट होती है।

श्रावस्ती (२३० १६, २५०.१६)—भगवान् महावीर का विहार काकन्दी से श्रावस्ती में हुआ (२३०.१६)। वहाँ का राजा श्रावस्ती से निकल कर उनकी वन्दना के लिए गया था (२३०.१८) तथा श्रावस्ती की कन्या ऋषभपुर के वैरीगुप्त को विवाही गयी थी (२५०.१६)। प्राचीन ग्रन्थों में इसके लिए सावत्थी, चन्द्रपुरी तथा चन्द्रकापुरी नाम भी आते हैं। इसके श्रावस्ती नाम पड़ने के कई कारण हैं। डा० राय ने श्रावस्ती के इतिहास पर विशद प्रकाश डाला है। इस नगर की पहचान वर्तमान उ० प्र० के बहराइच जिले में राप्ती नदी के तट पर स्थित आधुनिक सहेट-महेट से की जाती है।[3] वहाँ प्राचीन श्रावस्ती के खण्डहर विस्तृत प्रदेश में फैले हुए उपलब्ध होते है।

श्रीतुंगा (१०७.१६)—श्रीतुंगा दक्षिण-समुद्र के किनारे पर बसी हुई नगरी थी।[4] इसका अपरनाम जयतुंगा भी था (१०९.२६)।

सोपारक (६५.२०)—लोभदेव व्यापार के लिए तक्षशिला से सोपारक गया था, जहाँ स्थानीय व्यापार-मडली ने उसका हार्दिक स्वागत किया था (६५.२०,२५)। शूर्पारक (सोपारा) की महत्ता वाणिज्य के क्षेत्र में प्राचीन समय से थी। यह पश्चिमी समुद्र तट का विशिष्ट बन्दरगाह माना जाता था। जातकों में इसे सौवीर की राजधानी कहा गया है तथा कच्छ की खाड़ी के दाहिने तट पर स्थित बताया गया है।[5] आठवीं सदी में भी सोपारक व्यापार

---

१. अत्थि नाइदूरे सरलपुरं णाम बंभणाणं अग्गाहारं—२५८.२६.

२. रा०—बु० ई०, पृ० ३९.

३. रा०—प्रा० न०, पृ० ११४-१२१.

४. अत्थि दाहिण-मयरहर-वेलालग्गा सिरितुंगा णाम णयरी—कु० १०७.१६.

५. जातक, २-४७०

का प्रधान केन्द्र बना हुआ था। महाराष्ट्र में बम्बई के पास थाना जिले के सोपारा से इसकी पहचान की जाती है।[1]

हस्तिनापुर (२५६ २२)—भगवान् महावीर विहार करते हुए हस्तिनापुर पहुँचे।[2] प्राचीन भारतवर्ष का यह एक प्रतिष्ठित नगर था। पाणिनि ने इसे हस्तिनापुर कहा है।[3] महाभारत में इसका विस्तृत वर्णन हुआ है।[4] जैनपरम्परा के अनुसार इस नगर की स्थापना आदि तीर्थंकर के पौत्र हस्तिन, ने की थी।[5] वर्तमान में हस्तिनापुर गगा के दक्षिण तट पर, मेरठ से २२ मील दूर उत्तर-पश्चिम कोण में दिल्ली से ५६ मील दक्षिण-पूर्व खण्डहरों के रूप में वर्तमान है।[6] वर्तमान हस्तिनापुर के आस-पास ही प्राचीन हस्तिनापुर की स्थिति रही होगी।

नगरों के उपर्युक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि उद्द्योतनसूरि को प्राचीन भारत के उन समस्त प्रमुख नगरो की जानकारी थी जो उस समय सांस्कृतिक, व्यापारिक एवं धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे। उन्होंने न केवल अयोध्या, उज्जयिनी, काकन्दी, प्रयाग, प्रभास, वाराणसी, भिन्नमाल, मथुरा, माकन्दी, मिथिला, राजगृह, साकेत, श्रावस्ती, हस्तिनापुर आदि धार्मिक नगरों तथा काँची, कोशाम्बी, चम्पा, जयश्री, तक्षशिला, द्वारका, धनकपुरी, पाटलिपुत्र, प्रतिष्ठान, भरुकच्छ, लंकापुरी, विजयानगरी, श्रीतुंगा एव सोपारक आदि व्यापारिक केन्द्रों का परिचय दिया है, अपितु इन समस्त नगरो के आवागमन के मार्गों का निर्देश किया है। इस सम्बन्ध में आगे आर्थिक-जीवन नामक अध्याय में विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया जायेगा।

●

१. जाम, कुव० क० स्टडी, पृ० १४१.
२. भगवं महावीरणाहो विहरमाणो पुणो संपत्तो हत्थिणाउरं णामं णयरं, २५६.२१
३. अ०—पा० भा०, पृ० ८६.
४ म० भा०—आदिपर्व, अध्याय ३, पंक्ति ३७.
५. विविधतीर्थकल्प, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, हस्तिनापुर कल्प, पृ० २७.
६. शा०—आ० भा०, पृ० ९४.

परिच्छेद तीन

ग्राम, वन एवं पर्वत

उद्योतनसूरि ने कुवलयमालाकहा मे निम्नोक्त ग्रामों का उल्लेख किया है :—

उच्चस्थल (६५.१)—तक्षशिला नगरी के पश्चिम-दक्षिण दिशाभाग में उच्चस्थल नाम का ग्राम था।[1] यह ग्राम देवभवनों के कारण स्वर्गसदृश, विविध-रत्नों से युक्त होने के कारण पाताल सदृश, गौ सम्पत्ति युक्त होने से गोष्ठगण सदृश तथा धनसम्पदा युक्त होने से धनकपुरी सदृश प्रतीत होता था (६५.१, २)। इस गाँव में सार्थवाह रहता था। उसके पुत्र धनदेव ने सोपारक से व्यापार करने के लिए दक्षिणापथ की यात्रा की थी। उच्चस्थल ग्राम की पहचान करना कठिन है। कल्पसूत्र (८, पृ० २३२) में उच्चनगर का उल्लेख है, जिसे वरणा भी कहा जाता था। उच्चनगर या वरणा की पहचान उत्तरप्रदेश के बुलन्दशहर नगर से की जाती है।[2] सम्भव है, उच्चस्थल ग्राम से उच्चनगर का कोई सम्बन्ध रहा हो, क्योकि दोनों उत्तरभारत में स्थित थे।

कूपचन्द्र (५०.२०)—महानगरी उज्जयिनी के पूर्वोत्तर दिशाभाग में एक योजन की दूरी पर कूपचन्द्र नाम का ग्राम था,[3] जो धन-धान्य की समृद्धि और गर्वित पामरजनों के कारण महानगर सदृश प्रतीत होता था (५०.२१)। वहाँ क्षेत्रभट नाम का वृद्ध ठाकुर रहता था। उज्जयिनी के राजा अवन्तिवर्द्धन ने वह ग्राम सेवा के बदले दान में उसे दिया था।[4] कूपचन्द्र की आधुनिक पहचान नहीं की जा सकी है। यद्यपि कूपकठ नाम के गाँव में पार्श्वनाथ ने प्रथम आहार ग्रहण

---

१. तीए य णयरीए पच्छिम-दक्खिणे दिसाभाए उच्चस्थलं णाम गामं—कु० ६५.१.

२. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग १, १८९२, पृ० ३७९-ज० ला० कै० में, पृ० ३५२ पर उद्धृत।

३. महणयरीए उज्जेणीए पुव्वुत्तरे दिसाभागविभाए जोयण—मेत्ते पएसे कूववंद्रं णाम गामं—कुव० ५०.२०.

४. दिण्णं च राइणा ओलग्गमाणस्स तं चेव कूववंद्रं गामं—५०.२६.

किया था।[1] पउमचरियं (३४.१४८) में भी कूपचन्द्र को समृद्धशाली गाँव कहा गया है। अतः प्राचीन समय में इसका अस्तित्व अवश्य रहा होगा।

नन्दीपुर (१२५.३०)—श्रीवर्द्धन और सिंह की कथा में सिंह नामक राजकुमार मरणोपरान्त नन्दिपुर ग्राम में उत्पन्न होता है (१२५.३०)। इसके अतिरिक्त कोई जानकारी नहीं दी गयी है। नन्दीपुर नाम के अनेक नगर व ग्रामों का उल्लेख मिलता है। साढ़े पच्चीस आर्य देशों में नन्दीपुर को सन्दीव्य की राजधानी कहा गया है। विपाकसूत्र (८, पृ० ४६) में भी नन्दीपुर का उल्लेख है। रामायण में नन्दीग्राम का उल्लेख है (६.१३०)। इसकी पहचान अवध के फैजाबाद से ८-९ मील दूरी मे स्थित नन्दोग्राम या नन्दगाँव से की जा सकती है।[2]

रगणासन्निवेश (४५.१७)—काचीनगरी के पूर्व-दक्षिण भाग में तीन गव्यूति की दूरी पर रगणा सन्निवेश स्थित था।[3] यह ग्राम मदोन्मत्त भैंसो से व्याप्त विन्ध्याटवी सदृश, बलवान् बैलों की आवाज से महादेव के मन्दिर सदृश, दीर्घशाखाओं वाले वृक्षों से युक्त मलयपर्वत सदृश तथा अनेक गृहपतियो से शोभित आकाशमण्डल जैसा था।[4] उस गाँव मे धान की फसल लहलहाती थी, उसके उद्यानों में जनसमुदाय विचरण करता था तथा उसके गोष्ठगण मे सैकडो गोकुलों का समूह एकत्र रहता था (४५.२०)। कांची नगरी के समीप इसकी पहचान नही की जा सकी है।

पंचत्तियग्राम (५१.५६)—पंचत्तियग्राम नर्मदा के किनारे स्थित था। यह ग्राम अनेक वृक्ष, वेला एवं गुल्म आदि से व्याप्त था। उसके चारों तरफ काटों की वाड़ी लगी हुई थी, जिसे जंगली भैंसो ने वड़े-वड़े सींगो से जगह-जगह तोड़ डाला था। वहाँ भील विचरण कर रहे थे। उस गाँव में मानभट अपने पिता के साथ किला बनाकर रहने लगा था (५१.२७)। सम्भवतः यह ग्राम उज्जयिनी के राजा की सीमा से सटा हुआ स्थित रहा होगा, जहाँ मानभट अपनी रक्षा करते रह रहा था। उस गाँव में रसिक युवकजनों का भी निवास था, जो मदनोत्सव पर दोलाक्रीडाएँ आदि करते (५२, अनु० १०-१)। इसकी आधुनिक पहचान नहीं हो सकी है।

शालिग्राम (५६.३०)—शालिग्राम वाराणसी के पश्चिम-दक्षिण दिशा-भाग में स्थित था।[5] यह ग्राम धन-धान्य से समृद्ध था, वहां के पुरुष कामदेव

१. आ० नि०, ३२५.
२. डे, ज्यो० डिक्श०, पृ० १३८.
३. तीए वियमहाणयरीए पुव्वदक्खिणा-भाए तिगाउय-मेत्ते रगणा णाम सण्णिवेसो—कुव० ४५.१७
४. णहंगणाभोउ जइसओ पयड-गहवइ-सोहिओ त्ति।—४५.१९.
५. तीय य महाणयरीए वाणारसीए पच्छिम-दक्खिणे दिसा-विभाए सालिग्गामं णाम गामं—५६.३०.

सवृक्ष रूपवान थे, वहाँ के निवासी मधुरभाषी थे। उनके दर्शन से आह्लाद प्राप्त होता था। सीधी-सादी भाषा में सभी बात करते थे। तृणमात्र के उपकार के लिए अपना जीवन देने के लिए लोग तैयार रहते थे, पूरे गाँव में सज्जनों का निवास था (५७.१,२)। किन्तु यहाँ मायादित्य इन सब गुणों से रहित एवं मित्रद्रोही था। आवश्यकचूर्णी में शालिग्राम को मगध के समीप स्थित बतलाया गया है। पिण्डनिर्युक्ति के अनुसार गोबरग्राम के नजदीक शालिग्राम स्थित था। किन्तु इसकी ठीक पहचान नहीं की जा सकी है।[1]

नगरों की अपेक्षा कुछेक ग्रामों का ही उल्लेख इस बात का परिचायक है कि ग्रन्थकार की दृष्टि, विषयवस्तु की महिमा के कारण संस्कृति, व्यापार एवं वाणिज्य के मर्मस्थल नगरों पर ही अधिक थी। कथा प्रसंगों में ही उन्होंने इन ग्रामों का वर्णन कर दिया है। इन प्रमुख ग्रामों के अतिरिक्त उद्द्योतनसूरि ने उन गावों का भी चित्र प्रस्तुत किया है, जो किसी जाति विशेष के ही निवास-स्थान होते थे तथा जिनकी अपनी अलग संस्कृति होती थी। ऐसे गाँवों को प्राचीन भौगोलिक शब्दावलि में 'पल्लि' कहा जाता था।

उद्द्योतनसूरि ने उदाहरण के तौर पर दो पल्लियों का अपने ग्रन्थ में वर्णन किया है। एक चिन्तामणिपल्लि एवं दूसरी म्लेच्छपल्लि। प्रथम पल्लि धार्मिक एवं मानवीय सभी गुणों से युक्त व्यक्तियों का निवास स्थान थी, तो दूसरी हिंसक अधार्मिक एवं असंस्कृत म्लेच्छों की वस्ती। ग्रन्थ के आधार पर इनका विशेष वर्णन इस प्रकार है :—

चिन्तामणिपल्ली (१३९ ३)—कुमार कुवलयचन्द्र भिल्लपति के साथ सह्यपर्वत की गुफा में स्थित महापल्लि में गया।[2] उसमें कहीं मनोहर चामरी गाय की पूँछ के बालों से घर एवं कुटियों के छज्जे बने हुए थे, कहीं मोर के सघन पंखों द्वारा ग्रीष्मऋतु योग्य मडप शोभित हो रहे थे, कहीं हाथी के दाँत की वल्लीं लगायी गयी थी, कहीं मुक्ता एवं पुष्पों के चौक पूरे गये थे तथा कहीं चन्दनवृक्ष की शाखाओं में झूले पडे हुए थे, जिन पर ललनाएँ गीत गाकर झूल रही थी।[3] उस पल्लि में भिल्लपति का धवलगृह अत्यन्त मनोरम था (१३९. १६)। उसके अभ्यन्तर भाग में देवगृह निर्मित था (१३९.५) एवं भोजन मंडप की व्यवस्था थी (१३९.११)। इस महापल्लि का नाम चिन्तामणिपल्ली था (१३९.३)।

इसकी आधुनिक पहचान नहीं की जा सकी है। ओटो स्टेइन ने पल्लि का विशेष अध्ययन किया है।[4]

---

१. ज०—ला० कै०, पृ० ३२९
२. गओ सज्झगिरि-सिहर-कुहर-विवर-लीणं महापल्लिं—१३८.११.
३. कहिंचि चारुचमरी-पिंछ-पब्भारोत्थइयघर-कुडीरया—गीयमणहर, पृ० १३८-११, १३.
४. जीनिस्टिक स्टडीज, पृ० १९.

म्लेच्छपल्लि (११२.५)—कुवलयचन्द्र ने विन्ध्यपर्वत की गुफा में म्लेच्छ-पल्लि को देखा।[१] उस पल्लि में तुरन्त पकड़े गये कैंदी रोने की करुण आवाज कर रहे थे, उस करुण आवाज को सुनकर वहाँ की स्त्रियाँ द्रवित हो रही थीं तथा 'छोड़ो', 'छोड़ो' शब्दों का उच्चारण कर रही थीं—(जुवईजण-मण-संखोह-मुक्क-किंकि-ति णिसुय-पडिसद्दा—(११२.७)। उनके शब्दों को सुनकर गौसमूह रंभाने लगा था (११२.६, ८)। कुमार ने देखा कि उस पल्लि में उज्ज्वल चाँदी के ढेर सदृश वनहस्तियों के दाँतों का ढेर लगा था, अंजन के पर्वत सदृश जंगली भैंसों और गवलों (के चमड़ों का) ढेर लगा था, घास की तरह चमरी गायों के बाल बिखरे पड़े थे, मोरपिच्छ से बने मंडपों में मुक्ताफल से चौक पूरे गये थे तथा महिष, बैल, गाय एवं जंगली जानवरों को मारने के कारण वहाँ की भूमि रक्त रंजित हो रही थी (११२.१३)।

उस महापल्लि में महामुनि सदृश धनुष (धर्म) के व्यापार में ही युवक जन तल्लीन थे, दूसरे नारायण सदृश केवल सुरापान में व्यस्त थे, कुछ त्रिनयन सदृश केवल वाणों द्वारा अग्नि में त्रिपुर नगर को नष्ट कर रहे थे। कुछ सिंह सदृश मदोन्मत्त महावनगजेन्द्र के कुंभस्थल से मुक्ता निकाल रहे थे तथा कुछ बाघ सदृश भैंसों पर प्रहार करने में ही तल्लीन थे (११२.१४, १६)। उस पल्लि में हाथ-पांव काटना साग-सब्जी काटने सदृश था, घाव करना हंसी खेल था, सूली पर चढ़ाना सिंहासन पर बैठाना जैसे था, हाथी के पैर से कुचलना अंग मरोड़ने जैसा था, पर्वत पर से गिराना आँख झपकाने जैसा था, कान, नाक, होंठ काटना मांस काटने के समान था, किसी को पानी मे फेंक देना जलक्रीड़ा सदृश था तथा अग्नि में प्रवेश करना सीता अपहरण के समान माना जाता था (११२.१६, १९)।

उस पल्लि के निवासी जो भी गलत कार्य करते थे उसे पापकर्म के कारण सुख का निमित्त मानते थे। उन दुष्ट किरातो को ब्राह्मणों को मारना जैसे घुटी में पिलाया गया था, गायो को मारना मुक्ति-श्रुति जैसा था, परदारा का सेवन उत्सव सदृश था, सुरापान करना यज्ञ करने जैसा था, उनके लिए चोर विज्ञान ओंकार सदृश था, बहिन की गाली देना गायत्री जाप करने जैसा था, तथा 'माता ! बहिन ! तुम्हारे पति को मारकर खून पी जाऊँगा', इस प्रकार का वचन उनको शपथ देने जैसा था (११२.२१-२४)। इस प्रकार उस म्लेच्छ-पल्लि में 'मारो-मारो, लूटो, बांधो' आदि के शब्द ही हो रहे थे। ऐसी पल्लि को देखते हुए कुमार विन्ध्यपर्वत के जंगल में प्रवेश कर गया (११२-२६)।

इस प्रकार की म्लेच्छपल्लि की आधुनिक पहचान नहीं की जा सकी है। किन्तु इसका अस्तित्व विन्ध्यपर्वत के पास रहा होगा।

---

१ विझ-सिहराणं कुहरंतरालेसु केरिसाओ पुण मेच्छ-पल्लीओ दिट्ठाओ कुमारेणं—११२.५.

वन एवं पर्वत

कोसंबवन (२२३.१२)—काकन्दी नगरी के समीप एक योजन दूरी प्रमाण वाला कोसंब नाम का वन था।[1] उसमें अनेक मृग, सांभर, बराह, शश आदि के समूह रहते थे (२२३.१३)। इस वन की निश्चित पहचान नहीं की जा सकी है।[2] सम्भव है, प्रयाग के समीप स्थित कोशाम्बी नगरी के आस-पास ही कोसंब वन रहा हो।

त्रिकूटशैल (३१.३०)—कोशाम्बीनगरी त्रिकूटशैल के ऊपर स्थित लंकानगरी जैसी थी (३१.३०)। इससे ज्ञात होता है कि त्रिकूटशैल लंका में स्थित था। महाभारत के अनुसार इसकी स्थिति लंका में ही बतलायी गयी है।[3] किन्तु कालिदास ने इसे अपरान्त में स्थित माना है।[4]

त्रिदशगिरिवर (७१.१५)—पिशाच त्रिदशगिरिवर का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जहाँ देवांगनाएँ इच्छापूर्वक विचरण करती हुईं प्रियगोत्र के कीर्तन द्वारा उल्लसित तथा रोमाचित अंगवाली होने पर श्वेदबिन्दु गिराती हैं तथा जिसका तल प्रदेश स्वर्ण का बना है वह त्रिदशगिरिवर पर्वतों का राजा तथा रमणीय है (७१)।

नन्दनवन (४३.१५, १७८.२६), **पंडकवन एवं भद्रशालवन** (४३.१३)—का उल्लेख स्वर्गलोक के वर्णन के प्रसंग में हुआ है। वहां से च्युत होनेवाले देव **रम्यकपर्वत** (४३.१७), **वक्षार महागिरि** (४३.१६) तथा **हिमवंत पर्वतों** एवं वनों के सुखों को स्मरण करते हैं। जैन साहित्य में इन वनों व पर्वतों का अनेक बार उल्लेख हुआ है।

मलयपर्वत (८.३, ४५.१८)—विनीता का विपणिमार्ग विविध औषधियों और बहुत प्रकार के चन्दनों से युक्त होने के कारण मलयवन की शोभा को धारण कर रहा था।[5] तथा रगणा-मन्निवेश मलयपर्वत की भांति लम्बी शाखाओं वाले पेड़ों से युक्त था (४५.१८)। यह मलयपर्वत दक्षिण भारत के अन्तर्गत तल्लमलै अन्नमलै और एलामलै की पहाड़ियों के लिए प्रयुक्त जान पड़ता है। डा० सरकार ने मलयपर्वत की पहचान 'ट्रावनकोर' की पहाड़ियो से की है।[6]

मुरलारण्ण (१२४.२२)—राजा भृगु की कथा के प्रसंग में इस वन का उल्लेख हुआ है। यहां के मृगछौनो की आंखें अत्यन्त सुन्दर होती हैं।

---

१. अत्थि इओ जोयणप्पमाणभूमि-भाए कोसंबं णाम वणं, २२३.१२.

२. ज०—लो० कै०, पृ० ३००.

३ म० भा०, वनपर्व २७७.५४.

४. रघुवंश, ४.५८

५. अण्णा मलय-वण-राईओ इव संणिहिय-विविह ओसहीओ-बहुचंदणाओ य—कुव० ८.३.

६. डे—ज्यो० डिक्श०, पृ० ७१.

नवसाहसांकचरित (१०.१४-२०) में मुरल लोगों का तथा अपरान्त देशों की सूची में मुरल नदी एवं मुरल लोगों का उल्लेख है। उत्तररामचरित (तृतीय अंक) में भी मुरल नदी का उल्लेख है। अतः कुव० का यह वन संभवतः इसी मुरल नदी के तट पर स्थित रहा होगा।[१]

मेरुपर्वत (१७८.२९) जैसे पर्वतों में मेरुपर्वत श्रेष्ठ है वैसे ही सब धर्मों में जैनधर्म श्रेष्ठ है (१७८.२९)। जैन साहित्य में मेरुपर्वत का विस्तृत वर्णन मिलता है। मेरु की पहचान वर्तमान में 'पामीर' से की गयी है।[२]

रोहणपर्वत (१६१.२०) —उद्द्योतनसूरि ने रोहणपर्वत का तीन वार उल्लेख किया है, जिससे ज्ञात होता है कि यह पर्वत पाताल में स्थित था[३] और स्वर्णनिर्मित था। इसे खोदकर लोग घन प्राप्त करने की अभिलाषा रखते थे (२३४.३०)। इस पर्वत की वास्तविक पहचान करना कठिन है। यद्यपि प्राचीच ग्रन्थों में इसके अनेक उल्लेख मिलते है। डा० सांडेसरा ने इसे सीलोन में स्थित माना है, जिसका नाम 'आदम्सपिक' है।[४] पउमचरियं में लवणसागर के समीप अन्य द्वीपों के साथ रोहणद्वीप की भी स्थिति मानी गई है।[५] रोहणपर्वत को रोहणद्वीप भी कहा गया है। अत: सम्भव है, यह वर्वत किसी समुद्र के किनारे रहा हो। कुवलयमाला में वर्णित दो वणिक्पुत्र जहाज भग्न हो जाने से रोहणद्वीप में जा लगते हैं (१६२.१६)।

विन्ध्यगिरिवर (९९.१४)—कोशल के समीप विन्ध्यनाम का महीधर था। उसके कुहर मे विन्ध्यवास नाम का सन्निवेश था (९९ १४)। कुवलयचन्द्र ने नर्मदा नदी पार कर महाअटवी मे प्रवेश किया (२१ ३३)। और आगे चलकर विन्ध्यपर्वत के वृक्षों के समीप एक कुटिया देखी (१२२.१)। विजयपुरी से लौटने पर सह्यपर्वत के बाद विन्ध्यपर्वत के प्रदेश में कुवलयचन्द्र का स्कन्धावार लगा था (१६५.१)। इस पर्वत की कंदरा में धातुवादी अपनी क्रियाएँ करते थे (१६५.६)। नायाधम्मकहा से ज्ञात होता है कि विन्ध्यपर्वत गंगा के दक्षिणी किनारे पर स्थित था तथा हाथियों के लिए प्रसिद्ध था।[६] वर्तमान मे मिर्जापुर के समीप एक पहाड़ी पर विन्ध्यवासिनी का मंदिर स्थित है।[७] आधुनिक विन्ध्य अपनी प्राचीनता का प्रतीक है।[८]

---

१. स०-स्ट० ज्यो०, पृ० ३२ नोटस् २. जा०-कुल० क० स्ट०, पृ० १३२.
२ पुराणम्, जनवरी १९६४, पृ० २२४
३. जा पायालंपत्तो खणामि ता रोहणं चेय-कुव० १०४-१८.
४. रोहणाचल ए सिलोनमा आदम्सपिकने नामे ओलखाता पर्वतनुं नाम छे, त्यारे मलयाचल दक्षिणहिंदना पर्वतनु नाम छे।— वर्णकसमुच्चय—भाग १, पृष्ठ ८६.
५. वि० – प० च०, ६-३२.
६. ज०—ला० के०, पृ० ३५६.
७. डे—ज्यो० डिक्श०, पृ० ३७.
८. अ० – प्रा० भौ० स्व०, पृ० २१.

वैताढ्यपर्वत (७.५, ६४.२७ आदि)—कुव० में वैताढ्यपर्वत का छह बार उल्लेख हुआ है।[१] किन्तु कामगजेन्द्र की कथा में इसका विस्तृत वर्णन है। अरुणाभपुर या उज्जयिनी के उत्तरदिशाभाग में रत्न-निर्मित, स्वर्ण धातुरस बहाने वाला, पीत प्रदेश से युक्त, विद्याधर मिथुनों से सुन्दर, वज्रनील मरकत आदि से सुशोभित कटक वाला, सिद्ध भवनों के ऊपर ध्वजाओं से युक्त तथा अनेक प्रकार की प्रज्वलंत औषधियों वाला वैताढ्य नामक पर्वत है।[२]

वैताढ्य पर्वत का जम्बूद्वीप-पण्णत्ति में विशेष वर्णन हुआ है। उससे ज्ञात होता है कि यह पर्वत भारतवर्ष को दक्षिणभारत और उत्तरभारत में विभक्त करता था। इसलिए इसे वेयड्ढ कहा गया है। यह इसका गुणनिष्पन्न नाम है। इस पर्वत का लोक-प्रचलित नाम क्या था, इसकी जानकारी प्राप्त नहीं है। वर्तमान में वेयड्ढ नाम का कोई पर्वत नहीं है। मुनिश्री नथमल ने अपने एक निबन्ध में इसकी आधुनिक पहचान करते हुए कहा है कि वेयड्ढ का पूर्वोत्तर अंचल अराकान पर्वतमाला और पश्चिमोत्तर अंचल हिन्दुकुश पर्वत श्रेणी है। यही 'वेयड्ढ' पर्वत बृहत्तर भारत की विभाजन रेखा है।[३]

शत्रुंजय (१२४.१८)—एक विद्याधर की यात्रा के प्रसंग में कहा गया है कि वह वैयड्ढ से सम्मेद शिखर गया। वहाँ से शत्रुंजय और शत्रुंजय से विन्ध्य-पर्वत होता हुआ नर्मदानदी के किनारे पहुँचा। (१२४.१८, १९)। शत्रुंजय पर्वत प्राचीन समय से ही तीर्थ-स्थान माना जाता रहा है। गौतम गणधर ने एवं अनेक मुनियों ने इस पर्वत से मोक्ष की प्राप्ति की थी।[४] इसको प्रथम तीर्थ कहा गया है।[५] वर्तमान में शत्रुंजय पर्वत सूरत से उत्तर-पश्चिम में ७० मील की दूरी पर तथा भावनगर से ३४ मील दूर काठियावाड़ में स्थित है।[६]

संबलीवन (१७६.२८)—झूठ बोलनेवाला तथा कपट करनेवाला घोर नरक सदृश संबलीवन में जाता है (१७६.२८)। इसकी पहचान नहीं की जा सकी है। सम्भवतः संबलीवन धार्मिक मान्यता के रूप में ही प्रचलित रहा हो।

सम्मेदशैल (१२४.१८, २१६.६)—दृढवर्मन् साधु बनने के बाद सम्मेद-शिखर पर वन्दना के लिए चले गये। वहीं उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ (२१६.६)। सम्मेदशिखर जैनधर्म का प्राचीन तीर्थ है। ऐसा कहा जाता है कि ऋषभनाथ, वासुपूज्य, नेमिनाथ एवं महावीर के अतिरिक्त सभी तीर्थंकरों की

---

१. कुव० ७.५, ६४.२७, १०७.२५, १२४.१८, २३५.३, २३८.२०.
२. अत्थि इओ—वेयड्ढो णाम पव्वय-वरो—२३५.१,३.
३. वेयड्ढ पर्वत—जैन दर्शन और संस्कृति परिषद् पत्रिका, १९६६ कलकत्ता, पृ० ९७.
४. ज०—जै० कै०, पृ० ३३३.
५. त्रि०श०च०, पृ० ३५४ आदि।
६. डे—ज्यो० डिक्श०, पृ० १८२.

मुक्ति इसी पर्वत पर से हुई थी। वर्तमान में इसकी पहचान बिहार में हजारीबाग जिले की पार्श्वनाथ पहाड़ी से की जाती है,[1] जहाँ भव्य जैन मन्दिर निर्मित है।

सह्यशैल (१३४.२५, १८४.२५)—कुवलयचन्द्र को अयोध्या से विजयपुरी जाने एवं वहाँ से लौटने पर बीच में सह्यपर्वत मिला था, जो विन्ध्यगिरि से लगा हुआ था। वह विन्ध्यपुरी से कांचीपुरी जाने के मार्ग में पड़ता था (१३५.५)। आवश्यकनिर्युक्ति (६.२५) में भी इसका उल्लेख हुआ है। भारत की सात पर्वत श्रेणियों में से सह्य एक पर्वत श्रेणी है। वर्तमान में यह सह्याद्रि के नाम से जाना जाता है। कावेरी नदी के पश्चिमीघाट के उत्तरीय भाग में यह स्थित है।[2] पास ही कृष्णवर्णा नदी बहती है।[3]

हिमवंत (४३.१८, १६)—हिमवंत का वर्णन करते हुए उद्द्योतनसूरि ने कहा है कि स्वतन्त्ररूप से विचरण करनेवाले महादेव के वाहन नन्दी की आवाज सुनकर गौरी के वाहन सिंह द्वारा क्रोधित होकर पाद प्रहार से शिलाखण्ड जहाँ तोड़ दिये जाते हैं वह श्वेतशिखर वाला हिमवंत सबसे रमणीय वस्तु है—(४३.१८, १६)। देवतात्मा हिमालय का अत्यन्त रमणीक वर्णन कालिदास ने कुमार-संभव में किया है और उसे शिव-पार्वती का निवासस्थल बताया है। उसकी धवलता के लिये मेघदूत की उनकी उपमा अत्यन्त प्रसिद्ध है—**राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः**। जैन-बौद्ध साहित्य में इसका पर्याप्त उल्लेख हुआ है। पालिसाहित्य मे हिमवंत को पर्वतराज कहा गया है। इसे पाँच सौ नदियों का उद्गमस्थान माना गया है।[4] वर्तमान भारत के उत्तर में स्थित हिमालय पर्वत ही प्राचीन साहित्य में हिमवत नाम से उल्लिखित हुआ है। उद्द्योतनसूरि ने इसे हिमगिरि भी कहा है, जो अपनी धवलता के लिये प्रसिद्ध था।[5]

अटवी एवं नदियाँ

उपर्युक्त वन एवं पर्वतों के अतिरिक्त उद्द्योतन ने कुव० में देवाटवी एवं विन्ध्याटवी का भी उल्लेख किया है। इनके सम्बन्ध में विशेष विवरण इस प्रकार है :—

देवाटवी (१२३.३)—रेवा नदी के दक्षिण किनारे पर देवाटवी नाम की महाटवी है।[6] वह अनेक वृक्षों से युक्त, अनेक शृगालों से सेवित होने के कारण भीषण तथा अनेक पर्वतों से शोभित है (१२४.४)।

१. डे—ज्यो० डिक्श०, पृ० १७६.
२. वही, पृ० १७१.
३. का० मी०, ८४.२६, २७ तथा ८५.१, २.
४. मिलिन्दपन्ह, पृ० ११.
५. हिमगिरि व्व धवलं तं—कुव० १३८ १९
६. तीए दक्खिणकूले देयाडई णाम महाडई—१२३.३

वह देवअटवी भरुकच्छ नगर के आस-पास रही होगी क्योंकि इस अटवी का पल्लीपति वहाँ के राजकीर को लेकर भृगुकच्छ के राजा को भेंट देने गया था (१२३.१९)। महाभारत में देवसम नामक पर्वत का उल्लेख है, जो दक्षिण में स्थित था।[1] सम्भव है देवअटवी और देवसमपर्वत में कोई सम्बन्ध रहा हो।

महाविन्ध्याटवी (२७-२९)—कुवलयचन्द्र अश्वद्वारा उड़ा लिये जाने पर जब मुनि के आदेशानुसार दक्षिणदिशा की ओर चला तो अनेक पर्वत, वृक्ष, वल्ली, लता, गुल्म आदि से युक्त महाविन्ध्याटवी में पहुँच गया।[2] वह अटवी पाण्डव सैन्य सदृश अर्जुन नाम के अति भयंकर वृक्षों से अलंकृत थी (अर्जुन और भीम जैसे योद्धाओं से युक्त थी), रणभूमि सदृश सैकड़ों सरोवर एवं पक्षी-समूह से युक्त थी (बाण एवं तलवारों से युक्त), निशाचरी सदृश शृगालों के भयंकर शब्दोंवाली एवं काले कोदव-सी मलिन थी (भयंकर अशुभ शब्दवाली एवं मेघ-सदृश काले अंग वाली), लक्ष्मी सदृश अनेक हाथियों से युक्त थी जो दिव्य पद्मों का भोजन करते थे (महागजेन्द्र युक्त एवं कमलासन पर स्थित), जिनेश्वर की आज्ञा सदृश महावतों के संचार एवं सैकड़ों शृगालों से सेवित थी (महाव्रतों के सेवन में कठिनाई होने पर भी सैकडों श्रावकों द्वारा सेवित), महाराजा के आस्थानमंडप-सदृश अनेक राजशुकों से युक्त तथा सपाट मैदान वाली थी (राजपुत्रों तथा सामन्तों से युक्त), महानगरी सदृश ऊँचे शाल वृक्षों से शोभित एवं सर्पाकार पर्वतों द्वारा दुर्लंध्य थी (ऊँचे किलों के अलंकृत सर्पाकार शिखरों से दुर्लंध्य), महाश्मशान-भूमि सदृश सैकड़ों मृगों से युक्त एवं भयंकर अग्नि जलानेवाली थी (सैकड़ों मृत देहों से युक्त एवं घोर अग्निवाली), तथा लंकापुरी सदृश पर्वतों के समूहों से युक्त एवं शाल तथा पलाश वृक्षों से युक्त थी (वन्दरों की टोली द्वारा भग्न किलोंवाली एवं मांस से व्याप्त)।

उस महाटवी में महाहस्तियों द्वारा घर्षित चंदन के वनों से सुगन्ध बह रही थी, कहीं बाघ द्वारा भैंसों का शिकार करने से लाल भूमि वाली थी, कहीं पराक्रमी सिंहों द्वारा हाथियों के मस्तकों के विदारण से मुक्ताफल फैल रहे थे, कहीं वराह की दाढ़ के अभिघात से भैंसा घायल हो रहे थे, कहीं भैंसों के लड़ने का शब्द निकल रहा था, कहीं भीलों की स्त्रियाँ गुंजाफल एकत्र कर रही थीं, कहीं वाँस के वन में आग लग जाने से मुक्ताफल उज्ज्वल हो रहे थे, कहीं भयंकर शोर हो रहा था, कहीं शुष्क चीर-वृक्षों का शब्द हो रहा था, (कठोर तापसियों के मन्त्रोच्चारण हो रहे थे), कहीं मोर नाच रहे थे, कहीं भौंरे गूँज रहे थे, कहीं शुकों का शब्द हो रहा था, कहीं चामरीमृगों की शोभा थी, कहीं वन के अश्वों का शब्द हो रहा था, कहीं भीलों के वच्चे शिकार

१. म० भा०—वनपर्व, ८८.१७

२. जाव पेच्छइ अणेय गिरि-पायव-वल्ली-लया-गुविल-गुम्म दूसंचारं महाविंझाडविं त्ति—२७.२९.

कर रहे थे तथा कहीं किन्नर गीतों के मधुर शब्दों से एक स्थान पर अनेक पशु एकत्र हो रहे थे, इत्यादि ।

उद्द्योतनसूरि द्वारा प्रस्तुत विन्ध्याटवी का उपर्युक्त वर्णन कादम्बरी में बाण द्वारा प्रस्तुत वर्णन से भी विस्तृत है । दोनों वर्णनों में कहीं-कहीं समानता भी है । जैसे उद्द्योतन ने उसे रणभूमि सदृश कहा है (२७.३०), बाण ने **'क्वचित्समरभूमिरिव शरशतनिचिताः'** शब्दों का प्रयोग किया है । बाण ने जहाँ **'क्वचिद्दशमुखनगरीव चटुलवानरवृन्दभज्यमानतुंगशालाकुला'** समास का प्रयोग किया है, वहाँ उद्द्योतनसूरि ने **'लंकाउरि-जइसिया, पवयवन्द्र-भज्जंतमहासाल-पलाससंकुल व्व'** कहकर अटवी की तुलना की है (२८.१) आदि ।

विन्ध्याटवी का प्राचीन साहित्य में अनेक बार उल्लेख हुआ है । महाभारत में इसे विन्ध्यवन कहा गया है ।[1] बौद्धसाहित्य में विन्ध्याटवी या विन्ध्यारण्य का पर्याप्त उल्लेख है ।[2] विन्ध्यपर्वत की तराई में इस अटवी का अस्तित्व होना चाहिए ।

कुव० में गंगाद्वार (४८.२४), गंगासंगम (५५.२१), गंगानदी (६३.२५), सुरनदी (७१.२५), नर्मदा (१२०.३२, १२४.१६), रेवा (१२१.१७, १२३.३), चन्द्रभागा (२८२.५), सीता-सीतोदा (४३.१३) तथा सिन्धु (७-६) आदि नदियों का उल्लेख हुआ है । इनमें नर्मदा एवं गंगा नदी का कथा के पात्रों द्वारा अनेक बार भ्रमण किया गया है । कुव० में वर्णित भूगोल को समझने मे नर्मदा और गंगा नदियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है । भारत की ये प्रसिद्ध नदियाँ हैं । अतः इनके विषय में जानकारी देने की पुनरावृत्ति नही की गयी है ।

---

१. म० भा० आदिपर्व, २०८, ७, सभापर्व १०-३१, वनपर्व १०४-६.

२. महावंश, (हिन्दी), १९-६; दीपवंश, पृ० ६५५ तथा उ०-बु० भू०, पृ० १६३.

परिच्छेद चार

बृहत्तर भारत

उद्द्योतनसूरि ने कुवलयमालाकहा में कुछ ऐसे देशों का भी नामोल्लेख किया है, जो भारतवर्ष की सीमा से बाहर थे। भारतीय व्यापारी उन देशों की यात्रा किया करते थे। बाहरी देशों में भारतीय संस्कृति के विस्तार की लम्बी कहानी है। परन्तु ७वीं शताब्दी में अन्य देशों के साथ आर्थिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध बढ़ जाने के कारण अन्य देशों के साथ भारत का सम्बन्ध घनिष्ठ होने लगा था। भारतीय सस्कृति के प्रभाव के कारण भारत के अनेक पड़ोसी देशों को विद्वानों ने 'बृहत्तर भारत' नाम से सम्बोधित किया है।[1] इस सन्दर्भ में कुवलयमालाकहा में बृहत्तरभारत के निम्नोक्त देशों व स्थानों का उल्लेख हुआ है :—

उत्तरकुरु (२४०.२२)—कामगजेन्द्र ने अपरविदेह में जाकर वहाँ के बड़े-बड़े मनुष्यों, पशुओं एवं वस्तुओं को देखकर सोचा कि वहीं वह उत्तरकुरु में तो नहीं आ गया है—**'णाणुत्तर-कुरवो'** (२४०.२२)? जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही मान्यताओं के आधार पर उत्तरकुरु में भोगभूमि मानी जाती है, जहाँ के मनुष्यों का जीवन निश्चिन्त और सुखमय होता है।[2] महाभारत के अनुसार उत्तरकुरु की स्थिति सुमेरु से उत्तर और नीलपर्वत के दक्षिणपार्श्व में थी। आदिपुराण और हरिवंशपुराण के अनुसार उत्तरकुरु यारकन्द या जरफशा नदी के तट पर होना चाहिए।[3] राजतरंगिणी में इसे स्त्रीराज्य के बाद स्थित बतलाया है।[4]

---

१. चन्द्रगुप्त वेदालंकार—'बृहत्तरभारत'; वेल्स—'दी मेकिंग आफ ग्रेटर इण्डिया।
२. उ०—बु० भू०, पृ० ६७.
३. शा०—आ० भा०, पृ० ४३.
४. क०—राज०, ४-१७५.

आधुनिक विद्वानों में से टालेमि ने उत्तरकोर्ह (Ottarokorrha) नामक जनपद का उल्लेख किया है, जिसे वे सेरिका (चीन) का कियदंश मानते हैं।[१] जिमर ने काश्मीर को उत्तरकुरु कहा है।[२] डा० जायसवाल साइबेरिया से उत्तरकुरु का मिलान करते हैं।[३] श्री लासेन के अनुसार यह जनपद तिब्बत में ब्रह्मपुत्र नदी के तट पर होना चाहिए।[४] इस प्रकार उत्तरकुरु केवल परम्परागत स्थान न होकर बृहत्तरभारत का एक प्रमुख जनपद था, जो कहीं भारत के उत्तर में स्थित था और जिसकी सांस्कृतिक स्थिति समृद्ध थी।

कुडंगद्वीप (८८.३२, ८९.१,९)—कुडंगद्वीप का उल्लेख अल्पसुख के द्रष्टान्त को समझाने के प्रसंग में हुआ है। कुडंगद्वीप का वर्णन उद्द्योतन ने कष्टप्रद द्वीप के रूप में किया है, उस द्वीप में अखाद्यफल, कड़ुआ अन्न, तीक्ष्ण काँटे तथा पत्तों वाले सैकड़ों वृक्ष थे। वहाँ सिंह, व्याघ्र, रीछ, दीपित, शृगाल आदि अनेक जंगली पशु और पक्षियों का निवास था। गन्दगी और कीचड़ से वह युक्त था। वहाँ गीदड़ों की भयंकर आवाज होती रहती थी। इस प्रकार वह सेंकड़ों दोष और दुःखों से परिपूर्ण कुडंगद्वीप था (८९.१,२)।

इसकी पहचान करना मुश्किल है। कुंडग का अर्थ कोश में अन्न का छिलका या भूसा किया गया है,[५] जो इस नाम के द्वीप की महत्वहीनता को प्रकट करता है। डा० बुद्धप्रकाश के अनुसार कुडंग तमिल या इण्डोनेशियन शब्द है तथा कुडंग नाम का राजा बोर्नियों के राज्य का स्थापक माना जाता है, जो वहाँ भारतीय शासक के प्रथम प्रवेश का द्योतक है।[६] इस कुडंग की आर० सी० मजूमदार ने कम्बुज के प्रथम राजा कौंडिल्य से पहचान की है।[७] इन संदर्भों से यह कहा जा सकता है कि सम्भव है, दक्षिण पूर्व एशिया में बोर्नियों के आस-पास कुडंग नाम का कोई द्वीप रहा हो, जहाँ भारतीय व्यापारी आते-जाते रहे हों। भारत की भौगोलिक स्थिति एवं खान-पान की अपेक्षा हो सकता है, कुडंगद्वीप का जीवन यहाँ के व्यापारियों के अनुकूल न रहा हो, इसीलिए उद्द्योतनसूरि ने उसे दुःखपूर्ण द्वीप कहा है।

डा० मोतीचन्द्र ने सुलेमान की सीराफ से केन्टन तक की जहाज-यात्रा का जो विवरण दिया है उसमें कुडंग नामक बन्दरगाह का भी उल्लेख है।

---

१. रेजेन—टोलेमी ज्योग्राफी, भाग ६, १६; (हिन्दी विश्वकोश, तृतीय भाग, पृ० २०८)।
२. वैदिक इण्डेक्स, जिल्द पहली, पृ० ८४.
३. इंडियन इटिक्वेरी, जिल्द ६२, पृ० १७०
४. डिक्शनरी आफ पालि प्रापर नेम्स, जिल्द प्रथम, पृ० ३५६.
५. पाइयसद्दमहण्णवो—कुडंग शब्द।
६. Kuḍunga is Tamil or Indonesian word and shows that the ruling house of Borneo was of indigenous origin
—B. LAW. P. 96-97.
७. B. AIHC. P. 6.

सीराफ से जहाज जब तियोमा के टापू में पहुँच कर प्रस्थान करता था तो उसे आगे चलकर कुद्रंग में रुकना पड़ता था, कुडंग से चम्पा, चम्पा से सुन्दूर-फूलात और अन्त में सुन्दूरफूलात से पोते-व-ला चीन की खाड़ी से खानफू या कैन्टन जहाज पहुँचता था। इस यात्रा में पाँच महीने लगते थे। डा० सा० ने कुंद्रंग को सांजाक की खाड़ी में सेगाँव नदी के मुहाने पर स्थित माना है।[1] सम्भव है, इस कुंद्रंग एवं कुवलयमाला के कुडंग में कोई समानता रही हो। मलयप्रायद्वीप (सिंगापुर) के जलडमरुमध्य में कुडूरद्वीप (kundurdvip) नाम का एक द्वीप है। कुव० के यात्रा वर्णन से इसका निकट सम्बन्ध है। अत: इसे कुडुंगद्वीप स्वीकार किया जा सकता है।

खस (१५३.१२)—दक्षिण भारत में स्थित विजयपुरी की व्यापारिक मण्डी में अन्य देशों के व्यापारियों के साथ खस, पारस और बब्बर भी उपस्थित थे[2], जो अपने देशों से यहाँ व्यापार करने आये होंगें। उद्द्योतनसूरि ने अनार्य जाति के अन्तर्गत खस जाति का भी उल्लेख किया है, जिसका परिचय सामाजिक स्थिति वाले अध्याय में दिया जायेगा। खस प्रदेश की पहिचान विद्वानों ने विभिन्न स्थानों से की है। सामान्यतया सेण्ट्रल एशिया में दरदिस्थान और चीन की सीमाओं के बीच के प्रदेश को खस कहा जाता है। डा० बुद्धप्रकाश ने खस जाति एवं उनके निवासस्थान पर विशेष प्रकाश डाला है।[3]

चन्द्रद्वीप (१०६.१६)—सागरदत्त दक्षिण भारत में स्थित जयश्री नाम की महानगरी से परतीर के व्यापार के लिए चला। उसका जहाज नदीमुख से समुद्र में प्रविष्ट हुआ—**ढोइओ णइ-मुहम्मि पडिओ समुद्दे** (१०५.३३)। तथा कुछ समय बाद वह यवनद्वीप पहुंचा। यवनद्वीप में व्यापार करने के बाद जब वह वापस लौटने लगा तो समुद्र में तूफान आ गया, जिससे उसका जहाज नष्ट हो गया। वह किसी प्रकार समुद्री जीवों से अपनी रक्षा करता हुआ पांच दिन-रात्रि में चन्द्रद्वीप नाम के द्वीप में जा लगा।[4] चन्द्रद्वीप में भूख से व्याकुल हो जब वह घूम रहा था तो उसने देखा कि उस द्वीप में बकुल, एला का सुन्दर वन है, निर्मल कर्पूर फैला हुआ है, द्वीप की शोभा नन्दनवन पर हँस रही है, किन्नर गा रहे हैं, भ्रमर एवं पक्षियों के समुदाय गुंजन कर रहें हैं तथा वहाँ के वृक्षों की छाया इतनी सघन है कि सूर्य की किरणे भूमि पर नही पहुँच पाती है (१०६.२२,२३)। सागरदत्त ने उस द्वीप में नारंगी, फणस, मातुलुंग आदि फल खाकर भूख मिटाई तथा चन्दन, एला एवं लवंग के लतागृह में विश्राम करने के लिए चल पड़ा (१०६.२४-२५)। इस चन्द्रद्वीप पर दक्षिण-समुद्र के किनारे

---

१. मो०—सा० पृ० २०४-२०५
२. अण्णइय पुलएइ खस-पारस-बब्बरादीए—कुव० १५३.१२.
३. बुद्धप्रकाश—पो० सो० पं०, पृ० २०९.
४. पंचहि अहोरत्तेहिं चंदद्दीवं णाम दीवं तत्थ लग्गो—कु० १०६.१६.

पर स्थित श्रीतुंगा (जयतुंगा) नगरी की वणिक्-कन्या का अपहरण कर एक विद्याधर भी उससे रमण करने के लिए एकान्त प्रदेश समझकर उतरा था—एत्थ उवहि-दीवंतरे णिप्पइरिक्के समागओ (१०७-३२)।

इससे ज्ञात होता है कि चन्द्रद्वीप यवनद्वीप और दक्षिण-समुद्र के बीच में कहीं पड़ता होगा। 'कौलज्ञाननिर्णय' नामक ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि नाथ-सम्प्रदाय के मत्स्येन्द्र नाथ ने अपने मत का प्रचार चन्द्रद्वीप में रह कर कामरूप में किया था। पी०सी० बागची ने इस चन्द्रद्वीप की पहचान बंगाल के डेल्टाप्रदेश में स्थित सूर्यद्वीप (Sundvip) से की है।[1] डी० सी० सरकार ने गोविन्द्रचन्द्र के अभिलेखों के आधार पर चन्द्रद्वीप और बंगाल देश में समानता प्रगट की है। आधुनिक बकरगंज जिला का कुछ भाग, जो बाकला:-चन्द्रद्वीप कहलाता है, प्राचीन चन्द्रद्वीप का द्योतक है।[2]

बंगालदेश में चन्द्रद्वीप की स्थिति मानने पर हो सकता है, उद्द्योतनसूरि ने जिस सघनवन का वर्णन किया है वह बंगाल के पास का सुन्दरवन हो।[3] यहाँ यवनद्वीप का अर्थ यवन प्रदेश नहीं है। क्योंकि पूर्व देश में स्थित इस चन्द्रद्वीप और पश्चिम में स्थित यवन प्रदेश में कोई सम्बन्ध नहीं बनता। अतः कुव० का यह यवनद्वीप 'जावा' के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसके रास्ते में बंगाल का चन्द्रद्वीप पड़ सकता है और उसके लिए दक्षिण भारत के समुद्र से यात्रा भी प्रारम्भ की जा सकती है।[4]

चीन-महाचीन (६६.२)—सोपारस का कोई व्यापारी भैंसे एवं गवल लेकर चीन तथा महाचीन गया था। वहाँ से गंगापटी तथा नेत्रपट नामक वस्त्र लाया, जिससे उसे बहुत लाभ हुआ।[5] गंगापटी एवं नेत्रपट के सम्बन्ध में आगे जानकारी दी गई है। चीन एव महाचीन का परिचय इस प्रकार है :—

उक्त संदर्भ से ज्ञात होता है कि सम्भवतः व्यापारी भैंसे लेकर चीन गया और वहाँ से गंगापटी लाया तथा गवल लेकर महाचीन गया और वहाँ से नेत्रपट लाया। इस प्रकार चीन और महाचीन दो देशों के लिए प्रयुक्त पद है। प्रायः चीन-महाचीन को एक समझ लिया जाता है, किन्तु इन दोनों शब्दों का इतिहास इन्हें दो देशो के लिए प्रयुक्त बतलाता है। तिब्बत के सीमावर्ती जो पहाड़ी राज्य थे उन्हे सीन (shina) कहा जाता था। भारतीय

१. बा०—कौ० नि०-इण्ट्रोडक्शन, पृ० ३१-३२.
२. स०—स्ट० ज्यो०, पृ० १२५.
३. भारतकौमुदी, भाग १ मे बागची का निबन्ध द्रष्टव्य।
४. द्रष्टव्य—लेखक का कुव० में उल्लिखित कुडंग, चन्द्र एवं तारद्वीप नामक लेख—श्रमण, १९७२.
५. अहं चीण-महाचीणेसु गओ महिस गवले घेत्तूण, तत्थ गंगावडिओ णेत्तपट्टाइयं घेत्तूण लद्धलाभो णियत्तो—६६-२.

साहित्य में उन्हें चीन कहकर उल्लेख किया गया है।[1] तथा आधुनिक चीन को जिसमें मंगोल प्रदेश भी सम्मिलित था, महाचीन कहा जाता था। तन्त्रविद्या के ग्रन्थों में महाचीन शब्द का बहुत उल्लेख हुआ है।[2] प्रसिद्ध चार जातियों में से जोग (Gog) एवं माजोग (Magog) के उच्चारण भी मध्यकाल में क्रमशः चीन और माचीन के रूप में पूर्वी एशिया में प्रसिद्ध हुए।[3] सम्भव है, इन्हीं शब्दों के कारण चीन और महाचीन शब्द उस प्रदेश विशेष के लिए भी प्रयुक्त होते रहे हों, जहाँ इन जातियों की प्रमुखता थी।

जम्बूद्वीप (६४.२७, २४१.३१)—कुव० में जम्बूद्वीप का उल्लेख जैनपरम्परा के अनुसार हुआ है। इस लोक में जम्बूद्वीप के भारतवर्ष के वैताढ्यपर्वत की दक्षिण-श्रेणी में उत्तरापथ नाम का पथ है—इत्यादि।[4] उद्द्योतनसूरि ने भारतवर्ष शब्द का प्रयोग वर्तमान भारत के लिए किया है, जिसका विभाजन वैताढ्यपर्वत के द्वारा होता था।

जम्बूद्वीप शब्द का प्रयोग क्रमशः भारतवर्ष के अतिरिक्त अन्य देशों के लिए भी प्रयुक्त होने लगा था। बौद्धसाहित्य में यद्यपि जम्बूद्वीप को प्रायः भारतवर्ष का पर्याय माना गया है। किन्तु भारतीय भूगोल-शास्त्रियों के ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ जम्बूद्वीप का भी विस्तार होता रहा है। भारतीय ग्रथों में[5] जम्बूद्वीप के अन्तर्गत जिन अन्य देशों का उल्लेख हुआ है, उसकी पहचान एशिया के विभिन्न देशों से डा० बुद्धप्रकाश ने की है। यथा उत्तरकुरु की पहचान चीनी तुरकस्तान के तरिमवसिन राज्य से, हरिवर्ष की पहचान अश्वों के लिए प्रसिद्ध सुघद (Sughd) से, इलावृतवर्ष की पहवान इली नदी के क्षेत्र से, भद्राश्ववर्ष की सीतानदी (जकार्ता) के मैदान से, केतुमाला की वक्षु नदी के प्रदेश से, किंपुरुषवर्ष की पहचान हिमालय प्रदेश से, हिरण्यमय-वर्ष की बदक्षान प्रदेश से तथा रम्यवर्ष की पहचान सुदूरपूर्व में रामी या रामनी-द्वीप से।[6] अतः भारतवर्ष वर्तमान हिन्दुस्थान के लिए प्रयुक्त हुआ है। एवं जम्बूद्वीप का विस्तार बृहत्तरभारत के विभिन्न प्रदेशों में था। कुव० में जम्बूद्वीप के अतिरिक्त अन्य परम्परागत पर्वतों, द्वीपों व समुद्रों का भी उल्लेख आया है, जिनमें सुरगिरि (७.२२) कुलपर्वत (७.४-६), वक्षारमहागिरि (४३.१-४),

१. Cīna (Hilly states of the Tibetan borderland such as Shina) Mahācīna (China). —B. AIHC. P. 287.
२. Bagchi, P. C. "Studies in the Tantrās" P. 96-99.
३. 'Sakadvīpa'—B. LAW- p. 191.
४. अत्थि इमम्मि चेय लोए, जम्बूदीपे भारहे वासे वेयड्ढे दाहिण-मज्झिम-खण्डे उत्तरावहं णाम पहं—६४.२७.
५. का० मी०, पृ० ९१-९३.
६. बु०—इ० ब०, पृ० २१७.

नंदीश्वरद्वीप (४३.११), क्षीरोदधि (७.४), अवरोवधि (५२.२७), दाहिणभ-यराहर (१३४.६) आदि जैन साहित्य में काफी उल्लिखित हैं। भारतवर्ष के भूगोल को सुनिश्चित करने में इनका महत्त्वपूर्ण योग है।[1]

तारद्वीप (६६.१८, ९४.१)—लोभदेव का जहाज रत्नद्वीप से चलकर जब सोपारक के लिए वापिस लौट रहा था तो बीच समुद्र में राक्षस द्वारा तूफान उठा देने से वह भग्न हो गया। लोभदेव किसी प्रकार उस महा भयंकर समुद्र पर तैरता हुआ सात दिन-रात में तारद्वीप नामक द्वीप में जा लगा।[2] समुद्री किनारे की शीतल पवन से स्वस्थ हुआ। तभी वहाँ रहने वाले समुद्रचारी अग्नियक नाम के महाविट के पुरुषों ने उसे पकड़ लिया और अपने स्थान पर ले गये। वहाँ उन्होंने पहले लोभदेव को खूब खिलाया-पिलाया एवं बाद में उसके शरीर से रुधिर निकाल लिया, जिससे वे सोना बनाने का काम करते थे। इस प्रकार हर छह माह में वे उसका रुधिर-मांस निकालते और औषधियों से उसे स्वस्थ कर देते थे। लोभदेव वहाँ बारहवर्ष तक इस प्रकार का दुःख सहता रहा।[3]

अन्त में एक दिन भरुण्ड पक्षी उसे उठाकर आकाश मे ले उड़ा। जब वह समुद्र के ऊपर से जा रहा था तो दूसरे भरुण्ड पक्षी ने उस पर हमला किया। उनके युद्ध से लोभदेव समुद्र में गिर पड़ा। समुद्र के जल से उसके घाव ठीक हो गये तो वह समुद्र के वेलावन में गया और वहाँ एक वटवृक्ष के नीचे सो गया। उठने पर उसने पैशाचों की बातचीत पैशाची भाषा में सुनी और अपना प्रायश्चित करने के लिए कोसाम्बी नगरी में जा पहुँचा (अनु० १३७-१३९)। इस विस्तृत विवरण से ज्ञात होता है कि (१) तारद्वीप, रत्नद्वीप और सुपारा के जलमार्ग के बीच में पड़ता था (२) वहाँ कृत्रिम स्वर्ण बनाने वाले रहते थे, (३) भरुण्ड पक्षी पाये जाते थे तथा (४) समुद्र के किनारे पैशाचों का निवास स्थान था। इन सूचनाओं के आधार पर तारद्वीप की पहचान की जा सकती है।

तारद्वीप नाम का कोई प्राचीन द्वीप नहीं है। इसका कोई दूसरा नाम प्रचलित रहा होगा। उक्त विवरण में जो मांस-रुधिर से कृत्रिम सोने बनाने का उल्लेख है, इस प्रक्रिया का प्राचीन साहित्य मे पर्याप्त उल्लेख हुआ है। भगवती आराधना (गाथा ५६७) की टीका करते हुए आशाधर ने कहा है कि चर्मरंग-विसय (समरकन्द) के म्लेच्छ आदमी का खून निकालकर उसके कीड़ों से कबल रंगते थे।[4] हरिषेण ने भी एक कथा के वर्णन में लिखा है कि एक पारसी ने एक

१. जाम—कुव० क० स्ट०, पृ० १०६-१०९.

२. सत्तहिं राइंदिएहिं तारद्दीवं णाम दीवं तत्थ लग्गो—कुव० ६९.१८.

३. एवं च छम्मासे छम्मासे उक्कत्तिय मासखंडो वियलिय-रुहिरो अट्ठिसेसो महादुक्ख-समुद्दमज्झगओ बारससंवच्छराइं वसिओ—वही०, अनु० १३५.

४. भगवती आराधना, प्रस्तावना, पृ० ८८.

लड़की खरीदी। उसे छह माह तक खिलाया-पिलाया और बाद में उसका खून निकाल कर उसका किरमदाना (कृमिराग) बनाया, जिससे कपड़े रंगे जाते थे। अब्बासीयुग के लेखक जाहिस के अनुसार किरमदाना स्पेन, तारीम और फारस से आता था।[1] इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि कृमिराग-प्रक्रिया का प्रचलन पश्चिम एशिया में अधिक था। किन्तु कुव० के इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि रत्नद्वीप और सोपारक के बीच में पड़ने वाले तारद्वीप में भी कृमिराग-प्रक्रिया का प्रचलन हो गया था।

तारद्वीप की शाब्दिक समानता 'तारीम' से की जा सकती है, जो मध्य-एशिया की प्रसिद्ध नदी थी, जिसे भारतीय साहित्य में सम्भवतः सीता नदी कहा गया है।[2] तारीम नदी के किनारे पर स्थित शहर भी 'तारीम' नाम से विख्यात था, जो शीराज के पूर्व में एवं आर्मेनिया से कुछ दूर पड़ता था।[3] भारतीय व्यापारी 'तारीम' होकर मध्यएशिया के विभिन्न स्थानों पर जाते थे।[4] किन्तु कुव० के यात्रा-वर्णन से इसका कोई सम्बन्ध नहीं बैठता। अतः तारद्वीप की अन्य पहचान करनी होगी। तारद्वीप 'तारणद्वीप' का भी संक्षिप्तरूप हो सकता है, जो कन्याकुमारी के आस-पास स्थित था। सम्भवतः यह तारद्वीप लक्ष्यद्वीप या मलयद्वीप के आस-पास रहा होगा, जहाँ रत्नद्वीप से सोपारक को लौटते समय व्यापारी भटक कर जा सकता है।

दक्षिण-समुद्र (१०४.८)—चम्पानगरी से दक्षिणपथ द्वारा दक्षिणसमुद्र के तीर पर स्थित जयश्री नगरी को व्यापारी जाते थे (१०४.८)। दक्षिणसमुद्र के किनारे श्रीतुंगा नाम की नगरी थी।[5] तथा दक्षिण-समुद्र के किनारे ही विजयपुरी नाम का विषय था।[6] कुव० के इन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि उद्द्योतनसूरि ने वर्तमान भारतवर्ष के दक्षिण मे स्थित समुद्र का उल्लेख किया है। यद्यपि दक्षिण-समुद्र नाम का एक समुद्र एशिया में अन्यत्र भी उपलब्ध होता है।

पारस (१५३ १२)—कुव० में पारस जाति का ही उल्लेख है (४०.२४), किन्तु व्यापारिक मण्डी में पारस देश के व्यापारी के उपस्थित होने का भी संकेत मिलता है (१५३.१२)। सातवीं-आठवी सदी के भारतीय साहित्य में पारस देश व देशवासियों का पर्याप्त उल्लेख मिलता है।[7] बादामी के चालुक्य राजा विनया-

१. मो०—सा० पृ० २१६.
२. बु०—इ० ब०, पृ० ३९-४० द्रष्टव्य।
३. मो०—सा०, पृ० २१६.
४. वही, पृ० १८३.
५. दाहिण-मयरहर-वेलालग्गा—सिरितुंगाणाम णयरी, १०७.१६.
६. दाहिण-मयरहर-वेलालग्गं विजयपुरवरी विसयं, १४९.५
७. 'पउमचरिउ' (स्वयम्भु) ८२.६, 'आदिपुराण' (पुष्पदन्त), पृ० २३०.३९.

दित्य (६९६ ई०) के लेखों में पारसीकद्वीप का भी उल्लेख मिलता है,[१] डी०सी० सरकार ने जिसकी पहचान पर्सिया से की है।[२] जब कि डा० बुद्धप्रकाश का मत है कि पर्सिया के अतिरिक्त इसकी पहचान किसी इसी नाम के द्वीप से करना चाहिये। सम्भवतः उत्तरी सुमात्रा में स्थित पार्सियों के उपनिवेश को पारसीक-द्वीप कहा गया है।[३] इसी द्वीप के लोगों को 'पारस' नाम से उल्लिखित किया जाता रहा होगा। 'फारस की खाड़ी' पर इस समय तक अरबों का प्रभुत्व होता जा रहा था।[४] ईरान के एक प्रान्त को भी 'पारस' कहा जाता था, जिसका सम्बन्ध कुव० के इस सन्दर्भ से नहीं होना चाहिये।

बब्बरकुल (६५.३२)—सोपारक के एक वनिये ने कहा—मैं वस्त्र लेकर बब्बरकुल गया एवं वहाँ से गजदंत और मोती लाया (६५.३२)। अन्यत्र बब्बर जाति का भी उल्लेख है, (४०.२५, १५३.१२)। डा० वी० एस० अग्रवाल ने बब्बरकुल को बारबरीकम माना है, जो सिन्ध के समुद्रीतट से लगा हुआ था (उ०, कुव० पृ० ११८)। किन्तु डा० बुद्धप्रकाश इसे अफ्रिका का उत्तरी-पश्चिम तट मानते हैं, जो लालसागर के सामने है।[५] वहाँ से अफ्रिकी मोती एवं गजदन्त खरीद कर व्यापारी भारत लाते रहे होंगे। भारतीय साहित्य में बर्बर के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं।[६]

यवनद्वीप (१०६.२)—सागरदत्त जयश्री नगरी से जहाज द्वारा सात करोड़ मुद्राएँ कमाने यवनद्वीप गया था।[७] वापस लौटते समय रास्ते मे जहाज-भग्न होने से वह चन्द्रद्वीप में जा पहुँचता है। चन्द्रद्वीप की स्थिति बंगालदेश में मानी गयी है। अतः प्रतीत होता है कि सागरदत्त जावा (**जवणद्दीप**) व्यापार करने गया होगा। वसुदेवहिण्डी में चारुदत्त की कथा में चारुदत्त भी यवनद्वीप की यात्रा करता है।[८] डा० मोतीचन्द्र ने यवनद्वीप का अर्थ जावा किया है।[९] अतः कुव० का 'जवणद्दीप' जावा के लिये प्रयुक्त हो सकता है, जहाँ के लिये भारत के दक्षिणी बन्दरगाहों से यात्रा प्रारम्भ की जाती थी।

---

१. रायगढ प्लेट इन्सक्रिप्शन आफ विनयादित्य, पंक्ति १५
 —एपिग्राफिया इण्डिका, भाग १०, पृ० १४.
२. द क्लासिकल एज—हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ इंडियन प्यूपल, भाग ३, पृ० २४५.
३. 'पारसीकद्वीप'—बुद्धप्रकाश, इण्डिया एण्ड द वर्ल्ड, पृ १०४.
४. मो०—सा०, पृ० २०३.
५. बु० ट्रे० क० म०, दिसम्बर ७०, पृ० ४१.
६. मार्कण्डेयपुराण, ५७.३८, वायुपुराण, ४५.११८; पउमचरिउ ८२.६ आदि।
७. संपत्तं जवणद्दीवे तं जाणवत्तं—कुव० १०६.२.
८. बसुदेवहिण्डी—गुजराती अनुवाद, पृ० १७७.
९. मो०—सा०, पृ० १३१.

रत्नद्वीप (६६.४, ८८.३१)—सोपारक के एक व्यापारी ने अपना अनुभव सुनाते हुये कहा कि वह नीम के पत्ते लेकर रत्नद्वीप गया था और वहाँ से रत्न कमा कर लौटा।[1] रत्नद्वीप की यात्रा बड़ी कष्टप्रद थी (६६.९)। पाटलिपुत्र से भी रत्नद्वीप को व्यापारी जाते थे (८८.३१)।

प्राचीन भारतीय साहित्य में रत्नद्वीप अनेक बार उल्लिखित हुआ है।[2] णायाधम्मकहा से ज्ञात होता है कि पटिसंतापदायक प्रदेश से तीन हजार एक सौ योजन दूर रत्नद्वीप स्थित था। किन्तु पटिसंतापदायक स्थान की खोज नहीं की जा सकी है। दिव्यावदान से ज्ञात होता है कि रत्नद्वीप जाने में जो समुद्र पड़ता था वह बहुत भयंकर था। बड़ी कठिनाईयों का सामना करना पड़ता था। यही बात उद्द्योतन ने कही है। दिव्यावदान के रत्नद्वीप की पहचान सिंहल से की गयी है[3]। अतः कुव० का रत्नद्वीप भी सिंहल के लिए ही प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है।

रत्नद्वीप कीमती रत्नों के लिए अर्थशास्त्र के समय से लेकर मार्कोपोलो की यात्रा-विवरण के लिखे जाने तक प्रसिद्ध रहा है। वहां के एक रत्न की कीमत अन्य स्थानों पर बहुत अधिक होती थी।[4] इसलिए इस द्वीप का नाम जापानी शब्द 'सेल' पर आधारित है, जिसका अर्थ कीमती रत्न होता है, इसी 'सेल' का भारतीय साहित्य में 'रत्नद्वीप' अनुवाद किया गया है, जिसे चीनी भाषा में **पा-ओ-ट-चु** (Pao-t-chu) कहते है। तथा संस्कृत भाषा में 'सेल' का सिंहल हो गया है।[5] इसी प्रकार रत्नद्वीप की पहचान सिंहल से करना समीचीन है।

बारवई (६५.३१)—सोपारक से एक व्यापारी वारवई गया और वहां से शंख लाया।[6] वारवई किसी समुद्रीतट पर स्थित था, जहां शंख बहुतायत से मिलते होंगे। डा० अग्रवाल ने वारवइ को द्वारावती कहा है, किन्तु डा० बुद्धप्रकाश ने इसकी पहचान दक्षिण भारत में स्थित 'वरुवारी' से की है,

---

१. अहं गओ रयणदीवं णिबपत्ताइं घेत्तूण, तत्थ रयणाइं लद्धाइं, ताइं घेत्तूण समागओ—कुव० ६६.४.

२. पउमचरियं ३२.६१; णायाधम्मकहा ९, पृ० १२३, वसुदेवहिण्डी, पृ० १४९; दिव्यावदान, पृ० २२९-३०; हरिवंश, २, ३८.२९; बृहत्कथाकोश, ५२.६ आदि।

३. मो०—सा०, पृ० १४८.

४. रयणद्दीवम्मि गओ गेण्हइ एक्कं वि जो महारयणं।
तं तस्स इहाणीयं महग्घमोल्लं हवई लोए॥—पउमचरियं, ३२.६१

५. बु०—इ०ब०, पृ० ११२

६. अहं बारवइ गओ, तत्थ संखयं समाणियं—कुव० ६५.३१

जो प्राचीनकाल में व्यापार का बड़ा केन्द्र था और जहां के शंख बहुत प्रसिद्ध थे।[1] सोपारक से वरुवारी तक व्यापारी वाणिज्य के लिए जाते थे।

सुवर्णद्वीप (६६-१)—एक व्यापारी पलाश-पुष्प लेकर स्वर्णद्वीप गया और वहां से स्वर्ण भर कर लाया।[2] प्राचीन समय में दक्षिण-पूर्वी एशिया के सभी देशों के द्वीप और प्राय:द्वीप के लिए 'स्वर्णद्वीप' शब्द का प्रयोग होता था। किन्तु ७-८ वीं शदी में स्वर्णद्वीप का प्रयोग व्यापारी प्राय: सुमात्रा के लिए करने लगे थे, जहां उस समय श्रीविजय का शासन था। सुमात्रा में पलाशपुष्पों के उपयोग आदि के सम्बन्ध में डा० बुद्धप्रकाश ने पर्याप्त प्रकाश डाला है।[3]

सुमात्रा की स्थिति के सम्बन्ध में विद्वानों का कथन है कि मलय उपद्वीप और चीन सागर को भारत-महासमुद्र से पृथक् रख कर सुमात्रा येनंग की एक समानान्तर रेखा से आरम्भ वण्टम की समानान्तर रेखा तक विस्तृत है। यहाँ के अधिकांश निवासी मलयवंशीय हैं। ब्राह्मण-पुराण में सुमात्रा का नाम मलयद्वीप भी है। सुमात्रा स्वर्ण प्राप्ति के लिए प्रसिद्ध था।[4] कुव० के प्रसंग से भी यही ज्ञात होता है।

●

---

१. 'एन एर्थ सेन्चुरी इण्डियन डाकुमेन्ट आन इन्टरनेशनल ट्रेड'
—बु०—ट्रे०क०म०, दिसम्बर १९७०

२. अहं सुवण्णदीवं गओ पलासकुसुमाइं घेत्तूणं, तत्थ सुवण्ण घेत्तूण समाणओ-
—कुव०६६-१

३. बु०—ट्रे० क०म०, पृ० ४४-४५.

४. हु०—स०क०, छठाभव।

परिच्छेद पाँच

प्राचीन भारतीय भूगोल की विशिष्ट शब्दावलि

उद्द्योतनसूरि ने प्रसंगवश कुछ ऐसे शब्दों का उल्लेख किया है, जो प्राचीन भारत में भौगोलिक स्थानो के लिए प्रयुक्त होते थे। इन शब्दों का भारतीय स्थापत्य में भी प्रयोग होता था, जिनके सम्बन्ध में आगे प्रकाश डाला जायेगा। अकारादिक्रम से भौगोलिक शब्दों का परिचय इसप्रकार है :—

अग्गाहार (२५८.२६)—सरलपुर ब्राह्मणों का अग्गाहार था। इससे ज्ञात होता है कि ब्राह्मण जिस गाँव में रहते थे वह अग्गाहार कहलाता था। इस प्रकार के गाँव ब्राह्मणों को दान में मिलते थे।

अन्तरद्वीप (१४३.२१)—भारत से बाहर के प्रदेश, जिनमें सबर, बर्बर आदि जातियाँ रहतीं थी उन्हे अन्तरद्वीप कहते थे।

अष्टापद (२८२.२१)—जावालिपुर अष्टापद की भाँति भवनों के उतुंग शिखर वाला था। अष्टापद प्रसिद्ध हिमालय पर्वत को कहा जाता था।

'आगर' आकर (२५८.१९)—'आकर' शब्द का अर्थ खान है, किन्तु साहचर्य सम्बन्ध से आकर के निकटवर्ती ग्राम को भी आकर कहा जाता था। आदिपुराण में स्वर्ण आदि की खान के समीपवाले गाँव में आकर कहा गया है। (१६.१७६ आदि)। जैन टीकाकारों ने आकर उस ग्राम को कहा है जिसका कर (टैक्स) नहीं लिया जाता था।

कर्बट (५५.७, २५९.१८)—कौटिल्य ने खर्वट को एक दुर्ग के रूप में कहा है। यह दो सौ ग्रामों की रक्षा हेतु बनाया जाता था (१७.१, ३)। शिल्पशास्त्रों में इसे प्रायः खर्वट कहा गया है। समरांगणसूत्रधार में इसे कर्वट कहा गया है, इसमें नगरतत्त्व अधिक होता था।[1] मानसार एवं मयमतम् के अनुसार

१. समरांगणसूत्रधार, पृ० ८६.

कर्वट पर्वत के सन्निकट स्थित होता था तथा सभी लोगों से परिपूर्ण भी ।[1] सम्भव है, आधुनिक तहसील जैसी स्थिति खर्वट की रही होगी ।

खेटक (२४०.२०); खेट (२५६.१८)—पाणिनि ने खेट को गर्हितनगर कहा है ।[2] मानसार एवं मयमतम् से भी ज्ञात होता है कि खेटक बहुत साधारण प्रकार का सन्निवेश था, जिसमें अधिकतर शूद्र रहते थे। यह दो या दो से अधिक ग्रामों के मध्य में स्थित छोटे लोगों की वस्ती थी ।[3] डा० अग्रवाल के अनुसार आधुनिक 'खेड़ा' शब्द इसी खेट से निकला है। उद्द्योतनसूरि ने खेट और खेटक शब्दों का प्रयोग किया है। सम्भव है, दोनो में थोड़ा अन्तर रहा हो।

ग्राम (५५.७, २४० २०)—ग्राम के स्वरूप का वर्णन आदिपुराण में अधिक विस्तार से हुआ है ।[4] कुव० के अनुसार ज्ञात होता है कि ग्राम की सीमाएँ नदी, वृक्ष, उपवन आदि से विभक्त होती थीं। एक-एक पद की दूरी पर धवलगृह बने होते थे तथा वाण फेंकने की दूरी पर महाग्रामों की स्थापना होती थी (कुव० १४९.६)। गाँव में कम से कम सौ एवं महाग्राम में पाँच सौ घर होते थे ।[5]

गोट्ठगण (२४०.२२)—कामगजेन्द्र अपरविदेह के गोट्ठगण को ग्रामसदृश तथा गोट्ठगणों को सीमान्त सदृश देखता है (२४१.१)। इससे ज्ञात होता है कि गोट्ठगण ग्रामों के वाहर होते थे, जहाँ गोधन एकत्र हुआ करता था। आजकल इसे मध्यप्रदेश में खिरका कहते हैं। उसके वाद गाँव की सीमा का अन्त होता होगा और वाद में वन प्रारम्भ होता था (२४१.१)।

द्वीप (२५९.१८)—'द्वीप' का उल्लेख अन्य भौगोलिक शब्दों के साथ हुआ है ।[6] प्रसंग के अनुसार द्वीप का अर्थ स्थानीय नदी का किनारा प्रतीत होता है, जिसे पारकर स्वयम्भूदेव ब्राह्मण आजीविका खोजने निकला था।

द्रोणमुख (२५६ १८)—जो नगर किसी नदी के तट पर स्थित हो वह द्रोणमुख कहलाता है ।[7] यह एक प्रकार का व्यापारिक नगर होता था, जहाँ जलमार्ग एवं स्थलमार्ग दोनो से माल उतरता था ।[8] इसमें वणिक् एवं नाना जाति

---

१. मानसार, अध्याय १०, मयमतम् अध्याय १०.
२. अष्टाध्यायी, ६-२, १२६.
३. ग्रामयो : खेटकम् मध्ये—शिल्परत्न, अध्याय ५.
४. पा०—भा० भा०, पृ० ७१-७२.
५. आदिपुराण, १६—१६४,६५.
६. णयरपुर-खेड-कब्बड गामागरदीव-तड-मंडबेसु।
दोणमुहाइइ-पट्टण-आराम-पवा-विहारेसु ॥ —२५९-१८.
७. आदिपुराण, १६-१६३.
८. मो०—सा०, पृ० १६३.

रहते थे। तथा वस्तुओं का क्रय-विक्रय खूब होता था।[१] ताम्रलिप्ति, भरुकच्छ आदि इसी प्रकार के नगर थे। कौटिल्य के अनुसार चार सौ ग्रामों के मध्य में द्रोणमुख की स्थापना होती थी। उससे उन गाँवों की आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी।[२]

नगर (५७.७, ७१.१० आदि)—कुव० में उपलब्ध नगर के वर्णनों से ज्ञात होता है कि नगर में उपवन, वन, सरोवर, परिखा, गोपुर, कोट, भवन आदि का होना आवश्यक था (२३२.२३,२४)। मानसार में नगर की परिभाषा वहाँ के निवासियों के आधार पर की गई है (अ० १०, नगरविधान)। किन्तु मयमत में वास्तुशास्त्रीय ढंग से नगर के स्वरूप का वर्णन है, जो कुवलयमाला के वर्णन के अनुकूल है।[३]

पट्टण (१४५.९)—उद्द्योतन ने पत्तन का उल्लेख मात्र किया है। मानसार (अ० ६), समरांगण, आदिपुराण, बृहत्कथाकोश प्रभृति ग्रन्थों के आधार पर पत्तन एक प्रकार का बृहत् वाणिज्य बन्दरगाह है, जो किसी समुद्र या नदी के किनारे स्थित होता है तथा जहाँ प्रधानरूप से वणिकगण निवास करते हैं। मानसार ने पत्तन को दीपान्तरों से लायी गयी सामग्री से परिपूर्ण कहा है (अ० १०)। मलयगिरि ने लिखा है कि जहाँ नौकाओं द्वारा गमन होता है उसे **'पट्टन'** और जहां अन्य सवारियों का भी प्रयोग होता हो उसे **'पत्तन'** जानना चाहिए।[४] पत्तन भी जलपत्तन और स्थलपत्तन के भेद से दो प्रकार का होता है। इस प्रकार के नगरों में कावेरीपत्तन, मुसुलीपत्तन आदि नगरों का उदाहरण दिया जा सकता है।

पथ (१४५.९), **महापथ** (१५६.५)—दर्पफलिक रत्नापुरी से अनेक पथ एवं महापथों को पार करता हुआ विन्ध्याटवी में पहुँचा।[५] ज्ञात होता है, पथ उन छोटे रास्तों के लिए प्रयुक्त होता था जो यात्रियों अथवा सवारियों के चलने के कारण स्वतः बन जाते थे, जिन्हें आजकल पगडण्डी कहते हैं। पाणिनि ने ऐसे कई पथों का उल्लेख किया है।[६] लेकिन महापथ उन चौड़े रास्तों के लिए प्रयुक्त होता था जो बनाये जाते थे तथा जिनपर चलकर यात्री बड़े-बड़े नगरों में आते-जाते थे। देश के एक भाग का दूसरे भाग से सम्बन्ध इन्हीं महापथों द्वारा जुड़ता था। उत्तरापथ, दक्षिणापथ, इसी प्रकार के महापथ थे।

---

१. मानसार, अध्याय १०.
२. अर्थशास्त्र, चौखम्बा संस्करण, १७-१,३
३. दिक्षु चतुर्द्वारयुक्तं गोपुरयुक्तं तु शालाढयम्-आदि-मयमतं-भारतीय-वास्तुशास्त्र, लखनऊ, पृ० १०२ पर उद्धृत।
४. व्यवहारसूत्र भाग ३, पृ० १२७.
५. गामागर-णगर-पट्टणाराम-देवउल-सर-तलाय-तिय-चउक्क-चच्चरं महावह-पहेसु—कुव० १४५.९.
६. अष्टाध्यायी, ५.३, १००, भौ०—सा०, पृ० ५१.

परतीर (१०५.२६)—सागरदत्त व्यापार के लिए परतीर में बिकनेवाले पदार्थों का संग्रहकर विदेशयात्रा में निकलता है (१०५.२७)। इससे स्पष्ट है कि 'परतीर' विदेश के लिए व्यापार का पारिभाषिक शब्द था।

पुर (७१.१०, २४०.२०)—उत्तर वैदिक साहित्य में पुर शब्द का उल्लेख नगर के अर्थ में हुआ है।[१] पिशेल का मत है कि प्राकार एवं परिखा से परिवेष्ठित नगर को 'पुर' कहा गया है।[२] कुव० में पुर और नगर का एक साथ उल्लेख हुआ है (७१.१०), साथ ही विजयानगरी या विजयपुरी दोनों शब्द एक ही नगर के लिए भी प्रयुक्त हुए हैं।

मडम्ब (२४०.२०) -कुव० में मडम्ब का कोई परिचय प्राप्त नहीं होता, केवल नगर आदि के साथ उसका उल्लेख है। आदिपुराण से ज्ञात होता है कि उस बड़े नगर को मडम्ब कहा जाता था, जो पाँच सौ ग्रामों के बीच व्यापार आदि का केन्द्र हो (आदि १६.१७२)। आधुनिक 'मंडी' (=बाजार) से इसकी समता की जा सकती है।

स्थान (२४१.१)—अपरविदेह मे ग्राम-स्थानों की सरचना नगरों जैसी थी—**णयरसरिस विहवाइं गाम-ठाणाइं**। स्थानीय शब्द का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है।[३] उससे ज्ञात होता है कि इसका प्रयोग जनपद अथवा आधुनिक जिले के लिए होता था। मानसार से ज्ञात होता है कि स्थान में रक्षकों की एक सेना रहती थी (अ० १०)। कालान्तर में स्थान शब्द पुलिस चौकी के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था।[४] कुव० के उल्लेख से ज्ञात होता है कि स्थानीय>स्थान (ठाणा) का अपभ्रंश आधुनिक 'थाना' है, जहाँ पुलिस चौकी रहती है तथा जिसके अन्तर्गत कई ग्रामों की रक्षा व्यवस्था की जाती है।

उद्द्योतनसूरि ने उपर्युक्त भौगोलिक शब्दों के अतिरिक्त वनान्तर (२४१.१), वास (९९.१४), विसय (५५.३), वेलातन (७० १५), सीमान्त-वसिय (२४१.१), सीमन्त (२४१.१), विहार (५५ ७) तथा आराम (१४५.९) आदि शब्दों का भी उल्लेख किया है, जो प्राचीन भारत में भौगोलिक सीमाओं के विभाजन के लिए प्रयुक्त होते थे।

इस प्रकार उद्द्योतनसूरि ने कुव० में उपर्युक्त जो भौगोलिक विवरण प्रस्तुत किया है उससे न केवल प्राचीन भारत के प्रसिद्ध नगरों व ग्रामों का परिचय मिलता है, अपितु यह भी स्पष्ट होता है कि एशिया के विभिन्न देशों से भारत के सांस्कृतिक सम्बन्ध थे। देश की भौगोलिक सीमा पर्याप्त विस्तृत थी।

●

१. शतपथ ब्राह्मण, ३-४.
२. वैदिक इण्डेक्स, जिल्द १, पृ० ५३९.
३. अर्थशास्त्र (शामाशास्त्री), पृ० ४५.
४. शिल्परत्न (१६ वी सदी), अध्याय, ५.

अध्याय तीन

सामाजिक जीवन

परिच्छेद एक

वर्ण एवं जातियाँ

वर्ण-व्यवस्था

उद्द्योतनसूरि के पूर्व प्राचीन भारत में वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप वैदिक मान्यताओं के अनुरूप था। गुप्तयुग में सामाजिक वातावरण इस प्रकार का था कि सिद्धान्ततः कर्मणा वर्ण-व्यवस्था को माननेवाले जैन आचार्य भी श्रौत-स्मार्त-मान्यताओं से प्रभावित होने लगे थे। जटासिंहनन्दि (पूर्वार्ध ७वीं अनुमानित) ने वर्ण-चतुष्टय को सिद्धान्ततः स्वीकार नहीं किया, किन्तु व्यवहार के लिए शिष्ट लोगों के द्वारा वर्ण-चतुष्टय बनाया गया है, इस बात का वे विरोध नहीं कर सके।[1] रविषेणाचार्य (६७६ ई०) ने समाज में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था को कर्म के आधार पर ऋषभदेव द्वारा किया गया विभाजन स्वीकार किया।[2] जबकि जिनसेनसूरि (७८३ ई०) ने जन्मगत वर्ण-व्यवस्था को भी जैनीकरण करके स्वीकार कर लिया।[3]

इस प्रकार के वैदिक प्रभाव के कारण स्वाभाविक है कि उद्द्योतनसूरि को भी समाज में प्रचलित वैदिक वर्ण-व्यवस्था से प्रभावित होना पड़ा हो। किन्तु उनके मन में यह बात अवश्य थी कि जन्मगत वर्ण-व्यवस्था को किसी प्रकार मिटाया जाय। अतः उन्होंने ऐसे कथानक को चुना, जिसमें सभी प्रमुख जातियों के पात्र सम्मिलित हों तथा सभी को अपने कर्मों का फल समान रूप से भोगना पड़े। इससे यह बात स्वयं स्पष्ट हो जायेगी कि जन्म की अपेक्षा कर्म ही व्यक्ति को ऊँचा-नीचा दर्जा प्रदान करने में समर्थ है। विभिन्न वर्णों को जो कार्य करते हुए वर्णित किया गया है उससे यह स्पष्ट होता है कि स्मृतियों में वर्णों का जो

---

१. वरांगचरित, २१-११.

२. पद्मपुराण, पर्व ३, श्लोक २५५-५८.

३. महापुराण, पर्व १६, श्लोक ३४३-४६.

कर्म प्रतिपादित था, व्यवहार में उससे भिन्न कर्मों में विभिन्न वर्ण लगे हुए थे। उदाहरण के लिए यज्ञसोम नामक ब्राह्मण-बटुक निर्धन और बेसहारा होने के कारण जूठन साफकर अपनी जीविका चलाता था (११८.३) तो दूसरी ओर धनदेव शूद्र होते हुए भी व्यापार में कुशल था तथा व्यापारी-मण्डल में उसकी प्रतिष्ठा थी (६५.२)। इससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि स्मृति के अनुरूप वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप उद्द्योतनसूरि को व्यवहारतः मान्य नहीं था। उनकी यह कथा इस प्रकार आदर्श का ही चित्रण न होकर समाज का वास्तविक चित्र उपस्थित करती है।

कुव० के प्रमुख पात्र समाज के प्रमुख वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं। जन्म से चण्डसोम ब्राह्मण, मानभट क्षत्रिय, मायादित्य वैश्य, लोभदेव शूद्र तथा मायादित्य राजकुमार था। इन प्रमुख चार वर्णों के सम्बन्ध में लेखक ने अन्यान्य प्रसंगों में भी जानकारी दी है। विशेष विवरण इस प्रकार है :—

ब्राह्मण

उद्द्योतनसूरि ने ब्राह्मणों का उल्लेख इन प्रसंगों में किया है। राजा दृढ़-वर्मन् के दरबार में स्वस्तिक पढ़नेवाले ब्रह्मा सदृश महाब्राह्मण[1] तथा शुक्र सदृश महापुरोहित उपस्थित रहते थे।[2] राजा ने देवी से वर प्राप्त कर विप्रजनों को दक्षिणा दी (**दक्खिऊण विप्पयणं**—१५.१६)। कुवलयचन्द्र के जन्म-नक्षत्र और ग्रहों को देखने के लिये सम्वत्सर (१९.४) को बुलाया गया, जिसे दक्षिणा में सात हजार रुपये दिये गये (२०.२६)। चंडसोम, जन्म-दरिद्री सुशर्मदेव द्विज का पुत्र था (४५.२१)। यौवन-सम्पन्न होने पर उसका विवाह ब्राह्मणकुल (**बंमणकुलाणं**) की ब्राह्मण-कन्या से कर दिया गया (४५-२५)। चंडसोम ब्राह्मणों की वृत्ति करते हुए (**कय-णियय-वित्ती**) उसका पालन करने लगा। चंडसोम अपने भाई एवं बहिन की हत्या कर देने के कारण जब आत्मघात करने लगा तो अनेक शास्त्रों के ज्ञाता श्रोत्रिय पंडितों (**सोत्तिय-पंडिएहिं**, ४८.१७) ने उसे प्रायश्चित करने के लिए कहा। किसी ने कहा कि ब्राह्मणों को स्वयं समर्पित कर देने से शुद्ध हो जाओगे।[3] दूसरे ने सुझाव दिया कि अपनी पूरी सम्पत्ति ब्राह्मणों को दान कर (**सयलं घर-सव्वस्सं बंमणाणं दाऊण**, (४८.२३) गंगा स्नान को चले जाओ।

अन्य प्रसंगों में ब्राह्मणों के निम्नोक्त उल्लेख हैं:—धनदेव के पिता ने उसे ब्राह्मणों को दक्षिणा देने को कहा (**दक्खेसु बंमणे**, ६५.८)। समुद्रयात्रा प्रारम्भ करते समय ब्राह्मणो ने आशीषें पढ़ीं (**पढंति बंमण-कुलाइं आसीसा**, ६७.६, १०५.३१)। समुद्री तूफान के समय व्यापारियों ने ब्राह्मण-भोज (**बंमणाणं भोयणं-**,

---

१. सत्थिकारेंति चउवयण-समा महाबंमणा, १६.२०.

२. पविसंति सुक्क-सरिसा महापुरोहिया, १६.२१.

३. ब्राह्मणाना निवेद्यात्मा ततः शुद्धो भविष्यति, ४८.२०.

६८.१८) करने का वायदा दिया। कोसाम्बी नगरी में शाम होते ही ब्राह्मणों के घरों में गायत्री जप होने लगा (८२ २७)। तथा ब्राह्मण शालाओं में जोर-जोर से वेद का पाठ होने लगा (८२.३२)। चिन्तामणिपल्ली में चिलातों के लिये ब्राह्मणों का बध करना दूध में पिलाये जाने के सदृश (दुट्ठु-घोट्टु) था।[1]

माकन्दी नगरी में यज्ञदत्त नाम का जन्म-दरिद्री श्रौत्रिक ब्राह्मण रहता (११७.६)। उसके यज्ञसोम नाम का पुत्र था। उस नगर में जब अकाल पड़ा तो लोग ब्राह्मण-पूजा भूल गये (**विसंवयंति बंभण-पूयाओ**, ११७.२१)। यज्ञदत्त ने याचनामात्र व्यापार को अपनाकर भिक्षावृत्ति प्रारम्भ की, किन्तु भरण-पोषण न होने से वह मर गया। उसका पुत्र यज्ञसोम किसी प्रकार जीवित रहा, किन्तु उससे ब्राह्मण की सभी क्रियाएँ छूट गयीं (**अकय-बंभणक्कारो**) तथा शरीर पर जनेऊ भी नहीं रहा (**अबद्ध-मुंज-मेहलो**, ११७.२८)। अतः बन्धु-बान्धवों ने उसे त्याग दिया। लोगों ने 'यह ब्राह्मण-पुत्र है' (**बंभण-डिंभो**, ११७.३०) यह सोचकर उसे कष्ट नहीं होने दिया। अतः यज्ञसोम ने किसी प्रकार उस अकाल को व्यतीत किया और वह ब्राह्मणबटुक (**बंभणो-सोमवडुओ**, ११८.१) सोलह वर्ष का हो गया। जीविका के लिए वह कचड़े खाने को साफ करता तथा जूठे कुल्हडों को फेंकता था। अतः लोग उस पर हँसते थे कि वह कैसा ब्राह्मण है ?[2] इस प्रकार की निन्दा और उपहास के कारण वह ब्राह्मण-पुत्र नगर छोड़कर चला गया (११८.१४)।

हस्तिनापुर में भगवान् महावीर का समवसरण लगा था। वहाँ एक ब्राह्मण का पुत्र (बंभण-दारओ) उपस्थित हुआ। उसके श्याम वक्षस्थल पर श्वेत ब्रह्मसूत्र शोभित हो रहा था। गले में दुपट्टा पड़ा था।[3] भगवान् ने उसका परिचय देते हुए कहा कि यहां से पास में ही सरलपुर नाम का ब्राह्मणों का एक अग्गाहार है—**बंभणाणं अग्गाहारं**। वहा यज्ञदेव नाम का चतुर्वेदी रहता है। उसके पुत्र का नाम स्वयंभूदेव है। दुर्भाग्य से वह इतना निर्धन हो गया कि लोक-यात्रा करना उसने छोड़ दिया (**ण कीरंति लोगयत्ताओ**), अतिथिसत्कार करना भूल गया (२५८.३१), ब्राह्मण की क्रियाएँ शिथिल पड़ गयीं। अतः अपनी माता के कहने पर वह धन कमाने के लिए घर से बाहर निकल गया।

उद्द्योतनसूरि द्वारा कुव० में उल्लिखित उपर्युक्त विवरण से ब्राह्मण वर्ण के सम्बन्ध में मुख्यरूप से निम्न तथ्य प्राप्त होते हैं :—

१. राज-दरबार में नियुक्त ब्राह्मणों को महाब्राह्मण कहा जाता था, जो सम्मान सूचक है।

---

१. पावकम्महं चिलायहं दुट्टुघुट्टु-जइसउं बंभणु मारियव्वउ, ११२.२१.

२. सोहेइ वच्च-घरए उज्झइ उच्चिट्ठ-मल्लय-णिहाए।
लोएण उवहसिज्जइ किर एसो बंभणो आसि ॥ ११८.३.

३. सामल-वच्छत्थल-घोलमाण-सिय-बम्ह-सुत्त-सोहिल्लो।
पवणंदोलिर-सोहिय-कंठद्ध-णिबद्ध-वसणिल्लो ॥ २५८.१४.

२. ब्राह्मण पुरोहित का कार्य करते थे। जन्मपत्री, लग्नपत्री देखने तथा विवाह सम्पन्न कराने का कार्य भी उन्हीं का था। विवाह सम्पन्न करानेवाले द्विज अनेक वेद तथा सिद्धान्त शास्त्रों में पारंगत होते थे।[1] इन्हें प्रभूत दक्षिणा दी जाती थी।

३. मांगलिक अवसरों पर अथवा यात्रा प्रारम्भ के समय ब्राह्मणों को दक्षिणा दी जाती थी तथा उनकी आशीषें ली जाती थीं।

४. स्तुतिपाठ करनेवाले ब्राह्मण श्रौत्रिक ब्राह्मण कहे जाते थे।

५. ब्राह्मण-भोज कराना तत्कालीन समाज में पुण्यप्राप्ति का साधन था। संकट के समय तथा किसी सम्बन्धी को मृत्यु के बाद ब्राह्मण-भोज कराया जाता था (१८७.५)।

६. ब्राह्मण को गौ, भूमि, धान्य एवं हल आदि का दान करना ही धर्म माना जाता था। इस विचारधारा के धार्मिक आचार्य भी थे (२०५.३५)।

७. तीर्थयात्रा को जाते समय व्यक्ति अपनी सम्पत्ति ब्राह्मण को दान कर जाते थे।

८. ब्राह्मण जन्म के दरिद्री होते थे। कोई विरला ही धनी होता था।

९. ब्राह्मणों की कुछ निश्चित क्रियाएँ थी। उनके घरो में प्रतिदिन गायत्री का जाप होता था। वे यज्ञ करते थे। यदि ब्राह्मण अपनी क्रियाओं से शिथिल हो अन्य कार्य करने लगता तो समाज में उसकी निन्दा होती थी।

१०. ब्राह्मणों की अपनी पाठशालाएँ थीं जहाँ वेदपाठ होता रहता था।

११. नगर में ब्राह्मणसंघ तथा ब्राह्मणकुल तो होते ही थे, दान में प्राप्त गांव मे ब्राह्मणों का निवास होने से गांव का नाम भी ब्राह्मण-अग्गाहार कहा जाने लगा था।

१२. ब्राह्मणबध समाज में निन्दनीय माना जाता था। महापापी म्लेच्छ हो ब्राह्मणबध का ध्यान न रखते थे।

इससे स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज में ब्राह्मणों की काफी प्रतिष्ठा थी।[2] पर कुव० के उक्त सन्दर्भो से ज्ञात होता है कि यह प्रतिष्ठा निर्धनता के कारण थोथी बनकर रह गई थी। यद्यपि उनका अपने कुल के आदर्शों से च्युत होना उपहास का कारण बनता था।

---

१ अणेय-वेय-समय-सत्थ-पारयस्स दुयाइणो, १७१.५

२. The Brāhmanas of our period appear to have maintained their influential position in Society, not only on account of their birth but also their learning and character.

—S· RTA. P. 446.

क्षत्रिय

उद्द्योतन ने क्षत्रिय-वर्ण के सम्बन्ध में इन सन्दर्भों में जानकारी दी है। उज्जयिनी के राजा अवन्तिवर्द्धन के दरबार में राजवंश में उत्पन्न क्षेत्रभट नाम का एक वृद्ध ठाकुर (**जुण्ण-ठक्कुरो**) अपने पुत्र वीरभट के साथ राजा की सेवा में नियुक्त था। उसे सेवा के बदले में कूपवन्द्र नामक गांव राजा ने दिया था (५०.२६)। उस वृद्ध ठाकुर के पौत्र शक्तिभट को दरबार में एक निश्चित आसन प्राप्त था, जिस पर कोई दूसरा व्यक्ति नहीं बैठ सकता था (५०.३२, ३३)।

ठाकुर (५०.२२)—उपर्युक्त उल्लेख से ज्ञात होता है कि राजवंश में उत्पन्न क्षत्रिय जाति को ठाकुर भी कहा जाता था। वर्तमान में भी क्षत्रियों को ठाकुर कहा जाता है। कुव० में उल्लिखित इस जुण्ण-ठक्कुर के सम्बन्ध में डा० बुद्धप्रकाश ने विस्तृत प्रकाश डाला है तथा ठाकुर शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार किया है।[1] क्षत्रियो के अतिरिक्त ठाकुर (ठक्कुर) शब्द ब्राह्मणों के लिए भी प्रयुक्त होता था, गहड़वाल के गोविन्द्रचन्द्र के लेख में ठक्कुर को कश्यपगोत्रीय सरयूपारी ब्राह्मण कहा गया है।[2] चंदेल लेखों में उल्लिखित ठक्कुर के साथ राउत नामक ब्राह्मण विशेषरूप से वर्णित है।[3] ठाकुरी परिवारों का सम्बन्ध प्राचीन भारत के इतिहास में राजघरानों से बना रहता था[4]। इससे उनके प्रतिष्ठित होने की सूचना मिलती है। प्राचीन भारतीय साहित्य में 'ठाकुर' शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग हुआ है, किन्तु प्रायः राजघराने के व्यक्तियों के लिए यह अधिक व्यवहृत हुआ है।[5]

इक्ष्वाकु—प्राचीन भारत में इक्ष्वाकु क्षत्रियों का एक वंश था। उद्द्योतन-सूरि ने इक्ष्वाकुवंश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विशेष जानकारी दी है। ऐणिका को अपना परिचय देते हुए कुवलयचन्द्र कहता है—'इन्द्र ने ऋषभदेव को आहार के लिये ईख प्रस्तुत की।' भगवान् ने जब ईख ग्रहण कर लिया तो इन्द्र ने कहा कि आज से भगवान् का वंश इक्ष्वाकु के नाम से जाना जायेगा।[6] उस समय से इक्ष्वाकु क्षत्रिय के नाम से प्रसिद्ध हो गये—**तप्पभिइं च णं इक्खागा खत्तिया पसिद्धा ताव** (१३४.१७)। ऋषभदेव के पुत्र भरत एवं बाहुवली थे। भरत का

१. बुद्धप्रकाश,—'ठाकुर' : सेन्ट्रल एशियाटिक जर्नल, भाग ३ (१९५७), पृ० २२०-२३७.

२. उ०—पू० मा० इ०, पृ० ३१८.

३. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग १४, पृ० २७४.

४. बी० सी० ला०—सम क्षत्रिय ट्राइब्स आफ एन्शियण्ट इण्डिया, पृ० १२०

५. विशेष के लिए द्रष्टव्य—बु०—स्ट० इ० सि० में 'ठाकुर' नामक अध्याय, पृ० २४०-२६१.

६. भो भो सुरासुर-णव-गंधव्वा, अज्जपभिइं भगवओ एस वंसो इक्खागो, १३४.१६.

पुत्र आदित्ययश एवं बाहुवली का पुत्र सोमयश था। उनके नाम से क्रमशः सूर्यवंश और शशिवंश प्रारम्भ हुआ—एक्को आइच्च-वंशो हुइओ ससि-वंसो (१३४.१६)—। शशिवंश में करोड़ों राजाओं के उत्पन्न होने के बाद दृढ़वर्मन् नाम का राजा अयोध्या में हुआ। उनका पुत्र मैं कुवलयचन्द्र हूँ।'

किन्तु आठवीं सदी में केवल इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न व्यक्ति ही क्षत्रिय नहीं कहे जाते थे। डा० जी० एस० ओझा के अनुसार इस समय आर्य, अनार्य जाति के अनेक व्यक्ति कुषाण, शक, पल्हव आदि भी क्षत्रियों में सम्मिलित होते जा रहे थे।[१] तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए सैनिक वृत्ति अपनाने वाले सभी व्यक्ति क्षत्रिय कहलाने का अधिकार रखते थे। गुण और कर्म के अनुसार व्यक्ति समाज के विभिन्न वर्गों में अपना स्थान ग्रहण करते जा रहे थे। क्षत्रिय एवं राजपूत की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे मतभेद के अनुसार चाहे वे भारतीय हों या विदेशी, ब्राह्मण हों या क्षत्रिय; किन्तु आठवी सदी में इतना निश्चित अवश्य था कि अपने को क्षत्रिय कहनेवाले योद्धा अपनी मातृभूमि एवं उसकी संस्कृति की रक्षा के लिए लड़ना अपना कर्तव्य समझते थे।[२]

वैश्य

कुव० में वैश्यवर्ण के सम्बन्ध में निम्न जानकारी प्राप्त होती है। शालिग्राम में वैश्यजाति में उत्पन्न गंगादित्य नाम का एक व्यक्ति रहता था, जो जन्म से दरिद्री था।[३] उसी गाँव में स्थाणु नाम का एक बनिया रहता था।[४] उन दोनों में दोस्ती हो गयी थी। महाश्रेष्ठी के पुत्र सागरदत्त का विवाह रूप, धन, वैभव, जाति एवं शील में समान एक वणिक् कुल की कन्या से हुआ था।[५] ग्रन्थ में अन्य प्रसंगो में वणिक् शब्द का प्रयोग कई वार हुआ है (५७.६, १३५.१, १५२.२१, १'३.२३ आदि)। दो वणिक्-पुत्रो की कथा में वे नाना प्रकार के कर्म करते हैं।

जैनसाहित्य में वैश्य जाति की समृद्धि आदि के सम्बन्ध में प्रचुर वर्णन प्राप्त होते हैं। वे साहसी व्यापारी एव समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति समझे जाते

१. राजपूताने का इतिहास, भाग १, पृ० ४९.

२. But whatevr the actual origin of these clans might have been, Indian or Foreign, Brāhmanical or Kṣatriya, they were, in the eighth century, regarded as Kṣatriyas and shouldered willingly the Kṣatrıya's duty of fighting for the land as well as its people and culture.
— S. RTA. P. 106.

३. तहिं च एक्को वइस्स-जाई-परिवसइ गंगाइच्चो णाम जम्म दरिद्दो, ५६.३१.

४. तम्मि चेय गामे एक्को वणियओ पुव्व-परियलिय-विहवो थाणू णाम, ५७.६.

५. ता रुव-धण-विहव-जाइ-समायार-सीलाणं वणिय-कुलाणं दारिया—दिण्णा गुरुयणेणं। १०३.९.

थे। यद्यपि वे अच्छे योद्धा नहीं होते थे, तथापि उनकी समृद्धि आदि के कारण राजदरवारों में उनकी पर्याप्त प्रतिष्ठा होती थी। यद्यपि वैश्यों की कई उप-जातियाँ भी थीं, किन्तु वैश्यवर्ण में वे सभी व्यक्ति सम्मिलित किये जा सकते थे जो व्यापार को अपना व्यवसाय बनाते थे।[1] राजस्थान की वैश्य जातियाँ अपनी उत्पत्ति क्षत्रियों से बतलाती हैं, किन्तु उस समय वे शूद्र भी वैश्य होते जा रहे थे, जो व्यापार में प्रवीण एवं प्रतिष्ठित होने लगे थे। कुव० का धनदेव यद्यपि शूद्रजाति में उत्पन्न था, किन्तु व्यापारिक मण्डल में उसका भव्य स्वागत किया जाता है। इससे ज्ञात होता है कि वैश्य जाति व्यवसाय के अनुरूप निर्मित हो रही थी।

शूद्र

उद्द्योतन ने शूद्र जाति में गिनी जानेवालो अनेक उपजातियों का उल्लेख किया है, किन्तु शूद्र जाति का उल्लेख एक बार ही किया है। तक्षशिला में शूद्रजाति में उत्पन्न धनदेव नाम का सार्थवाह पुत्र रहता था—**तम्मिगामे सुद्द-जाइम्रो धणदेवो णाम सत्थवाहउत्तो** (६५.२)। संस्कृत कुव० में '**शुद्धवंशभवो धनदेवाभिध:**' (पृ० २१) पाठ है। अत: डा० उपाध्ये ने इसके लिए 'सुद्धजाइम्रो' पाठ निर्धारित कर (इन्ट्रोडक्शन, पृ० १३८, नोट्स्) धनदेव को शुद्ध जाति का माना है। किन्तु आठवी सदी में शूद्रों की स्थिति को देखते हुए सार्थवाह भी शूद्र हो सकते थे। अत: धनदेव को शूद्र जाति में उत्पन्न ही मानना उपयुक्त प्रतीत होता है।

डा० दशरथ शर्मा ने इस समय के शूद्रों की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है कि शूद्रो के अन्तर्गत कृषक, शिल्पी, मजदूर एवं अन्त्यज और म्लेच्छों के ऊपर के वे सभी, जो किसी कारणवश श्रेष्ठ तीन जातियों में न आ पाते थे, शूद्र कहे जाते थे।[2] शूद्रों की स्थिति काफी सुधर रही थी।[3] कृषि अपनाने के कारण शूद्र वैश्य हो रहे थे तथा आर्थिक सम्पन्नता के कारण उनको सम्मान मिलने लगा था। धार्मिक एवं राजनैतिक स्थिति भी अच्छी हो रही थी।[4] कुवलयमाला में उल्लिखित धनदेव का भी सार्थवाह होने के कारण सोपारक के व्यापारिक संगठन द्वारा सम्मानित किया जाना इस बात का प्रमाण है।[5]

---

१. The doors of the Vaishya Varṇa were open to every new comer who tookup the profession of Trade, even though the incomers generally fell into sub-caste their own.
—S. RTA. P. 438.

२. श०—रा० ए०, पृ० ४३५.

३. In other ways, However, the position of the Shūdras of the period 700-1200 A. D. had improved a good deal.
—S. RTA. P. 435-36.

४. वही० पृ० ४३५-३६

५. देसिय-वाणिय मेलिए गन्तूण उवविट्ठो। दिण्णं च गंध-मल्लं-तंबोलाइयं, ६५.२५.

आर्य एवं अनार्य जातियाँ

उद्द्योतन के पूर्व हरिभद्रसूरि ने मानव जाति के दो भेद किये थे—आर्य एवं अनार्य। उच्च आचार-विचार वाले गुणी-जनों को आर्य तथा जो आचार-विचार से भ्रष्ट हों तथा जिन्हें धर्म-कर्म का कुछ विवेक न हो उन्हें अनार्य या म्लेच्छ कहा है।[१] उद्द्योतनसूरि ने भी इस सम्बन्ध में अपने गुरु का अनुकरण किया है। आर्य जातियों के उन्होंने नाम नहीं गिनाये। अनार्य में निम्न जातियों को गिना है[२] :—

शक, यवन, शवर, बर्बर, काय, मुरुण्ड, ओड, गोंड, कर्पटिका, अरवाक, हूण, रोमस, पारस, खस, खासिया, डोंबलिक, लकुस, बोक्कस, भिल्ल, पुलिंद, अंध, कोत्थ, भररुया (भररुचा), कोंच, दीण, चचुक, मालव, द्रविण, कुडक्ख, कैकय, किरात, हयमुख, गजमुख, खरमुख, तुरगमुख, मेंढकमुख, हयकर्ण, गजकर्ण, तथा अन्य बहुत से अनार्य होते है—**अण्णे वि अणारिया बहवे** (४०.२६), जो पापी प्रचंड तथा धर्म का एक अक्षर भी नही सुनते। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी अनार्य हैं जो धर्म-अर्थ, काम से रहित हैं। यथा—चांडाल, भिल्ल, डोब, शौकरिक और मत्स्यबन्धक।[३] इस प्रमुख प्रसंग के अतिरिक्त भी उद्द्योतन ने अन्य प्रसगों मे विभिन्न जातियों का उल्लेख किया है, जिनमें से अधिकांश की पुनरावृत्ति हुई है,[४] कुछ नयी हैं। यथा—आरोट्ट (१५१.१८), आभीर (७७.८), कुम्हार (४८.२७), गुर्जर (५६.४), चारण (४६), जार-जातक (६.११), दास (३९.३), पक्कणकुल (८१.१०, १४०.२), पंसुलिकुल (८२.२६), वप्पीहयकुल, महल्लकुल (१८३.११), मातंग (१३२.२), मागध (मगहा), लुहार (५८.२७), सिंहल (२.९) आदि।

उद्द्योतनसूरि द्वारा कुव० में उल्लिखित उपर्युक्त जातियों को उनकी स्थिति एव कार्यों के आधार पर निम्न वर्गो में विभाजित किया जा सकता है :—(१) म्लेच्छ जातियाँ, (२) अन्त्यज जातियाँ, (३) कर्मकार एवं (४) विदेशी-जातियां। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

---

१. शा०—हू० प्रा० अ०, पृ० ३६८, समराइच्चकहा, पृ० ३४८ एवं ९०५.

२. सक-जवण-सबर-बब्बर-काय-मुरुंडोड्ड-गोंड-कप्पणिया।
अरवाग-हूण-रोमस-पारस-खस-खासिया चेय ॥
डोंबिलय-लउस-बोक्कस-भिल्ल-पुलिंदंध-कोत्थ-भररूथा।
कोंचा य दीण-चंचुय मालव-दविला-कुडक्खा य ॥
किक्कय-किराय-हयमुह गयमुह-खर-तुरय मेंढगमुहा य।
हयकण्णा गयकण्णा अण्णे य अणारिया बहवे ॥ ४०.२४, २६.

३. चंडाल-भिल्ल-डोंबा सोयरिया चेय मच्छ-बंधा य ४०.२९.

४. कुव० २.९, २८.१, ११७.६, १२५.३० १६९.३५, १८३.११, २५८.२७ आदि।

म्लेच्छ-जातियाँ

चतुर्वर्ण-व्यवस्था के बाहर जिनकी स्थिति थी उन्हें म्लेच्छ अथवा म्लेच्छ जाति का कहा जाता था। मुख्यरूप से आर्य संस्कृति के विपरीत आचरण करने वालों को म्लेच्छ कहा जाता था। इनका अपना अलग संगठन होता था और अलग रहन-सहन।[१] कुव० में उल्लिखित निम्न जातियाँ म्लेच्छ कही जा सकती हैं :—ओड्ड, किरात, कुडक्ख, कोंच, कोत्थ, गोंड़, चंचुक, पुलिंद, भिल्ल, शबर, एवं रूरुची। 'प्रश्नव्याकरण' में जो म्लेच्छों की सूची दी गयी है उसमें कुव० में उल्लिखित म्लेच्छों के अधिकांश नाम समान हैं। चन्द्रमोहनसेन के धौलपुर अभिलेख में (८२४ ई०) चंबलनदी के दोनों किनारों पर बसे हुए म्लेच्छों का उल्लेख है।[२] इससे ज्ञात होता है कि आठवीं सदी तक म्लेच्छ जाति अलग से संगठित हो चुकी थी। आधुनिक आदिवासियों से इनकी तुलना की जा सकती है।

ओड्डा (४०.२४)—कुव० में म्लेच्छ जातियों के अन्तर्गत ओड्डा का उल्लेख हुआ है। इसकी ठीक पहनान करना कठिन है। हुएनसांग ने ओड्र का उल्लेख करते हुये कहा है कि ये काले रंग के एवं असभ्य लोग थे तथा मध्यदेश से भिन्न भाषा का प्रयोग करते थे।[३] आधुनिक उड़ीसा की पिछड़ी जातियों से ओड्ड की पहचान को जा सकती है। आधुनिक भाषा में इसे 'उड़िया' कहते हैं।

किक्कय (४०.२६)—इसका उल्लेख जैनसूत्रों में २५।। आर्यक्षेत्रों के अन्तर्गत हुआ है।[४] किकय का अर्घ भाग ही आर्य था, शेष अनार्य। इसी अनार्य भाग के लोगों को उद्द्योतन ने म्लेच्छ कहा है।

किक्कय नेपाल की सीमा पर श्रावस्ती के उत्तरपूर्व में स्थित था तथा उत्तर के केकय देश से यह भिन्न था।[५]

कुडक्खा (४०.२५)—जैनसूत्रों में कुडुक्क का उल्लेख अनार्य देश के रूप में हुआ है। वहाँ के निवासी कुडक्खा कहे गये है। व्यवहारभाष्य में कुडुक्खाचार्य का भी उल्लेख है। राजा सम्प्रति ने कुडुक्क आदि अनार्य देशों को जैन

---

१. Very often the people standing outside the caste system were called Mlēçcha or Mlēçchajāti. But indigenous people the Shabar, Kirāta, Khas, Odra, Gonḍa, Pulinda, Kocha, Bharruya, Bhilla also were termed Mlēçcha because they too stood outside the pale of Ārya-culture. They had their own organisation and their own way of living which differed markedly from that of orthodox Āryas.

—S. RTA. PP. 427.

२. See also P. 443, P. 429.

३. प्राचीन भारतीय स्थलकोश, प्रयाग, पृ० २४२.

४. बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति, १.३२६३ आदि।

५. ज०—जै० भा० स०, पृ० ४८६.

श्रमणों के विहार योग्य बनाया था। डा० जैन कुडक्क की पहचान आधुनिक कुर्ग से करते हैं।[1]

चंचुय (४०.२५)—इनके निवासस्थान और जाति का ठीक पता नहीं है। डा० जामखेडकर चंचुय जाति की पहचान दक्षिण भारत की आधुनिक चेन्चुस जाति से करते हैं।[2]

मुरुंड (४०.२४)—कुव में मुरुंड का उल्लेख म्लेच्छ जातियों के साथ हुआ है। भारतीय साहित्य में इसके और उल्लेख प्राप्त हैं। बृहत्कल्प में कहा गया है कि मुरुंड नाम का राजा कुसुमपुर में राज्य करता था।[3] समुद्रगुप्त के इलाहाबाद के प्रस्तर अभिलेख में कहा गया है कि उसने शक और मुरुडों को हराया था।[4] संभव है, गुप्त युग के बाद आठवीं शदी में मुरुंड जाति का अस्तित्व न रहा हो। उद्द्योतन ने किसी प्राचीन परम्परा के आधार पर इनका उल्लेख कर दिया हो।[5]

अन्त्यज-जातियाँ

कुव० में उल्लिखित चाण्डाल, डोंब, शौकारिक, मत्स्यबन्धक, डोम्बलिक, मातंग, बोक्कस, पंशुलि, मेरिय एवं पक्कण जातियों को अन्त्यज-जातियों के अन्तर्गत रखा जा सकता है, जिन्हें उद्द्योतन ने अनार्य एवं धर्म, अर्थ, काम से रहित कहा है। ८वीं से ११वीं सदी तक के विभिन्न विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में इन जातियों में से अधिकांश को अन्त्यज के अन्तर्गत माना है। ये जातियां प्राय: शहर से बाहर निवास करती थीं। इनमें से कुछ का परिचय इस प्रकार है :—

डोंब—उद्द्योतन ने डोंब का उल्लेख कई बार किया है। एक प्रसंग में डोंब को पटह बजानेवाला कहा गया है, जिसके शब्दों से डोंब के बच्चे कभी भयभीत नहीं होते थे—**किं कोइ डोंब-डिंभो पडहय-सद्दस्स उत्तसइ ?** (३८.२८)। अन्यत्र भी डोंब को गाना गाने वाला एव बांस की टोकरियां बनाने वाला कहा गया है तथा ये घरों में रहते थे।[6] डोंब की पहचान क्षीर-स्वामी ने श्वपच से की है।[7] बृहत्कथाकोश में (१७.२९) डोंब को 'पाण' कहा है। जबकि इन दोनो में भेद था। 'पाण' चाण्डाल को कहा जाता था। वर्तमान में मध्य-प्रदेश के बसोरों से डोंब की पहचान की जा सकती है।

---

१. ज०—जै० भा० स०, पृ० ४५८.
२. जाम० कुव० क० स्ट, पृ० १२०.
३. बृहत्कल्पभाष्य (गा० २२९.९३, ४१२३ २६).
४. फ्लीट, भाग ३, पृ० ८.
५. जाम०—कुव० क० स्ट, पृ० १३२.
६. निशीथचूर्णी ४-१८१६ की चूर्णी।
७. श०—रा० ए०, पृ० ४३२.

पक्कण-कुल—उद्द्योतनसूरि ने पक्कणकुल का उल्लेख अधमकुल एवं चाण्डालकुल के अर्थ में किया है।[1] रत्नपुरी में चाण्डालों के घरों पर भी पताका फहराती थीं।[2] किन्तु यह साहित्यिक अतिशयोक्ति होनी चाहिए, क्योंकि अन्यत्र उद्द्योतन ने चाण्डालों को म्लेच्छ सदृश तथा सुख एवं अर्थहीन कहा है (४०.२९)। 'अन्तकृद्दशा' (४, पृ० २२) तथा 'मनुस्मृति' (१०-५०) आदि से ज्ञात होता है कि चाण्डाल मुर्दे ढोते थे, तथा शहर के बाहर खुले आकाश में रहते थे। किन्तु अन्य कई ऐसे भी साक्ष्य मिलते हैं कि आठवीं सदी एवं उसके बाद में चाण्डालों की स्थिति सुधर रही थी।[3]

भेरिय—भेरी वाद्य को बजानेवालों की भी एक अलग जाति थी, जिनके घरों में निरन्तर भेरी बजते रहने के कारण उसके शब्द से उनके बच्चे-भयभीत नहीं होते थे। सम्भवतः ये कबूतर भी पालते थे।[4]

शौकरिक—उद्द्योतन ने शौकरिकों को अनार्य एवं म्लेच्छ कहा है। 'व्यवहारभाष्य' (३.९४) में इन्हें कर्मगुप्सित जाति का कहा है। सम्भवतः ये सुअर पालने के कारण अन्त्यज जाति में सम्मिलित रहे होंगें। मध्यप्रदेश में सुअर पालने का कार्य मेहतर, बसोर एवं कुम्हार जाति के लोग करते हैं।

वोक्कस—कुव० के अनुसार वोक्कस अनार्य जाति के थे। धर्म का एक अक्षर भी उन्होंने नहीं सुना (४०.२५) था। 'सुत्तनिपात' (१.७, ३.९) तथा 'अगुत्तरनिपात' (२.४ पृ० ८९) में इन्हें पुक्कुस कहा गया है तथा ये नीच कुल के थे। 'आचारांग-निर्युक्ति' में (२०.२७) निषाद और अम्बष्ठ के संयोग से उत्पन्न सन्तान को बुक्कस कहा गया है।[5]

यद्यपि आठवी सदी में अन्त्यज जाति में सम्मिलित लोगों की स्थिति अधिक अच्छी प्रतीत नहीं होती। किन्तु इसके बाद उनमें भी सुधार होना प्रारम्भ हो गया था। जिनेश्वर के 'कथाकोशप्रकरण' (पृ० ११५) एवं अलबरूनी के विवरण के अनुसार[6] अन्त्यजों में से कुछ जातियों की 'श्रेणियां' भी थीं, जो उनकी आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति को उन्नत करने में सहयोगी थीं।[7]

---

१. सुकुलम्मि एस जाओ आसि अहं चेय पक्कण-कुलम्मि, ८१.१०.

२. पक्कण-कुलइं पि पवण-पहल्लमाण-कोडि-पडाया-णिहासइं, १४०.२.

३. But there is ample evidence to show that they were gradually becoming immune from their disabilities as a result of the crusade against caste, Launched in India about the eighth century, as we shall see later on.

—B. AIHC. PP. 255.

४. अणुदियहम्मि सुणेंता अवरे गेण्हंति णो भयं चिट्ठा।
भेरी-कुलीय पारावय व्व भेरीए सद्देणं॥ ३८.२९.

५. ज०—जै० भा० स०, पृ० २२३ (नोटस्)।

६. अलबरूनी इण्डिया १, पृ० १०१.

७. शा०—रा० ए०, पृ० ४३१.

कर्मकार जातियाँ

उद्द्योतनसूरि ने कर्मकार-जातियों में कुम्हार (४८.२७), लुहार(४८.२७), अहीर (७७.८), चारण (४६.९), काय (४०.२५), इभ्य (७.२७), कप्पणिया (४०.२४), मागध (१५३) आदि का उल्लेख किया है। सुवर्ण देवी प्रसूति के बाद एक गोष्ठ में जाकर किसी आहीरी के घर में शरण लेती है, जहाँ वह अहीरिन उसको पुत्री सदृश मानकर सेवा करती है (७७.८)। आभीर एक ऐसी जाति का नाम है, जिसका मूल पेशा गौ-पालन था। महाभारत के एक प्रसंग के अनुसार द्वारका से कुरुक्षेत्र जाते हुए अर्जुन पर इसी आभीर जाति के लोगों ने आक्रमण किया था। आभीर जाति के लोग पहले यायावर थे। बाद में वे पंजाब की पूर्वी सीमा से लेकर मथुरा के समीप तक, दक्षिण में सौराष्ट्र (काठियावाड़) तथा राजपूताना के पश्चिमी प्रदेश पर बस गये थे। ईसा की तृतीय शताब्दी तक आभीरों ने अपना प्रमुख स्थान बना लिया था।[1] कुव० के इस प्रसंग से ज्ञात होता है कि कोशल और पाटलिपुत्र के मध्य में कहीं उनका निवास स्थान था, जिसे उद्द्योतन ने 'गोष्ठ' कहा है।[2] उसमें रहनेवाली आहीरी आभीर जाति की ही रही होगी। आजकल इस जाति के वंशजों को 'अहीर' कहा जाता है, जिनका प्रमुख व्यवसाय पशु-पालन है।

'चारण' गांव-गांव में जाकर अपनी जीविका कमानेवाली जाति थी। सम्भवतः इनका कार्य प्रशस्तियाँ आदि गाना था। राजस्थान में आज भी चारण जाति के लोग विद्यमान हैं। 'काय' को उद्द्योतन ने अनार्य कहा है। यदि इसका सम्बन्ध 'कायस्थ' से है तो वेदव्यास ने भी कायस्थों को शूद्रों में गिना है।[3] और आठवीं सदी में कायस्थ शब्द कर्मचारी के लिए प्रयुक्त होता था।[4] 'इभ्य' वणिक् जाति को कहा जाता था। उद्द्योतन ने इभ्यकुमारी का उल्लेख किया है, जो वणिकों की सम्पन्नता सूचित करती है (७.२७)। 'प्रज्ञापना' (१.६७, ७१) में आर्यों की जाति के अन्तर्गत इभ्य जातियाँ गिनायी गयी है।[5] 'कप्पणिया' सम्भवतः कपड़े के व्यापारी को कहा गया है, जिससे आजकल कापणिया प्रचलित है। जैनागमों में इसे कप्पासिय, कपास का व्यापारी, कहा गया है।[6] 'मागध' का उल्लेख उद्द्योतन ने देसी वनियों के साथ किया है (१५२.२६)। किन्तु आठवीं

---

१. भ०—वै० ऐ० भ०, पृ० ४२-४३.

२. जाव दिट्ठं एक्कम्मि पएसे कं पि गोट्ठं। तत्थ समस्सइया एक्कीए घरं आहीरीए—कुव० ७७-८.

३. काणिककिरातकायस्थमालाकारकुटुम्बिनः।
एते चान्ये च बहवः शूद्रा भिन्नाः स्वकर्मभिः ॥ —वेदव्यास-स्मृति, १.१०

४. उ०—पू० भा० इ०, पृ० ३२१.

५. ज०—जै० पा० स०, पृ० २२९.

६. वही०, पृ० २२२.

शताब्दी में मागध अशोगायकों की भी एक जाति रही है, जो राज्यसभाओं में जाकर राजाओं का गुणगान करते थे।[1] मागध जाति का मगध प्रदेश से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

प्रादेशिक जातियाँ

उद्द्योतनसूरि ने तीन प्रसंगों में प्रादेशिक जातियों का उल्लेख किया है। अनार्य जातियों के प्रसंगों में अंध, भररूचा, द्रविड़ एवं मालव (४०.२५) का, मठ के छात्रों की बातचीत के प्रसंग में अरोट्ट (१५१.१८), मालविय, कणुज्ज, सोरट्ठ, श्रीकंठ (१५०.२०) का तथा विजयपुरी की मण्डी के वर्णन के प्रसंग में निम्न प्रादेशिक व्यक्तियों का उल्लेख किया है, जिसमें से अधिकांश जाति के रूप में प्रचलित हो चुके थे—गोकुल, मध्यदेशीय, मागध, अन्तर्वेदी, कीर, ढक्क, सैन्धव, मारूक, गुर्जर, लाट, मालव, कर्णाटक, कौशल, मरहट्ठ, ताज्जिक तथा अंध (१५२-१५३ पृ०)। अंध आन्ध्र देश के रहनेवाले को कहा जाता था।[2] उद्द्योतन सूरि ने अंधों को अनार्यजाति के अन्तर्गत गिना है तथा इन्हें महिला-प्रिय, सुन्दर एवं भोजन में रुद्र वतलाया है (१५३.११)। भररूचा, द्रविड एवं मालव क्रमशः भड़ोंच, द्राविड़ प्रदेश एवं मालव के निवासियों को कहा गया है। अन्य का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:—

आरोट्ट—विजयपुरी में मठ के छात्र परस्पर बातचीत करते हुये कहते हैं कि—'अरे आरोट्ट ! बोलो, जब तक भूल न जाओ (१५१.१८)।' यहाँ प्रतीत होता है कि आरोट्ट छात्र की जाति का सम्बोधन है। प्राचीन भारत में आरोट्ट जाति के सम्बन्ध में विचार करते हुए डा० बुद्धप्रकाश का मत है कि पंजाब में अनेक समुदायों ने आयुधों को अपनी जीविका का साधन बना लिया था तथा उनके अलग नियम विकसित हो गये थे। कौटिल्य ने इन्हें आयुधजीवी कहा है।[3] इनमें से अधिकांश समुदायों ने जाति-व्यवस्था के नियमों का पालन करना छोड़ दिया था। किसी राजा एवं धार्मिक गुरु के संरक्षण के अभाव में इन समुदायों का कोई निश्चित स्थान निर्धारित नहीं हो सका। अतः इनको अराष्ट्रकाः (स्टेटलेस) कहा जाने लगा।[4] प्राकृत में इन्हीं को 'आरट्ट' कहा गया। अतः कुव० में प्रयुक्त 'आरोट्ट', 'आरट्ट' का अपभ्रंश हो सकता है।

सम्भवतः यह 'आरट्ट' शब्द ही आधुनिक युग में 'अरोड़ा' के रूप में प्रयुक्त होता है। आधुनिक पंजाब में अरोड़ा बहु विस्तृत खत्री जाति के अन्तर्गत हैं।

---

१. शा०—आ० भा०, पृ० १५७.

२. प्रश्नव्याकरण १.१.

३. अर्थशास्त्र, ५.३, १४४.

४. म० भा०, कर्णपर्व, ४४ श्लोक ३२-३३, बोधायनधर्मसूत्र १, २.१३, १५.

वे प्राचीन समय की आरट्ट क्षत्रिय जाति का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो उस समय अनेक जनपदों में योद्धा के रूप में रहते थे।[१]

गोल्ल—उद्द्योतन ने गोल्ल जाति का उल्लेख छात्रों एवं बनियों के रूप में किया है। गोल्ल अस्थिर जाति के लोग थे, जो इधर-उधर घूमते रहते थे। वे गायें पालते थे तथा दवाईयाँ आदि बेचते थे। इनकी तुलना आभीरों से की जा सकती है।[२] उद्द्योतनसूरि ने इनको कृष्ण वर्णवाला, निष्ठुरवचन बोलने वाले, निर्लज्ज तथा कलहप्रिय कहा है (१५२.२४)। गोल्ल काश्यपगोत्र की एक शाखा का भी नाम है।[३]

ढक्क—ढक्क चतुरता, दानवीरता, विज्ञान, दया आदि से रहित थे (१५३.१)। ये सम्भवतः टक्क म्लेच्छ थे, जो उत्तरीभारत से व्यापार करने के लिए दक्षिण में जाया करते थे। टक्क (पंजाब) प्रदेश से जाने के कारण इन्हें टक्क अथवा ढक्क कहा जाता रहा होगा।

सौराष्ट्र—मठ के छात्रों में सोरट्ठा (१५०.२०) भी थे। सम्भवतः सौराष्ट्र के छात्रों को सोरट्ठ कहा गया है। डा० बुद्धप्रकाश के अनुसार सोरट्ठ 'आरट्ट' के विपरीत अर्थ में प्रयुक्त शब्द है। जिन जातियों का निवास-स्थान निश्चित नहीं था वे अराष्ट्रक तथा जो किसी प्रदेश विशेष में स्थिर हो गयी थीं वे 'स्वराष्ट्रक' कही गयीं। आधुनिक गुजरात में प्राचीन समय में निवास करनेवाले वृष्णि एवं अंधकों को 'सुराष्ट्र' कहा जाता था।[४] कौटिल्य ने आयुध-

---

१. Most of these settlements eschewed the order of castes and callings held sacred in orthodox Brāhmanism. In them the autocracy of kings and priests did not strike root. Hence they were termed as stateless or Arāṣtrakas (Prakrit araṭṭa). It is probably this word arraṭṭa, which has become aroḍā in modern times. The aroḍās are a widespread Khatri community in Modern Panjāb They represent the ancient āraṭṭa Kṣatriyas, who lived on warfare in their numerious Janpadas.

—B. PSMP. P. 197.

२. Gollas are an itinerant tribe. They tend cows and sell medicines etc, They are akin to Ābhīras.—Kuv. Int. P. 144.

३. Pāia-Sadd-Mahaṇṇao, (Golla).

४. It was probably in contradistinction to the Arāṣtrakas or Āraṭṭas that the name 'Surāṣtra' came in to vogue, This name was adopted by the Vṛaṇis and Aṇdhakas settled in the region of Modern Gujrāt.

—B. PSMP. P. 199.

जीवी एवं योद्धाओं के संघों के साथ सुराष्ट्रों को गिना है। सुराष्ट्र काम्भोज एवं क्षत्रिय संघों के अनुरूप थे।[१]

गुर्जर—उद्द्योतनसूरि ने गुर्जरपथिक (गुज्जर-पहियएण, ५९.४), गुर्जर बनिये (१५३.४) तथा गुर्जरदेश (२८२.११) का उल्लेख किया है। गुजरात प्रदेश में रहनेवाले व्यक्तियों को 'गुर्जर' कहा जाने लगा था, इस तथ्य का सर्वप्रथम उल्लेख उद्द्योतनसूरि ने ही किया है।[२] प्रतिहार राजाओं के साथ 'गुर्जर' शब्द का प्रयोग किस कारण हुआ है इस विषय पर डा० दशरथ शर्मा ने विशद विवेचन प्रस्तुत किया है।[३] 'गुर्जर' एक जाति के रूप में भी प्रचलित शब्द था। वर्तमान में भी वह इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'गुर्जर' शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में डा० बुद्धप्रकाश का कथन है कि सीथियन लोगों की एक शाखा का नाम वु-सुन (Wu-sun) था। ईसा की चौथी शताब्दी में वु-सुन उच्चारण गुसुर (Gusur) के रूप में होने लगा और गुसुर से फिर 'गूर्जर' शब्द प्रयुक्त होने लगा।[४] अरब सन्दर्भों में इसे जुर्ज (Jurz) कहा गया है। छठी सदी में गुर्जरों का भारत में विशेष प्रसार हुआ है।[५] उसके बाद ही उद्द्योतन-सूरि ने जाति एवं प्रदेश के अर्थ में गुर्जर शब्द का प्रयोग किया है।

अन्य प्रादेशिक जातियों के नाम विभिन्न प्रदेशों में निवास करने के कारण तदनुरूप प्रचलित प्रतीत होते हैं, यथा– सिन्ध के सैन्धव, मालव के मालविय, महाराष्ट्र के मरहट्ट, कर्नाटक के कर्णाट आदि।

विदेशी जातियां

कुव० में कुछ ऐसी जातियां के भी उल्लेख हैं जिनके नाम विदेशी है, किन्तु वे भारतीय समाज में सम्मिलित होती जा रही थीं। वे हैं :—

शक (४०.२३), यवन (२.९, ४०.२३), वर्बर (२.६, ४० २३, १४.२१, १५३.१२), हूण (४०.२४), रोमस (४०.२४), पारस (२.९, ४०.२४), खस

---

१. Kautilya enumerates 'Surāṣṭra' among the guilds of warriors specializing in the profession of Arms. Analogous to Surāṣtra were the Kambhoja and Kṣatriya guilds.

—B. PSMP. P. 198.

२. A Cultural not—By Dr.V.S. Agrawal, Kuv. Int. P. 117.

३. S. RTA. PP. 108.119.

४. An important branch of the Seythian peoples were the Wu-sun..... ...In the fourth century A. D. Wu-sun was pronounced as Gusur. (P. C. Bagchi—India and Central Asia P. 138). From this word the name of the Gūjars is derived.

—B. PSMP. P 250.

५. द्रष्टव्य—डा० बुद्धप्रकाश, एशिया के सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास की रूपरेखा, लखनऊ, १९७१, पृ० १४४.

(२.९,४०.२४), ताज्जिक (१५३ ८), अरवाग (४०.२४), कोंचा (४०.२५), चंचुय (४०.२५)[1] एवं सिंघल (२.९)।

उद्द्योतनसूरि ने इन जातियों को अनार्य मनुष्यों की श्रेणी में गिना है, इसके अतिरिक्त इनके परिचय आदि के सम्बन्ध में उन्होंने कुछ नहीं कहा। अन्य सामग्री के आधार पर इनका परिचय प्राप्त किया जा सकता है। प्राचीन भारतीय साहित्य में इन विदेशी जातियों के अनेक उल्लेख मिलते हैं। स्वयम्भू के 'पउमचरिउ'[2] एवं पुष्पदन्त के 'आदिपुराण'[3] में इनकी विस्तृत सूची प्राप्त होती है।[4]

शक—भारतवर्ष में शकों ने अपने लम्बे राज्यकाल मे भारतीय संस्कृति को काफी प्रभावित किया। लगभग ९वीं शताब्दी ई० पू० शकों का आक्रमण भारत में हुआ माना जाता है। किन्तु ईरान की तरह भारत से भी शक-आक्रमण के लगभग सभी चिह्न लुप्त हो गये। केवल कुछ विचित्र स्थान, नाम और कुछ धुंधले कथानक इन लोगों के प्रतीक रह गये।[5] क्षत्रिय जाति पर शकों का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। पंजाब में ठाकुर एवं टोखी जाति के अतिरिक्त सोइ एवं सिक्ख जाति-समूहों को शकों का आधुनिक रूप स्वीकार किया जा सकता है।[6]

यवन—लगभग पाणिनि के समय उत्तरी पंजाब में यवनों का आक्रमण हुआ था। भारतीय साहित्य में यवन जाति के अनेक उल्लेख मिलते हैं। यवनों के एक बड़े समुदाय ने भारतीय संस्कृति के अनुरूप अपने को ढालने का प्रयत्न किया था और कुछ समय बाद वे भारतीय जनता में घुल-मिल गये। वर्तमान में पंजाब में प्राप्त जोनेजा की उप-जाति यवनो के अनुकूल आचरण करती है। जोनेजा शब्द 'यवनज' का अपभ्रंश प्रतीत होता है।

हूण—भारतवर्ष में हूणों का आगमन लगभग ईसा की चौथी शताब्दी में हुआ।[7] हूण शब्द पर विचार करते हुए डा० बुद्धप्रकाश ने कहा है कि अवेस्ता का 'ह्यओन', पल्हवी का 'ख्यिोन', सिरियन का 'कियोनाये', चीनी का 'होआ,

१. सक-जवण-सबर-बब्बर-काय-मुरूंडोड्-गौंड्-कप्पडिया।
अरवाग-हूण-रोमस-पारस-खस-खासिय चेय ॥—कुव० ४० २४

२. खस-सब्बर-बब्बर-ढक्क कीर। कउवेर-कुरब-सोडीरवीर ॥
तुंगंग-बंग-कन्होज्ज भोट्ट। जालंधर-जवणा-जाण-जट्ट ॥
कंभीरो सीणर कामरूव। ताइय-पारस-काहार-सूव ॥ पउमचरिउ, ८२.६.

३. पारस-बब्बर-गुज्जर-वराड, कण्णाउ-लाड।
आहीर-कीर-गंधार-गउड णेवाल-चोड ॥ इत्यादि—आदिपुराण, पृ० २३०.३१.

४. द्रष्टव्य— म० भा०, शांतिपर्व, ३५.१७, १८, मनु०, १०.४३, ४५

५ बुद्धप्रकाश, त्रिवेणिका—महाभारत : एक ऐतिहासिक अध्ययन, पृ० ६३.

६. बु० पो० सो० पं०, पृ० २४५

७. द्रष्टव्य—डा० उपेन्द्र ठाकुर—द हूण इन इण्डिया, १९६७.

होआ-तुन' और संस्कृत का 'हूण' शब्द एक ही जाति के द्योतक हैं।[1] भारत में तोमर, गुर्जर और हूणों के सम्बन्ध चलते रहे हैं। कुव० के तोरमाण एवं उसके गुरु हरिगुप्त के उल्लेख से यह अनुमान किया जा सकता है कि कुछ हूणों ने जैनधर्म को अपना धर्म स्वीकार कर लिया था। लडाकू जाति होने के कारण भारत मे हूण क्षत्रिय जाति में घुल-मिल गये। ११वीं शताब्दी तक इन्हें क्षत्रिय माना जाने लगा था। पंजाब मे ३६ राजपूत वंशो में एक वश का नाम अब तक हूण है। राजस्थान की रेभारी जाति की एक शाखा को हूण कहते हैं। हूण की 'जउल' और 'स्योन' जातियाँ वर्तमान में पंजाब की 'चावला' और खन्ना' जातियों के रूप में प्रचलित है, जो यह प्रकट करती हैं कि हूण जातियाँ पंजाब की जनता में बहुत अधिक घुल-मिल गयी हैं।[2]

खस—राजतरंगिणी के अनुसार खस लोगों ने काश्मीर के दक्षिण-पश्चिम भाग पर अधिकार जमाया था। राजपुरी और लोहारा के पहाड़ी राज्यों में वे रहते थे। सर ओरेल स्टेइन ने खस की पहचान वतमान में वितस्ता घाटी में निवास करनेवाली खाका जाति से की है। जब कि नेपाल के गोरखा अभी भी (खस्सा) कहे जाते हैं तथा उनकी पर्वतीया भाषा को खस कहा जाता है। सिल्वालेवी के अनुसार खस शब्द हिमालय प्रदेश की निवासी जातियों का वाचक है, जबकि सेन्ट्रल एशिया में दरदिस्तान और चीन की सीमाओं के बीच के प्रदेश को खस कहा जाता है।[3]

तज्जिक—उद्द्योतनसूरि ने 'ताइए' का केवल एक बार व्यापारिक मण्डी के प्रसंग में उल्लेख किया है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने कल्चरल नोट में 'ताइए' का अर्थ ताप्ति किया है। गुजराती अनुवादक ने तमिल की सम्भावना व्यक्त की है। किन्तु वर्णन के अनुसार अरब के व्यापारियों के लिए 'ताइए' (तजिक) शब्द प्रयुक्त प्रतीत होता है। ये व्यापारी कूर्पासक से अपने शरीर ढंके थे, मांस मे इनको रुचि थी तथा मदिरा और प्रेम-व्यापार में वे तल्लीन थे तथा 'इसि-किसी-मिसि' शब्दो का उच्चारण कर रहे थे।[4] उद्द्योतनसूरि के समय में तजिक लोग भारत में जमने लग गये थे। कोरिया के बौद्ध यात्री हू चि ओ (hui-ch-ao) ने, जो पश्चिमी भारत का लगभग ७२५ ई० सन् में भ्रमण कर रहा था, उल्लेख किया है कि इस समय तज्जिकों (अरबों) ने देश पर चढाई कर दी है तथा आधा देश वे लूट चूके हैं।[5] 'गउडवहो' में यशोवर्मन्

१. डा० बुद्धप्रकाश, त्रिवेणिका—कालिदास और हूण, पृ० ४२.
२. वही, पृ० ७०-७१.
३. बु०—पो० सी० पं०, पृ० २०९.
४. कुप्पास-पाउयंगे कास-रुई पाण-मयण-तल्लिच्छे।
'इसि-किसि-मिसि' भणमाणे अह पेच्छइ ताइए अवरे ॥ —कुव० १५३.८
५. बु०—अ० हि० सि०, पृ० १०५.

और पारसीकों की भिड़न्त का जो उल्लेख है[1], सम्भवतः वे तज्जिक ही रहे होंगे।

जयदत्त के अश्ववैद्यक एवं मानसोल्लास में भी ताजिकों का उल्लेख है। श्री चौहान ने इनकी पहचान करते हुए कहा है कि अरब के लोगों एवं अश्वों के लिए ताजिक शब्द प्रयुक्त होता था।[2]

इनके अतिरिक्त रोम और पारसीक जातियाँ भारत में प्राचीन समय से आने-जाने लगी थीं। सिंहल, सीलोन के निवासियों को कहा गया है, जिनका भारत से बहुत पुराना सम्बन्ध रहा है। अरवाक, कोंच एवं चंचुय अनार्य देशों के निवासियों के नाम हैं। सम्भव है, इन नामों के देश भारत में ही तब सम्मिलित रहे हों।

भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता पाचन-शक्ति के कारण इन विदेशी जातियों का समिश्रण भारतीय समाज में धीरे-धीरे हो गया। आवश्यकता के अनुसार प्रमुख चार जातियों में उपजातियाँ बनती रही। युद्धकर्मा होने के कारण ये जातियाँ एक ओर तो क्षत्रिय वर्ण के अधिक समीप थीं और दूसरी ओर अनार्य होने के कारण ये शूद्र कोटि में रखी जा सकती थीं। अतः इनका वर्गीकरण या भारतीयकरण इन्हीं दो वर्गों में मुख्यतः हुआ।[3]

उपर्युक्त जाति-समूहों के अतिरिक्त कुव० में हयमुख, गजमुख, खरमुख, तुरगमुख, मेंढकमुख, हयकर्ण, गजकर्ण आदि अनार्य जातियों के भी उल्लेख हैं।[4] सम्भवतः आर्यों से इनकी आकृति भिन्न होने के कारण इस तरह के नामों से उन्हें व्यवहृत किया गया है।[5] इन्हें टोटेमिस्टिक ट्राइब (Totemistic Tribes) कहा जा सकता है। इन जातियों में से अधिकांश काल्पनिक हैं। इनके नामों की परम्परा मेगस्थनीज़ के समय से प्रारम्भ हुई प्रतीत होती है।

कुव० में वर्णित उपर्युक्त विभिन्न जातियों के स्वरूप एवं कार्य को देखते हुए प्रतीत होता है कि इस समय तक धर्म के आधार पर जातियों का विभाजन स्पष्ट नहीं हुआ था। हिन्दू, बौद्ध, जैन, सिक्ख, ईसाई आदि जातियों के समूह न होकर समस्त जातियाँ आर्य और अनार्य रूप में विभक्त थीं। भारतीय संस्कृति से अनुप्राणित एवं भारत में जन्मी जातियाँ आर्य तथा इससे भिन्न संस्कृति का अनुगमन करनेवाली और विदेशी जातियाँ अनार्य कही जाती थीं। यद्यपि इनमें परस्पर आवागमन होने लग गया था।

●

१. गउडवहो, सम्पादित—एस० पी० पंडित, पृ० १२६, गाथा ३९.

२. चौहान, ए० ब० ओ० रि० ई०, भाग XLVIII एवं XLIX, पृ० ३९१-३९४.

३. पाण्डेय, विमलचन्द्र, भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास, पृ० ५०.

४. किक्कय-किराय हयमुह-गयमुह खर-तुरय-मेंढगमुहा य।
हयकण्णा गयकण्णा अण्णे य अणारिया बहवे ॥—कुव० ४०.२६.

५. कान्तावाला, एस० जी०—'ज्योग्राफिकल एण्ड एथनिक डेटा इन मत्स्यपुराण'—पुराणम्, भाग ५, नं० १ में 'अश्वमुख' की पहचान।

परिच्छेद दो

सामाजिक संस्थाएँ

कुवलयमालाकहा में प्रायः आभिजात्य वर्ग के समाज का चित्रण हुआ है। उद्द्योतनसूरि ने उसके अनुरूप ही अनेक ऐसी सामाजिक संस्थाओं का उल्लेख किया है, जिनसे समाज की अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी, मनोरंजन होता था तथा समाजगठन में सहयोग मिलता था। इन सामाजिक संस्थाओं को उपयोग की दृष्टि से इस प्रकार विभाजित किया जा सकता है :—

आधारभूत संस्थाएँ

जाति, परिवार एवं विवाह, भारतीय समाज की आधारभूत संस्थाएँ हैं। जाति के सम्बन्ध में उद्द्योतनसूरि द्वारा उल्लिखित सामग्री का विवेचन ऊपर किया जा चुका है। समाज के लिए परिवार एवं विवाह का महत्त्व हमेशा सर्वोपरि रहा है।[1] समय-समय पर इन संस्थाओं के स्वरूप एवं व्यवहार में परिवर्तन आता रहा है। उद्द्योतनसूरि के समय की इन संस्थाओं में काफी लचीलापन रहा है। क्योंकि यह युग भारतीय समाज में विदेशी जातियों के संमिश्रण का युग था, जो इन संस्थाओं के लचीलेपन के कारण ही सम्भव हो सका है।

पारिवारिक-जीवन

कुव० के कथानक एवं अन्य वर्णनो के आधार पर तत्कालीन संयुक्त-परिवार का चित्र उपस्थित होता है। उद्द्योतनसूरि ने संयुक्त-परिवार के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का वर्णन, पुत्र का परिवार में महत्त्व, परिवार के भरण-

---

१. विशेष के लिए द्रष्टव्य—डिक्शनरी आफ सोसिओलाजी, फिलासोफिकल लायब्रेरी न्यूयार्क सिटी, पृ० ३२७.

पोषण का उत्तरदायित्व, पति-पत्नी के सम्बन्धों का निर्वाह आदि अनेक पारिवारिक-जीवन के प्रसंगों का वर्णन किया है। इससे तत्कालीन सामाजिक स्थिति में परिवार के महत्त्व पर भी प्रकाश पड़ता है तथा ज्ञात होता है कि संयुक्त-परिवार प्रथा का इस युग में विशेष प्रचार था।

प्राचीन समय से ही परिवार एक प्रमुख सामाजिक संस्था रही है। इसका कार्य स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्धों को विहित और नियन्त्रित करना ही नहीं है, अपितु जीवन को सहयोग और सहकारिता के आधार पर सुखी एवं समृद्ध बनाने का प्रयत्न करना भी है। सांसारिक एवं आध्यात्मिक लक्ष्यों की पूर्ति में परिवार का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।[1] उद्द्योतनसूरि ने कथा के प्रमुख पात्र पारिवारिक-जीवन से ही चुने हैं, जो प्रथम सांसारिक वस्तुस्थिति का अनुभव कर क्रमशः धार्मिक-लक्ष्य की पूर्ति हेतु गतिशील होते हैं। उद्द्योतन द्वारा उल्लिखित पारिवारिक-जीवन के प्रमुख घटकों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है :—

प्रमुख-सदस्य—कुव० में चंडसोम, मानभट एवं गरुड़पक्षी की कथाओं के प्रसंग में संयुक्त-परिवार का स्वरूप चित्रित हुआ है। चडसोम अपने माता-पिता, पत्नी, भाई एवं बहिन के साथ रहता था (४६.१५, २७)। मानभट अपने माता-पिता एवं पत्नी का जीवनाधार था (५४.१८, ३०)। गरुड़ पक्षी के कथानक द्वारा उद्द्योतनसूरि ने उसके परिवार के निम्न सदस्यो का उल्लेख किया है, जिनसे वह दीक्षा लेने के लिए अनुमति चाहता है,—पिता, माता, ज्येष्ठभ्राता, अनुज, ज्येष्टवहिन, छोटी बहिन, पत्नी, सन्तान, ससुर एवं सास (२६०.२५, २६७.२२)। इससे ज्ञात होता है कि उस समय सुरक्षा की दृष्टि से संयुक्त-परिवार में अधिक से अधिक सदस्य रहते थे एवं उनमें परस्पर घनिष्ठता होती थी। प्रत्येक सदस्य के सम्बन्ध मे निम्न तथ्य प्राप्त होते है :—

पुत्र—परिवार में पुत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान था। राजा दृढ़वर्मन् एवं रानी प्रियंगुश्यामा पुत्र प्राप्ति के लिए हर सम्भव प्रयत्न करते हैं। राजा अपनी बलि देने को भी तैयार था।[2] क्योंकि लोक में यह मान्यता थी कि पुत्र के बिना गति नहीं सुधरती।[3] पुरुषार्थ पूरे नही होते—**विणा पुत्तेण ण संपडंति पुरिसाणं** (१३.२२)। पुत्र के बिना समृद्धशाली पुरुष पुष्पों से युक्त फलरहित वृक्ष के समान माना जाता था (१३ २५)। पुत्र की इसी महत्ता के कारण पुत्र-लाभ प्रसन्नता का कारण था (२६०.१९)। पुत्र की अचानक मृत्यु पर परिवार के अन्य सदस्य स्वयं को असहाय अनुभव कर अनुमरण कर लेते थे (५४.२६, २७)। पुत्र पिता

---

१. द्रष्टव्य—लेखक का 'जैन संस्कृति और परिवार-व्यवस्था' नामक लेख, 'श्रमण', १९६५.

२. कच्चाइणीए पुरओ सीसेण बलि पि दाऊण—१३.६.

३. जेण भणिय किर रिसीहिं लोय-सत्थेसु—'अउत्तस्स गई णत्थि'—१३.२१.

के रहते हुए भी अपनी बाहुओं द्वारा धन कमाते थे (६५.१७) तथा पिता के बाद परिवार के भरण-पोषण के लिए हर सम्भव प्रयत्न करते थे (१९१-१९२)। ऐसे साहसी एवं गुणवान पुत्रों को देखकर पिता अपने को पुण्यशाली समझता था।[1] पुत्र पिता के उत्तरदायित्व का सम्हाल लेता था (५०.२८)।

पुत्री—मायादित्य की कथा में सुवर्णदेवी के प्रसंग से प्रतीत होता है कि परिवार में विवाहित पुत्रियाँ भी पति के विदेश चले जाने पर अपने माता-पिता के साथ रहती थीं। कुव० की कथा से ज्ञात होता है कि कुवलयमाला के जन्म होने पर पुत्र-जन्म से भी अधिक उत्सव मनाया गया।[2] बारहवें दिन नामकरण संस्कार किया गया एवं क्रमशः अनेक कलाओं की शिक्षा दी गयी (१६२.९,१०)। अतः उस समय पुत्री की स्थिति परिवार में कम से कम अभिशाप तो नहीं मानी जाती थी। आदिपुराण के सन्दर्भों से भी इसकी पुष्टि होती है। छोटी-बड़ी बहिन बड़े भाई के आश्रित रहती थीं (कुव० २६४.१८)।

तत्कालीन समाज में पुत्री अथवा नारी की परिवार में आर्थिक स्थिति क्या थी, इस सम्बन्ध में प्रस्तुत ग्रन्थ कुछ अधिक प्रकाश नहीं डालता। किन्तु चण्डसोम, मोहदत्त आदि की कथा से ज्ञात होता है कि पुत्रियां भरण-पोषण एवं मनोरंजन आदि कार्यों के लिए अपने परिवार पर आश्रित थीं। विवाह हो जाने पर यदि पति विदेश आदि गया हो तो पुत्री पिता के घर पर ही रहकर समय व्यतीत करती थी। किन्तु आचरण के सम्बन्ध में शिथिलता आने पर उसका रहना वहाँ दुष्कर था।

परिवार में एक दम्पति के कितने बच्चे होने चाहिए इसका कोई नियम तो उल्लिखित नहीं है, किन्तु गरुड़पक्षी के कथानक से ज्ञात होता है कि उसके तीन बच्चे थे—एक कंधे पर बैठा था, दूसरा गले में झूल रहा था एवं तीसरा पीठ पर चढ़ा था।[3] पति-पत्नी को सन्तान बहुत ही प्रिय थी।

दाम्पत्य-प्रेम—कुव० के कथानकों से दाम्पत्य प्रेम के सुन्दर चित्र प्राप्त होते हैं। विवाह के तुरन्त बाद पति-पत्नी आमोद-प्रमोद द्वारा परस्पर स्नेह व्यक्त करते थे। पत्नी पति को प्रसन्न रखने का भरसक प्रयत्न करती थी। बाहर से आने पर पति के चेहरे को देखकर उसकी थकान का कारण पूछती थीं (१०३.३१)। प्यार की यह पराकाष्ठा थी कि यदि पति किसी अन्य सुन्दरी कन्या को चाहने लगता था तो पत्नी उससे पति की शादी करा देती थी

---

१. 'पुत्त कुमार', पुण्णमंतो अहयं जस्स तुमं पुत्तो—२००.१२.

२. तओ तीए पुत्त-जम्माओ वि अहियं कयाइं वद्धावणयाइं—१६२.९.

३. खंधम्मि केइ कंठे अण्णे पट्ठि समारूढा—२६६.२.

(२३३.२); किन्तु पति के मन पर अपना ही अधिकार रखती थी।[1] परिहास में भी अपने पति द्वारा किसी अन्य युवती की प्रशंसा सुनकर रूठ जाती थीं। किन्तु विपत्ति में पति का अनुगमन करने के लिए हमेशा तैयार रहती थीं। क्योंकि उनका इस मान्यता पर विश्वास बना हुआ था कि संसार में स्त्रियों का पति देवता होता है।[2] अपने इस विश्वास के कारण कई बार पत्नियाँ पति के झूठे लांछन को सहना अपना कर्तव्य मानती थीं (४६.२०)। सुन्दरी के कथानक से पतिप्रेम की पराकाष्ठा ज्ञात होती है, जिसमें पति की अल्पायु में मृत्यु हो जाने के कारण वह उसकी लाश की महीनों तक सेवा करती रहती है (२२५.२१, ३०)।

पत्नी जितना पति को चाहती थी, आदर देती थी उतना ही पति उसका ख्याल रखता था। पत्नी के कुपित होने की सूचना मिलते ही वह मित्र-बन्धुओं को छोड़कर उसे मनाने चल देता था और सोचता था पत्नी किस कारण कुपित हुई होगी। उद्द्योतनसूरि ने पत्नी के कुपित होने के पाँच प्रमुख कारण बतलाये हैं:—१. प्रणय-स्खलन—पति द्वारा पत्नी के प्रणय की उपेक्षा अथवा प्रणय-सम्बन्ध से असन्तुष्टि। २. गोत्र-स्खलन—पत्नी के मायके के सम्बन्ध में कोई बुराई करना अथवा पत्नी के सामने किसी दूसरी स्त्री की प्रशंसा करना। ३. अविनीत परिजन—घर के नौकरों द्वारा पत्नी का अपमान। ४. प्रतिपक्षकलह—उपपत्नियों द्वारा प्रताड़ना आदि तथा ५. सास द्वारा ताड़ना (११.२५, २६)। इन कारणों के अतिरिक्त सन्तान न होने से पत्नियाँ अधिक कुपित होती थी। पति पत्नी को प्रसन्न करने के लिये सन्तान प्राप्ति का हर सम्भव प्रयत्न करता था।

माता पिता—संयुक्त-परिवार में पति-पत्नी एवं उनकी सन्तान के साथ पति के माता पिता भी रहते थे। वे पूर्णतया अपने पुत्र के आश्रित होते थे। वृद्धावस्था मे उनका पोषण करना पुत्र का परम कर्तव्य था। पुत्र द्वारा युवावस्था में गृहत्याग के कारण माता-पिता अपने आलम्बन की चिंता करते थे।[3] मानभट के माता-पिता पुत्र को मृत जानकर अनाश्रित हो जाने के कारण स्वयं कुएँ में कूद पड़ते है (५४.२०, २४)। माता-पिता का संतान के प्रति इतना स्नेह होने के कारण प्रत्येक कार्य के लिए उनकी आज्ञा भी ली जाती थी तथा उनकी विनय करना भी पुत्र का कर्तव्य था।[4] यदि पुत्र इसकी अवहेलना करता था तो कुल

---

१ जं किंचि तुमं पेच्छसि सुणेसि अणुहवसि एत्थ लोगम्मि।
तं मज्झ तए सव्वं साहेयव्वं वरो एसो ॥२३३.६.

२. जइ त वच्चसि सामिय अहं पि तत्थेय णवरि वच्चामि।
भत्तार-देवयाओ णारीओ होंति लोगम्मि ॥२६५.२६.

३. किर होहिसि आलंबो वुड्ढत्तणयम्मि अम्हाण—२६२.१८.

४. पुत्त इमो ते धम्मो अम्मा-तायाण कुणसि जं विणयं—२६३.२४.

की मर्यादा भंग होती थी जो उचित नही थी—**भिंदसि कुल-मज्जायं संपइ तुह हो ण जुत्तमिणं** (२६६.२८)। सास-सुसुर को भी माता-पिता के समान आदर दिया जाता था।

विवाह-संस्था—विवाह समाज की महत्त्वपूर्ण संस्था है। परिवार का संचालन विवाह-संस्था द्वारा ही सम्भव है। चार पुरुषार्थों का पालन विवाह-संस्था के माध्यम से सम्पन्न होता है। कुव० के सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि वर-कन्या के समान वय, वैभव, शील, धर्म एवं कुल के होने पर ही उनका विवाह सम्पन्न होता था।[1] विवाह के बाद माता-पिता पुत्र को परिवार का भार सौंप देते थे (४५.२५)। अतः गृहस्थजीवन का प्रवेश द्वार था—विधिवत् विवाह। विवाहोत्सव का वर्णन आगे किया गया है।

धार्मिक संस्थाएँ

कुछ संस्थाएँ धार्मिक होते हुए भी समाज के उत्थान के लिए महत्त्वपूर्ण होती है। अतः ऐसी संस्थाओं का निर्माण समाज के व्यक्ति समय-समय पर कराते रहते थे। उद्द्योतनसूरि ने ऐसी निम्न संस्थाओं का उल्लेख किया है :— देवकुल (६५.८), मठ (८२.३२), पाठशाला (८२.३३), समवसरण (९६.२८), अग्निहोत्रशाला (१७१.३) एवं ब्राह्मणशाला (८२.३२)।

देवकुल तत्कालीन स्थापत्य का प्रचलित शब्द है। नगर के विभिन्न स्थानों पर सामूहिक देवकुलो का निर्माण होता था। इनके निर्माण के लिये नगर के श्रेष्ठी दान करते थे—**करावेसु देवउले** (६५.८)। इनमें केवल देव-अर्चना ही नहीं होती थी, अपितु भूले-भटके पथिक भी इनमें ठहर सकते थे। मठ का उल्लेख उद्द्योतनसूरि ने दो प्रसंगों में किया है। कौसाम्बी नगरी में शाम होते ही धार्मिक-मठों मे गलाफोड़ आवाज होने लगती थी (८२.३२)। विजयपुरी के मठ में अनेक देशों के छात्र रहकर अध्ययन करते थे। ये मठ शिक्षा के बड़े केन्द्र होते थे (१५०-५१)। दक्षिण भारत मे मठों की स्थापना के ऐतिहासिक साक्ष्य भी प्राप्त होते है।

कुव० में पाठशाला के लिए आवसथ शब्द का प्रयोग हुआ है। उसमें भगवद्गीता का पाठ हो रहा था (८२.३३)। सम्भवतः पाठशालाएँ प्रारम्भिक अध्ययन का केन्द्र थीं। ब्राह्मणशाला में गंभीर वेदपाठ का शब्द होता रहता था (८२.३२)। ये ब्राह्मणशालाएं केवल ब्राह्मण छात्रों के अध्ययन का केन्द्र रहीं होंगी। कुव० में समवसरण का परम्रागत वर्णन है। डा० नेमिचन्द्र

---

१. सरिस-गुण-कुल-सील-माण-विहव-विण्णाण-विज्जाणं बंभण-कुलाणं बालिया बंभण-कण्णया पाणि गाहिया—कुव० ४५.२४.

शास्त्री ने समवसरण को भी एक सामाजिक संस्था माना है। क्योंकि इसके आयोजन द्वारा मानवमात्र को धर्म साधन का समान अधिकार प्रदान किया जाता है। सद्गुणों के विकास के लिए कर्तव्य एवं अधिकारों का ज्ञान कराया जाता है।[1] जैन तीर्थंकर की दिव्यध्वनि के समय संसार के प्राणी एक स्थान पर एकत्र होकर अपनी-अपनी भाषा में उसे हृदयंगम करते हैं, तदनुरूप अपने व्यक्तित्व का विकास करते हैं। उद्द्योतनसूरि के समय समवसरण का सामाजिक स्वरूप क्या था, ज्ञात नहीं होता, किन्तु उसकी रचना का स्थापत्य महत्त्व अवश्य रहा है।

परोपकारी संस्थाएं

उद्द्योतनसूरि का युग समृद्ध समाज का युग था। व्यापार के विभिन्न स्रोतों से जितना अधिक धन अर्जित किया जाता था, उतनी मात्रा में ही समाज-कल्याण की सस्थाएँ संचालित की जाती थीं। कुव० में विभिन्न प्रसंगों में इन परोपकारो सामाजिक संस्थाओं का उल्लेख हुआ है :—

पवा—वत्स जनपद में पवा, मंडप, सत्रागार आदि सस्थाएं वहां की दानशीलता की सूचक थी।[2] पवा एक प्रकार की प्याऊ थी जिसे प्रपा कहा जाता था। किन्तु स्थलमार्ग की कठिनाइयों के कारण प्रपा में पानी की व्यवस्था के साथ पथिको के ठहरने की व्यवस्था भी रहती थी। ग्रीष्मऋतु में पवा, मंडप पथिकों के समूह से भरे रहते थे (११३.८)। प्रथमवृष्टि के होते ही पवा-मंडप सजा दिये जाते थे (१४७.२५)। सम्भवतः इस समय गर्मी और पथिको का आवागमन बढ़ जाता रहा होगा। पवा मे लोगो की भीड़ बनी रहने के कारण वहाँ भी राजाज्ञा की घोषणा की जाती थी (२०३.१०)। उस समय कुछ ऐसे भी धार्मिक थे जो कूप, तालाव, वापी को बंधाना तथा प्रपा को दान देना ही परम धर्म समझते थे। (२०५.३)।

मंडप—मडप सामान्यतया पथिकों के निवास स्थान के लिए प्रयुक्त शब्द था। सम्भवत प्रपा के साथ मडप भी बनाया जाता था। उद्द्योतनसूरि ने सामान्य मंडप के अतिरिक्त अनाथमंडप[3] और शिवमंडप[4] का भी उल्लेख किया है। अनाथमडप मथुरा में स्थित था। उसमे श्वेतकुष्टी, क्षयरोगी, दीन, दुर्गत, अंधे, लंगड़े, मंदगतिवाले, वृद्ध, वामन, नकटे, बूचे, होठकटे, मोटे होठवाले आदि

१. शास्त्री—आ० भा०, पृ० १४०.४२.
२. सुहज्जंति जत्थ पडिप्पवा-मंडवासत्तायारेंहि दाणवइत्तणाइं, ३१.१४.
३. संपत्तो महुराउरीए। एत्थ एक्कम्मि अणाह-मंडवे पविट्ठो, ५५-१०.
४. एक्कम्मि णयरच्चचर सिव-मंडवे पाविसिउं पयत्ता, ९९.२२.

अपंग व्यक्ति रहते थे तथा परदेशी, व्यापारी, तीर्थयात्री, पत्रवाहक, धार्मिक, गुग्गुलिक एवं भोगा (भोये) आदि यात्रा के दौरान उस अनाथमंडप में ठहरते थे। ऐसे अनाथ बच्चों का भी वहाँ ठिकाना था, जिनके माता-पिता उनसे रूठ गये थे।[1]

अनाथमंडप के इन अपंग व्यक्तियों की पारस्परिक बातचीत से ज्ञात होता है कि वे विभिन्न प्रान्तों के निवासी एवं विभिन्न भाषा-भाषी थे। उनमें अनेक धार्मिक विश्वास प्रचलित थे—कोढ़ निवारण के लिए मुल्तान की सूर्यपूजा, वाराणसी का गंगास्नान, महाकाल भट्टारक की सेवा, प्रयाग के अक्षयवट से आत्मवध, संगमस्नान आदि। इनका विशेष अध्ययन धार्मिक-जीवन वाले अध्याय में किया गया है।

शिवमंडप भरुकच्छ नगर के चौराहे पर स्थित था (९९.२३)। जिसमें विन्ध्यवास की असहाय रानी तारा अपने पुत्र के साथ जाकर ठहरती है। यह शिवमंडप शिवमंदिर न होकर कल्याणकारी केन्द्र होना चाहिए, जो सम्भवतः अशरण एवं असहाय व्यक्तियों के कल्याण के लिए नगर के चौराहो पर बनाया जाता होगा।

सत्रागार—सत्रागार का उद्योतनसूरि ने तीन वार उल्लेख किया है, जिससे ज्ञात होता है कि सत्रागार को नगर के दानी एवं श्रेष्ठी दानराशि के द्वारा चलाते थे—**पालेसु सत्तायारे** (६५.९)। सत्रागार में पथिको को निःशुल्क भोजन वितरित किया जाता था। स्थाणु एवं मायादित्य तीर्थयात्री का वेषधारण कर कहीं मोल लेकर, कही सत्रागार मे एव कहीं उद्धरस्था में भोजन करते हुए आगे बढ़े।[2] इससे ज्ञात होता है कि सत्रागार के समान 'उद्धरस्था' में भी पथिकों को भोजन मिलता था। इसमे जीर्णोद्धार का कार्य भी किया जाता था। 'उद्धरस्था' शब्द का सस्था के रूप में कोई अर्थ स्पष्ट नही होता। यदि इसका सस्कृत रूप 'ऊर्ध्वरथ्या' है तो इसका अर्थ महापथ (High way) किया जा सकता है। तब यह मानना होगा कि उस समय प्रमुख बड़े मार्गों पर पथिकों या तीर्थयात्रियों के लिए निःशुल्क भोजन को व्यवस्था होती थी।

आरोग्यशाला—आधुनिक दातव्य-औषधालय का प्राचीन नाम आरोग्य-शाला था। नगर के श्रेष्ठियों द्वारा आरोग्यशालाओं को पर्याप्त धन दिया जाता

---

१. तत्थ ताव मिलिएल्लए कोड्ढीए वलक्ख खइयए दीण दुग्गय अंधलय पंगुलय मंदुलय-मंडहय वामणय छिण्ण-णासय तोडिय-कण्णय छिण्णोट्ठय तडिय कप्पडिय देसिय तित्थ-यत्तिय लेहाराय धम्मिय गुग्गुलिय भोया। किं च बहुणा। जो माउ-पिउ रुट्ठेल्लओ सो सो सव्वो वि तत्थ—मिलिएल्लओ ति—५५.११-१३.

२. कंहिंचि मोल्लेणं कहिंचि सत्तगारेसु कहिंचि उद्धरत्थासु भुंजमाणा, ५८.४.

था।[1] सम्भवतः इनमें औषधिदान के अतिरिक्त रोगियों के निवास की भी व्यवस्था रही होगी।

इन परोपकारी संस्थाओं के अतिरिक्त उद्द्योतनसूरि ने तडाग, वापी (६५.८), आराम (२०३.१०), बालाराम (२३१.३१), दीन-विकल निवास (६५.८) आदि का भी उल्लेख किया है, जिनसे समाज के व्यक्ति लाभान्वित होते थे। इस प्रकार ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में वाणिज्य-व्यापार की प्रगति के कारण जितनी समृद्धि थी, उतना ही उसका सदुपयोग भी होता था।

---

१. पयत्तेसु आरोग्य-सालाओ, ६५.९.

परिच्छेद तीन

सामाजिक आयोजन

सामाजिक जीवन से उत्सवों एवं विनोद के आयोजनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। आयोजनो की वहुलता समाज की समृद्धि एवं सामाजिकों की अभिरुचि की परिचायक होती है। कुव० मे उल्लिखित सामाजिक आयोजन गुप्तयुग एवं उत्तर गुप्तयुग के समृद्ध समाज के अनुकूल हैं। इस समय के राजाओं एवं रईसों का जीवनक्रम कुछ इस प्रकार का था कि उनकी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति विभिन्न उत्सवों द्वारा एवं विनोद-पूर्वक होती थी। आवश्यकताओं की पूर्त्ति में सहायक सामान्य जन भी अपने को उत्सव का भागीदार मानता था। अतः सामाजिक वातावरण आनन्द, उल्लास और उत्सवों के अनुकूल बन गया था। ये सामाजिक आयोजन उस समय की आर्य-संस्कृति में अधिक प्रचलित थे। उद्द्योतन ने निम्न सामाजिक आयोजनों का उल्लेख कर इस बात की पुष्टि की है।

जन्मोत्सव—सांसारिक आनन्द एवं उत्सवों में पुत्र-जन्मोत्सव का स्थान प्रमुख है। प्राचीन भारतीय साहित्य में पुत्र-जन्मोत्सव के अनेक सुन्दर वर्णन प्राप्त होते हैं। उद्द्योतनसूरि द्वारा प्रस्तुत वर्णन भी परम्परागत है। किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से कुछ सूचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। कुवलयचन्द्र का जन्म होते ही प्रसूतिगृह में अनेक प्रकार के कार्य सम्पन्न किये गये। मंगल-दर्पण-मालाओ को उतारा गया (१७.२७)। सम्भवतः यह बाण द्वारा कादम्बरी में प्रयुक्त अवतरणक-मंगल का ही कोई रूप है, जिसे लोकाचार में उतारा कहा जाता है। बालक की मंगल-कामना के लिए इस प्रकार के उत्तारे किये जाते हैं। कोई चीज बालक के ऊपर से उतार कर किसी को दे दी जाती है।[1] पत्रलता द्वारा बालक की रक्षा के लिए सुन्दर सजावट की गयी—**भूइ-रक्खा परिहरंतए** (१७.२७)। बाण ने इसके लिए '**भूतिलिखित पत्रलताकृतरक्षापरिक्षेपम्**' समास का प्रयोग किया

१. अ०—का० सा० अ०, पृ० ७४.

है। परिचारिका सिद्धार्थी द्वारा गोरचना से सिद्ध किया हुआ ताबीज बनाया गया—सिद्धत्थिए, गोर-सिद्धत्थ-करंबियाओ, कुव० (१७.२८)। कालिदास ने इसी को रक्षाकरण्डक कहा है।[1] सुभटी को बालक और देवी के लिए रक्षा-मंडलाग्र ग्रहण करने को कहा गया।[2]

पुत्रजन्म की सूचना मिलते ही राजा ने शरीर पर धारण किए हुए सभी आभूषण परिचारिका को दे डाले और जन्मोत्सव मनाने का आदेश दे दिया। राजा का आदेश मिलते ही सारे नगर में समुद्र-गर्जना की भाँति तूर का शब्द गूंज उठा। राजमहल कस्तूरी के चूर्ण से पूर दिया गया। महलों में वारविलासिनियों के नृत्य होने लगे। नगर के लोग भी उल्लासपूर्वक नृत्य करने लगे। राजा ने उदारतापूर्वक इतना दान दिया कि ऐसी कोई वस्तु न थी जो प्रदान न की गयी हो और ऐसा कोई व्यक्ति नहीं था, जिसे कुछ प्राप्त न हुआ हो—तं णत्थि जं ण विज्जइ णूणमभावो ण लब्भए जं च (१८.३०)।

वर्धापन—सामान्यतया खुशी के अवसर को वर्धापन कहा गया है। कुव० के अनुसार पुत्रजन्म के अवसर पर राजा ने वर्धापन मनाने का आदेश दिया।[3] कुमारी कुवलयमाला के जन्म पर पुत्रजन्म से भी अधिक वर्द्धापन मनाया गया (१६२.९) तथा उज्जयिनी की राजकुमारी का विवाह निश्चित हो जाने पर भी वर्द्धापन मनाया गया—(२३३.३३)। जन्मोत्सव बारह दिनों तक मनाया जाता था। बारहवें दिन नामकरण-संस्कार होता था (२१.२, १६२.९)।[4] यह दिन इष्ट-मित्रों सहित प्रसन्नतापूर्वक व्यतीत किया जाता था।

पंचधात्रि-संरक्षण—नामकरण के बाद कुवलयचन्द्र की देखभाल पाँच धाईयो को सौंप दी गयी।[5] जैनसूत्रों में मुख्यतया पाँच प्रकार की दाईयो का उल्लेख मिलता है—दूध पिलाने वाली (क्षीर), अलंकार आदि से विभूषित करने वाली (मण्डन), नहलाने वाली (मज्जण), क्रीड़ा कराने वाली (क्रीडायन) और बच्चे को गोद में लेकर खिलानेवाली (अंक)।[6] बौद्धसाहित्य मे चार दाईयों का उल्लेख है।[7] इन दाईयों की कुशलता एवं कमजोरी का बालक पर कैसा प्रभाव पड़ता था इसकी विस्तृत जानकारी जैनसूत्रो मे प्राप्त होती है।[8]

१. अहो रक्षाकरंडकमस्य मणिबंधे न दृश्यते—शाकुंतला, अंक, ७.
२. सुहडिए—गेण्हसु बालयस्स देवीए य इमं रक्खा-मंडलग्गं ति—कुव० १७.२९.
३. समाइट्ठं च राइणा वद्धावणयं, १८.९.
४. औपपातिक, ४०, पृ० १८५, आदि जैन ग्रन्थो में।
५. एवं च कय-णामधेओ पंच-धाई परिक्खितो—कुव० २१.७.
६. ज्ञाताधर्मकथा, पृ० २१.
७. दिव्यावदान, ३२, पृ० ४७५, मूगपक्खजातका (५२८) भाग ६; ललितविस्तार, पृ० १००.
८. ज०—जै० आ० स०, पृ० २४३.४२.

विवाहोत्सव

सामाजिक जीवन में विवाहोत्सव का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वर-वधू दोनों के माता-पिता इस अवसर पर उत्साहपूर्वक इस आयोजन को सम्पन्न करते हैं। उद्द्योतनसूरि ने कुव० में केवल एक बार विवाहोत्सव का वर्णन किया है, किन्तु इतना सूक्ष्म कि उसे पढ़ने से लगता है मानों आँखों के सामने विवाह हो रहा हो। कुमारी कुवलयमाला का विवाह निश्चित हो जाने पर राजभवन में निम्न तैयारियां होने लगीं :—

ज्योतिषी को बुलवाकर विवाह का मुहूर्त निकलवाया गया। ज्योतिषी ने फागुन सुदी पंचमी बुधवार को स्वाती नक्षत्र में रात्रि के प्रथम पहर बीत जाने एवं द्वितीय प्रारम्भ होने के समय लग्न का मुहूर्त बतलाया। लग्न का समय आते ही विभिन्न तैयारियाँ प्रारम्भ हो गयी। धान दरवाई गयी। उसे साफकर चावल तैयार किये गये।[1] विभिन्न प्रकार की मिठाइयाँ बनवायीं गयीं। अन्य खाद्यपदार्थों को एकत्र किया गया। कुम्हारों के यहाँ से वर्तन मँगाये गये। मंचशाला तैयार करायी गयी। धवलगृह को सजाया गया। वरवेदिका रची गयी। वन्दनवार बंधवाया गया। रत्नों की परीक्षा करवायी गयी। हाथी-घोड़ों को सजाया गया। राजा लोगों को निमन्त्रण भेजे गये। लेखवाहक भेजे गये। वन्धुजनों को आमन्त्रित किया गया, भवनों के शिखर सजाये गये, भित्तियों पर सफेदी की गयी, गहने वनवाये गये, यवांकुर रोपे गये, देवताओं की अर्चना की गयी, नगर के चौराहे सजाये गये, कपड़ों के थान फाड़े गये, कूर्पासक सिलवाये गये, पताकाएँ फहरायी गयीं तथा मनोहर चँवर तैयार कराये गये। यहाँ तक कि उस नगर में कोई ऐसी महिला व पुरुष नहीं था, जो कुवलयमाला के विवाह कार्य में प्रसन्नतापूर्वक व्यस्त नहीं था।[2]

विवाह की लग्न के आते ही कुवलयमाला की माता ने अपने होनेवाले जमाई को स्नेहपूर्वक स्नान करवाया। अपने वंश, कुल, देश, समय एवं लोकानुसरण के अनुसार मांगलिक कौतुक किये। श्वेत वस्त्र पहिना कर तिलक किया, कंधे पर श्वेत पुष्पों का हार पहिनाकर महेन्द्र के साथ कुवलयचन्द्र को विवाह मण्डप में लाया गया (१७१.१, २)। कुवलयमाला भी श्वेतवस्त्र धारण कर मांगलिक मोतियों के गहने पहिन वेदी पर बैठ गयी। समय होते ही अग्निहोत्र-शाला में अग्नि प्रज्वलित की गयी, क्षीरवृक्ष की समिधा और घी की आहूति दी गयी। कुल के वृद्धजनों के समक्ष राजा के सामने, अनेक वेदपाठी ब्राह्मणों के बीच में लोकपालों को आमन्त्रित किया गया, दढ़वर्मन् का नाम लेकर कुमार

---

१. मुसुमूरिज्जंति धण्णाइं........रइज्जंति चारु-चामरीपिच्छपब्भराइं ति—कुव० १७०.२१, २५.

२. सो णत्थि कोई पुरिसो महिला वा तम्मि णयर-मज्झम्मि।
जो ण बिहल्लप्फलओ कुवलयमाला-विवाहेण ॥ —वही० १७०.२७.

के हाथ में कुवलयमाला का हाथ दिया। कुमार ने जैसे ही कुमारी का हाथ पकड़ा, तूर बज उठे, शंख फूंके जाने लगे, झल्लरी बजायी गयीं, पंडित पढ़ने लग गये, ब्राह्मण मन्त्र पढ़ते हुए आहूति देने लगे और फेरे प्रारम्भ हो गये, चौथा फेरा पूरा होते-होते ही जय-जय के शब्दों से मंडप गूंज उठा (१७१.१, १५) महिलाएँ गीत गानें लगीं।

कुव० का उपर्युक्त विवाहोत्सव का वर्णन अनूठा है। समराइच्चकहा में सिंहकुमार और कुसुमावली का विवाह-वर्णन इसी प्रकार का है। उसमें भी चार फेरे ही उल्लिखित हैं। भारत के कई प्रान्तों में यद्यपि सात फेरे शादी में लिये जाते हैं, किन्तु राजस्थान में अभी भी पुष्करणा ब्राह्मणों में चार फेरों से विवाह सम्पन्न होते हैं। विवाहोत्सव में गीत गाना अनिवार्य कार्य था, क्योंकि ऐसे अवसरों पर गान महज मनोविनोद या आमोद उल्लास के साधन नहीं होते थे, अपितु विश्वास किया जाता था कि वे देवताओं को प्रसन्न करेंगे, अमंगलों को दूर करेंगे और वर-वधू को अशेष सौभाग्य से अलंकृत करेंगे।[1]

युवराज्याभिषेकोत्सव

युवराज को राजा बनाने के लिए राजा द्वारा उसका अभिषेक करने की परम्परा अनेक ग्रन्थों में मिलती है। किन्तु युवराज के क्या अधिकार एवं कर्तव्य हैं इसका प्रामाणिक वर्णन कहीं उपलब्ध नही हुआ। राजा अपने पुत्र के लिए अपार धन उत्तराधिकार में छोड़ता था और राज्य तथा समाज के बड़े व्यक्तियों के समक्ष युवराज को राजा बनाया जाता था।[2] धीरे-धीरे यह कार्य एक उत्सव के रूप में होने लगा और नगर में सजावट तथा अनेक प्रकार के मांगलिक कार्य इसके साथ जुड़ गये। उद्द्योतनसूरि ने उत्सव के रूप में ही राज्याभिषेक का वर्णन किया है। कुवलयचन्द्र के राज्याभिषेक के समय अयोध्यानगरी को सजाया गया। पूर्णरूप से सज जाने पर नगरी ऐसी प्रतीत होती थी मानों कोई कुलवधू सजधजकर अपने प्रियतम के आगमन की प्रतीक्षा कर रही हो (१९९.३३)। नगरी के सज जाने पर दृढ़वर्मन् कुमार को अपने साथ हाथी पर चढ़ाकर नगर-दर्शन के लिए निकल पड़ा। नगरवासियो ने कुमार का स्वागत किया (२००.१,६)।

नगरदर्शन के वाद कुमार कुवलयचन्द्र ने आस्थानमण्डप में प्रवेश किया तथा विविध पंचरंगी मणियों से निर्मित मेघधनुष की शोभा से युक्त सिंहासन पर वह बैठा। जय-जय शब्दों के साथ महाराज एवं सामन्तों ने मणियों से चित्रित, गीले कमल एवं कोमल हरे पत्तों से ढके हुए कंचण-मणि निर्मित कलशों को हाथों पर उठाकर मांगलिक शब्दो के साथ कुमार का अभिषेक किया। तब राजा एवं वृद्ध सामन्तों ने कुमार को आशीर्वाद दिया और सामने आसनों पर बैठ गये (२००.८, १२)।

---

१. प्राचीनभारत के कलात्मक विनोद, पृ० ११४.

२. शा०—रा० ए०, पृ० ३१४ द्रष्टव्य।

तदनन्तर राजा ने कहा—'पुत्र कुमार ! मैं पुण्यशाली हूँ, जो तुम जैसा पुत्र मुझे प्राप्त हुआ। आज चिरप्रतीक्षित मेरा मनोरथ पूर्ण हुआ है। अतः आज से मेरी समस्त सम्पत्ति तुम्हारी है। तुम्हें मैं राज्य का भार सौंपता हूं।[1] अब धर्म-कार्यों में अपना समय व्यतीत करूंगा'—'यह सब आपकी कृपा है। आपकी आज्ञा का मैं हमेशा पालन करूंगा' यह कह कर कुमार ने उठ कर राजा के चरण छुए। तदनन्तर कुवलयमाला का भी गुरुजनों को परिचय कराया गया—'वंसिया कुवलयमाला गुरुजणस्स। उसने प्रणाम किया। सबने उसका अभिनन्दन किया। इस प्रकार वह दिन व्यतीत हुआ (२००.१३, १८)।

इन्द्रमह—उद्द्योतनसूरि ने नव पावस समय के बाद इन्द्रमह, महानवमी, दीपावली, देवकुल-यात्रा, बलदेव-महोत्सव आदि का उल्लेख किया है।[2] इन्द्रमह प्राचीन भारत में सब उत्सवों में श्रेष्ठ माना जाता था और लोग इसे बड़ी धूमधाम से मनाते थे। जैन-परम्परा के अनुसार भरत चक्रवर्ती के समय से इन्द्रमह का प्रारम्भ माना जाता हैं।[3] रामायण (४.१६, ३६), महाभारत (१.६४, ३३) एवं भास के नाटकों में भी इसका उल्लेख है।[4] वर्षा के बाद जब रास्ते स्वच्छ हो जाते तब इस उत्सव की धूम मचती थी।[5] जैनसाहित्य में इन्द्रमह मनाने के अनेक उल्लेख हैं।[6] इन उत्सवों में आमोद-प्रमोद के साथ इन्द्रकेतु की पूजा भी होती थी।[7] धम्मपद-अट्ठकथा (१ पृ० २८०) में उल्लिखित वज्रपाणि इन्द्रप्रतिमा की सम्भवतः इन्द्रमह में पूजा होती रही हो। इन्द्र की पूजा कृषक अपनी अच्छी फसल के लिए एवं कुमारियाँ अच्छे सौभाग्य प्राप्ति के लिए किया करती थी।[8] सौभाग्य प्राप्ति का हेतु होने के कारण इन्द्रपूजा वसंत-ऋतु में भी की जाने लगी थी।[9] इन्द्रमह एक लोकोत्सव के रूप ते मनाया जाता था।[10]

महानवमी—कुव० में महानवमी पर्व का दो बार उल्लेख हुआ है। स्थाणु को ठगने के बाद मायादित्य जब लौटकर आता है तो उसे सुनाता है कि वह

१ तुलना—उपमितिभवप्रपंचकथा, २३७.२८; तिलकमंजरी, पृ० ९३ आदि।

२ तओ कमेण य संपत्तेसु इंदमहदियहेसु, कीरमाणासु महाणवमीसु होंत-मणोरहेसु दीवाली छण-महेसु पयत्तासु देवउलजत्तासु वोलिए बलदेवूसवे, १४८.११, १२.

३. आवश्यकचूर्णि, पृ० २१३.

४. पुसालकर—भास : ए स्टडी, अध्याय १९, पृ० ४४० आदि।

५. हापकिन्स-एपिक माइथोलाजी, पृ० १२५ आदि।

६. ज०—जै० आ० स०, पृ० ४३१.

७. उत्तराध्ययनटीका ८, पृ० १३६.

८. बृहत्कल्पभाष्य, पृ० ५१५३.

९. शारदातनय का भावप्रकाश, पृ० १३७.

१०. अग्रवाल, प्राचीन भारतीय लोकधर्म, अहमदाबाद १९६४.

नवमी-महोत्सव के लिए बलि देने हेतु किसी गृहस्वामी द्वारा पकड़ लिया गया था और जब घर के सब लोग नवमी का स्नान करने नदी में गये तो वह पहरेदार की आँख बचाकर भाग आया है।[1] दूसरे प्रसंग में वर्षाऋतु के बाद महानवमी महोत्सव किये जाने का उल्लेख है (१४८.११)। महानवमी महोत्सव के प्राचीन साहित्य में अनेक उल्लेख मिलते हैं।[2] डा० हन्दिकी ने इस महोत्सव के सम्बन्ध में विशेष अध्ययन किया है।[3] महावमी की तिथि के सम्बन्ध में समान उल्लेख नहीं है। यशस्तिकचम्पू के अनुसार चैत्रसुदी नवमी को यह उत्सव होता था, जबकि पार्श्वनाथचरित में चैत्र और आश्विन माह की नवमीं को यह उत्सव मनाने का उल्लेख है। उद्द्योतन ने भी वर्षाऋतु के बाद आश्विन माह में ही इसका उल्लेख किया है। महानवमी को स्नान करने एवं बलि देने के भी उल्लेख मिलते हैं, किन्तु नरबलि का उल्लेख कुवलयमालाकहा के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में नहीं मिला। इस उत्सव में चामुण्डा अथवा दुर्गा की पूजा होती थी। धीरे-धीरे शक्ति का प्रतीक होने से यह राज्योत्सव के रूप मे मनाया जाने लगा था।

दीपावली—दीपावली उत्सव प्रकाश का पर्व प्राचीन समय से ही रहा है। हिन्दू एवं जैन इसे अपने-अपने ढंग से मनाते रहे हैं। धार्मिक पृष्ठभूमि इसके साथ आज भी बनी हुई है। इजिप्ट में भी दीपो का त्योहार मनाया जाता है, जो दीवाली की तरह धार्मिक त्योहार है।[4] उद्द्योतन ने दीपावली का मात्र उल्लेख किया है (१४८.११)।

बलदेवोत्सव—वर्षाऋतु की समाप्ति पर यह उत्सव मनाया जाता था। यह आश्विन एवं कार्तिक माह मे धान की फसल काटने एवं गेहूँ बोने के समय होता है। बलदेव हलधर होने के नाते कृषि के देवता के रूप मे इस उत्सव मे पूजे जाते रहे होगे। जिससे अन्न का उत्पादन अच्छा हो।

कौमुदीमहोत्सव—ऋतुओ से सम्बन्धित उत्सवों में कौमुदीमहोत्सव वसन्तोत्सव एवं मदनोत्सव प्रमुख है। उद्द्योतनसूरि ने इन तीनो का उल्लेख किया है। सागरदत्त की कथा के प्रसंग में कौमुदीमहोत्सव का वर्णन किया गया है, जिसे उद्द्योतन ने शरद-पूर्णिमामहोत्सव कहा है—**सरय-पोण्णिमा-महूसवं पेच्छमाणस्स** (१०३.३२)। अतः यह उत्सव दापावली के १५ दिन पूर्व शरद-पूर्णिमा को मनाया जाता था। वामनपुराण (९२.५८) में दीपावली को ही

१. सुहय, इमाए णवमीए अम्ह च ओरुद्धा देवयाराहणं काहिइ। तीए तुमं बली कीरिहिसि, ५९.३३.—हिज्जो णवमीए सव्वो इमो परियणो सह सामिणा ण्हाइउं वच्चीहि ति ६०.३.

२. पुरुषार्थचिन्तामणि, पृ० ५९, गरुड़पुराण, अध्याय १३४; देवीपुराण अ० २२; हर्षचरित अ० ८; यशस्तिलकचम्पू, पार्श्वनाथचरित अ० ४ आदि।

३. ह०—यश० इ० क०, पृ० ४००.

४. वही, पृ० ४०२, (नोट्स)।

कौमुदीमहोत्सव कहा है, जिसमें बलि और विष्णु के कथानक को सम्मान दिया जाता था। किन्तु प्राचीन साहित्य में कौमुदी-महोत्सव दीपावली से भिन्न बतलाया गया है।[1]

कुव० के अनुसार इस महोत्सव में नगर के चौराहो पर नटों के नृत्य होते थे।[2] नटमंडली के कुछ चारण आदि व्यक्ति महोत्सव में सम्मिलित श्रेष्ठजनों की स्तुति करते थे तथा रसिक श्रेष्ठिपुत्र एक लाख तक का पुरस्कार इन भरत-पुत्रों को देने की घोषणा करते थे।[3] किन्तु अपनी बाहुओं द्वारा कमाये हुए धन को दान में देना ही श्रेष्ठ समझा जाता था। उद्द्योतनसूरि ने इस महोत्सव में महिलाओं के सम्मिलित होने का उल्लेख नहीं किया है, जबकि आगे चलकर रानियाँ भी अन्य प्रतिष्ठित महिलाओं के साथ इस महोत्सव में सम्मिलित होने लगी थीं।[4] शरदपूर्णिमा के अतिरिक्त कौमुदीमहोत्सव कार्तिकपूर्णिमा को भी मनाये जाने के उल्लेख मिलते है।[5]

वसन्तोत्सव—वसन्तऋतु में कई उत्सव मनाये जाते थे। उनमें से वसन्तोत्सव और मदनोत्सव प्रसिद्ध है। जिस दिन वसन्त वर्ष में प्रथम बार पृथ्वी पर उतरता है, उस दिन जो उत्सव मनाया जाता था उसे वसन्तोत्सव अथवा सवसन्तक कहा गया है।[6] उद्योतन ने इसका नववसन्त उत्सव के रूप में उल्लेख किया है (७७.१५)।

मदनोत्सव—कुव० में इसका विस्तृत वर्णन है। नर, किन्नर, एवं रमणियों से व्याप्त वसन्त-ऋतु में मदन त्रयोदशी (चैत्र शुक्ल द्वादशी से पूर्णिमा तक) के आने पर पूजनीय, संकल्प-पूर्णकर्ता कामदेव के बाह्यउद्यान में स्थित मंदिर की यात्रा करने के लिए अपनी धाय एवं सखियो सहित जाती हुई वनदत्ता को मदनमहोत्सव में आये हुए मोहदत्त ने देखा। दोनों में अनुराग हो गया (७७.१६, १८)।

इससे ज्ञात होता है कि मदनोत्सव में कामदेव की पूजा का कार्य प्रधान था। स्त्री-पुरुष दोनों ही इस उत्सव में सम्मिलित होते थे। मदन-त्रयोदशी के दिन अधिक भीड़ रहती थी, किन्तु कामदेव की पूजा बाद में भी चलती रहती थी। वनदत्ता की धाय उसे मदनोत्सव समाप्त होने पर निर्जन में कामदेव की

१. जातकमाला (१३वी उनमारयंती की कथा)—आर्यसूर्य, मुद्राराक्षस अंक ३ मालतीमाधव अंक ७ एवं कामसूत्र ५-५, ११.
२. एक्कम्मि य णयरि-चच्चरे णडेण णच्चिउं पयत्तं—१०३ १५.
३. भो भो-भरहपुत्ता लिहइ सायरदत्तं इमिणा सुहासिएण लक्खं दायव्वं, १०३.१९.
४. नगरांगनाजनस्य····कौमुदीमहोत्सवसमयमालोकमानया—यशस्तिलकचम्पू, उ० ७, पृ० २.
५. मुद्राराक्षस ३.१० के टीकाकार धुंधिराज के अनुसार।
६. प्राचीनभारत के कलात्मक विनोद, पृ० १३८.

पूजा करने के लिए आने को कहती है, जिससे वह अपने प्रेमी से भी मिल सके (७७.२८)। भवभूति के मालतीमाधव और सम्राट हर्षदेव की रत्नावली में मदनोत्सव और मदनोद्यान-उत्सव का सूक्ष्म और विस्तृत वर्णन है।

इस प्रकार कुवलयमालाकहा में वर्णित उपर्युक्त सामाजिक आयोजन व उत्सव केवल थकान को मिटाने के साधन नहीं थे, अपितु उनके पीछे सांस्कृतिक धरोहर की मांगलिक रूप में रक्षा करने का भी उद्देश्य था। उनसे केवल मनोरंजन ही नहीं, अपितु काम जैसी प्रमुख वृत्तियों का कल्याणकारी शमन भी होता था, जो स्वस्थ्य और आदर्श समाज के लिए अनिवार्य है। इन सामाजिक आयोजनों में सभी वर्णों और जातियों को सम्मिलित होने का अवसर था। इस प्रकार आर्य-संस्कृति के वे प्रमुख सामाजिक उपादान थे।

रीति-रिवाज

कुवलयमाला में सामाजिक आयोजनो के अवसरों पर अनेक प्रकार के रीति-रिवाजों का भी उल्लेख किया गया है। इनमें से कुछ रीति-रिवाज ऐसे हैं जिनका जैनपरम्परा के अनुसार लेखक ने खंडन करने का प्रयत्न किया है, किन्तु कुछ रीति-रिवाजों को कथानक के अनुसार स्वीकृति भी दी है। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

अग्निसंस्कार एवं ब्राह्मणभोज—मानभट अपने माता-पिता एवं पत्नी के शवों को कुएँ से निकालकर उनका उचित संस्कार करता है।[1] सुन्दरी के पति प्रियंकर की मृत्यु हो जाने पर अर्थी बनायी गयी तथा उस पर शव को रखा गया। उसे ले जाने के लिए सुन्दरी से कहा गया कि पुत्री, तुम्हारा पति मर गया है, उसे श्मसान ले जाकर अग्नि संस्कार करने दो।[2] किन्तु सुन्दरी प्रेमान्ध होने के कारण इसके लिये तैयार नहीं हुई तथा स्वयं उसे कन्धे पर लाद कर निर्जन स्थान पर ले गयी। क्योंकि वह अपने पति से बिछुड़ना नहीं चाहती थी। लेकिन अन्त में राजकुमार की चतुराई द्वारा उसे यथार्थ से अवगत कराया गया।

अग्नि-संस्कार के बाद मृतक को पानी देने की भी प्रथा थी,[3] जो पुत्र के द्वारा सम्पन्न होती थी (१३.२२)। मृतक की अस्थियों को गंगा में सिराने से धर्म होता है, ऐसी भी मान्यता थी।[4] किन्तु ये सब अल्पज्ञानियों के द्वारा किये जाने वाले कार्य थे। लेखक के अनुसार इन कार्यों से मृतक की आत्मा की पवित्रता नहीं बढ़ती। यद्यपि फूल सिराने की प्रथा आज भी विद्यमान है।

१. एए मएल्लए कूवाओ कड्ढिऊण सक्कारिऊणं मय-करणिज्जं च काऊणं—५५.७.
२. विणिम्मिवियं मय-जाणवत्तं। तओ तत्थ वोढुमाढत्ता—वच्छे एस सो तुह पई विवण्णो, मसाणं णेऊण अग्गि-सक्कारो कीरइ—२२४.२९ एवं द्रष्टव्य ४८.१०.
३. एयं ते भणमाणा तलए गंतूण देंति से वारिं, १८७.४ तथा २४०.१६.
४. जं पुण मयस्स अंगट्ठियाइँ छब्भंति जण्हवी-सलिले।
तं तस्स होई धम्मं एत्थ तुमं केण वेलविओ ॥४९.५.

उद्द्योतनसूरि ने मृतक-संस्कार के बाद ब्राह्मण-दान आदि का भी उल्लेख किया है। चंडसोम अपने भाई एवं बहिन का अग्नि-संस्कार कर ब्राह्मणों को सर्वस्व दान कर तीर्थस्थान को निकल जाता है। मृतक को तर्पण देने के बाद ब्राह्मणभोज भी कराया जाता था (१८७.५)। लेखक का कथन है कि इस संसार की ऐसी छद्मस्थता का क्या परिणाम होगा ?[1]

सतीप्रथा—कुव० में सतीप्रथा का दो बार उल्लेख हुआ है। सन्ध्यावर्णन के प्रसंग में सूर्य का अनुकरण करनेवाली संध्या की उपमा अनुमरण करनेवाली कुल-बालिका से दी गयी है।[2] कामगजेन्द्र को यह सलाह दी गयी थी कि पति के मरने पर पत्नी का अनुमरण करना तो उचित है, किन्तु किसी महिला के लिए किसी पुरुष द्वारा अनुमरण करना शास्त्रों में निंदित माना गया है।[3] यह शास्त्र सम्भवतः कोई स्मृतिग्रन्थ रहा होगा। बोधायनस्मृति में इसी विचारधारा के अनुकूल उल्लेख मिलता है।[4] किन्तु कुवलयमाला के उल्लेख से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में सतीप्रथा को निन्दनीय माना जाता रहा होगा। महाकवि बाण भी चन्द्रापीड के द्वारा महाश्वेता को सान्त्वना दिलाते समय सतीप्रथा की विस्तार से निन्दा करते हैं।[5] हो सकता है यह बौद्ध और जैन मान्यताओं का प्रभाव रहा हो।

दासप्रथा—उद्द्योतनसूरि ने ग्रन्थ में यत्र-तत्र दासप्रथा से भी सम्बन्धित कुछ जानकारी दी है।[6] प्राचीन भारत में दासप्रथा प्रचलित थी। यह समय भारत में इस्लाम धर्म के प्रवेश का था। बहुत से अरब व्यापारी भारत में आकर बसने लगे थे, हो सकता है इससे भी तत्कालीन दासप्रथा पर प्रभाव पड़ा हो। उद्द्योतन के अनुसार दसियाँ वस्त्र, भोजन एवं कार्य के लिए पूर्णरूप से अपने मालिक पर निर्भर रहती थीं।[7]

कुवलयमाला में भगवान् महावीर गौतम को उपदेश देते हुए कहते है कि जो व्यक्ति मदोन्मत्त होकर जीवों का क्रय-विक्रय करता है वह मरकर दासत्व को प्राप्त होता है—**मरिउं दासत्तं वच्चए** (२३१.२८ कुव०)। अतः दास होना अत्यन्त कष्टपूर्ण जीवन का प्रतीक रहा होगा। दास शब्द का स्वयं एक विस्तृत इतिहास है।[8]

---

१. किं तस्स होई एयं एसो लोयस्स छउमत्थो—१८७.५.
२. कुल-बालिय व्व संझा अणुमरइ समुद्द-मज्झम्मि—८२.२०.
३. जुज्जइ महिलाण इमं मयम्मि दइयम्मि मारिओ अप्पा।
   महिलत्थे पुरिसाणं अप्पवहो णिंदिओ सत्थे॥—२४०.१२.
४. बोधायनस्मृति १.१३.
५. अ०—का० सा० ऊ०, पृ० १७२.
६. ३०.३४, १८६.२१, २२७.२८, २३१.२८ आदि।
७. अण्णं च एस दासो'' को मह दाहिइ वत्थं, को वा असणं ति को व कज्जाइं।
   एयं चिय चिंतेंति एसा लिहिया रूवंती मे॥—१८६.२१, २२.
८. टी० बूरो—'द संस्कृत लेंग्युएज', पृ० २५ एवं बु०—पो० सो० प०, पृ० ३५.

अंधविश्वास

कुव० की कथाएँ लोकतत्त्वों से अधिक संश्लिष्ट है। स्वभावतः उनमें अंधविश्वासों की भरमार है। पुत्र-प्राप्ति के लिए यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच को पूजना (१२.२६), तन्त्र एवं मन्त्र की आराधना करना, जड़ी बांट कर पीना **पिज्जंति मूलियाओ** तथा बलि आदि देना (१६२.३, ५) कई अंधविश्वास प्रचलित थे। पुत्र के गुम जाने पर उसका पता लगाने के लिए एवं पुत्री की मति ठीक कराने के लिए अनेक जोगियों, नैमित्तकों एवं मन्त्र-तन्त्र वादियों की माता-पिता आराधना करते फिरते थे (१५६.१, २२५.१३)।

इसी प्रकार वैवाहिक एवं जन्मोत्सव आदि के अवसरों में विभिन्न प्रकार के मांगलिक कार्य भी किये जाते थे (१७०.३१)। कुव० में विभिन्न अवसरों पर बलि देने के भी उल्लेख मिलते हैं (१४.५, ५६.३३, १०४.१७, १६२.३, ४ एवं २०१.१९ आदि)। उद्द्योतन के समकालीन साहित्य में इस प्रकार के अंधविश्वासों की कमी नहीं है। बाण के ग्रन्थों एवं समराइच्चकहा में इनकी भरमार है। किन्तु अन्धविश्वास केवल अज्ञानता और मूढ़ता के ही प्रतीक नहीं हैं, अपितु तत्कालीन समाज में साधना की विभिन्न पद्धतियों के विकास के कारण भी इनकी संख्या बढ़ी है। कुछ कार्यों को मांगलिक मान कर ही किया जाता रहा है। यथा—शकुन-अपशकुन विचार (अनु० २८९), राशिफल अध्ययन के बाद नाम-संस्करण (पृ० १९,२०) एवं लग्नविचार (१७०.१०) आदि। महिलाओं के सैंकड़ों मांगलिक कार्य समाज में सम्पन्न होते रहते थे।[1]

गांवों का सामाजिक-जीवन

कुव० में न केवल नागरिक जीवन का ही चित्रण हुआ है, अपितु ग्रामीण जीवन के भी विविध चित्र प्राप्त होते है। उद्द्योतनसूरि ने इस सम्बन्ध मे निम्न जानकारी दी है :—

विजयपुरी के समीप ही बड़े-बड़े गांव स्थित थे। महाग्रामो के बीच मे बाण फेंकने के बराबर दूरी रहती थी। अतः लगभग दो फर्लांग के अन्तर से महाग्राम बसाये जाते थे। गांवों मे एक-एक कदम की दूरी पर धवलगृह बनते थे। धवलगृहों के आगे वन-उद्यान लगाया जाता था। वन-उद्यान के बीच में नारियल आदि के वृक्ष लगे होते थे, नारियलो के वृक्षों के बाद सुपारी के वृक्ष लगते थे, जिनमे नागवल्ली की लताएँ लिपटी रहती थी। इन-उद्यानों के बाद गहन जगल प्रारम्भ हो जाता था, जहां सूर्य की किरण भी मुश्किल से प्रवेश कर पाती थीं।[2] ग्राम-रचना के इस प्रकार का वर्णन रायस् डेविड्स ने 'बुद्धिस्ट इंडिया' में किया है। किन्तु कुव० का यह वर्णन दक्षिण भारत के ग्राम-संगठन के अधिक अनुरूप है।

१. एय पि मये लिहियं कीय वि महिलाण मंगल-सयेहिं।
कीरइ से फल-ठवणं वज्जिर तूरोह-सद्देणं॥ १८७.१८।

२. बाण-खेवमेत्त संठिय-महागामु—दिणयर-कर-पव्वारो, कुव० १४९.६, ८।

गांवों के निवास-स्थान प्रायः मिट्टी के बने होते थे (१४७.२८)। और उन पर छप्पर ताना जाता था। वर्षाऋतु के आते ही गांवों में घरों के छप्पर तैयार किये जाने लगते थे—**गामेसु घराइं छज्जंति** (१०१.२०)। कुछ झोंपड़ियाँ जूना और बांस की दीवालों से भी बनायी जाती थीं।[१] समृद्ध ग्रामों में पक्के मकान भी बनते थे। गावों में तालाब बनाये जाते थे, जो ग्रामवासियों के द्वारा नहाने आदि से कीचड़ भरे रहते थे (४२.३४)।

गांवों का प्रमुख धन्धा कृषि था। वर्षाऋतु के आते ही हल जोतना प्रारम्भ कर दिया जाता था (३९.३०, ४६.११)। अच्छी कृषि के लिए वर्षा का होना आवश्यक था। यदि अनावृष्टि हो जाती तो अकाल पड़ जाता था। उद्द्योतनसूरि ने एक ऐसे अकाल का सूक्ष्म वर्णन किया है।

माकन्दी नगरी में बारह वर्ष तक वर्षा न होने से भयंकर अकाल पड़ गया। पानी के बिना अनाज नहीं उगा, औषधियां नहीं उगीं, वृक्षों में फल नही आये, घास नही उगी, पावस ऋतु में केवल लू भरी हवा चली। धूल उड़ती थी, पृथ्वी कंपती थी, पर्वत बाजते थे, उल्कापात होता था, दिशाएँ जलती थीं, ग्रीष्म-ऋतु जैसा वातावरण हो गया था (११७.१२, १५)।

इस प्रकार उत्पादन न होने से, पूर्व संचित खाद्यान्न समाप्त हो गया। अतः उदरपूर्ति करना कठिन हो गया। परिणामस्वरूप देव-अर्चना वन्द हो गयी, अतिथि-सत्कार घट गया, ब्राह्मणपूजा दुःखदायी हो गयी, गुरुजनों का सम्मान घट गया, सेवको का दान आदि वन्द हो गया, लाज-शरम जाती रही, पुरुषार्थ में प्रमाद आ गया तथा कुशल व्यक्तियों का अनादर होने लगा (११७.२०,२२)।

अकाल में जनपथ लंघन करने लगे, सब बातों को छोड़कर दिनरात खाने-पीने की ही चर्चा थी। भूख से अनेक श्रेष्ठियों आदि के कुल भी नष्ट हो गये। यज्ञशर्मा नामक ब्राह्मण किसी प्रकार बचा रहा। उसने दुकानों के आगे फर्श पर से अनाज के दाने बीन-बीन कर खाये तथा भीख मांगकर अपना पेट भरा एवं अकाल के समय को व्यतीत किया (११७.२९)।

गांवों में इस प्रकार के अकाल से बचने के लिए खेती पर विशेष ध्यान दिया जाता था। उपजाऊ जमीन में पुष्ट बीजों के द्वारा सौगुना फसल पैदा की जा सकती थी (१९२.२७)। फसल की सिंचाई के लिए रहट का उपयोग किया जाता था—**अरहट्ट-घडि-समाणा** (२६३.३१) तथा वर्षा के पानी को रोकने के लिए खेतों को बाँध दिया जाता था। प्रायः बैलों से खेती की जाती थी (१८६.७) तथा फसल को काटकर खलिहान में रखते थे एवं दांयँ करके उसमें से अनाज निकालते थे (१८६.१२)। फसल में तिल (८.१८), समा, चावल, कोदों (१०१.७) तथा मूग (२८६.१२) आदि अनाज पैदा किया जाता था।

१. जर-कडय-कए उडय-वासे, ४३.२.

कोल्हू पेर कर तेल निकाला जाता था (३६.२८, ४१.११) तथा पशुओं के लिए खली भी निकल आती थी (६.६, ८.१८)।

गांव के निवासियों को ग्रामीण (गामेल्लओ २५०.३५), ग्रामकूट, गांव की गोपी (७.१०), ग्रामयुवती (८.१) ग्रामनटी (४७.५) आदि के नाम से पुकारा जाता था। गांव में कुछ प्रशासनिक संगटन भी थे। उद्द्योतनसूरि ने ग्राम के निम्नोक्त अधिकारियों का उल्लेख किया है :—महाबढ़रभट्ट (४८ २२), प्रधानमयहर (४६.१०), ग्राम-वोद्रह (५२.४), ग्राममहाभोज्जाइ (३१.१३), गाममहत्तर (६३.१३), गाम-चडय (११३.७), गाम-सामन्त (२००.३४)।

इनकी प्राचीन भारतीय ग्राम-अधिकारियों से तुलना करने पर ग्राम-प्रशासन के क्षेत्र में नवीन प्रकाश पड़ सकता है। सामान्यरूप से इनका कार्य गाँव के मामलों में ग्रामीण जनता को अपनी सलाह देना था।

●

परिच्छेद चार

वस्त्रों के प्रकार

उद्द्योतनसूरि ने कुवलयमाला में प्रसंगवश ऐसे अनेक वस्त्रों का उल्लेख किया है, जो प्राचीन भारतीय समाज में प्रचलित थे। वस्त्रों के प्रकार एवं स्वरूप का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि न केवल देशी वस्त्र व्यवहार में आते थे अपितु व्यापारिक समृद्धि के कारण अनेक विदेशी वस्त्र भी समाज में प्रचलित हो गये थे। उद्द्योतन द्वारा उल्लिखित वस्त्रों के प्रसंग में प्रयुक्त शब्दों की सूची इस प्रकार है :—

१. अर्धसवर्णवस्त्रयुगल (८४.८)
२. उत्तरीय (२५.१६, १५९.३०)
३. उपरिपटांशुक (७४.६)
४. पटांशुकयुगल (२०९.१०)
५. उपरिमवस्त्र (५३.४, ९३.५)
६. उपरिस्तनवस्त्र (७६.१६)
७. कंठ-कप्पड (१०५.२)
८. कंथा-कप्पड (६३.७)
९. जीर्णकंथा (४१.२५)
१०. कंबल (१६९.१३)
११. कच्छा (१९३.६)
१२. कसिणायार (८४.१०)
१३. कसिणपच्छायण (८४.१०)
१४. कुस-सत्थर (१४.१८)

१५. कूर्पासक (१६६.१६, १७०.२५)
१६. क्षोम (११३.१०, १२)
१७. गंगापट (६६.२)
१८. चिंघय (२४.२०, ४७.३०)
१९. चित्रपडी (१८.२७)
२०. चीर-माला (४१.१८, ४७.३०, १४५.४, १९७.२४, २२५.२७)
२१. चीवर (१८८.१८)
२२. चेलिय (६५.३२)
२३. थणउत्तरिज्ज (२५.१६)
२४. दर-लीव (४६.१४)
२५. दिव्यवस्त्र (१८९.३३), देवदूष्य
२६. धवलमद्धं (८४.१०)
२७. धूसर-कप्पड (५८.१)
२८. धोत-धवल, दुकूल-युगल (११.१६, १३९.१०)
२९. णियय पंट्टसु-अंतेण (१०.२२)
३०. नेत्रयुगल, नेत्रपट (७.२८, १८.२७, ६६.३)
३१. पटी (१७०.२५)
३२. पड (१०७.४)
३३. पर-वसन (७.२९)
३४. पोत (५३.१५)
३५. फालिक (१०४.२)
३६. भायन-कप्पड (२४५.१७)
३७. मलिण-कुचेल (१५५.१४)
३८. युगल (१७१-१)
३९. रत्तयाइं कप्पडाइं (५८.२), रल्लक (१८.२६)
४०. वल्कल दुकूल (१२८.४)
४१. वस्त्र (१२४.१२, १३९.१३, १७२.१, ४, १५४.२१, १८३.१०,
   २२२.१४, २७१.८
४२. सण्हवसन (१७१.३)
४३. समायोग (१९८.२३)
४४. सिंहावड (१९९.३०)

४५. साटक (१०४.२)
४६. सुणियत्थ-णियंसणं (७३.२२)
४७. सेज्जासंथार (२२०.४, ५, २७१.१२)
४८. सुवण्णचारिय (१८.२७)
४९. हंसगर्भ (२१.१७, ४२.३२)

इनमें से कुछ वस्त्रों का परिचय स्वयं उद्द्योतनसूरि ने दिया है। कुछ का परिचय तत्कालीन साहित्य एवं कला के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है।

अर्धसवर्णवस्त्रयुगल—राजा पुरन्दरदत्त मुनियों की परीक्षा के लिए रात्रि में जाते समय अर्धसवर्णवस्त्रयुगल को पहनता है।[1] यह वस्त्रयुगल का अर्ध भाग चन्द्रमा की भाँति धवल एवं आधा मयूर के कंठ एवं नील गाय की तरह श्याम रंग का था, जो कार्त्तिक मास के कृष्ण एवं शुक्लपक्ष की तरह शोभित हो रहा था।[2] राजा ने काली किनारीवाले श्वेत अधोवस्त्र को पहन लिया एवं कालीचादर को ओढ़ लिया।[3] यहाँ अर्धसवर्णवस्त्र का अर्थ है, ऐसा वस्त्र जो आधा श्वेत रंग का था और आधा काले रंग का। इसकी पहिचान अध्यर्धांशुक से की जा सकती है, जिसमें ताना एक तार का होता था और बाना दो तारों का।[4] इसी बुनायी के कारण एक भाग में उसका एक रंग होता होगा और दूसरे भाग में दूसरा रंग। **'धवलमद्धं-कसिणकार'** का अर्थ है काली किनारी वाला श्वेत अधोवस्त्र। इस प्रकार के किनारी वाले वस्त्र आठवीं सदी में खूब प्रचलित हो गये थे। यह किनारी रंगों एवं स्वर्ण आदि से भी बनायी जाती थी।[5] **कसिण-पच्छायणं** का अर्थ काली चादर से है, जो एक प्रकार का दुकूल ही था। कमर से ऊपर ओढ़ने के काम आता था।

उत्तरीय—तत्कालीन एवं उसके पूर्व के साहित्य में उत्तरीय को ओढने वाला वस्त्र माना गया है[6], जो दुकूल से बनता था। पुरुष एवं स्त्रियाँ दोनों के काम आता था। कुव० में स्त्रियो के उत्तरीय का दो बार उल्लेख हुआ है। दोनों बार उत्तरीय को स्तन ढकने वाला वस्त्र बतलाया गया है। कुमार कुवलयचन्द्र

---

१. राइणा पुरंदरदत्तेण गाहिअं अद्ध-सवण्णं वत्थ-जुवलयं।—८४.८.
२. अद्धं ससंक-धवलं अद्धं सिहि-कंठ-गवल-सच्छायं।
पक्ख-जुवलं व घडियं कत्तिय-मासं व रमणिज्जं॥—वही, ९.
३. परिहरियं च राइणा धवलमद्धं कसिणायार-परिक्खित्तं।
उवरिल्लयं पि कयं कसिण-पच्छायणं।—वही, १०.
४. मो०—प्रा० भा० वे०, पृ० ५५.
५. वही, १५२, पर उद्धृत निसीथ, ७, ४६७.
६. संव्यानमुत्तरीयं च, अमरकोष, २.६.११८.

को देखती हुई कुलांगनाएँ आपस में बात करती हैं—'अरी बेशरम, अपने स्तन-उत्तरीय को क्यों नहीं सम्हालती ।'[1] कुवलयमाला कुमार कुवलयचन्द्र पर अपना राग व्यक्त करने के लिये झूठ-मूठ ही स्तनभाग के उत्तरीय को सम्हालती है ।[2] सम्भवतः यह स्तन-उत्तरीय उत्तरीय की गात्रिका-ग्रन्थि का पर्यायवाची होगा, जिसके इधर-उधर खिसक जाने से स्तन दिखने लगते होंगे ।[3] ठीक स्तनों पर गात्रिका-ग्रन्थि को बनाये रखना उनका परदा समझा जाता रहा होगा । उद्द्योतन द्वारा उत्तरीय को सम्हालने के लिए संयम शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो उस समय तक बांधने के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था ।

उपरिम-वस्त्र—पद्मविमान के वर्णन के प्रसंग में उवरिम-वत्थं शब्द आया है,[4] जिसका अर्थ है—शयनासन के ऊपर तना हुआ चंदोबा । जिस प्रकार नीचे बिछाने की चादर को निचोल कहा जाता था । उसी प्रकार चंदोबे को उपरिमवस्त्र कहा जाने लगा होगा ।[5] अतः उपरिमवस्त्र वितान का पर्यायवाची कहा जा सकता है । गुजराती में इसे चंदरबा कहते हैं ।

उपरिल्लक—यह सम्भवतः उत्तरीय का अपर नाम रहा होगा, जिसे स्त्रियां धारण करती थीं । मानभट की पत्नी उद्यान में अपना अपमान होने के कारण घर आकर उपरिल्लक का फंदा बनाकर फांसी लगा लेती है (५३.४) । इससे लगता है कि यह वस्त्र काफी मजबूत होता होगा एवं बिना सिला हुआ भी ।

उपरिमस्तनवस्त्र—यह उत्तरीय से सम्भवतः चौड़ा वस्त्र होता होगा । सुवर्णदत्ता जंगल में अपने नवजात शिशुओं की रक्षा का कोई उपाय न देख उन्हें अपने उपरिमस्तनवस्त्र में बांध देती है । एक छोर में बच्चे को एवं एक छोर में बच्ची को और फिर दोनों की एक पोटली बना देती है ।[6] पोटली बाँधने का यह प्रकार आज भी ग्रामीणों के बाजार में देखा जा सकता है । आजकल के उस चादर का जो स्त्रियाँ ओढ़ती हैं, यह प्राचीन रूप रहा होगा ।

कंठ-कप्पड—सागरदत्त ने एक अंजली रुपये लेकर अपने कंठ-कप्पड में बाँधकर पोटली बना ली ।[7] यह प्राचीन भारत में प्रचलित दुपट्टा रहा होगा, जिसे कंधे पर संभ्रान्त लोग डालते थे । आजकल गाँवों में लोग अनिवार्य रूप से एक स्वच्छ गमछा अथवा तह की हुई चादर कंधे पर डाले रहते हैं । आवश्यकता

---

१. अलज्जिए, संजमेसु थण-उत्तरिज्जं ति—कुव० २५.१६.
२. किं ण संजमियं अलिय-ल्हसियमुत्तरिज्जयं—वही० १५९.३०.
३ द्रष्टव्य—अ०-ह०अ०, फलक १, चित्र ३ अ ।
४. अह तं उवरिम-वत्थं उत्थल्लेऊण तत्थ सयणतले ।—कुव० ९३.५.
५. शब्द-रत्नाकर, ३.२२५.
६. णियय-उपरिम-थण-वत्थद्धंतए णिबद्धो दारओ, दुइय-दिसाए य दारिया । कयं च उभयवास-पोट्टलयं । —कुव० ७६.१६.
७. एक्का अंजली रुवयाणं····णिबद्ध च णेण कंठ-कप्पडे तं पुट्टलयं । —१०५.२.

पड़ने पर कंठ में भी लपेट लेते हैं, गुलबन्द की तरह। कंठ में लपेटने के कारण इसे कंठ-कप्पड कहा जाता रहा होगा।

कंथा—उद्द्योतन ने कंथा का पाँच बार उल्लेख किया है। मनुष्य-जन्म के दुःखों का वर्णन करते हुए धर्मनन्दनमुनि कहते हैं कि जैसे किसी गरीब घर की गृहिणी शिशिरकाल में जीर्ण कंथा को ओढ़कर अपनी ठंड काटती है, उसी प्रकार इसमें भी अनेक बार तृण के विछौनों पर ही रात काट दी है।[1] स्थाणु मायादित्य के घावों पर कंथा के चिथड़े बाँधता है[2] तथा भवचक्र के पटचित्र में एक वृद्ध गरीब को चीवर पहिने हुए एवं कंथा ओढ़े हुए चित्रित किया गया था।[3] इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि कंथा गरीबों के उपयोग में आने वाला वस्त्र था। शिशिरकाल में कंथा की उपयोगिता का उल्लेख सोमदेव ने भी किया है।[4]

इस कंथा को आजकल देशी भाषा में कथरी कहा जाता है। बुन्देलखण्ड में अनेक पुराने जीर्ण-शीर्ण टुकड़ों को एक साथ सिलकर बनाये गये कपड़े को कथरी कहते हैं गरीब परिवार, जो ठंड से बचाव के लिए गर्म या रुई भरे हुये कपड़े नहीं खरीद सकते वे कंथाएँ बना लेते है, जो ओढ़ने-बिछाने के काम आती हैं। मोटी होने के कारण इन कंथाओं में जूँ भी पड़ जाती है। जूँ के कारण कंथा न छोड़ना, सोमदेव के समय एक मुहावरा बन गया था।[5] इससे ज्ञात होता है कि आठवीं से १०वीं सदी तक कंथा गरीब परिवारों का अनिवार्य वस्त्र बन गया था। शिशिरकाल में श्रीमन्त लोग भले कालागरु, कंकुम की सुगंधयुक्त शयनासनों का भोग करते रहे हों, किन्तु साधुओं एवं गरीब स्त्रियों की तो कंथा ही एक मात्र जीवन था।[6] वर्तमान मे भी कंथा या कथरी का उपयोग होता है।

कंबल—उद्द्योतन ने शिशिरकाल में कंबल का उपयोग अधिक होता था, इसका संकेत दिया है।[7] इससे ज्ञात होता है कि कंबल ऊनी-वस्त्र था। अथर्ववेद[8], महावग्ग,[9] जातकों[10] में कंबल को ऊनी वस्त्र ही कहा गया है। कंबोज

---

१. बहुली व परिगयाए सिसिरे जर-कंथ-उत्थय-तणूए।
दुग्गय-घरिणीए मए बहुसो तण-सत्थरे सुइयं॥ कुव० ४१.२५, १६९.३०.
२. बद्धाइं च वण-मुहाइं कंथा-कप्पडेहिं, वही० ६३.७.
३. लिहिओ रोरो थेरो य सत्थर-णिवण्णो। चीवर-कंथोत्थइओ, वही, १८८.१८.
४. शिथिलयति दुर्विधकुटुम्बेसु जरत्कंथा पटच्चराणि।—यश० पूर्व०, पृ० ५७.
५. जै० - यश० सां०, पृ० १३८.
६. जर-मंथर-कंथा-मेत्त-देहया जुण्ण-घम्मिया, खल-तिल-कंथा जीवणाओ दुग्गय-घरिणीओ।— कुव० १६९.३०.
७. अग्घंति जम्मि काले कंबल-घय-तेल्ल रल्लयग्गीओ।—कुव० १६९.१३.
८. अथर्ववेद, १४.२, ६६.६७.
९. महावग्ग, ८.३, १.
१०. मद्यवणिजजातक, भाग ४, पृ० ३५२.

(ताजिकिस्तान), परिसिन्धु एवं बनारस में तरह-तरह के कम्वल बनते थे।[१] कम्बल के अति प्रचलन के कारण पाणिनि के समय पण्यकम्बल नाम से बाजार में एक नाम भी प्रचलित हो गया था।[२] इससे ज्ञात होता है कि कम्बल भारतीय व्यापार में आयात-निर्यात की वस्तुओं में सम्मिलित रहा होगा।

कच्छा—कुवलयमाला के उल्लेख के अनुसार कच्छा एक प्रकार का लंगोट था, जिसे भिखारी पहिनते थे। किन्तु वर्णन के प्रसंग के अनुसार प्रतीत होता है कि गुरुओं से शिक्षा ग्रहण करनेवाले छात्र या धार्मिक शिष्य भी कच्छा पहिनते रहे होगें।[३] व्याख्याप्रज्ञप्ति (१.२, पृ० ४९) में चरक-परिव्राजक द्वारा कच्छोटक (लंगोटी) पहिने जाने का उल्लेख है। कच्छा पुरुषों के अतिरिक्त अधोवस्त्र के नीचे स्त्रियाँ भी पहिनने लगी थीं। लाट देश में कच्छा पहिनने का रिवाज था। महाराष्ट्र में उसी को भोयड़ा कहा जाता था, जो कन्याएँ विवाह के बाद गर्भवती होने तक धारण करती थीं।[४] कला में भी कच्छा पहिने हुए कई अवशेष प्राप्त हुए हैं। अजंता के भित्तिचित्रों मे लेण नं० १७ में शिकारी लंगोट पहिने हुए अंकित हैं।[५] लंगोटी (कच्छा) एक नाव के आकार का होता था। बीच में चौड़ा एवं दोनों छोर पतले, जो कमर में खोंसने के काम आते थे। कच्छा का अभी भी प्रयोग होता है एव स्वरूप भी लगभग वही है।

कूर्पासक—कुव० में कूर्पासक का दो वार उल्लेख है, जिससे ज्ञात होता है कि आठवीं सदी में ठंड से वचने के लिए कूर्पासक पहिने जाते थे[६] तथा पुत्री के विवाह पर कूर्पासक सिलाये जाते थे।[७] अमरकोष के अनुसार कूर्पासक स्त्रियों की चोली थी।[८] कालिदास ने कंचुक के अर्थ में इसका उल्लेख किया है, जो स्तनों पर कसकर बैठता था एवं स्तनों के नखक्षतों को ढँकने में मदद करता था।[९] वाण ने राजाओं को भी चितकबरे कूर्पासक पहिने हुए वतलाया है—**नाना कषायकर्बुरैः कूर्पासकैः**, (२०६)। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार कूर्पासक स्त्री और पुरुष दोनो का ही पहिनावा थोड़े भेद से था। स्त्रियों के लिए यह चोली के ढंग का था और पुरुषों के लिए फतुई या मिर्जई के ढंग का। इसमें

---

१. म० भा०, २.४५, १९, २४७, ३.
२. अ०—पा० भा०, पृ० १३५.
३. गेण्हसु दंसण-भंडं संजम-कच्छं मइं-करंकं च।
गुरुकुल-घरंगणेसुं भम भिक्खं णाण-भिक्खट्ठा ॥—कुव० १९३.६.
४. ज०—जै० आ० स०, पृ० २११ पर उद्धृत, निशीथचूर्णीपीठिका, ५२.
५. मो०—प्रा० भा० वे०, पृ० १९५ पर उद्धृत।
६. जम्मिकाले''णियंसिज्जंति कुप्पासयइं, कुव० १६९.१६.
७. सीविज्जंति कुप्पासया, वही, १७०.२५.
८. कुर्परे अस्य ते कूर्पासाः स्त्रीना कंचूलिकाख्यः—अमरकोष—६.११८.
९. मनोज्ञकूर्पासक-पीडितस्तनाः, ऋतुसंहार ५.८, कूर्पासकं परिदधाति नखक्षतांगी, वही० ४.१६.

आस्तीन कोहिनियों के ऊपर ही रहती थी, इसलिए इसका नाम कूर्पासक पड़ा।[१] प्रारम्भ में सम्भवतया कूर्पासक मोटे कपड़े का बनता रहा होगा तभी ठंड में स्त्रियाँ उसे पहिनती थीं। किन्तु १० वीं सदी तक नेत्र के भी कूर्पासक बनने लगे थे, जिन्हें चित्रकार-बालक पहिनते थे।[२] कूर्पासक के जोड़ की आधुनिक पोशाक वास्कट है। यह मध्य एशिया की वेशभूषा में प्रचलित था और वहीं से इस देश में आया। कूर्पासक का भारतीय कलाओं में अंकन हुआ है। अजंता के लगभग आधे दर्जन चित्रों में स्त्रियाँ इस प्रकार की रंगीन चोलियाँ पहिने हैं, जो रंगीन कूर्पासक थे।[३]

क्षौम—प्राचीन भारतीय साहित्य में क्षौमवस्त्र के अनेक उल्लेख मिलते हैं।[४] अमरकोषकार ने क्षौम को दुकूल का पर्याय माना है।[५] किन्तु दुकूल और क्षौम एक नहीं थे। कौटिल्य ने इन्हें अलग-अलग माना है।[६] क्षौम की उपमा दूधिया रंग के क्षीरसागर से[७] तथा दुकूल की कोमलता से दी गयी है।[८] अतः ज्ञात होता है कि क्षौम और दुकूल में अधिक अन्तर नहीं था। दुकूल और क्षौम एक ही प्रकार की सामग्री से बनते थे। जो कुछ मोटा कपड़ा बनता था वह क्षौम कहलाता तथा जो महीन बनता वह दुकूल कहलाता था। कुव० के अनुसार ग्रीष्मऋतु में स्त्रियाँ कोमल क्षौम के वस्त्र पहिनती थीं।[९] इससे स्पष्ट है कि क्षौम अधिक मोटा नहीं होता होगा। हेमचन्द्राचार्य ने क्षौम और दुकूल को अधिक स्पष्ट किया है।[१०] डा० अग्रवाल के अनुसार क्षौम आसाम में बनने वाला एक वस्त्र था, जो उपहार-स्वरूप भी भेजा जाता था।[११]

गंगापट—कुव० में व्यापारिक-मंडल की बातचीत से ज्ञात होता है कि चीन एवं महाचीन से व्यापारी गंगापट एवं नेत्रपट नाम के वस्त्र भारत में लाते थे।[१२] उद्द्योतन द्वारा यह एक महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ प्रस्तुत किया गया है। इसके

१. अ०—ह० अ०, पृ० १५५.
२ तिलकमंजरी, पृ० १३४.
३ द्रष्टव्य—अ०—ह० अ०, पृ० १५३.
४. रामायण, २.६, २८, जातकभाग ६, पृ० ४७ ; महावग्ग ८.१.३६, आचारांग १.७.४.१.
५. क्षौमं दुकूलं स्यात्।—अमरकोष, २ ६, ११३.
६. अर्थशास्त्र २.११
७. कुमारसम्भव, कालिदास, ७.२६, क्षीरोदायमानं क्षौमैः (हर्ष०, पृ० ६०)।
८. दुकूलकोमले—वही, पृ० ३६.
९. कोमलतणु-खोम-णिवसणओ।—११३.११.
१०. अभिधानचिन्तामणि, ३.३३३.
११. अ०—ह० अ०, पृ० ७७.
१२. चीण-महाचीणेसु गओ महिस-गविले घेत्तूण तत्थ गंगावडिओ णेत्त-पट्टाइयं घेत्तूण लद्धलाभो णियत्तो।—६६.२.

पूर्व चीन से आनेवाले अनेक चीन, चीनांशुक आदि वस्त्रों का भारतीय साहित्य में उल्लेख है, जो यहाँ के बाजारों में काफी प्रसिद्ध थे। उद्द्योतन ने चीन से आनेवाले वस्त्रों में गंगापट का सम्भवतः प्रथम बार उल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि आठवीं सदी में भारत के बाजार के लिये चीन एक विशेष प्रकार का शिल्क तैयार करने लगा था, जिसे वहाँ की भाषा में गंगापट कहा जाता होगा और जो भारत में गंगाजुल नाम से जाना जाता था। डा० अग्रवाल के अनुसार यह सम्भवतः श्वेत शिल्क रही होगी।[१] डा० बुद्धप्रकाश ने इस पर विशेष प्रकाश अपने निबन्ध में डाला है। गंगापारी नाम के वस्त्र से भी इसको तुलना की जा सकती है।[२]

चित्रपटी—कुमार कुवलयचन्द्र के जन्मोत्सव के समय चित्रपटी के कपड़े बाँटे जा रहे थे (१८.२७)। यह चित्रपटी एक ऐसे वस्त्र को कहा गया है, जिसमें विविध डिजाइन (आकृतियाँ) बनी रही होंगी। आजकल जो छींट आती है, चित्रपटी उसके सदृश रही होगी।

चिंघाला—कुव० में 'चिंधयं एवं चिंघाला' इन शब्दों का अलग-अलग प्रयोग हुआ है। **सुतुंगचारुचिंधयं** (२४.२०) का अर्थ ऊँची एवं सुन्दर ध्वजा है। किन्तु—**'किर-भाउणो विवाहे णव-रंगय-चीर-बद्ध-चिंघालो। परितुट्ठो णच्चिस्सं'** (४७.३०) का अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता। अन्य लोग अपने भाई के विवाह में नये रंगे हुए वस्त्रों से युक्त पगड़ी (चिंघालों) को पहिनकर हर्षपूर्वक नाचते हैं', यह अर्थ उक्त वाक्य का किया जा सकता है। चिंघालो को पगड़ी का पर्याय मानना विचारणीय है। उद्द्योतन के इस वाक्य से इतना तो स्पष्ट है कि विवाह आदि के अवसर पर नये रगे हुए वस्त्र पहिने जाते थे एवं चित्र-विचित्र वस्त्र पहिन कर नृत्य किया जाता था। रंग-विरंगें वस्त्र पहिन कर नाचने की परम्परा गुप्तयुग में प्रचलित थी। रायपसेणिय (पृ० १५५) के उल्लेख के अनुसार नर्तकों ने रंग-विरंगे वस्त्र —**चित्त-चित्त-चिल्लगनियसणं**— पहिन रखे थे।[३] सम्भवतः यह **'चिल्लग'** एवं कुवलयमाला का **'चिंघाल'** नर्तकों को कोई विशेप वेषभूषा रही होगी। पालि-साहित्य के 'चेलुक्खेय' शब्द का अर्थ डा० अग्रवाल ने वस्त्रविशेष को हिला कर आनन्द प्रकट करना किया है।[४] भरहुत के अर्धचित्रों में एक जगह 'चेलुक्खेय' का अंकन हुआ है। सम्भवतः यही 'चेलुक्खेय' बाद में नर्तक का कोई विशेष वस्त्र बन गया हो, जिसे हिलाकर वह नृत्य करता रहा होगा। रूमालों को हिला-हिला कर नृत्य करने की प्रवृति आज भी कई नृत्यों में देखी

१. उ०—कुव०—इ०, पृ० ११८.
२. वर्णकसमुच्चय—भाग २, पृ० २५.
३. मो०—प्रा० भा० वे०, पृ० १७१ पर उद्धृत।
४. द्रष्टव्य, वही, २०७ तथा अ०—हृ० अ०, पृ० १३७ पर चेलोत्क्षेप द्वारा हर्ष के प्रति जनता अपना प्रेम प्रकट कर रही है। (भ्रमच्छुत्क वाससि)। इस सन्दर्भ से तुलना कोजिये।

जा सकती है। चिंधाल>चिंधी (वस्त्र का टुकड़ा) का अर्थ रूमाल किया जा सकता है। अतः 'नये रंगीन वस्त्र पहिन कर उसमें रूमाल खोंसकर हर्षपूर्वक नाचना', **'णव-रंगय-चीर-बद्ध-चिंधालो परितुट्ठो णच्चिरसं'** का सही अर्थ प्रतीत होता है।

चीर—उद्द्योतन ने कुवलयमाला में ६ बार चीर शब्द का उल्लेख किया है[1]। चीरमाला और चीरवसणा से ज्ञात होता है कि यह उस समय भिखारियों एवं गरीबों के पहिनने का वस्त्र था, जो अनेक चिथड़ों को जोड़ कर बनाया जाता होगा। स्त्री, पुरुष दोनों ही इस प्रकार के जीर्ण-शीर्ण वस्त्र को परिस्थिति के अनुसार पहिन सकते थे। उन दिनों कापालिक चिथड़े कपड़ों को ही पहिनते रहे होगें। क्योंकि उनकी उपमा चिथड़े पहिने हुए स्त्री से दी गयी है (२२५.२७)।

उद्द्योतन के लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व चीर-वस्त्र (फीता) का एक अच्छा उपयोग भी होता था। बाण ने ऐसे परिचारिकों का वर्णन किया है, जो शिर पर पटच्चरकर्पट या चीरा बाँधे हुए थे। यह चीरा नौकरों को, उनके काम से खुश होकर मालिक द्वारा प्रसाद-स्वरूप दिया जाता था।[2] यह चीरिका सिर पर इस प्रकार बाँधा जाता था कि उसके दोनो छोर पीछे पीठ पर लहराते रहते थे।[3] अजंता के चित्रों में इस प्रकार के चीरा बाँधे हुये हाथियों के परिचारिक अंकित हैं।[4] इस प्रचार के बावजूद उद्द्योतन ने कहीं इस प्रकार का संकेत नहीं दिया। आगे चलकर चीर स्त्रियों के पहिनने के वस्त्रों का सामान्य नाम हो गया था। पटोला की किनार वाली सादी साड़ी चीर के नाम से जानी जाती थी।[5]

चीवर—कुव० में चीवर का उल्लेख एक वृद्ध व्यक्ति के चित्र के प्रसंग में हुआ है, जो चीवर और कंथा धारण किये था।[6] इस प्रसंग में **'रो रो थेरो'** शब्द भी आया है। थेर और चीवर, ये दोनों बौद्धधर्म के शब्द हैं। किन्तु यहाँ किसी वृद्ध बौद्ध भिक्षु को चीवर पहिने दिखाया गया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। कुव० में अन्यत्र भी जहाँ बौद्ध भिक्षुओं एवं बौद्धधर्म का उल्लेख हुआ है, कहीं भी चीवर का उल्लेख नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि ८वीं सदी में चीवर गरीब लोगों का वस्त्र हो गया था। यद्यपि टुकड़े-टुकड़े जोड़कर बनाने की परम्परा के कारण ही उसे चीवर कहा गया होगा। महावग्ग में चीवर बनाने

---

१. बहु-रइय-चीर-मालो (४१.१८), णव-रंगय-चीरबद्धचिंधालो (४७.३०), रच्छा-कय-चीर-विरइय-मालो (१४५.४), रंक व्व चीरवसणा (१९७.२४), जर-चीर-णियंसणा (२२५.२७) एवं गहिय-चीर-माला-णियंसणो (२२६.७)।

२. प्रभुप्रसादीकृतपाटितपटच्चरः, हर्षचरित, पृ० २१३.

३. अ०—ह० अ०, पृ० १६३.

४. औंधकृत अजंता, फलक ३०। गजजातक (गुफा १७)।

५. वर्णक-समुच्चय भाग २, पृ० ४२ डा० सांडेसरा, बड़ौदा।

६. चीवर-कंथोत्थइओ, कुव० १८८.१८.

एवं धारण करने के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी दी गयी है, जिसमें यह भी है कि चीवर रास्ते में पड़े कपड़े के टुकड़ों को एकत्र कर बनाना चाहिए।[1]

चेलिय—कुव० के अनुसार सोपारक का व्यापारी 'चेलिक' लेकर बब्बाकुल गया और वहाँ से गजदंत तथा मोती लाया।[2] यहाँ चेलिक का अर्थ भारत से बाहर जाने वाले उन वस्त्रों से है, जिनको व्यापारिक-जगत् में काफी मांग रहती थी। कपड़ा के पर्यायवाची शब्दों में अमरकोषकार ने चैल का नाम भी लिया है।[3] रायपसेणिय (पृ० १५५) में रंग-विरंगे वस्त्रों को चित्त-चिल्लग कहा गया है। कीमती वस्त्रों के लिए 'सुचेलक' शब्द अमरकोष में आया है।

दिव्यवस्त्र-देवांग एवं देवदुष्य—कुव० में इन वस्त्रों का उल्लेख स्वर्ग का वर्णन करते समय हुआ है। दिव्यवस्त्र शयनासन पर बिछाने वाला चादर था (१८९.३३)। शयनासन का निर्माण मच्छरदानी सहित पलंग जैसा होता रहा होगा। क्योंकि देवांग और देवदूष्य पलंग के ऊपर वितान (चंदोवा) के रूप में फैलाये जाते थे। देवांग नामक वस्त्र पतला, हलका, कोमल, विस्तृत, मनोहर, आकाशतल जैसा, पवित्र एवं सुभग होता था, जो ठीक पलंग के ऊपर तान दिया जाता था।[4] देवांग के ऊपर एक क्षीरसमुद्र के किनारे जैसा श्वेतवस्त्र झालर के रूप में चारो ओर लटकाया जाता था, जिसे देवदूष्य कहते थे।[5] इन वस्त्रों के साक्षात् उदाहरण देना मुश्किल है।

धवलग्रद्धं—राजा पुरन्दरदत्त **धवलमद्धं कसिणायार** (८४.१०) को कमर के नीचे पहिनता है। सम्भवतः यह काली किनारी वाली श्वेत अद्धी थी। बनारस में आज भी बारीक श्वेत सूती कपड़े को अद्धी कहते हैं।

धूसर-कपड़ा—कुव० में प्रसंग के अनुसार धूसर-कपड़ा का अर्थ मैला कपड़ा है (**मल-धूली-धूसरे-कप्पडे**, ५६.१)। किन्तु धूसर सम्भवतः वह मैली चादर भी हा सकती है, जिसे आजकल हिन्दी एवं पजाबी में धुस्सा कहते है। गरीब यात्री धुस्सा लेकर ही यात्रा करते है। हो सकता है, मायादित्य ने वेषपरिवर्तन के साथ धुस्सा भी ले लिया हो।

धोत-धवल दुकूल-युगल—उद्द्योतन ने दुकूल का तीन बार उल्लेख किया है। राजा दृढ़वर्मन् ने धोत-धवल-दुकूल-युगल पहिने हुए सभा में प्रवेश किया।[6]

१. महावग्ग, चीवरक्खन्धक।
२. बब्बरकुलं गओ, तत्थ चेलियं घेत्तूण, ६५.३३.
३. अमरकोष, २.६, ११५.
४. तस्स उवरिं रेहइ तणु-लहु-मउयं सुवित्थयं रम्मं।
गयणयलं पिव सुहुमं सुइ-सुहयं किं पि देवंगं॥ —९२.२९.
५. तस्स य उवरिं अण्णं धवलं पिहुलं पलंब पेरंतं।
तं किं पि देव दूसं खीर-समुद्दस्स पुलिणं व॥ —वही, ३०.
६. आगया धोय-धवल-दुगुल्ल-जुवलय-णियंसणा, ११.१६, १८.२८.

कुमार कुवलयचन्द्र ने नहाकर श्वेत-धौत दुकूल पहिना,[1] धौत-धवल-वस्त्र पहिने हुए कोई एक व्यक्ति आया,[2] नहाकर धौत-धवल-युगल कुमार ने पहिना,[3] आदि उल्लेखों से ज्ञात होता है कि दुकूल की धौत-धवल-युगल प्रमुख विशेषता थी। उद्द्योतन की यह महत्त्वपूर्ण सूचना पूर्व मान्यताओं को बल प्रदान करती है। आचारांग, अर्थशास्त्र एवं कालिदास के ग्रन्थों में दुकुल के उल्लेखों से यह ज्ञात नहीं होता कि दुकूल एक वस्त्र था या जोड़ा। इस प्रश्न को हल करने के लिए डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने दुकूल का अर्थ किया दुहरी चादर। कूल माने वस्त्र एवं दो वस्त्र दुकूल (द्विकूल)। उनकी इस मान्यता की पुष्टि कादम्बरी एवं भट्टिकाव्य में प्रयुक्त 'दुकूले' (दुकूल का द्विवचन) शब्द से हो जाती है।[4] उद्द्योतन द्वारा दुकूल-युगल शब्द का प्रयोग होने से यह बात प्रमाणित हो गयी कि गुप्तयुग से आठवीं सदी तक दुकूल जोड़े के रूप में आता था। इसका एक चादर ओढ़ने और दूसरा पहिनने के काम में लिया जाता था। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार दुकूल के थान को काटकर अन्य वस्त्र भी बनाये जाते थे।[5]

दुकूल का धौत-धवल विशेषण उसकी बारीकी और सफेदी को प्रमाणित करता है। आचारांग में (२.१५, २०) एक जगह उल्लेख है कि शक्र ने महावीर को जो हंस दुकूल पहिनाया था वह इतना पतला था कि हवा का एक मामूली झटका उसे उड़ा ले जा सकता था। बाण ने शूद्रक के दुकूल को अमृत के फेन के समान सफेद कहा है।[6] दुकूल का धौत-धवल विशेषण १०वीं सदी तक प्रयुक्त होता रहा।[7]

नेत्र-युगल—उद्द्योतन ने कुव० में नेत्र का तीन बार उल्लेख किया है। विनीता नगरी के विपणिमार्ग में नेत्रयुगल वस्त्रो की एक अलग दुकान थी, जिसमें ताम्र, कृष्ण एवं श्वेत रंग के बड़े-बड़े नेत्रयुगल रखे हुए थे (७.१८)। रानी प्रियंगुश्यामा के जब पुत्र उत्पन्न हुआ तो उसकी खुशी में कोमल नेत्रपट के थान फाड़-फाड़ कर दिये गये।[8] दक्षिणभारत की सोपारक मण्डी का व्यापारी चीन-महाचीन से नेत्रपट यहाँ लाया, जिससे उसे बहुत लाभ हुआ।[9]

नेत्र शब्द का वस्त्र के लिए कब से प्रयोग हुआ, प्रथम साहित्यिक उल्लेख एवं नेत्रवस्त्र के प्रकार तथा प्रचलन आदि के सम्बन्ध में डा० वासुदेवशरण

१. ण्हाय-सुई-भूया सिय-धोय-दुकूल-धरा, १३९.१०.
२. धोय-धवलय-वत्थ-णियंसणो, १३९.१३.
३. ण्हाय सुइ-धोय-धवल-जुवलय-णियंसणो, १७१.१.
४. द्रष्टव्य — जै० — यश० सा०, पृ० १२६.
५. अ०—ह० अ०, पृ० ७६.
६. अमृतफेनधवले··· दुकूले वसानम्, कादम्बरी, पृ० १७.
७. धृत-धवलदुकूल, यशस्तिलक पूर्वार्ध, पृ० ३२३.
८. फालिज्जंति कोमले णेत्तपट्टए, १८.२७.
९. अहं णेत्त-पट्टाइयं घेतूण लद्धलाभो णियत्तो। —६६.२.

अग्रवाल ने काफी प्रकाश डाला है।[1] सोमदेव द्वारा प्रयुक्त नेत्रवस्त्रों का अध्ययन डा० गोकुलचन्द्र जैन ने किया है।[2] उन सबकी पुनरावृत्ति न करते हुए उद्द्योतन द्वारा प्रयुक्त नेत्र-युगल के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है।

विपणिमार्ग में फंले हुए ताम्र, कृष्ण एवं श्वेत विस्तृत नेत्रयुगल के उल्लेख से ज्ञात होता है कि नेत्र न केवल सफेद अपितु अन्य रंगों में भी बनने लगा था। बाण ने जो नेत्रवस्त्रों के आच्छादन से हजार-हजार इन्द्र-धनुषों जैसी कान्ति निकलने की उपमा दी है,[3] वह उद्द्योतन के इस उल्लेख से साकार हो जाती है। तथा डा० अग्रवाल ने नेत्र और पिंगा में नेत्र को श्वेत तथा पिंगा को रंगीन कह कर जो भेद बतलाया है,[4] उसके लिए अब दूसरा आधार खोजना पड़ेगा। क्योंकि नेत्र और पिंगा दोनों रेशमी वस्त्र थे तथा रंगीन होते थे।

उद्द्योतन ने सम्भवतः नेत्रयुगल शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख किया है। इसके पूर्व उल्लेखों में कहीं भी नेत्रयुगल शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ। यद्यपि हर्ष को नेत्रसूत्र की पट्टी बाँधे हुए एवं एक अधोवस्त्र पहने हुए बतलाया गया है।[5] यह अधोवस्त्र नेत्र का ही था, निश्चियपूर्वक नहीं कहा जा सकता। अतः यह प्रतीत होता है कि आठवीं सदी में दुकुल की तरह नेत्र के जोड़े पहिनने का प्रचलन हो गया था।

'फालिज्जंति कोमले णेत्त-पट्टए' से ज्ञात होता है कि पुत्र-जन्म की खुशी में कोमल नेत्रवस्त्र की पट्टियाँ (चीर) फाड़-फाड़ कर नौकर-चाकरों में बांटी जाने लगी थी। नौकरों को वस्त्र की पट्टी प्रदान करना उसके काम से खुश होने का सूचक था। बाण ने **'पट्टच्चरकर्पट'** शब्द द्वारा इस प्रथा का उल्लेख किया है।[6] उद्द्योतन के समय में नेत्रवस्त्र की चीरिका प्राप्त करना परिचारिकों के लिए विशेष सम्मान का सूचक रहा होगा।

इस प्रसंग में विशेष महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उद्द्योतन ने चीन से भारत में आनेवाले रेशमी वस्त्रों मे भी नेत्रपट का सर्वप्रथम उल्लेख किया है। इसके पूर्व चीन से आनेवाले वस्त्र चीन, चीनांशुक, चीनपट्ट, चीनांसि आदि थे।[7] नेत्रपट चूंकि भारत में प्राचीन समय से प्रचलित एवं अपनी कोमलता आदि के लिए प्रसिद्ध वस्त्र था, अतः हो सकता है कि उक्त व्यापारी चीन से कोई ऐसी विशिष्ट सिल्क लाया हो, जिसका न जानने के कारण सादृश्य के आधार पर उसे उसने

---

१. अ०—ह० अ०, पृ० २३, ७८, १४९ द्रष्टव्य।
२. जै०—यश० सां०, पृ० १२१-२२, द्रष्टव्य।
३. स्फुरिद्भिरिन्द्रायुधसहस्रैरिव संछादितम्, हर्षचरित, पृ० १४३.
४. अ०—ह० अ०, पृ० ७८.
५. विमलपयोधौतेन नेत्रसूत्रनिवेशशोभिनाधरवाससा, हर्षचरित, पृ० ७२.
६. वही, पृ० २१३.
७. मो०—प्रा० भा० वे०, पृ० १४८, १४९, ४९, १०१, ५६, ५९, ६० आदि।

नेत्रपट कह दिया हो अथवा चीन के बाजार में भी भारत के 'नेत्रपट' नाम को किसी तत्सदृश वस्त्र के लिए अपना लिया गया होगा।

पटांशुक—कुव० में पटांशुक का चार बार उल्लेख हुआ है। राजा-दृढ़वर्मन् अपने पटांशुक से कुमार महेन्द्र के मुख-कमल को पोंछता है।[1] रानी प्रियंगुश्यामा पटांशुक के बने गोल आसन के अग्रभाग पर हाथ टिकाये हुई थी।[2] मोहदत्त नगर श्रेष्ठी की पुत्री का पटांशुक पकड़ लेता है[3] तथा राजा दृढ़वर्मन् दीक्षा लेते समय पटांशुक-युगल को त्याग देता है।[4] इन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि पटांशुक राजाओं तथा धनी घरानों की स्त्रियों के पहिनने का वस्त्र था। सम्भवतः यह बिना सिले हुये ही जोड़े के रूप में पहिना जाता था।

प्राचीन भारतीय साहित्य में अंशुक के अनेक प्रकारों का उल्लेख हुआ है। किन्तु पटांशुक का उल्लेख केवल दिव्यावदान में अन्य रेशमीवस्त्रों के साथ हुआ है।[5] सम्भवतः अंकुश एवं पटांशुक में कुछ थोड़ा अन्तर अवश्य रहा होगा। बाण ने अंशुक का कई बार उल्लेख किया है। वे इसे अत्यन्त पतला और स्वच्छ वस्त्र मानते हैं।[6] डा० मोतीचन्द्र पटांशुक को सफेद और सादा रेशमी वस्त्र मानते हैं।[7] जबकि अंशुक विभिन्न रंगों का भी होता था।[8]

पटी—उद्द्योतन ने कुवलयमाला के विवाह के अवसर पर नगर की चौकियाँ (चौराहे) सँजायी जाने लगीं, पट्टियाँ फाड़ी जाने लगीं,[9] आदि का उल्लेख किया है। बिल्कुल इसी से मिलता-जुलता वर्णन बाण ने राज्यश्री के विवाह के अवसर पर किया है। मंडप सजाने के लिये अनेक तरह के पट एवं पटी फाड़े जाने लगे।[10] ऐसा ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत मे मंडप सजाते समय ऊपर जो चंदोबा बँधता था उसके चारों ओर कपड़ों की झालर भी लगायी जाती थी। यह झालर सम्भवतः कपड़े की बडी-बड़ी पट्टियो की लगायी जाती थी। आजकल भी मंडप बनाते समय झालर के लिये छीट के थान दुहरे करके चारों ओर लटका दिये जाते हैं।

---

१. णियय-पट्टंसु-अंतेण-पमज्जियं से वयण-कमलयं।—१०.१२.
२. तओ पट्टंसुय-मसूरद्धंत-णिमिय-णीसह-कोमल-करयला—१२.३.
३. गहिओ य ससंभम उवरिम-पट्टंसुयद्ध' ते कुलवालियाए।—७४.६.
४. णिक्खित्तं पट्टंसुअ-जुवलयं, २०९.१०.
५ दिव्यावदान, पृ० ३१६.
६. सूक्ष्मविमलेण प्रज्ञावितानेनेवांशुकेनाच्छादितशरीरा, हर्षचरित, पृ० ९.
७. मो०—प्रा० भा० वे०, पृ० ९५.
८. रघुवंश, ९.४३; ऋतुसंहार, ६.४, २९; विक्रमोर्वशीयं, पृ० ६०; मेघदूत, पृ० ४१,
९. सोहिज्जंति णयर-रच्छाओ, फालिज्जंति पडीओ, कुव० १७०.२४, २५.
१०. अनेकोपयोगपाट्यमानैः अपरमितैः पट-पटी सहस्रः।—हर्षचरित, १४३.

पट—सागरदत्त समुद्रतट पर किसी लड़की को बेहोश देखकर उसे कपड़े से हवा करता है (**विण्णो पड-वाऊ, १०७.४**)। कपड़े से हवा करना यह बतलाता है कि दोनों में से किसी के वस्त्र से हवा की गयी होगी। इसका अर्थ है कि उस समय उत्तरीय (दुपट्टे) को पट भी कहा जाता था।

पर-वसन—अयोध्या के विपणिमार्ग में खलजनों की गोष्ठि-मंडली की तरह एक दुकान में अनेक प्रकार के साधारण वस्त्र भरे थे (७.२९)। यहाँ पर-वसन का अर्थ साधारण-वस्त्र प्रसंग के अनुसार ही किया जा सकता है, जैसे खलों की गोष्ठी में सभी तरह के अच्छे-बुरे लोग एकत्र होते हैं। वैसे ही सम्भवतः इस दुकान में मोटे, रंगीन आदि सूती वस्त्र बिकते होंगे। यहाँ '**पर-वसण**' श्लेषयुक्त है, जिसका दुष्टजनों के पक्ष में अन्य व्यसन अर्थ होगा।

पोत—मानभट अपनी पत्नी के बेहोश हो जाने पर उसके चेहरे पर पानी छिड़ककर पोत से हवा करता है।[1] यहाँ पोत का अर्थ मानभट का उत्तरीय वस्त्र प्रतीत होता है। पोत वस्त्रों का प्राचीन नाम है। आचारांग (२.५.१.१) तथा बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति (२.३६६०) में पोत्तग को जैनमुनियों के पहिनने योग्य वस्त्र बतलाया है। डा० मोतीचन्द्र ने इसे ताड़पत्र से बना हुआ कपड़ा कहा है।[2] किन्तु आठवीं सदी में ताड़पत्र के वस्त्र युवक पहिनते थे, यह स्वीकारना कठिन है, क्योंकि इस समय तक अनेक महीन एवं सुन्दर वस्त्र बनने लगे थे। उक्त प्रसंग का अर्थ तब यह किया जा सकता है कि या तो उत्तरीय को पोत भी कहा जाता था अथवा हवा करने के लिये घरों में ताड़पत्र के पंखे होते रहे होंगे। मानभट ने उसी से हवा की होगी। किन्तु पोत को वस्त्र मानना ही उचित है। कुव० में अन्यत्र भी नहाने के अवसर पर धोयी हुई युगलपोती का उल्लेख किया गया है (१५७.३२)। डा० सांडेसरा ने भी पोती को धुला वस्त्र माना है (वर्णकसमुच्चय, भाग २, पृ० ४६)। यह नहाने के बाद पहिना जाता था। कुवलयचन्द्र को नहाने के बाद परिचारिकाओं ने दो पोत्ती पहिनने को दी (**दोण्हं पि पोत्तीओ—१५७.३२**)।

फालिक—सागरदत्त ने बाहर जाते समय साटक और फालिक ये दो वस्त्र लिये। साटक उसने पहिन लिया तथा फालिक गले में बाँध लिया।[3] इससे ज्ञात होता है कि फालिक ऐसा कोई वस्त्र था जो गले में रूमाल अथवा मफलर जैसा बाँधा जाता रहा होगा। अवसर पड़ने पर उसमें कोई चीज भी बाँधी जा सकती होगी। प्राचीन भारतीय साहित्य में फालिय को स्फटिक के समान साफ और पारदर्शी कपड़ा कहा गया है।[4] यह कीमती एवं सूक्ष्म वस्त्र रहा होगा

१. सित्ता जलेणं, वीइया पोत्तएणं।—कुव० ५३.१५.
२ मो०—प्रा० भा० वे०, पृ० १४५.
३. गहियं च एक साडयं, फालियं च। एक्कं णियंसियं, दुइयं कंठे-णिबद्धं, १०४.२.
४. आचारांग, २.५, १३.८.

तभी जैन मुनियों को इसका प्रयोग करना वर्जित था।[1] डा० मोतीचन्द्र के अनुसार यह बहुत ही महीन मलमल, जिसके लिये यह देश प्रसिद्ध था, रही होगी।[2]

उद्द्योतन द्वारा प्रयुक्त फालिक के उल्लेख से लगता है, उसका प्राचीन अर्थ विस्तृत हो गया होगा। यहाँ फालिक स्पष्ट रूप से गमछा जैसा कोई वस्त्र रहा होगा। क्योंकि सागरदत्त उसके छोर में अंजलीभर रुपये बाँधता है।[3] आगे एक कथा में ६ लकड़हारे फालिक में अपना भोजन का पात्र बाँधकर ले जाते हैं।[4] उस समय किसी थान से फाड़ने के कारण इसे फालिक कहा जाता रहा होगा। आजकल भी इस प्रकार के कंधे पर डालनेवाले कपड़े को देसी भाषा में 'फट्टा' कहते हैं, जो फालिक का अपभ्रंश है। गुजराती में इसे 'फालड' कहते हैं।

रल्लक—उद्द्योतन ने रल्लक का दो वार उल्लेख किया है। रानी प्रियंगु-श्यामा के पुत्र उत्पन्न होने पर परिचारिकों को रल्लक और कम्बल लुटाये गये—**उज्झिज्जंति रल्लय-कंबलए** (१८.२६)। तथा शिशिरऋतु में कंवल-घृत, तेल, रल्लक और अग्नि का ही लोगों को सहारा होता है।[5] इन दोनों प्रसंगों से ज्ञात होता है कि रल्लक कंवल का जोड़ा जैसा था तथा ठंड के दिनों में इसका उपयोग होता था।

रल्लिका या रल्लक को अमरकोषकार ने एक प्रकार का कम्बल कहा है (२.६.११६)। जिस समय युवाग-च्वांग भारत आया उस समय भारतवर्ष में इस वस्त्र का खूब प्रचार था। उसने अपने यात्रा-विवरण में होलाली अर्थात् रल्लक का उल्लेख किया है। उसने लिखा है कि यह वस्त्र किसी जंगली जानवर के ऊन से बनता था। यह ऊन आसानी से कत सकता था तथा इससे बने वस्त्रों का काफी मूल्य होता था।[6] रल्लक एक प्रकार का मृग या जंगली भेड़ होती थी, जिसके ऊन से यह वस्त्र बनता था। सोमदेव ने लिखा है कि रल्लकों के रोओं से कम्वल बनाये जाते थे इसलिये इनको रल्लक कहा जाता था और जिस तरह आजकल असली पसमीना जंगली भेड़ों के कठिनता से प्राप्त ऊन से तैयार किया जाता है और इसी कारण महंगा होता है, इसी तरह रल्लक भी महंगा वस्त्र था। अतएव धनी लोगों के उपयोग में आता था। उद्द्योतन के सन्दर्भ से भी

१ ज०—जै० आ० स०, पृ० २०६ एवं २०७.
२. मो०—प्रा० भा० वे०, पृ० १५०.
३. णिबद्धं च णेण कंठ-कप्पडे तं पुट्टलयं, कुव० १०५.२.
४. भायण-कप्पडे य फालियए। —कुव० २४५.१७.
५. अग्घंति जम्मिकाले कंबल-घय-तेल्ल-रल्लयग्गीओ, १६९.१३.
६. वाटरस, युवांगच्वांग्स ट्रावल्स इन इंडिया, भाग १, पृ० १४८, लन्दन १९०४, मो०—प्रा० भा० वे०, पृ० १५३ पर उद्धृत।

इसकी पुष्टि होती है (१६९.३०)। उन्होंने भी इसका उपयोग शिशिरऋतु में किये जाने का उल्लेख किया है। रल्लक की यह प्रसिद्धि १०वीं शताब्दी तक बनी हुई थी।[1]

बल्कल-दुकूल—कुवलयचन्द्र जब ऐणिका से जगल में मिला तो उसने उसका स्वागत किया। कुमार जब वहाँ नहाने के लिए गया तो बल्कल के वस्त्र संगोकर रखे गये थे।[2] तथा कुमार ने नहाकर कोमल धौत-धवल बल्कल-दुकूल को पहना।[3]

प्राचीन भारतीय साहित्य में बल्कल परिधान के अनेक उल्लेख मिलते हैं। कुवलयमाला के इस उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि वल्कल के दुकूल भी बनते थे। ब्राह्मणसाधु एक कौपीन पटकों और दुपट्टों के साथ वल्कल पहिनते थे। अमरावती की मूर्त्तियों में एक ब्राह्मण-साधु के परिधान की पहिचान बल्कल-वस्त्रों से की गयी है।[4]

वस्त्र—८वीं सदी में कपड़ों के लिए वस्त्र सामान्य नाम के रूप में प्रचलित था। उद्द्योतन ने कुवलयमाला में सात बार वस्त्र का उल्लेख किया है।[5] वस्त्र नीले, पीले, श्वेत तथा नाना प्रकार के होते थे। सम्भवतः वस्त्र शब्द सूती कपड़ों के लिए प्रयुक्त होता था।

सण्ह-वसन—कुवलयमाला विवाह के समय श्वेत सूक्ष्मवस्त्र (**सित-सण्ह-वसण-णियंसण**) धारण करती है (१७१.३)। यहाँ सण्ह-वसण का निश्चित स्वरूप जानने में कठिनाई है। क्योंकि सण्ह नामक वस्त्र का प्राचीन साहित्य में कोई उल्लेख नहीं मिलता। अतः सूक्ष्म-वस्त्र ही माना जाना सकता है।

सत्थर—कुव० में बैठने के लिए आसनों को सत्थर कहा गया है (१८८. १८), जो संस्कृत का स्रस्तर है। राजाओं के यहाँ गृह-मंदिरों में बैठने के लिए कुश के बने हुए आस्तरण थे (१४.१८) तथा सामान्य लोगों के यहाँ तृण के बने हुए आस्तरण प्रयुक्त होते थे। तृण के आसन सोने के काम भी आते थे (४१. २५)। पलंग अथवा शैय्या पर बिछानेवाले चादरों को 'सेज्जासंथार' कहा जाता था (२२०.४,५, २७१.१, २)।

साटक—उद्द्योतन ने साटक को नीचे पहिनने वाला वस्त्र कहा है। यह आजकल की धोती के सदृश वस्त्र था। भारत में प्राचीन समय से ही उपरना

---

१. रल्लकरोमन्निष्पन्नकम्बललोकलीला-विलासिनी. . .हेमने मरुति।—यश०, पृ० ५७५.
२. संठियाणि मियाइं वक्कलाइं। —कुव० १२८.२.
३. परिहियाइं कोमल-धोय-धवल-वक्कल-दुऊलाइं—वही० १२८.४.
४. शिवराममूर्त्ति—अमरावती स्कल्पचर्स इन दि मद्रास गवर्नमेन्ट म्युजियम, प्लेट ७२, १, मो०—प्रा० भा० वे०, पृ० १३५ उद्धृत।
५. कुव० १२४.१२, १३६.१३. १५४.२१, १७२.१४, १८३.१०, २२२.१४, तथा २७१.८.

और धोती प्रमुख पहिनावा रहा है। इस पहिनावे को शाटकयुगल अथवा युगल कहा जाता था।[1] पंतजलि के समय साड़ी या धोती को साटक कहा जाता था, जिसका दाम एक कर्षापण था।[2] बौद्धसाहित्य में मजबूत साड़ियों को बलिस्थम-साटक[3] तथा रानियों की साड़ियों को राहुसाटक[4] कहा जाता था। गुप्तयुग की कला में साड़ी एवं धोती पहिने हुए अनेक चित्र प्राप्त हुए हैं।[5]

हंसगर्भ—कुमार कुवलयचन्द्र गुरुकुल में विद्याग्रहण कर वापस राजमहल में लौटता है। तब वह स्नानकर धोत-धवल-हंसगब्भ वस्त्र धारण करता है (२१. १७)। हंसगर्भ का अर्थ यहाँ हंस की आकृति से चित्रित कोई वस्त्र है। सम्भवतः बुनाई के समय ही उस वस्त्र में हंस की आकृति खचित हो गयी होगी इसलिए उसे हंसगर्भ कहा जाता रहा होगा। अन्यत्र भी देवलोक के प्रसंगों में हंसगर्भ वस्त्र का उल्लेख उद्द्योतन ने किया है।[6] हंसगर्भ अत्यन्त मुलायम वस्त्र होता था, जिसके शयनासन भी बनते रहे होंगे। हंसगर्भ नामक मोती भी होता था।

प्राचीन भारतीय साहित्य में हंस की आकृति से युक्त वस्त्रों के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। आचारांग (२.१५, २०) के अनुसार महावीर को शक्र द्वारा पहिनाये हंसदुकूल में हंस के कई अलंकार बने थे। अंतगडदसाओ (पृ० ४६) में राजकुमार गौतम को हंस लक्षण दुकूल पहने बताया गया है। कालिदास ने भी हंसचिह्नित वस्त्रों का उल्लेख किया है।[7] गुप्तयुग में किनारों पर हंस-मिथुन लिखे हुए वस्त्रों के जोड़े-पहिनने का आम रिवाज था। हंसदुकूल गुप्तयुग के वस्त्र-निर्माण कला का एक उत्कृष्ट नमूना था।[8] बाण ने गोरोचना से हंसमिथुन लिखे गये दुकूलो का उल्लेख किया है।[9] कला में भी हंसखचित वस्त्रों का अकन हुआ है। अजंता के भित्तिचित्रो मे लेण नं० १ के भित्तिचित्र में एक गायक, जो कंचुक पहिने है उसकी धारियो के बीच में बृषभ और हंसों की अलंकारित आकृतियाँ बनी हुई है।[10] इससे ज्ञात होता है कि हंसखचित वस्त्रों की पहिनने की प्राचीन-परम्परा का निर्वाह ८वीं सदी में भी होता था।

वस्त्रों के उपर्युक्त वर्णन से यह ज्ञात होता है कि उद्द्योतन के समय में सूती, रेशमी एवं ऊनी सभी प्रकार के वस्त्र उपयोग में आते थे। शरीर के ऊपरी

---

१. अ०—पा० भा०, पृ० १३४.
२. शतेनक्रीतं शत्यं शाटक शतम्, अष्टाध्यायी ५१.२१ सूत्र पर भाष्य।
३. जातक (३२४) ३, पृ० ५५.
४. जातक (४३१) ३, पृ० २९६.
५. मो—प्रा० भा० वे०, पृ० १८५.८६ द्रष्टव्य।
६. हंस-गब्भ-मउए वेवंग समोत्थयम्मि सयणम्मि, कुव० ४२.३२.
७. हंसचिह्न दुकूलयान,—रघुवंश १७.२५; कुमारसम्भव में भी।
८. मो०—प्रा० भा० वे०, पृ० १४७.
९. गोरोचनालिखितहंसमिथुनसनाथपर्यन्ते····दुकूले वसानम्, कादम्बरी, पृ० १७.
१०. याजदानी, अजंता, भाग १, प्लोट १० ए।

भाग को ढकने के लिए प्रायः उत्तरीय, पटांशुक, फालिक, दुकूल, आदि को धारण किया जाता था। स्त्रियाँ स्तनवस्त्र (बिना सिली चोली), दुपट्टा, पिछोरा एवं उत्तरीय के अतिरिक्त सिला हुआ कूर्पासक भी पहिनती थीं। अधोवस्त्रों में कच्छा, धोती का फर्द, पोत एवं साटक प्रयोग में लाये जाते थे। अन्य उपयोगी वस्त्रों में गमछा, दुपट्टा, रूमाल, चादर, धुस्सा, कम्बल, चंदोवा, आसन आदि प्रचलित थे। न केवल भारत में बने अपितु चीन आदि देशों से आयात किये हुए वस्त्र भी तत्कालीन समाज में व्यवहृत होते थे।

विभिन्न वेष

कुव० में अनेक वस्त्रों के उल्लेख के साथ ही विभिन्न व्यक्तियों की वेशभूषा का भी वर्णन किया गया है, जिससे तत्कालीन पहिनावे सज्जा आदि पर प्रकाश पड़ता है। प्रमुख वेषधारी निम्न प्रकार हैं :—

तीर्थयात्री के वेष (५८.१, २), शवरदम्पति (१२८.१९, २३), शबरवेष १३३.३, ४), शबरी का वेष (१२८.२५, १३३.४), भिखारी का वेष (१९३.६), मातंग का वेष (१३२.२), कापालिक का वेष (१३२.२), महायति (२०९.१०), ब्राह्मण-बालक (२५८.१३), अभिसारिका (८६,२३), छद्मवेष राजा (८४.१२, २१), भोगावती धातृ (१६१.२५) एवं वजुल का वेष (१६८.१२)। सम्बन्धित अध्यायों में इन वेषधारियों का विशेष परिचय दिया गया है। शवरदम्पति और भिखारी का वेष इस प्रकार था :—

शबरदम्पति का वेष—एणिका के समीप जो शवरदम्पत्ति आया वह लताओं से जटाओं को तथा सुन्दर पुष्पों से केशराशि को सजाये हुए था। श्याम कांति वाले शरीर में श्वेत, पीत एवं रक्तवर्ण से लेखरचना की गयी थी। मोर-पंख से चूडालंकार बनाया गया था। हाथी के मद से आलेख रचा गया था तथा वह वल्कल पहिने हुए थे (१२८.१९, २३)। शबरी चन्दन एवं हाथी दांत के आभूषण पहिने तथा श्वेत चंवर को धारण किये हुए अयोध्यापुरी जैसी लग रही थी (१२८.२५)। शबरी गुंजाफल की मालाएँ भी पहिनती थी (१३३.४)।

भिखारी का वेष—उद्द्योतन ने एक प्रसंग में आध्यात्मिक भिखारी का चित्रण किया है, जिसके अनुसार भिखारी कच्छा पहनकर कंधे में काँवर रख कर हाथ में पात्र लेकर भिक्षा माँगते थे (१९३.६)। इस प्रकार उद्द्योतन ने प्रसंग के अनुसार पात्रों की वेषभूषा का भी पर्याप्त ध्यान रखा है। अभिसारिका काले वस्त्र, तीर्थयात्री भगवे वस्त्र, शबरलोग बल्कल, राजा काली किनारी की धोती तथा भिखारी कच्छा पहिनता था। इससे ज्ञात होता है कि वस्त्रों की भिन्नता अवस्था और स्थिति भेद के कारण भी हो जाती थी।

परिच्छेद पांच

अलंकार एवं प्रसाधन

उद्द्योतनसूरि ने शरीर के विभिन्न अंगों में धारण किये जानेवाले निम्नोक्त विभिन्न अलकारो या आभूषणों का कुव० में उल्लेख किया है :—

१. अट्टट्ठ-कंठयाभरण (२.२२)
२. अवतंस (१.१४)
३. रत्नकंठिका (१.११)
४. कंठिका (१८२.२४, १८७.२८)
५. कटक (१४.२९)
६. कटिसूत्र (२५.६)
७. माणिक्क-कटक (३०.३)
८. ललमाण-कटक (१८७-२८)
९. कांची (२३४.१०)
१०. कणिरकांची (२५४.१४)
११. कर्णफूल (५७.१६, १६०.१०)
१२. किंकिणी (२५५.२१)
१३. कुंडल (५६.२१, ९३.९)
१४. मणिकुंडल (१८६.३३, १९४.१०)
१५. रत्नकुंडल (११.१८)
१६. जालमाला (२५५.२१)
१७. दाम (११३.१०)
१८. दामिल्ल (२५४.१४)

१९. नूपुर (१४.२९,१६६.२८)
२०. मणिनूपुर (१५७.३०, २३४.८)
२१. पाटला (११३.१०)
२२. महामुकुट (९.१, १९४.१०)
२३. माला (१४.८)
२४. मुक्तावली (१८२.२४)
२५. मुक्ताहार (६.२३, २३२.९)
२६. मेखला (५०.१७, १५७.३०, २५५.२१)
२७. मणिमेखला (२५५.२१)
२८. रत्नावली (८३.२४)
२९. रत्नालंकार (१६०.२६)
३०. रसणा (८३.१४, २३२.१०)
३१. मणिरसणा (२५.५, ८५.९)
३२. रूणमाला (११.२२)
३३. वनमाला (१९४.१०, २४६.२१)
३४. वलय (२.२२, ४.२९, ७.११)
३५. मणि-वलय (१.२)
३६. वैजयन्तीमाला (१९४.१०)
३७. स्वर्णजटितमहारत्न (८.२४)
३८. सुवर्ण (७.२८)
३९. हार (२४.२१, ८३ १४, १६१ २५)
४०. हारावलि (२५४.१५)
४१. गीवासुत्त (११.१६)
४२. चक्कल (८३.९)
४३. चलणपट्ट (२१२.१२)
४४. माणिक्कपट्ट (८४.१४)
४५. वलक्खलइ (८३.४)
४६. दारुण (२५.१४-१५)

अट्ठट्ठ-कंठयाभरण—उद्द्योतन ने चार पुरुषार्थों का वर्णन करते समय कामपुरुषार्थ की श्रेष्ठता सिद्ध करनेवालों का खण्डन करते हुए कहा है कि दुर्भागी रंडी के पुत्र के समान, जो आठ-आठ लड़ियों का कण्ठाभरण तथा वलय

आदि के द्वारा शृंगार किये होने पर भी धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष किसी को प्राप्त नहीं कर सकता, उसी प्रकार काम से अन्य पुरुषार्थ नहीं सधते ।[1]

इस प्रसंग में 'अट्ठट्ठ' शब्द विचारणीय है। डा० ए० एन० उपाध्ये ने इसे चाँदी के हार का एक प्रकार कहा है। गुजराती अनुवादक इसका अर्थ आठ सेर (लरों) वाला कंठाभूषण करते हैं। किन्तु यह कुछ अस्वाभाविक लगता है। प्राचीन एवं तत्कालीन साहित्य के उल्लेखों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उस समय आठ सेर (लरों) का कोई आभूषण प्रचलित नहीं था। आदिपुराण (१५.१९३) में मणि तथा स्वर्ण द्वारा तैयार कंठाभरण का उल्लेख है, जिसे पुरुष पहिनते थे। यशस्तिलकचम्पू के उल्लेख के अनुसार अनेक गुरियों को पिरोकर कण्ठिका बनायी जाती थी।[2] अत: उक्त सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि सम्भवतः कण्ठाभरण आठ गुरियों से बना रहा होगा, तथा चाँदी के वजाय वे स्वर्ण के रहे होंगे। क्योंकि यहाँ रण्डोपुत्र की आर्थिक-सम्पन्नता प्रदर्शित करने का उद्देश्य है, फिर भी उसका अपना कुछ नहीं है। आजकल गले में पहिनने के लिये चाँदी एवं सोने के सिक्के रेशमी धागे मे पिरो कर एक कण्ठाभूषण बनाया जाता है, जिसे हिवाल कहते हैं। इसमें प्राय: आठ सिक्के लगाये जाते हैं। हो सकता है, प्राचीन समय में भी इसे 'अट्ठट्ठकंठाभरण' कहा जाता रहा हो।

कटक—कटक चूड़ी के समान पहिने जाते थे तथा ढीले रहते थे। गमन करने में इनकी आवाज होती थी (१४.२९)। नर-नारी दोनों ही समानरूप से इन्हें धारण करते थे। माणिक्य से निर्मित कटक दाहिने हाथ में पहिना जाता था (३०.३०)। स्वर्ण के कटक अधिक मजबूत माने जाते थे।[3] रत्न के कटक रक्तवर्ण के होते थे (१८७.२८)।

कंठिकाभरण—यह पुरुषों का आभूषण है। स्वर्ण और मणियों द्वारा यह तैयार किया जाता था। कण्ठाभरण की प्रमुख विशेषता अपने आकार-प्रकार से पूरे कण्ठ को आच्छादित करने की है।[4] कुव० मे मरकतमणि से निर्मित कंठिका का उल्लेख है, जो कुवलयचन्द्र के कठ को शोभित करती थी। (१८२.२४)। आगे चलकर तीन लर वाली कठिका भी बनने लगी थी, जिसे त्रिशर कठिका कहा जाता था।[5]

कर्णफूल—कर्णफूल का दो बार उल्लेख हुआ है (५७.१६, १६०.१०), जिससे ज्ञात होता है कि यह कान का आभूषण था, जो फूलों से वनता था तथा

१. दुग्गय-रंडेक्कल-पुत्तओ विव अट्ठट्ठ-कंठयाभरण-वलय-सिंगार-भाव-रस-रसिणो ण तस्स धम्मो, ण अत्थो, ण कम्मो ण जसा ण मोक्खोत्ति, २.२२.

२. यश०, पृ० ६६२.

३. शा०—आ० भा०, पृ० २१९.

४. आदिपुराण, १५.१९३.

५. यशस्तिलकचम्पू, पृ० ४६२.

धातु से बनने वाले इस आभूषण का आकार फूल जैसा होता था। कर्णपूर के लिये देशीभाषा में 'कनफूल' शब्द प्रचलित है।

कटिसूत्र—कुमार को देखती हुई नगर की स्त्रियों में किसी कुलवधू का कटिसूत्र द्रुतगमन के कारण खुलकर पाँवों पर गिर पड़ा, जैसे स्वर्ण की शांकल से हथिनी को बाँधने का प्रयत्न किया गया हो (२५.६)। कटिसूत्र को देशी-भाषा में 'कड्डोरा' कहा जाता है, जो चाँदी एवं स्वर्ण का बनता है। कुवलयचन्द्र के अयोध्या-आगमन पर जो आभूषण बनवाये गये उनमे कटिसूत्र के तार भी खींचे गये—**लंबिज्जंति कडिसुत्तए** (१९९.३१)।

कांची—यह स्त्रियों द्वारा कमर में पहिनने का ढीला आभूषण था। कटि-तल पर कांची के गुरिये लटकते रहते थे (२३४.१०)। उद्द्योतन ने छोटे गुरियों वाली कांची को '**कणिर-कंचि**' कहा है (२५४.१४)। हंस के आकार के गुरियों वाली कांची 'हंसावलिकंचिका' कही जाती थी।[१]

कुंडल—उद्द्योतन ने मणिकुंडल एवं रत्नकुंडलों का उल्लेख किया है। कुंडल नर-नारियों के लिये प्रिय कर्णाभूषण है। इनकी आकृति गोल-गोल छल्ले के समान होती थी तथा वे खटके से बन्द हो जाते थे। कुछ कुंडल कान में लपेटकर भी पहिने जाते थे।[२] अजंता की कला में इस तरह के कुडल का चित्रांकन देखा जाता है।[३] बुन्देलखण्ड में अभी भी ऐसे कुंडल पहिनने का रिवाज है।

दाम—शिशिरऋतु में स्त्रियाँ कंठ में पाटलादाम पहिनती थीं।[४] यद्यपि आदिपुराण मे मेखलादाम (४.१०४) एवं कांचीदाम (८.१३) का उल्लेख है, जो कटि आभूषण के लिये प्रयुक्त हुये हैं, किन्तु कुवलयमाला के उल्लेख से दाम कंठ का आभूषण प्रतीत होता है, सम्भव है आभूषणों की विशेषता व्यक्त करने के लिये दाम' शब्द कटि एव कंठ दोनो के आभूषणो के साथ प्रयुक्त होता रहा हो, क्योंकि 'दाम' का सामान्य अर्थ बन्धक है।

नूपुर—नूपुर स्त्रियों के पैरो का आभूषण था, जिसे 'पायल' कहा जा सकता है, उद्द्योतन ने मणिनूपुरों का भी उल्लेख किया है, जिनसे मधुर शब्द निकलते रहते थे।[५] इससे ज्ञात होता है कि नूपुरों में घुघरू भी लगाये जाते थे। पाँव में अलक्तक-मंडन के बाद नूपुर पहिने जाते थे।[६]

---

१. वही०, पृ० ५०३.
२. कुडलं कर्णवेष्टनम्—अमरकोष, २.६.१०३.
३. औंधकृत अजंता, फलक ३३, हर्षचरित-सांस्कृतिक अध्ययन फलक २०, चित्र, ७८.
४. सिसिर-पल्लवत्थुरणओ पाडला-दाम सणाह-कंठओ—कुव० ११३.१०.
५. मणिणेउर-रण-रणारव-मुहलं, वही २५३.१०, १५७.३०, २३४८ आदि।
६. जै०—यश० सां०, पृ० १५०.

माला—स्नान के बाद चन्दन के पाउडर को शरीर पर छिड़ककर सुमनों की माला पहनी जाती थी (१४.८)। सुमनमाला के सदृश धातुओं का भी मालाहार पहिना जाता था। आदिपुराण में ऐसे मालाहार का वर्णन है, जिसके गुरियों में नक्षत्रों के चिह्न बने थे। अतः उसे नक्षत्रमालाहार कहा गया है। स्त्री-पुरुष दोनों ही इसे पहिनते थे।

मुक्तावली—कुव० के कंठ में सुन्दर मुक्तावली शोभती थी (१८२.२४)। मुक्ताओं की एक लड़ी की माला मौक्तिकहारावली अथवा मुक्तावली कहलाती थी। इसमें आँवले जैसे गोल मोती लगे रहते थे। शुंगकालीन मूर्तियों में मौक्तिक हारावली का अंकन पाया जाता है।[1] कुव० के उल्लेख से स्पष्ट है कि मुक्तावली स्त्रियों का आभूषण था। अमरकोष (२.६.१०६) एवं यशस्तिलकचम्पू (पृ० २८९) में इसी को एकावली भी कहा गया है। कुव० में मुक्ताहारों का भी उल्लेख है (६.२३, २३२.९)

मणिमेखला—मणिमेखला का तीन बार उल्लेख हुआ है, जिनमें उसे सुन्दर शब्द करनेवाली कहा गया है—**रणंत महामणि-मेहलउ** (५०.१७)। इस आभूषण का मेखला नाम कमर में बाँधने से पड़ा है। यह चौड़ाई में पतली होती है। आदिपुराण (१५.२३) एवं यशस्तिलकचम्पू (पृ० १००) से ज्ञात होता है कि मेखला में छुद्र घंटिकाएँ लगी रहती थीं, जो कामिनियों के चलने पर शब्द करती थी। वर्तमान में इन घंटिकाओं की संख्या लगभग ८४ होने से मध्यप्रदेश में इसे चौरासी भी कहा जाता है इसका दूसरा नाम करधनी है।

रत्नावली—रत्नावली में नाना प्रकार के रत्न गूँथे जाते थे और मध्य में एक बड़ी मणि जटित रहती थी (आदिपुराण १६.५०)। कुव० के अनुसार रत्नावली पुरुष एवं स्त्रियाँ दोनों पहिनते थे (८३,२४)। अन्य प्रसंगों में रत्न से बने हुए अन्य अलंकारों का भी उल्लेख है। (१९०.३६)।

रसना—रसना भी स्त्रियों के कटिप्रदेश का आभूषण है। अमरकोष में (२.६.१०८) कांची, मेखला, रसना को पर्यायवाची माना है, किन्तु इनके आकार-प्रकार में अन्तर था। मेथला और रसना में घंटिकाओं की आकृति से भिन्नता मालूम पड़ती थी। कुव० में रसना के पाँच उल्लेख हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि रसना बजने वाला कटि का आभूषण था।

रूणमाला और वनमाला—ये सम्भवतः कंठ अथवा वक्षस्थल के आभूषण थे। रूणमाला गमन करने पर बजती थी। वनमाला किसी हार का अपर नाम होगा। वैजयन्तीमाला एक लम्बी लटकती हुई गले की माला थी (१९४.१०)।

वलय—वलय हाथ में पहिना जाने वाला आभूषण था। कटक और वलय में भिन्नता थी। मणियों से निर्मित वलय नृत्य करते समय सुन्दर तालसे

---

१. अ०—हु० अ०, पृ० १५८.

बजते थे (१.२)। मणिवलय अथवा रत्नवलय एक प्रकार का जड़ाऊ कंगन होता था, जिसे प्रायः एक ही हाथ में पहिना जाता था। स्त्रियाँ वलय अधिक पहिनती थीं। अहिच्छत्रा से प्राप्त किन्नर-मिथुन के मृणमय फलक पर किन्नरी दाहिने हाथ में इस प्रकार का कंगन पहिने है, जिसे उस समय की भाषा में दोला-वलय कहा जाता था।[1] पल्लू से प्राप्त जैन सरस्वती की मूर्त्ति भी वलय पहिने हुए है।[2]

कुव० में उल्लिखित उपर्युक्त ३८ प्रकार के अलंकार प्रायः नारियों के गले और कमर की शोभा बढ़ाते थे। कानों में कर्णफूल और कुडल, कंठ में कंठा, कंठिका, दाम, पुष्पमाला, मुक्तावली, रत्नावली और वनमाला, कलाई में कटक और वलय, कमर में कटिसूत्र, किंकिणी, कांची, मणिमेखला और रसना तथा पैरों में नुपुर पहिने जाते थे। ये आभूषण चांदी, सोने और रत्न-मणियों से गढ़ कर बनाये जाते थे।

केशविन्यास एवं प्रसाधन

कुव० में केशविन्यास से सम्बन्धित निम्नोक्त शब्दों का प्रयोग हुआ है:— धम्मिल्ल (१.११), केशपब्भार (१.५, ८४.१५, १८२.७), जटाकलाप सोहिल्लं (१२८.१६) चूडालंकार (१२८.२१), सीमान्त (१५३.५), मुंडेमालुल्लिया (८४.१६), कोंतलकाउँ-सुहरं (८३.८)। इनकी विशेष जानकारी इस प्रकार है:—

धम्मिल-विन्यास—पावस ऋतु में मनोहर मयूरों का नृत्य स्त्रियों के धम्मिल्ल सदृश होता है—मणोहरा सिहि-कुरंत-धम्मिला। तथा कुव० के सिर पर कज्जल सदृश नीला धम्मिल्ल शोभित था (१८२ ७)। कुव० के इन सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि धम्मिल्ल केश-विन्यास स्त्रियो का होता था।[3] मौलिबद्ध केशरचना को धम्मिल्ल विन्यास कहा जाता था।[4] बालों का जूड़ा बनाकर उसे माला से बांध दिया जाता था। जूड़ा के भीतर भी माला गूंथी जाती थी। प्राचीन साहित्य में धम्मिल-विन्यास के अनेक उल्लेख मिलते हैं।[5] साथ ही केशविन्यास का चित्रण कला में भी हुआ है। राजघाट से प्राप्त खिलौनों में धम्मिल्ल-विन्यास के अनेक प्रकारों का अंकन हुआ है।[6] गुप्तकाल की पत्थर की मूर्त्तियों में इस विन्यास का भिन्न प्रकार अंकित है।

---

१. अ०—का० सा० अ०, पृ० २४.
२ शा०—रा० ए०, पृ० ४६४.
३. शिवराममूर्त्ति—अमरावती स्कल्पचर्स इन द मद्रास गवर्नमेन्ट म्युजियम, मद्रास, १९५६, पृ० १०६.
४. धम्मिल्लाः संयताः कचाः। —अमरकोष, २.६.९७.
५. रघुवंश, १७.२३; हर्षचरित, ४.१३३; यशस्तिलकचम्पू, पृ० ५३२.
६. अग्रवाल, कला और संस्कृति, पृ० ३५१.

केशप्रभार—कुवलयमाला में केशप्रभार का उल्लेख तीन बार हुआ है। भगवान् महावीर के केशपब्भार की रचना इन्द्र ने की थी।[1] राजा पुरन्दरदत्त ने पहले सुगन्धित तेल बालों में लगाया। फिर प्रकृति से काले एवं घुंघराले बालों को जैसे क्रोध से उठ खड़े हुए हों इस प्रकार उनका जूड़ा बांधा। तदनन्तर अनेक प्रकार के पुष्पों की माला सिर पर धारण की।[2] कुवलयचन्द्र के सिर पर काले केशों का जूड़ा सुशोभित हो रहा था (१८२.७)।

केशपब्भार का अर्थ है, केशसमूह। केशों के समूह को चतुराई-पूर्वक बांधना केशपब्भार-विन्यास कहा जाता होगा, जिसे केशपाश भी कहा गया है। अमरकोश में उठे हुए बालों को केशपाश कहा गया है (२.६.९७)। उक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि केशपब्भार-विन्यास में बाल इस प्रकार उठाकर बांधे जाते होंगे कि वे मुकुट सदृश दिखायी दें। बँधे हुये बालों में पुष्पों को खोंस लिया जाता होगा। सोमदेव ने ऐसे केशविन्यास को शिखण्डित केशपाश कहा है (यश० पृ० १०५)। मानसार के अनुसार इस तरह के केशविन्यास का अंकन सरस्वती और सावित्री की मूर्त्तियों के मस्तक पर किया जाता है।[3]

जटाकलाप—शबर-युगल कोमल दीर्घलता से उद्धित जटाओं के समूह को बांधकर अनेक वनवृक्षों के पुष्पों द्वारा उसको सजाये हुये था।[4] यह जूड़ा बाँधने की आम पद्धति थी।

चूड़ालंकार—शबरी श्वेत मयूर की पूंछ से तैयार किये गये चूड़ालंकार द्वारा शोभित हो रही थी—**सिय-सिहि-पिच्छ-विणिम्मिय-चूडालंकार-राइल्लं**—(१२८-२१)। जूड़े को पुष्पों आदि के द्वारा मोरपिच्छ की शोभासदृश बनाना प्राचीन समय से प्रचलित था। सम्भवतः पहले बालों को शिरीष की माला से सुविभक्त करके बाँध लिया जाता था। बाद में उसके बीच-बीच में अनेक पुष्पों को इस प्रकार खोंसते थे, जिससे मयूरपिच्छ के ताराओं की पूर्ण अनुकृति हो जाये। ऐसे केशविन्यास को सोमदेव ने कुन्तलकलाप कहा है।[5] कुव० में वासछब की रमणियाँ इस प्रकार का केशविन्यास कर अपने पति की प्रतीक्षा करती थीं (८३.८)। मयूरपिच्छ सदृश केशविन्यास का अंकन कला में भी मिलता है।[6]

---

१. स-हरिस-हरि वासद्धंत-भूसणो-केशपब्भारो—कुव० १.५.
२. तओ सुयंध-सिणेहो....परिहिय मुंडे मालुल्लिया—८४.१४, १६.
३. जे० एन० बनर्जी—द डवलपमेंट आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, पृ० ३१४.
४. कोमल-दीहर-वल्ली-बद्धुद्ध-जडा-कलाव सोहिल्लं।
णाणाविह-वण तरुवर-कुसुम-सयाबद्ध धम्मेल्लं॥ —कुव० १२८.१९.
५. जै०—यश० सां०, पृ० १५४.
६. कला और संस्कृति, पृ० २४८.४९.

सीमान्त—नहाने के बाद बालों को बीच से विभक्त कर दोनों ओर बाँधना कृत-सीमान्त कहा जाता था—ण्हाअलित्त-विलत्ते-कय-सीमंते (१५३.५)। आजकल जिसे माँग काढ़ना कहते हैं, उसे प्राचीन समय में सीमान्तकरण कहा जाता था।[1]

उद्द्योतनसूरि ने केशविन्यास के उपर्युक्त प्रकारों के साथ-साथ प्रसाधन की अन्य सामग्रियों का भी उल्लेख किया है, जो प्राचीन भारत के कलात्मक शृंगार के क्षेत्र में प्रयुक्त होती थीं।

●

१. सीमन्तेषु द्विधा भावो।—यश०, पृ० २०७.

परिच्छेद छः

राजनैतिक-जीवन

उद्द्योतनसूरि ने कुवलयमालाकहा में सामान्यतया अभिजात समाज का चित्रण किया है। प्रसंगवश अनेक राजाओं के दरबारों एवं उनके रहन-सहन का भी उल्लेख किया है, किन्तु राजनैतिक-जीवन की प्रभूत सामग्री इस ग्रन्थ में नहीं है। अतः इस सामाजिक-जीवन वाले अध्याय में ही कुव० में उपलब्ध उन सन्दर्भों का संक्षिप्त विवेचन दे देना उपयुक्त प्रतीत होता है, जो तत्कालीन राजनैतिक-जीवन से सम्बन्धित हैं।

राजा दृढ़वर्मन् के प्रसंग से ज्ञात होता है कि पड़ोसी राज्यों में युद्ध होते रहते थे। सेनापति युद्ध जीतकर विजित सामग्री अपने राजा को आकर सौंप देते थे। राजा महेन्द्र की कथा से ज्ञात होता है कि समीप के सन्निवेश की कमजोरी का फायदा उठाकर सेना के घेरा द्वारा वहाँ के राजा को जीतने का प्रयत्न किया जाता था (९९.१५-१६)। असहाय हो जाने पर रानी एवं राजकुमार शत्रु के हाथ में पड़ने के बजाय भाग जाना श्रेयस्कर समझते थे (११-२०)।

राजा और प्रजा के बीच सम्बन्ध अच्छे होते थे। प्रजा को यदि कोई परेशानी होती थी तो वह राजा से निवेदन करती थी। राजा उसका निवारण करता था। राजकुमार मोहदत्त द्वारा श्रेष्ठी की कन्या को गर्भवती कर देने की शिकायत जब राजा के पास पहुँची, तो उसने अपने पुत्र को अपराधी पाकर प्राण-दण्ड का आदेश दे दिया (७५.१-६)। एक कथा में नगरवासी जब चोर के उपद्रव से परेशान थे तो स्वयं राजा के पुत्र वैरगुप्त ने अनेक कष्ट झेलकर उससे मुक्ति दिलवायी (२४७.१-१२)। अतः इस समय यह धारणा व्याप्त थी कि—दुर्बलों की शक्ति राजा है—**'दुर्बलानां बलं राजा'** (२४७.७)। राजा की प्रसन्नता और क्रोध दोनों के परिणाम मानभट की कथा में देखे जा सकते हैं। प्रसन्न होकर राजा जूर्ण-ठक्कुर को जागीर प्रदान करता है तथा उसके (ठाकुर के) द्वारा राजकुमार का बध कर देने के कारण उन दोनों को राज्य छोड़कर भागना पड़ता

है (५०.५१)। उद्द्योतनसूरि ने एक प्रसंग में कहा भी है जिस प्रकार राजा कुपित होने पर दिये हुए राज्य आदि को फिर छीन लेता है, उसी प्रकार ये देवता शुभ एवं अशुभ फलों को देते हैं।[1] राजाओं की प्रभुता एवं सार्वभौमिकता गुप्त-युग के बाद इस समय भी विद्यमान थी। राजा दृढवर्मन् की 'महाराजाधिराज' एवं 'परमेश्वर' उपाधि का उल्लेख ग्रन्थकार ने किया है (१५४.३२) तथा विजयपुरी के राजा विजयसेन के लिए 'मकरध्वज महाराजाधिराज' विशेषण का प्रयोग किया है (१६६.३)। इनसे भी उनके प्रभुत्व का पता चलता है।

कुव० में राजा दृढ़वर्मन् के वर्णन के प्रसंग से ज्ञात होता है कि राजा का अधिकांश समय विद्वानों की संगति और राजकीय विनोदों के बीच व्यतीत होता था (१७.६, ७) तथा राजकाज की देखरेख प्रधान अमात्य एवं मन्त्री-परिषद के पूर्ण सहयोग से की जाती थी। महाकवि बाण ने भी राजा शूद्रक के वर्णन के प्रसंग में इसी प्रकार की सामग्री प्रस्तुत की है। गुप्तकालीन राजाओं का जीवन कला, साहित्य और शासन का संगम बन गया था।

कुव० में मन्त्रि-परिषद का कुछ विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। आस्थान-मंडप में मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों के साथ राजा बैठता था (९.१८)। कोई प्रश्न उपस्थित होने पर वृहस्पति सदृश मन्त्रियां से सलाह लेता था—**भो-भो सुर-गुरुप्पमुहा मंतिणो, भणह**—(१०.२४)। मन्त्रियों को स्वतन्त्र विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता थी। राजा मन्त्रियों की सलाह एवं उनकी विमलबुद्धि की प्रशसा करता था (१३.२९)। अपने कार्य की उन्हें भी सूचना देता था (१५.१९)। दरबार में महासामन्तों की अपेक्षा मन्त्रियों को प्रमुख स्थान प्राप्त था (१६-१९)।

उद्द्योतनसूरि ने मन्त्रिपरिषद के लिए '**वासव-सभा**' शब्द का प्रयोग किया है, जो राजा को सलाह देती थी तथा जिसमें सभी विषयों के जानकार मन्त्री सदस्य होते थे (१६.२८)। अन्य साक्ष्यो से पता चलता है कि गुप्त सम्राटों के समय मंत्रिपरिषद् और उसके अध्यक्ष प्रधानमन्त्री के पद का गौरव पूर्व की भांति फिर उभर आया था। बाण के उल्लेखो से इसका सक्रिय अस्तित्व प्रमाणित होता है। वही स्थिति उद्द्योतन के समय मे भी बनी रही होगी।

मानभट एव जुण्णठक्कुर की कथा से ज्ञात होता है कि तत्कालीन राज-नैतिक-जीवन में जमीदारी एक प्रथा का रूप ले रही थी।[2] किसी न किसी रूप में भूमि-सम्बन्धी अधिकार प्राप्त कर लेने पर लोगों के लिए प्रशासनिक और सैनिक जीवन का मार्ग खुल जाता था और रियासतें तथा राजवंश कायम करने

---

१. जह णरवइणो कुविया रज्जादी-दिण्णयं पुण हरंति।
इय तह देवा एए सुहमसुहं व फलं देंति॥ —कुव० २५७.४.

२. बुद्धप्रकाश—एशिया के सामाजिक और सास्कृतिक इतिहास की रूपरेखा, पृ० १४८.४९.

का अवसर मिल जाता था। इससे हर वर्ण और व्यवसाय के लोग जमीदार होते जा रहे थे।[1]

उद्द्योतनसूरि ने विभिन्न प्रसंगों में इन राजकर्मचारियों व अधिकारियों का उल्लेख किया है :—

वेत्रलताप्रतिहारी (९.२०), द्वारपाली (९.२५, ६०.४), प्रतिहारी (१८.१, १८.२४), महावीर (१६.१९), महासेनापति (१६.२१), महापुरोहित (१६.२१), वारविलासिनी (१४१ १७), पौरजन (१७.११), महावत-मण्डली (१८.२२), अन्तःपुर-महत्तरिका (११.१८), कन्या-अन्तःपुररक्षिका (१६१.२६), कन्या-अन्तःपुरपालक (१६८.१५), बासघर की प्रतिहारी (१४१.१४), जामइल्ल (पहरेदार) (८४.२४, १३५.१८), सेनापति (१४६.४), हस्तिपालक (१५५.११), लेखवाह (१८०.१४), पुरमहल्ल (१८३.४), नयरमहल्ल (१७२.३१, २४७.३,४), महाधम्मव्वहार (१७३.१०), महासामन्त (१७१.८), महानरेन्द्र, सव्व-कुलजुणमहत्तराणं (१७१.४), दंडवासिक (२४७.१०), अंगरक्षक (८४.२४), सव्वाहियारिया (२०८.२७), बाह्यउद्यानपालक (३२.१८), वेसविलया (जेल की प्रतिहारी (५९.३०), पाडहिओ (२०३.७) इत्यादि।

प्राचीन भारत की प्रशासन-व्यवस्था पर कुवलयमाला के इन अधिकारियों और कर्मचारियों के विशेष अध्ययन से नवीन प्रकाश पड़ सकता है। डा० दशरथ शर्मा ने इनमें से कुछ अधिकारियो के पद एवं कार्य के सम्बन्ध में विचार किया है। महापुरोहित राजा को धार्मिक-कार्यों में सलाह एवं सहयोग देता था। महावैद्य राजा एवं उसके परिवार का विशेष चिकित्सक था। प्रधानमंत्री को महामंत्री कहा जाता था तथा उसका पद प्रतिष्ठापूर्ण और परम्परागत होता था। व्यावहारिन् न्यायिक कार्यों का अधिष्ठाता एवं राजकीय सलाहकार होता था।

कुवलयमाला के वर्णन प्रसंगों से भी इन कर्मचारियों के स्वरूप एवं कार्य का पता चलता है। वारविलासिनियाँ विभिन्न उत्सवों पर नृत्य किया करती थीं। अन्तःपुरमहत्तरिका रानियों की संरक्षिका होती थी तथा अन्तःपुर से बाहर जाकर राजकीय मेहमानों के स्वागत आदि की व्यवस्था करती थीं। पुरमहल्ल और नगरमहल्ल शब्द नगर-प्रमुख के लिए प्रयुक्त हुए हैं। दंडवासिक नगर-रक्षा में तैनात राजकीय अधिकारी होता था, जिससे राजा प्रजा की कुशलता आदि की जानकारी प्राप्त करता था। इन अधिकारियों के उल्लेख से यह स्पष्ट है कि इस समय का प्रशासन पर्याप्त व्यवस्थित और विस्तृत हो गया था। अतः विभिन्न कार्यों के लिए पृथक्-पृथक् अधिकारी नियुक्त किये जाने लगे थे।

---

१. द्रष्टव्य—'द जेनिसस एण्ड करेक्टर आफ लेन्डेड अरस्ट्रोक्रेसी इन इंशियण्ट इण्डिया'—नामक डा० बुद्ध प्रकाश का लेख—जर्नल आफ द सोसल एण्ड इकानामिक हिस्ट्री आफ द ओरियण्ट, १९७१.

शस्त्रास्त्र

कुव० में उल्लिखित उपर्युक्त राजनैतिक प्रसंगों में कहीं भी किसी युद्ध का वर्णन उपलब्ध नहीं है और न सैनिक-प्रयाण का ही। फिर भी विभिन्न प्रसंगों में उद्द्योतन ने निम्नोक्त ३९ प्रकार के शस्त्रास्त्रों का उल्लेख किया है :—

असि (३१.१२), असिधेणु (२२३.२५), असियत्तवर्ण (३७.२६), कत्तिय (२४८.२१), करवाल (१८८.१), करवत्त (३६.२१), करालदंत (३९.२१), कस (२३१.१६), कुहाड़ा (३९.१२), कोदण्ड (१८८.१), कोंत (१७८.११), कोन्तेय (१६८.२५), खडग (१८८.११), खड गखेटक (१९५.१०), खेड्ड (१५०.२२), चक्र (३७.२६), चाप (२२३.२५), छुरिया (१३६.२४), झस (१९८.२५), तोमर (३७.२९), दंड (२३१.१६), दर्पसायण-बंध (१३६.२६) पक्कलपाइक्क (१६८.२५), पत्तलदल (३७.२९), पथरा (२७४ १६), फरखेड्ड (१५०.२२), मंडलाग्र (८.१९), मुद्गर (१९५.२७), यन्त्र (२३१.१६), यमदण्ड (१६५.२७), रज्जू (२३१.१६), लकुट (२७४.१६), वज्र (१६५.२७), बसुनन्दक (१३६.२०), शक्ति (३७.२९), शैल (४०.५), सब्बल (४०.५), सर (४०.५) एवं सरासण (१९८.२५)।

प्राचीन साहित्य के आधार पर इनमें से अधिकांश शस्त्रास्त्रों का स्वरूप स्पष्ट हो चुका है। कुछ का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

असिधेनु—कुवलयमाला में असिधेनु का चार वार उल्लेख हुआ है। छोटी तलवार या छुरी असिधेनुका कहलाती थी। अमरकोष (२ ८.९२) में इसके शस्त्री, असिपुत्री, छुरिका और असिधेनुका—ये चार नाम दिये है। आत्म-रक्षण के लिए छुरिका अथवा असिधेनुका छोटे किन्तु अत्यन्त उपयोगी अस्त्र थे (१३६.२४, १९५.१०)। सैनिक इसे कमर में लटका लेते थे।[1] अहिच्छत्रा से प्राप्त गुप्तकालीन मिट्टी की मूर्त्तियो मे एक ऐसे सैनिक की मूर्ति मिली है, जो कमर में असिधेनु बांधे हुए है।[2]

कत्तिय—कुव० में युद्ध के प्रसग मे कर्तरी का उल्लेख हुआ है। अमर-कोषकार ने कृपाणी और कर्तरी को पर्यायवाची माना है (२.१०.३४)। हेमचन्द्र ने कर्तरी की अन्य शस्त्रो के साथ गणना की है।[3] कर्तरी का अर्थ कैंची भी है, किन्तु यह सम्भवतया एक प्रकार की तलवार थी, जो युद्ध मे काम आती थी।[4]

---

१. हर्षचरित, पृ० २१.

२. अ०—ह० अ० फलक २, चित्र १२.

३. अभिधानचिन्तामणि, ३.५७५.

४. द्रष्टव्य—लेखक का निबन्ध—'प्राचीन भारतीय युद्ध विज्ञान" कुछ नये सन्दर्भ—जैनसिद्धान्त-भास्कर, १९६८.

करवाल—उद्द्योतन ने करवाल, करवत्त, करालदन्त जैसे अस्त्रों का उल्लेख संघारक शस्त्रों के रूप में किया है। ये सब तलवार के विभिन्न रूप प्रतीत होते हैं। इन्हें कटारी का प्राचीन रूप माना जा सकता है। सोमदेव ने कौक्षेयक और करवाल को एक माना है (यश०, पृ० ५५७)।

कस—यह एक प्रकार की कड़ी रस्सी थी, जिससे शत्रु को बाँध लिया जाता था। इसे पाश अथवा रज्जू (२३१.१६) भी कहा गया है। भारतीय साहित्य में इसके अनेक प्रकार प्राप्त होते हैं।[१] उद्द्योतन ने दर्पसायणबंध का उल्लेख किया है (१३६.२६), जो कस का एक प्रकार रहा होगा।

करालदंत—यह दाँते की बनी हुई लोहे की लम्बी पत्ती होती है, जिसे आजकल करोंत कहा जाता है। प्रायः यह लकड़ी चीरने के काम आती है, किन्तु सम्भव है प्राचीन भारत में इसका प्रयोग युद्ध में भी होता रहा हो (२२३.२५)।

कुहाड़ा—इसका अपर नाम कुठार अथवा परशु है, जिसे आजकल कुल्हाड़ी कहते हैं। सोमदेव ने इसका काफी उल्लेख किया है। कला में कुठार का अंकन पाया जाता है।[२] शिल्प में भगवान् शंकर के अस्त्र के रूप में कुठार या परशु अंकित किया गया है।[३]

कुन्त—उद्द्योतन ने कोन्त अथवा कान्तेय के रूप में इसका उल्लेख किया है। कुन्त एक प्रकार का भाला था, जो सीधे और अच्छे बाँस की लकड़ी में लोहे का फन लगाकर बनाया जाता था। इसका प्रकार शत्रु के वक्षस्थल पर किया जाता था।[४]

खड्ग, खड्गखेटक—कुवलयमाला में इसका अनेक बार उल्लेख हुआ है। शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए खड्गखेटक को अमोघ शस्त्र माना जाता था। खड्ग तलवार का कोई प्रकार था, जिसे हाथ में लेकर लड़ा जाता था (२५२.२७)।

चक्र—प्राचीन भारतीय युद्ध-विज्ञान में चक्र का प्रमुख स्थान था। यह पहिये की तरह गोल आकार का धारयुक्त लोहे का आयुध था। इसे जोर से घुमाकर शत्रु के सिर का निशाना बनाकर फेंका जाता था। कुशलतापूर्वक फेके गये चक्र से हाथियों तक के सिर फट जाते थे।[५] उद्द्योतन ने चक्र का चार बार उल्लेख किया है। वर्तमान में सिक्ख लोग लगभग १० इंच व्यासवाला तथा १॥ इंच मोटी धारवाला चक्र दायें हाथ में लेकर अपना उत्सव मनाते हैं।

---

१. चक्रवर्ती—द आर्ट आफ वार इन एंशियेण्ट इण्डिया, पृ० १७२.
२. शिवराम मूर्ति—अमरावती, फलक १०, चित्र, ३.
३. बनर्जी, वही, पृ० ३३०, फलक १, चित्र १६, १९, २१.
४. यशस्तिलकचम्पू, पृ० ५५९.
५. वही, पृ० ५५८.

इसके प्राचीन रूप भी प्राप्त होते हैं। सिन्धु नदी की संस्कृति में हाथ में पकड़ने योग्य मिट्टी की जो गोलवस्तु मिली है, उसे चक्र कहा जा सकता है।[१] चक्र की कई जातियाँ होती रही होंगी। भगवान् विष्णु का आयुध सुदर्शन-चक्र कुछ भिन्न प्रकार का है। चक्र का कला में भी अंकन पाया जाता है।[२]

दण्ड—उद्द्योतन ने दण्ड का दो बार उल्लेख किया है। दण्ड गदा का ही एक अन्य रूप माना जाता है। भारतीय युद्ध प्रणाली में दण्ड का पर्याप्त प्रयोग देखने को मिलता है। भारतीय सिक्कों में गदा और दण्ड का इतना साम्य है कि उनको पृथक्-पृथक करना कठिन है।[३]

मंडलाग्र—यह एक प्रकार की अत्यन्त तीक्ष्ण तलवार थी। कुवलयचन्द्र एवं भिल्लपति ने इसी से युद्ध लड़ा था, किन्तु मंडलाग्र तोड़ दिये गये थे (१३७.२४)। इसकी धार पर पानी चढाया जाता था (यश०, ५६५)।

मुद्गर—मुद्गर का प्रहार शत्रु को चूर कर देता था (१९५.२७)। चूर करने वाले अस्त्रों में मुद्गर, मुसल और घन प्रधान थे। मुद्गर का अंकन कला में भी मिलता है।[४]

यन्त्र—यन्त्र शत्रु की सेना पर शस्त्र फेकने वाला साधन था। इतिहास में यन्त्र प्रयोग के अनेक उदाहरण मिलते है। १२९९ ई० में रणथम्भोर के किला से यन्त्र द्वारा फेंके गये पत्थर की चोट से अलाउद्दीन खिलजी का सेनापति नुसरतखान मारा गया था। ११८९-९१ ई० में एक किले को तोड़ने के लिये फ्रेन्च सेना ने यन्त्र का ही प्रयोग किया था। तोपो के उपयोग के बाद भी यन्त्रों का प्रयोग होता रहा। १४८० ई० मे यूरोप में रोडसन किला के युद्ध में यन्त्रों में पत्थर भर कर फेंके गये तोपों जैसे प्रभावशाली हुए। महारीवी नाम का यन्त्र लगभग ५६ सेर वजन का पत्थर फेंकता था।[५] शत्रु की सेना मे रोग फैला देने के लिए इन यन्त्रों द्वारा मरे हुये घोड़े या गाय आदि को भी किले के जलाशय में फेक देते थे।[६]

वज्र (अशनि)—उद्द्योतनसूरि ने धातुवाद में असफल नरेन्द्रों की उपमा वज्र के द्वारा प्रहार किये गये व्यक्तियों से दी है—'**वज्जेणेव पहया**' (१९५.२७)। इससे ज्ञात होता है कि वज्र का प्रहार असहनीय होता था। प्राचीन भारतीय

---

१. वर्णकसमुच्चय—सांडेसरा, पृ० १०८.
२. बनर्जी—वही, पृ० ३२८, फलक ७, चित्र ४.७, फलक ९ चित्र १.
३. वही, पृ० ३२९.
४. शिवराम मूर्त्ति—अमरावती फलक १०, चित्र १२.
५. कान्हड़ दे प्रबन्ध, चतुर्थखण्ड, ३५.
६. साडेसरा—वर्णक समुच्चय, भाग २, पृ० १०८-९.

साहित्य में वज्र के अनेक उल्लेख मिलते हैं,[1] जिनमें प्रायः वज्र को इन्द्र का हथियार माना गया है।[2] किन्तु बाद के चित्र और शिल्प में अनेक देवी-देवताओं के हाथ में भी यह हथियार देखने को मिलता है। बुद्धदेवी वज्रतारा की मूर्तियों में एक हाथ में वज्र का अकन मिलता है।[3]

वज्र को अशनि भी कहा गया है, जो इसकी भयंकरता का प्रतीक है। प्राचीन शिल्प और चित्रों में अंकित वज्र से उसकी आकृति का पता चलता है। वज्र के दो रूप प्रचलित थे—एक डण्डे के आकार का, बीच में पतला और दोनों किनारों पर चौड़ा तथा दूसरा, दो मुंह वाला, जिसमें दोनों ओर नुकीले दाँत बने होते थे।[4]

इतनी प्रसिद्धि के बाद भी वज्र का युद्ध में प्रयोग होता था या नहीं, यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः प्राचीन समय में इसका प्रयोग होता रहा हो और बाद में यह केवल शिल्प और कला में ही अंकित होता रहा हो।[5]

शक्ति—उद्द्योतन ने शक्ति का चार बार उल्लेख किया है। शक्ति हृदय-विदारण करने में समर्थ होती थी—'**सत्ति पिव हिययदारणपच्चलं**' (२३३.२९)। शक्ति का प्राचीन साहित्य में भी उल्लेख मिलता है।[6] यह सम्पूर्ण रूप से लोहे का बना भाले के समान अत्यन्त तीक्ष्ण आयुध था[7]—**शक्तिश्च विविधास्तीक्ष्णा** (महाभारत, आदिपर्व ३०.४९)। शक्ति स्कन्द कार्तिकेय तथा दुर्गा का अस्त्र माना जाता है। कार्तिकेय की मूर्ति के बायें हाथ में शक्ति का अंकन देखा जाता है।[8]

वसुनन्दक—कुवलयमालाकहा में इसका चार बार प्रयोग हुआ है। वर्णन से ज्ञात होता है कि यह विशेष प्रकार का अस्त्र था, जो शत्रु पर फेंक कर मारा जाता था (१३६.२४)। सम्भवतः इस आयुध में कुछ मन्त्रसिद्धि भी रहती थी।[9]

---

१. ऋग्वेद (३.५६.२, सिद्धान्त कौमुदी (२.१.१५); रामायण (सुन्दर० ४.२१), महाभारत (७.१३५.९६); रघुवंश (८.४७); उत्तराध्ययन (२०-२१) आदि।
२. मोतीचन्द्र—जैन मिनिएचर पेंटिंग्ज, चित्र ६०, ६१, ६२, ६९, ७२.
३. भटशाली—आइकोनोग्राफी आफ बुद्धिस्ट स्कल्पचर्स इन द ढाका म्युजियम, पृ० ४९, पृ० २३, तथा ३० पर फलक ८, चित्र १ ए।
४. बनर्जी—द डेवलपमेन्ट आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, पृ० ३३० फलक ८, चित्र ८; फलक ९, चित्र २-६.
५. गोकुलचन्द्र जैन, यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २०९।
६. महाभारत, द्रोणपर्व, १८६.
७. यशस्तिलकचम्पू—सर्वलौहमयीशक्तिरायुधविशेषः, पृ० ५६२, सं० टी०।
८. भटशाली—द आइकोनोग्राफी०, पृ० १४७, फलक ५७, चित्र ३ ए.
९. जं जं परम-रहस्सं सिद्धं वसुणन्दयं च खग्गं च—कुव० २५०.२५.

शस्त्रास्त्रों के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि उद्द्योतनसूरि ने कुवलयमाला में प्राय: उन सभी अस्त्रों का उल्लेख किया है, जो प्राचीन समय में युद्ध-क्षेत्र में प्रचलित तथा शिल्प और कला में अंकित थे।

रोग और उनकी परिचर्या

इस प्रकार उद्द्योतनसूरि ने कुवलयमाला में तत्कालीन समाज का चित्रण करते हुए जीवन के संहारक उपर्युक्त शस्त्रास्त्रों का उल्लेख करते हुए बतलाया है कि मनुष्य की मृत्यु या तो इन शस्त्रास्त्रों से होती है अथवा अनेक प्रकार के रोगों से आक्रान्त होकर वह मरता है। इस प्रसंग में उन्होंने अनेक रोगों के भी नाम गिनाये हैं तथा उनकी परिचर्या एवं निदान आदि का भी संकेत दिया है।

कुवलयमाला में विभिन्न प्रसंगो में[1] इन रोगों का उल्लेख हुआ है[2] :—

अरिसा (ववासीर)	अक्षीरोग (**अच्छी-दुक्खेण**)
उदररोग (**उपरेण-भग्गो**)	कंठरोग (१६.१७)
कर्णव्याधि (१६.१९)	कुष्ट (**कुट्ठेण अहं सडिओ**, ५५.१५)
खांसी (**खासेण मओ**)	जलोदर (४१.२८)
दंतवेदना (**दंतवियणाएँ**)	पुरीपव्याधि (**पुरीस-वाहो**)
पोट्टसूल (२७४.१०)	फोड़ा (४१ २८)
फोड़ी (**फोडीए** २७४.९)	भगन्दर (४१.२८)
मारी (**मारीए** = हैजा)	रुधिरप्रवाह (२७४.८)
लूग्रा (**लूमा ए हम्रो** = वातरोग)	विस्फोटक (विप-फोड़ा)
सन्निपात (११४.२७)	सर्पदंश (**भुजंग-डक्को** २३७.३)
सिर-वेदना (**सिर-वियणाएँ**)	स्वासरोग (**सोसेण सोसिय सरीरो**)

इन रोगो की पहचान एवं इनके निदान के सम्बन्ध में कुवलयमाला में कुछ विशेष नहीं कहा गया है। इनसे मृत्यु सम्भव है, यह अवश्य सूचित किया गया है। भगन्दर, कुष्ठ, सन्निपात, विरेचन एवं सर्पदश के सम्बन्ध में कुव० में संक्षिप्त जानकारी दी गयी है।

भगन्दर—कोई व्यक्ति भगन्दर रोग के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में पीड़ा पाकर निधन को प्राप्त होता है।[3] वैद्यक-शास्त्र में भी भगन्दर को भयंकर रोग बताया

१. सिर-दुह-जर-वाहि-भगंदराभिभूएहिं दुक्ख-कलिएहिं।
सास-जलोदर-अरिसा-लूया-विप्फोड-फोडेंहि ॥ —कुव० ४१.२८.
सुह-दुक्ख-जर-भगंदर-सिरवेयण-वाहि-खास-सोसाई। —वही, १६२.३२.

२. कत्थइ खासेण मओ' ' 'सूलेण णवर पोट्टस्स। —वही, २७४, ५-१०.

३. कत्थइ भगंदरेण दारिय-देहो गओ णिहणं। —२७४.६.

गया है। भावप्रकाश के अनुसार गुदा के पास पीड़ायुक्त फुंसिया होने पर भगन्दर होता है।[1] पाश्चात्य वैद्यक में भगन्दर को 'फिस्चुला इन एनो' कहते हैं।[2]

कुष्ठ—मथुरा के अनाथ-मण्डप में कुष्ट रोग से पीड़ित अनेक व्यक्ति रहते थे, उन्हें विश्वास था कि मूलस्थान भट्टारक के पास जाने से कुष्ट रोग दूर हो जाता है।[3] सूर्य की पूजा के लिए मूलस्थान प्रसिद्ध रहा है। कुष्ट रोग के निवारण के लिए सूर्यपूजा प्राचीन समय से प्रचलित रही है। उद्द्योतनसूरि ने कहा है कि कुष्ठ रोग से शरीर के समस्त अंग सड़ जाते हैं।[4] सम्भवतः उनका संकेत श्वेत कुष्ठ रोग की तरफ है।

सन्निपात—उद्द्योतन ने सन्निपात के कारण, लक्षण एवं निदान की जानकारी दी है।

कुमार कुवलयचन्द्र को दक्षिण-यात्रा में विन्ध्याटवी में अत्यन्त प्यास लगी। बहुत भटकने के बाद उसे एक सरोवर दिखायी दिया। कुमार पानी पीने जैसे ही उसके तट पर पहुँचा उसे आयु-शास्त्र में पढ़ी हुई बात याद आयी—**आयुसत्थेसु मए पढियं** (११४.१३)—कि 'तीव्र भूख-प्यास लगने पर, परिश्रम से थके होने पर तुरन्त ही पानी अथवा भोजन नहीं करना चाहिये। क्योंकि वायु, पित्त, कफ आदि जो सात धातुएँ व दोष हैं उन्हें तृष्णा से तप्त शरीर के जीवाणु विभिन्न स्थानों में विचलित कर देते हैं। इस प्रकार विसम स्थानों में धातुएँ होने से यदि उसी समय पानी पी लिया जाय, भोजन कर लिया जाय अथवा स्नान किया काय तो वे धातुएँ वहीं दूसरे के स्थानों पर स्थिर हो जाती हैं, जिससे उसी समय सन्निपात नाम का महारोग हो जाता है—**'तत्थ संणिवाओ णाम महादोसो तक्खणं जाय इति'**—(११४.२७)। सन्निपात होने से सिर-वेदना जैसी महाव्याधि उत्पन्न होती है तथा उसी क्षण मृत्यु हो जाती है।[5] अतः जानबूझ कर इस समय स्नान करना उपयुक्त नहीं है।'

ऐसा सोच कर कुवलयचन्द्र कुछ समय के लिए एक तमाल वृक्ष की छाया में बैठ कर विश्राम करने लगा। शीतलवयार से जब उसका परिश्रम शान्त हो गया तब उसने पानी आदि पिया।

सन्निपात रोग का यह कारण एवं लक्षण वैद्यकशास्त्र के अनुरूप है। सोमदेव ने धूप में से आकर तुरन्त पानी पी लेने से दृग्मान्द्य रोग उत्पन्न होने की बात की है।[6]

---

१. भावप्रकाश, भाग २ चि० भ० श्लोक १-२.
२. वही, पृ० ५३९.
३. कुव० ५५,१०.१८.
४. कत्थइ कुट्ठेण अहं सडिओ सव्वेसु चेय अंगेसु—वही० २७४ ६.
५. तेण य सीस-वेयणाइया महावाहि-संघाया उप्पज्जंयति। अण्णे तक्खणं चेय विवज्जंति।—वही, ११४.२७.
६. दृग्मान्द्यभागातपितोम्बुसेवी।—यश०, पृ० ५०९.

मद्यपान से उत्पन्न रोग—दर्पफलिक की सौतेली माँ, मन्त्री एवं वैद्य ने मिलकर उसे ऐसी दवाइयों का योग उसकी सुरा में मिलाकर दे दिया, जिसे पीनी से कालान्तर।में मरण अवश्यम्भावी था।[1] उस योग से दर्पफलिक की स्मृति जाती रही—**विसंमिडं पयत्तो मज्झ सो जोओ**—। वह पागलों जैसी हरकतें करता हुआ राज्य से निकल गया। घूमता हुआ जब वह विन्ध्यपर्वत की कन्दराओं में पहुँचा तो उसने बेल, सल्ल, तमाल, हर्र, बहेड़ा, आवला आदि के पत्तों, फलों से युक्त झरने के कषाय पानी को पीलिया और छाया में विश्राम करने लगा। थोड़ी देर बाद समुद्र की तरंगों की तरह उसका पेट गुड़गुड़ाने लगा—**उवरब्भंतरो जाओ** (१५४-१२)। एवं विरेचन हो गया। उसने बार-बार पानी पिया और हर बार वमन हो गया। और इस प्रकार उसकी बीमारी दोषमुक्त हो गयी—**सव्व दोसक्खओ जाओ**। उसे सब बाते स्मरण हो आयी और वह पहले जैसा स्वस्थचित्त हो गया—**सव्वहा पढमं पिव सत्थचित्तो जाओ**—(१४५-१५)। चिकित्साशास्त्र में विरेचन द्वारा स्वास्थ्य लाभ करना अति प्रसिद्ध निदान है।

सर्पदंश का निदान—उद्द्योतनसूरि ने दुर्जनों का वर्णन करते हुए कहा है कि दुर्जन काले सर्प से भी भयंकर होते हैं। क्योंकि काले सर्प के काटने पर उसका विष उदर की सफाई के बाद नष्ट किया जा सकता हैं—**सव्वहा पोट्टेण च कसइ** (६.४)। किन्तु दुर्जन के काटने का कोई इलाज नहीं। विष को मन्त्रों के द्वारा रसायण भी बनाया जा सकता है--**महुरं मंतेहि च कीरइ रसायणं** (६.५)--किन्तु दुर्जन के मुख में हमेशा कटुता ही बनी रहती है।

कु० में अन्यत्र भी सर्प के विष की औषधि विपरसायण को ही माना गया है।[2] कामज्वर से पीड़ित व्यक्ति की व्याधि काम सेवन से ही दूर होती है। क्योंकि विष की औषधि विष ही है। सर्पदंश के लिए गरुड़-मन्त्रों का जाप गुणकारी माना जाता था (२३६.१४)।

रोगों के निदान के लिए वैद्य अनेक प्रकार की क्रियाएँ करते थे, जो रोग को उसी प्रकार हर लेती थी जैसे जिनेन्द्र भगवान् जीवों के दुःखों को दूर कर देते है।[3] वैद्यकशास्त्र के प्रणेताओं में धनवन्तरि के सदृश महावैद्य राजा दृढवर्मन् की सभा में आयु-शास्त्र का विवेचन करते थे।[4] समाज में वैद्य की पर्याप्त प्रतिष्ठा थी। यह मान्यता थी कि किसी रोगी के निदान के लिए वैद्य को

१. संजोइयं जोइयं, कालंतर-विडंवणा-मरण-फलं दिण्णं च मज्झपाणं—कुव० १४४.३०.

२ जो किर भुयंग-डक्को-डंके अह-तस्स दिज्जए महुरं।
एसा जणे-पउत्ती विसस्स विसमोसहं होइ॥ —कुव० २३६.३.

३. जह आउराण वेज्जो दुक्खविमोक्खं करेइ किरियाए।
तह जाण जियाय जिणो दुक्खं अवणेइ किरियाए॥ १७९.१९

४. उग्गाहेंति आउ-सत्थं धण्णंतरि-समा महावेज्जा—१६.२०.

बुलाने हेतु दो व्यक्तियों को जाना चाहिए—**वच्चइ दुवे वि वच्चइ, एक्को दुओ ण जाइ वेज्ज घरे** (२३६.१७)। वैद्य विभिन्न औषधियों की जड़ें दवाइयों के लिए प्रयोग में लाते थे। अतः मूल (जड़) के प्रयोग के कारण वैद्यों को भी मूलक स्त्री-वैद्यों को मूलिका कहा जाता था। कुमार महेन्द्र कुवलयचन्द्र से कहता है कि तुम्हारी कामज्वर-व्याधि को वैद्या कुवलयमाला ही दूर सकती है—**मयण महाजर वियणा-हरी मूलिया कुवलयमाला** (१६६.३०)।

मृतक व्यक्ति की पहचान के लिए आँखों की पुतलियाँ देखी जाती थी, उसके हृदय पर हाथ रख कर नाड़ी की गति देखी जाती थी तथा मुख पर हाथ रख कर स्वांस का अनुभव किया जाता था। शरीर के सभी मर्मस्थानों में मालिश की जाती थी और शरीर की उष्णता व शीतलता की पहचान की जाती थी। शीतल शरीर का अनुभव होते ही रोगी को मृत समझ लिया जाता था (२३८-२७-३०)।

इस प्रकार रोग एवं उनकी परिचर्या के उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि उद्द्योतनसूरि के समय में विभिन्न रोगों के उपचार की शास्त्रीय व्यवस्था थी तथा कुछ उपचार देशी दवाओं एवं लौकिक प्रयोगों द्वारा भी होते थे।

उद्द्योतनसूरि ने इस प्रकार अपने ग्रन्थ में तत्कालीन समाज के विभिन्न चित्र उपस्थित किये हैं। आर्य, अनार्य-जातियों, पारवारिक-जीवन, सामाजिक-संस्थाओं एवं आयोजनों तथा वस्त्र, अलंकार एवं प्रसाधन की विभिन्न सामग्रियों के सम्बन्ध मे उन्होने जो भी जानकारी दी है, वह उस युग की संस्कृति एवं सभ्यता की द्योतक है। न केवल नगर-सभ्यता एव राजनैतिक-जीवन का अपितु ग्रामीण-जीवन के चित्र भी कुवलयमाला में अंकित है। इन सबसे यह स्पष्ट है कि उद्द्योतनसूरि यथार्थ समाज के सूक्ष्म द्रष्टा थे तथा समाज की यह सब समृद्धि तत्कालीन आर्थिक-जीवन एवं वाणिज्य-व्यापार की उन्नति पर निर्भर थी।

अध्याय चार

आर्थिक जीवन

परिच्छेद एक

अर्थोपार्जन के विविध साधन

प्राचीन भारतीय व्यापारिक क्षेत्र में यद्यपि धन कमाने का प्रमुख साधन अनेक वस्तुओं का क्रय-विक्रय ही था, तथापि धनार्जन के लिए अनेक सही एवं गलत तरीकों का भी उपयोग होता था। कुछ कार्य ऐसे थे जिनसे धन तो आता था किन्तु वे उपाय निन्दनीय समझे जाते थे। और कुछ कार्य ऐसे थे जो निन्दनीय नहीं थे, यद्यपि उनसे लाभ सीमित होता था।

उद्द्योतनसूरि ने कुवलयमालाकहा में इन दोनों प्रकार के साधनों का वर्णन किया है। कुछ अन्य साधन भी उल्लिखित हैं, जो तत्कालीन समाज में धनार्जन के लिए प्रयुक्त होते रहे होंगे।

निन्दित साधन

मायादित्य और स्थाणु के मन में जब धन कमाने की बात उठी तथा पहला प्रश्न यही उठा कि कैसे धन कमाया जाय, क्योंकि बिना धन के धर्म एवं काम दोनों लौकिक पुरुषार्थ पूरे नहीं हो सकते,[1] तब मायादित्य ने सुझाया— 'मित्र, यदि ऐसी बात है तो वाराणसी चलो। वहाँ हम लोग जुआ खेलेंगे, सेंध लगायेंगे (खनन करेंगे), कर्णाभूषण छीनेंगे, राहगीरों को लूटेंगे, जेब काटेंगे (गांठ काटेंगे), मायाजाल रचेंगे, लोगों को ठगेंगे तथा वह सब काम हम करेंगे, जिस-जिससे धन की प्राप्ति होगी'।[2] स्थाणु को यह सुनकर बड़ा खेद हुआ। उसने इन्हें

---

१. धम्मत्थो कामो वि''''तह वि करेमो अत्थं होहिइ अत्थाओ सेसं पि। —कुव० ५७.१३-१५.

२. जइ एवं मित्त, ता पयट्ट, वाणारसिं वच्चामो। तत्थ जूयं खेल्लिमो, खत्तं खणिमो, कण्णुं तोडिमो, पंथं मूसिमो, गंठिं छिण्णिमो, कूडं रइमो, जणं वंचिमो, सव्वहा तहा तहा कुणिमो जहा जहा अत्थं-संपत्ती होहिइ। —कुव० ५७.१६.१७.

धनार्जन के निन्दित साधन बतलाया, जो उसके सज्जन स्वभाव के प्रतिकूल थे एवं उनको अपनाने में दोष लगता था (५७.३३)। इन निन्दित साधनों के अतिरिक्त ग्रन्थ में अन्यत्र जीव-जन्तुओं को बेचकर धन कमाना निन्दनीय माना गया है तथा जो ऐसा करता है वह मरकर दासत्व को प्राप्त करता है।[1] अर्थोपार्जन के उक्त साधन समाज में सामान्यरूप से तो निन्दनीय थे ही, जैनपरम्परा की अहिंसक भावना के कारण जैनाचार्यों द्वारा भी उनका निषेध किया जाता था। धर्मबिन्दु एवं उपमिति-भवप्रपंचकथा में ऐसे अनेक हिंसक कार्यों का धनोपार्जन के लिए निषेध किया गया है[2] :—

अनिन्दित साधन

मायादित्य के पूछने पर स्थाणु ने धनोपार्जन के निम्नोक्त अनिन्दित साधन बतलाये जो ऋषियों द्वारा कथित हैं।[3]

१. देशान्तर में गमन (**दिसि गमणं** ५७.२४),
२. साझीदार बनाना (**मित्तकरणं**),
३. राजा की सेवा (**णरवर-सेवा**),
४. नाप-तौल में कुशलता (**कुसलत्तणं च माणप्पमाणेसु**),
५. धातुवाद (**धाउव्वाओ**),
६. मन्त्रसाधना (**मंतं**),
७. देव-आराधना (**देवयाराहण**),
८. कृषिकार्य (**केसि**),
९. सागर-सन्तरण (**सायर-तरणं**),
१०. रोहण-पर्वत का खनन (**रोहणम्मि खणणं**),
११. वाणिज्य (**वणिज्जं**),
१२. नौकरी आदि (**णाणाविहं च कम्मं**),
१३. विभिन्न प्रकार की विद्याएँ तथा शिल्प (**वज्जा-सिप्पाइं णेय-रूवाइं**)।

उद्द्योतन ने इन सभी अर्थोपार्जन के साधनों का कुव० में प्रयोग किया है। इनमें से कुछ साधन तो स्पष्ट हैं, कुछ पर संक्षेप में प्रकाश डालना उचित होगा।

---

१. जाइ-मउम्मत्त-मणो जीवे विक्किणइ जो कयग्घोय।
सो इंदभूइ मरिउं दासत्त वच्चए पुरिसो ॥—कुव० २३१.२८.

२. उद्धृत—शा०—रा० ए०, पृ० ४९३.

३. रिसीहिँ एवं पुरा भणियं—अत्थस्स साहयाइं अणिंदियाइं च एयाइं।
—कुव० ५७-२४, २६.

देशान्तर-गमन—कुव० में देशान्तर-गमन के अनेक उल्लेख हैं। मायादित्य, धनदेव, सागरदत्त आदि वणिक्-पुत्रों ने विदेश जाकर ही धन कमाया है। १८ देश के व्यापारियों का एक स्थान पर एकत्र होने का सन्दर्भ व्यापारिक क्षेत्र में देशान्तर-गमन की प्रमुखता की ओर संकेत करता है। तत्कालीन साहित्य—कादम्बरी, समराइच्चकहा, हरिवंशपुराण आदि में भी देशान्तर-गमन द्वारा धनोपार्जन के अनेक उल्लेख मिलते हैं।

व्यापार के लिए देशान्तर में जाना कई कारणों से लाभदायक था। घर से दूर रहकर निश्चिन्तता-पूर्वक व्यापार किया जा सकता था। वहाँ परिस्थिति के अनुसार रहन-सहन के द्वारा लोगों को आकर्षित किया जा सकता था। प्रमुख बात यह कि अपने देश की उत्पन्न वस्तुएँ सुदूर-देश में मनचाहे भाव पर बेचने में भी लाभ एवं वहाँ पर उत्पन्न वस्तुओं को सस्ते भाव में खरीदकर अपने देश में लाकर बेचने में भी लाभ उठाया जा सकता था। इसके अतिरिक्त अन्तर्देशीय व्यापारिक मण्डल के अनेक अनुभव भी हो जाते थे। तरुण वणिक्-पुत्रों को अपने बाहुबल द्वारा धन कमाने का अवसर भी प्राप्त हो जाता था, जिसके लिए वे बड़े उत्सुक रहते थे।

साझीदार बनाना—किसी मित्र व्यापारी के साथ यात्रा (व्यापार) करने में कई लाभ होते हैं। प्रथम, यात्रा में किसी प्रकार का डर नहीं रहता। दूसरे, यदि व्यापार में घाटा पड़ जाय तो सारा नुकसान अकेले नहीं उठाना पड़ता। तीसरे, परस्पर की सूझ-बूझ और व्यापारिक चतुरता का फायदा उठाया जा सकता है। कुव० में मायादित्य और स्थाणु एक साथ व्यापार के लिए निकले थे।[1] उन्होंने बराबर धन कमाया था। धनदेव और भद्रश्रेष्ठी दोनों साझीदार थे (६६.३३)। सागरदत्त ने विदेश में जाकर ही एक व्यापारी को मित्र बनाकर अपना व्यापार किया (१०५.२३)। व्यापारिक क्षेत्र में साझीदारी एक परम्परा थी। जातकों में (१.४०४, २ ३०, ३.१२६) साझीदारी के अनेक उल्लेख हैं। स्मृतियों में इसी को **'सम्भूयसमुत्थान व्यवहार'** कहा गया है, (नारद ३.१)।[2]

किन्तु एक ओर जहाँ साझीदार बनने-बनाने में फायदा है, वहाँ कभी कभी नुकसान भी उठाने पड़ते है। साझीदार यदि ईमानदार न हुआ तो मुसीबत हो जाती है। लालचवश मायादित्य ने स्थाणु को कुएँ में डाल दिया था (६१.१५, १९) और धनदेव ने भद्रश्रेष्ठी को समुद्र में (६७.२०), ताकि उन्हें उनका हिस्सा न देना पड़े। अर्जित की हुई सारी सम्पत्ति खुद के हाथ लग जावे। इस प्रकार के बेईमान साझीदारों के तत्कालीन साहित्य में अनेक उल्लेख है।[3]

नृपसेवा—धनार्जन के लिए राज-सेवा हर जगह प्रचलित है। सामान्यतया जो व्यक्ति राजदरबार में किसी भी पद पर कार्य करते हैं उन्हें राजा को खुश

---

१. गहिय-पच्छयणा णिग्गया दुवे वि—कुव० ५७.२८.

२. विशेष के लिए द्रष्टव्य—रा०—प्रा० न०, पृ० ३२३.

३. द्रष्टव्यः—समराइच्चकहा, तिलकमंजरी आदि।

रखना ही पड़ेगा। किन्तु व्यापारी लोग भी राजा की सेवा करते थे। जब कोई व्यापारी अपने सार्थ के साथ किसी राज्य में पहुँचता था तो पहले वहाँ के राजा से विविध बहुमूल्य भेंट के साथ मिलता था। धनदेव जैसे ही रत्नद्वीप में पहुँचा उसने उपयुक्त भेंट ली। जाकर राजा से मिला और उसे प्रसन्न किया।[1] इससे ज्ञात होता है कि किसी भी राज्य में व्यापार करने के पूर्व वहाँ के शासन की अनुमति लेना आवश्यक थी।

नाप-तौल में कुशलता—'कुशलत्तणं च माणप्पमाणेसु' का अर्थ है माप-तौल के कार्य में कुशल होना। व्यापारिक-वस्तुओं की प्रामाणिकता और नकलीपन को कुशल व्यापारी ही पहचान सकता है। असली माल खरीदने पर ही लाभ सम्भव है। धनदेव के पिता ने इस व्यापारिक कुशलता की ओर संकेत भी किया है कि माल का परीक्षण करना बड़ा कठिन है—**दुप्परियल्लं भंडं** (६५.१५)। इसके अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु की सही नाप-तौल के लिए विज्ञ होना और धर्मकांटा लगाकर उसकी व्यवस्था करना भी इस अर्थोपार्जन में सहायक होता रहा होगा।

इस बात-चीत के प्रसंग में धुर, वहेड, गोत्थण, मंगल, सुत्ती आदि शब्द विशेष संख्या के द्योतक हैं। कुव० की 'जे' प्रति के हासिये पर ऐसे संख्यासूचक कुछ शब्द लिखे हुए हैं।[2] उनमें से २ संख्या के लिए धुरं, ६ के लिए बहेडो, ४ के लिए गोत्थण एवं २० के लिए सुत्ती शब्द प्रस्तुत प्रसंग में प्रयुक्त हुए हैं। मंगलं किस संख्या के लिए प्रयुक्त हुआ है, इसका निर्देश वहाँ नहीं है। सम्भवतः ८ सख्या के लिए मंगलं का प्रयोग हुआ है। सख्या के लिए प्रतीकों का प्रयोग भारतीय गणित में प्राचीन समय से होता रहा है।

धातुवाद—विभिन्न रसायनों द्वारा धातुओं से स्वर्ण बनाना भी अर्थ प्राप्ति का साधन था। आठवीं सदी में धातुवाद का पर्याप्त प्रचार था एवं यह एक विद्या के रूप में विकसित हो चुका था। उद्द्योतन ने धातुवाद का विशद वर्णन प्रस्तुत किया है। इस पर विशेष अध्ययन आगे प्रस्तुत है।

देव-आराधना—धनार्जन के लिए जाते समय मांगलिक कार्य किये जाते थे। इष्ट देवताओ की आराधना की जाती थी। प्रत्येक कार्य के लिए अलग-अलग देवताओं की आराधना को शुभ माना जाता था। चोरी को जाते समय चोर खरपट, महाकाल, कात्यायनी आदि की आराधना करते थे।[3] विदेशगमन के समय समुद्र-देवता की आराधना की जाती थी।[4] इष्टदेवों को स्मरण किया जाता था।[5] खनन कार्य द्वारा धन प्राप्ति के लिए धरणेन्द्र, इन्द्र, धनक एवं धनपाल

१. उत्तिणा वणिया गहियं दंसणीयं। दिट्ठो राया कयो पसाओ—६७.१२.
२. द्रष्टव्य—उपाध्ये, कुव० १५३.१७ का फुटनोट।
३. द्रष्टव्य—ज०—जै० भा० स०, पृ० ७१.
४. पूइऊण समुद्ददेवं १०५-३२.
५. सुमरिज्जंति इट्ठ-देवए—वही—६७.२.

की आराधना सागरदत्त ने की थी ।[1] यह परम्परा आज भी देखी जाती है । जो व्यक्ति जिस साधन के द्वारा पैसा कमाता है, मुहूर्त के समय उस विशिष्ट साधन की पूजा की जाती है ।

सागर-सन्तरण—प्राचीन भारत में व्यापार के दो ही प्रमुख केन्द्र थे—स्थानीय व्यापारिक मण्डियाँ और विदेशी व्यापार । विदेशी व्यापार के लिए समुद्र-पार जाना होता था । अतः समुद्र-संतरण अर्थोपार्जन के लिए आवश्यक माना गया । सागर-संतरण द्वारा आर्थिक लाभ इसलिए अधिक होता था कि अपने देश की वस्तुएँ देशान्तर में मनमाने भाव पर बेची जा सकती थीं और वहाँ से उनके बदले स्वर्ण आदि लाया जा सकता था । कुवलयमाला में सागर-संतरण के अनेक उल्लेख हैं (६६.१, ५ आदि) । जिनके सम्बन्ध में आगे विस्तार से विचार किया गया हैं । यद्यपि सागर-संतरण से अपार धन की प्राप्ति होती थी, किन्तु जान की जोखिम जैसी अनेक कठिनाइयाँ भी उठानी पड़ती थीं ।[2]

रोहण पर्वत-खनन—रोहण नामक पर्वत पाताल में स्थित माना गया है । ऐसी मान्यता है कि वह स्वर्ण-निर्मित है । वहाँ पहुँचकर लोग उसको खोदकर स्वर्ण ले आते थे और धनवान बन जाते थे । कुवलयमाला में ऐसे दो प्रसंग आये हैं, जहाँ रोहण-खनन का उल्लेख है । सागरदत्त जब अपमानित होकर धन कमाने के लिए घर से निकल जाता है तो एक उद्यान में बैठकर सोचता है कि धन कमाने के लिए वह क्या करे ? मगर-मच्छों से युक्त समुद्र को पार करे अथवा जो पाताल में स्थित है उस रोहण पर्वत का खनन करे ।[3]

दूसरा उल्लेख है, जब चम्पानगरी के निर्धन वणिक्पुत्र अनेक तरह के व्यापार करते हुए धन प्राप्त करने में सफल नहीं होते तो अन्त में किसी तरह रोहण नामक द्वीप में पहुँच जाते हैं । उसका नाम सुनते ही हर्षित होकर सोचते हैं—इस श्रेष्ठ द्वीप में अपुण्यशाली भी धन प्राप्त करते हैं अतः हम इसे खोदकर रत्नों की प्राप्ति करें ।[4]

उक्त दोनों प्रसंगों से लगता है, रोहण-खनन धन प्राप्त करने का अन्तिम उपाय था । अतः जो व्यक्ति अन्य किसी साधन से धन न कमा पाये वह रोहण-खनन की बात सोचता था । उसमें प्रवृत्त होता था । ऐसा प्रतीत होता है कि धनोपार्जन का यह साधन श्रम के प्रतीत के रूप में प्रयुक्त हुआ है । जैसे पाताल में पहुँचकर स्वर्ण लाना श्रमसाध्य है, वैसे ही असफल व्यापारी को चाहिए कि पुनः श्रम करे तो उसे सफलता मिलेगी ही ।

---

१. णमो इंदस्स, णमो घरणिंदस्स, णमो धणयस्स, णमो धणपालस्स त्ति ।
—वही० १०४.३१.

२. दुत्तरो जलही''''सुन्दरं वाणिज्जं जस्स जीवियं ण वल्लहं ।—६६.७, ९.

३. जा पायालं पत्तो खणमि ता रोहणं धेय । —कुव० १०४.१८.

४. एयं तं दीववरं जत्थ अउण्णो वि पावए अत्थं ।
संवइ ताव खणामो जा संपत्ताइं रयणाइ ॥ —वही० १९१.२२.

रोहण पर्वत को रोहणद्वीप भी कहा गया है। सम्भव है, दक्षिण-पूर्व एशिया में कहीं इस नाम का द्वीप रहा हो, जहाँ से व्यापार करने में स्वर्ण की (अधिक लाभ) प्राप्ति होती हो। भौगोलिक सामग्री के अन्तर्गत इस पर विशेष विचार किया जा चुका है।

खान्यवाद—उपर्युक्त साधनों के अतिरिक्त कुवलयमालाकहा में खान्यवाद द्वारा भी धन प्राप्त करने का उल्लेख है। सागरदत्त जब इच्छित धन कमाने में असमर्थ हो जाता है तो अपना जीवन नष्ट करने को सोचता है। तभी उसे मालूर का वृक्ष दिखायी पड़ता है। उसे देखकर नयी-नयी सीखी गयी खान्यविद्या सागरदत्त को याद हो आती है। वह इस विद्या से सम्बन्धित सभी बातों पर विचार कर यथेष्ट धन प्राप्त कर लेता है। इस वर्णन-प्रसंग में खान्यवाद से सम्बन्धित निम्नांकित जानकारी प्राप्त होती है।

१. खन्यवाद विद्या शिक्षण का विषय थी।
२. क्षीरवृक्ष के अतिरिक्त अन्य वृक्ष के साथ यदि माले (मालूर) की वेल (वृक्ष) हो तो अधिक धन होता है, अन्यथा कम।
३. बिल्व और पलाश के वृक्ष के नीचे तो निश्चित ही धन होता है।
४. वृक्ष यदि पतला हो तो धन थोड़ा एव मोटा हो तो बहुत धन होता है।
५. वृक्ष का रग कृष्ण होने पर बहुत एवं उजला होने पर कम धन होता है।
६. वृक्ष को खोदने पर यदि रक्त आभा निकले तो रत्न, दूध निकले तो चाँदी एवं पीली प्रभा निकले तो स्वर्ण नीचे छिपा होता है।
७. वृक्ष जितना जमीन के ऊपर लम्बा होगा, धन उतना ही नीचे छिपा होगा।
८. यदि वृक्ष की शाखाएँ पतली एव तना स्थूल होगा तो उस धन की प्राप्ति सम्भव है, अन्यथा नहीं।
९. देवताओं की आराधना द्वारा वृक्ष की जड़ खोदी जाती थी।[१]
१०. धन प्राप्त करने के बाद शेष धन पाताल में अदृश्य हो जाता था।[२]

साधनों की प्रतीकात्मकता—धनोपार्जन के उपर्युक्त साधनों के लौकिक प्रयोग तत्कालीन समाज मे अवश्य प्रचलित रहे होंगे। उनसे धन की प्राप्ति भी होती रही होगी। किन्तु कभी निराश भी होना पड़ता होगा। इसीलिए उद्द्योतन ने इन सभी साधनों को धार्मिक-प्रतीकों द्वारा समझाया है, जिससे असार धन के

---

१. एक्कस्स मालूर-पायवस्स—दे खणामि, देवं णमामो त्ति। —कुव० १०४.२१, ३१.

२. णिही वि झत्ति पायाले अदंसणं गओ। —वही १०५.२.

स्थान पर अक्षय मोक्ष-सम्पदा की प्राप्ति हो सकती है। कुव० में चम्पा के दो वणिकपुत्रों को विभिन्न व्यापारिक कार्य करते हुए दिखाया गया है तथा कुछ कार्यों के धार्मिक प्रतीक प्रस्तुत किये गये हैं।

अर्थोपार्जन के विविध साधनों के उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में धन कमाने के लिए अनेक साधन उपयोग में लाये जाते थे। वाणिज्य, कृषि, शिल्प एवं अनेक विद्याएँ, जिनमें प्रमुख थीं। खान्यविद्या का भी प्रचार था। दूसरी बात यह कि तत्कालीन समाज में काम का बँटवारा जाति के आधार पर कठोर नहीं था। वणिकपुत्र हर प्रकार का धंधा अपना सकते थे। देशी एवं विदेशी सभी प्रकार के व्यापार प्रचलित थे तथा वाराणसी उन दिनों भी तीर्थयात्रियों, पर्यटकों एवं व्यापारियों के लिए आकर्षण का केन्द्र थी। दक्षिण भारत में विजयपुरी एवं पश्चिमी भारत में सोपारक, प्रतिष्ठान आदि व्यापार के प्रमुख केन्द्र थे, जहाँ से स्थानीय एवं सामुद्रिक व्यापार हुआ करता था।

परिच्छेद दो

वाणिज्य एवं व्यापार

प्राचीन भारत में अर्थोपार्जन के साधनो में वाणिज्य को प्रमुख स्थान प्राप्त है। तत्कालीन समाज में स्थानीय एवं विदेशी दोनों प्रकार के व्यापार काफी समृद्ध थे। कुवलयमालाकहा में वाणिज्य एवं व्यापार से सम्बन्धित विविध एवं विस्तृत जानकारी उपलब्ध है, जिससे तत्कालीन आर्थिक जीवन का स्वरूप स्पष्ट होता है।

स्थानीय व्यापार

स्थानीय व्यापार का अर्थ है, एक ही स्थान पर उत्पन्न विभिन्न वस्तुओं का स्थानीय उपयोग के लिए क्रय-विक्रय होना। स्थानीय व्यापार के प्रमुख केन्द्र दो थे :—विपणिमार्ग एवं व्यापारिक मण्डियाँ। विपणिमार्गो में फुटकर दैनिक उपयोग की वस्तुएँ बिकती थी, जबकि व्यापारिक मण्डियों में अनेक स्थान के व्यापारी एकत्र होकर माल का थोक क्रय-विक्रय करते थे। कु० में इन दोनों प्रमुख केन्द्रों का वर्णन उपलब्ध है।

विपणिमार्ग—प्राचीन भारत में एक बाजार में ८४ प्रकार[1] तक की वस्तुओं की विभिन्न दुकानें होती थीं। ये दुकानें नगर के प्रसिद्ध राजमार्गों तथा चत्वरों के किनारे लगती थीं, जिन्हें हट्ट कहा जाता था। कुव० में उल्लिखित विनीता नगरी के विपणिमार्ग में[2] विभिन्न वस्तुओं की दुकाने इस क्रम से थीं :—

एक ओर कुंकुम, कर्पूर, अगरु, मृगनाभिवास, पडवास आदि सुगन्धित वस्तुओं की दुकानें थीं।[3] दूसरी ओर की दुकानों में इलायची, लोंग, नारियल आदि

---

१. ८४ वस्तुओं के नाम—प्राचीन गुर्जरकाव्य—संग्रह, पृ० ९५; पृथ्वीचन्द्र-चरित (सं० ११६१).

२. कुव० (७.२६, २६ २८, १३५.१, १५२.२२, १९०.२६, २३३.२२).

३. कुकुम-कप्पूरागरु-मयणाभिवास-पडवास विच्छडाओ।—कुव० ७.२६.

फलों के ढेर लगे थे।[1] उसके आगे मोती, स्वर्णरत्न आदि अलंकारों की दुकानें थीं।[2] पास ही काले, पीले, श्वेत रंग के नेत्रयुगल वस्त्र के थान दुकान में फैले थे।[3] दूसरी गली में विभिन्न प्रकार के वस्त्रों से दुकानें भरी थीं।[4] उसके आगे किसी गली में सरस औषधियों की दुकानें थीं।[5] दूसरी वीथि में शंख, वलय, कांच, मणि आदि की सुगन्ध से दुकानें व्याप्त थीं।[6] आगे की दुकानों में बाण, धनुष, तलवार, चक्र, भाला के ढेर लगे थे।[7] अगली वीथि में शंख, चामर, घंटा एवं सिन्दूर आदि की दुकानें थीं।[8] अगली दुकानों में विविध प्रकार की जड़ी-बूटी तथा अनेक प्रकार से चंदन रखे हुए थे।[9] आगे की गली की दुकानें पेय एवं खाद्य पदार्थों की थीं, जिनसे घृत टपक रहा था।[10] आगे की दुकानों में हल्दी की धूल उड़ रही थी।[11] अन्त की दुकानों में अच्छी सुरा एवं मधुर मांस बिक रहा था।[12]

विपणिमार्ग के इस विस्तृत विवरण से स्पष्ट है कि स्थानीय बाजारों में जरूरत की प्रायः सभी वस्तुओं की दुकानें होती थीं। उद्द्योतन का यह कथन—'जो कुछ भी पृथ्वी पर सुना जाता है, देखा जाता है एवं हृदय में सोचा जाता है वह सब वहाँ बाजारों में उपलब्ध था',[13] जो विपणिमार्ग की समृद्धि का द्योतक है। प्रसाधन-सामग्री के स्टोर, फलों की दुकानें, सराफा-बाजार, बजाजी, शस्त्र-भण्डार, मेडिकल स्टोर, जलपानगृह, मदिरालय, खटीकखाना आदि तत्कालीन बाजारों के प्रमुख विक्रय केन्द्र थे।[14]

उद्द्योतन ने अन्य प्रसंगों में भी विपणिमार्गों का वर्णन किया है, जिससे यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन विपणिमार्ग अनेक दिशाओं के देशी बनियों द्वारा

---

१. एला-लवंग-कक्कोलय-रासि गब्भिणाओ।
२. मुत्ताहल सुवण्ण-रयणुज्जलाओ।
३. वित्थारियायंब-कसण-धवल-दीहर-णेत्त-जुयलाओ।
४. बहु-विह-पर-वसण-भरियाओ।
५. संणिहिय-विडाओ कच्छउड-णिक्खित्त-सरस-णहवयाओ य। —८.१.
६. संख-वलय-काय-मणिय-सोहाओ। —८.१.
७. सर-सरासणब्भसं चक्क-संकुलाओ मंडलग्ग-णिचियाओ। —८.२.
८. संख-चामर-घंटा सोहाओ ससेंदूराओ य।
९. संणिहिय-विविह-ओसहीओ-बहु-चंदणाओ य।
१०. सिणेह-णिरंतराओ बहु-खज्ज-पेज्ज-मणोहराओ।
११. उद्दाम-हलिद्दी-रय-पिंजराओ।
१२. ससुराओ संणिहिय-महुमासाओ त्ति। —८.५.
१३. जं पुहईए सुणिज्जइ दीसइ जं चिंतियं च हियएण।
तं सव्वं चिय लब्भइ मग्गिज्जंतं विवणि-मग्गे ॥८.७.
१४. कथाकोशप्रकरण, जिनेश्वर, पृ० ८५, १६५.

लायी गयी वस्तुओं से भरा रहता था।[1] बनियों के आवागमन से बड़ी भीड़ रहती थी[2] तथा लेन-देन की बातचीत का कोलाहल हमेशा व्याप्त रहता था।[3] इस प्रकार विपणिमार्ग आर्थिक समृद्धि के केन्द्र थे।[4]

व्यापारिक मण्डियाँ

स्थानीय व्यापार के दूसरे प्रकार के केन्द्र बड़ी-बड़ी मण्डियाँ होती थीं, जिनमें देश के प्रायः सभी भागों से व्यापारी वाणिज्य के लिए आते-जाते थे। इन मण्डियों को पैंठास्थान भी कहा जाता था। पैंठास्थानों में व्यापारियों को सब प्रकार की सुविधाएँ उपलब्ध होती थीं। विपणिमार्ग में जो व्यापार होता था वह नगर के बड़े व्यापारियों एवं उनके साहसी पुत्रों के लिए पर्याप्त नहीं होता था। वे अन्यान्य व्यापारिक मण्डियो में जाकर अपने व्यापार-कौशल के द्वारा अपनी सम्पत्ति बढ़ाना चाहते थे। नये-नये स्थानों एव व्यक्तियों से परिचित होने का लोभ भी उनके मन में होता था। अतः विभिन्न व्यापारिक-मण्डियों की वणिकों द्वारा यात्रा करना प्राचीन भारत में आम बात हो गई थी। इससे वणिक्पुत्रों की बुद्धि, व्यवसाय, पुण्य और पौरुष की भी परीक्षा हो जाती थी। इससे सांस्कृतिक सम्बन्ध भी बढ़ते थे।

व्यापारिक-यात्रा की तैयारी—कुवलयमाला मे तक्षशिला के वणिक्पुत्र धनदेव द्वारा दक्षिणापथ में सोपारक मण्डी की यात्रा का विशद वर्णन है (६५.१, २०)। मायादित्य और स्थाणु भी दक्षिणापथ में प्रतिष्ठानमण्डी के लिए तैयारी-पूर्वक निकले थे। इन प्रसंगों से व्यापारिक-यात्रा की तैयारी के सम्बन्ध में निम्नोक्त जानकारी प्राप्त होती है :—

१. धर्म एवं काम पुरुषार्थ को पूरा करने के लिए धन (अर्थ) कमाना प्रत्येक व्यक्ति को जरूरी है।[5]

२. अपने बाहुबल द्वारा अर्जित धन का सुख दूसरा ही होता है, भले घर में अपार धन हो।[6]

३. निज-बाहुबल द्वारा अर्जित धन से दान एवं पुण्य कार्य करना श्रेष्ठ समझा जाता था।[7]

४. धन कमाने को जाते समय पिता की आज्ञा लेना आवश्यक था।[8]

---

१. अणेय-दिसा-देस-वणिय-णाणाविह-पणिय-पसारयाबद्ध-कोलाहलं। —२६.२८.
२. विवणिमग्गु जइसओ संचरंत-वणिय-पवरू। —१३५.१.
३. कय-विक्कय-पयत्त-पवड्ढमाण-कलयल-रवं हट्ट-मग्गं। —१५२.२२.
४. विवणि-मग्गो बहु-धण-संवाह-रमणिज्जो। —१९०.२६.
५. धम्मत्थो कामो वि—होहिइ अत्थाओ सेसं पि। —५७.१३, १५.
६. अण्णं अपुव्वं अत्थं आहरामि बाहु-बलेणं। —६५ १०.
७. सच्चं चाई वियड्ढो य जइ णियय-दुक्खज्जियं अत्थं दिण्णं। —१०३.२१.
८. ताय, अहं तुरंगमे, घेत्तूण दक्खिणावहं वच्चामि। —६५.६.

५. दक्षिणापथ की यात्रा करना कठिन था। अतः व्यापारी पिता सम्भावित कठिनाइयों से पुत्र को अवगत कराते हुये उनसे बचने के कुशल उपाय बताता था तथा यात्रा की अनुमति देता था।[१]
६. यात्रा-प्रारम्भ करने के पूर्व इष्ट देवताओं की आराधना की जाती थी।[२]
७. आवश्यक सामान साथ में लिया जाता था।[३]
८. अन्य व्यापारियों को सूचना देकर सलाह ली जाती थी।[४]
९. यदि पूँजी न हो तो प्रथम पूँजी की व्यवस्था की जाती थी।[५]
१०. कर्मकरों को इकट्ठा किया जाता था।[६]
११. अनेक नदी-पर्वतों, अटवियों को लाँघकर तब कहीं वणिक्पुत्र गन्तव्य स्थान पर पहुँचते थे।[७] दक्षिणापथ के रास्ते में जो विन्ध्या अटवी से होकर गुजरता था, व्यापारियों को शबर डाकुओं का अधिक भय रहता था।[८] कुव० के मायादित्य एवं स्थाणु चोरों के भय से अपना वेष परिवर्तन कर वहाँ से गुजरते हैं।[९]

मंडियों में व्यापारियों का स्वागत—कुव० के वर्णन से ज्ञात होता है कि सोपारक मण्डी के स्थानीय व्यापारियों का एक मण्डल (श्रेणी) था, जिसमें यह रिवाज था कि जो कोई विदेशी व्यापारी या स्थानीय व्यापारी व्यापार के लिए जिस किसी देश में गया हो, वहाँ जो वस्तु उसने बेची हो या खरीदी हो और जो लाभ-हानि उसको हुई हो उस सबका विवरण इस मण्डल में आकर सुनाये। मण्डल की ओर से गन्ध, तम्बोल, पुष्पमाल आदि के स्वागत को स्वीकार करे तब बाद में अपने देश को वापस जाय। यह रीति व्यापारियो के पूर्वजों के समय से

---

१. पुत्त, दूरं देसंतरं, विसमा पंथा, णिट्ठुरो लोओ, बहुए दुज्जणा····ता सव्वहा कहिंचि पंडिएणं, कहिंचि मुक्खेणं····भवियव्वं सज्जण दुज्जणाण पुत्त समं। —वही० ६५.१५, १९.
२. कय-मंगलोवयारा। —५७.२८.
३. गहियाइं पच्छयणाइं ५७.२८, ६५.१३.
४. चित्तविया अडियत्तिया ६५.१३.
५. कयमणेण भंड-मोल्लं। इमेणं चेय समज्जिउ समत्थो—हं सत्त-कोडीओ। —१०५.५.
६. संठविओ कम्मयर-जणो। —६५.१४.
७. अणेय-गिरि-सरिया-सय संकुलाओ अडइओ उलंघिऊण कह कह वि पत्त पइट्ठाणं णाम णयरं।—५७.२८.
८. समराइच्चकहा, पृ० ५११, ६५५; कुव० ६२.
९. एयं च चोराइ-उवद्दवेहिं ण य णेउं तीरइ सएस-हुत्तं। —कुव० ५७.३१. कयं च णेहिं वेस-परियत्तं (५८.१).

अभी तक चली आ रही थी।[1] तक्षशिला के वणिक्पुत्र धनदेव का सोपारक के व्यापारिक-मण्डल में गंध, पान, एवं मालाओं आदि से भव्य स्वागत किया गया था—दिण्णं च गंध-मल्लं-तंबोलाइयं—(६५.२६)।

'देसिय' शब्द का विशेष अर्थ—कुव० में प्रयुक्त 'देसिय-वणिय-मेलीए' का अर्थ व्यापारियों के ऐसे संगठन से है, जिसके कुछ निश्चत नियम एवं कानून थे तथा जो व्यापारियों के हित में कार्य करता था। इस प्रकार व्यापारिक संगठन प्राचीन भारत में स्थापित हो चुके थे, जिन्हें 'निगम' कहा जाता था और जिनका प्रधान श्रेष्ठी होता था।[2] अनाथपिंडक श्रेष्ठी उनमें से एक था।

व्यापारिक श्रेणि के लिए 'देसिय' शब्द सम्भवतः उद्द्योतन ने प्रथम बार प्रयुक्त किया है। बुल्हर ने 'देशी' शब्द का अनुवाद साहित्यिक निदेशक (Literary Guide) किया है।[3] जबकि इससे अच्छे अर्थ में एपिग्राफिआ-इण्डिका में 'देशी' का आर्थ श्रेणी (Guild of Dealers) किया गया है।[4] उद्द्योतनसूरि के थोड़े समय बाद के अभिलेखों में भी 'देसी' शब्द बंजारकों (व्यापारियों) के संगठन के लिए प्रयुक्त हुआ है।[5] इससे ज्ञात होता है कि उद्द्योतन के बाद व्यापारिक संगठन के लिए 'देशिय' शब्द १२वीं सदी तक प्रयुक्त होता रहा है।

व्यापारिक-अनुभवों का आदान-प्रदान

सोपारक के व्यापारिक संगठन के नियमों का व्यावहारिक स्वरूप उद्द्योतन ने प्रस्तुत किया है। लोभदेव के स्वागत के बाद मण्डल में उपस्थित व्यापारियों ने अपने-अपने अनुभव भी सुनाये, जिससे तत्कालीन आयात-निर्यात की जानेवाली वस्तुओं का ज्ञान होता है। एक व्यापारी ने कहा—मैं घोड़े लेकर कोशल देश गया। कोशल के राजा ने भाइल अश्वों के बदले मे गजपोत दिये (६५-२८)। दूसरे ने कहा—मैं सुपारी लेकर उत्तरापथ गया, जिससे मुझे लाभ हुआ। वहाँ से मैं घोड़े लेकर लौटा (३०)। तीसरे ने कहा—मैं मुक्ताफल लेकर पूर्वदेश गया, वहाँ से चँवर खरीद कर लाया (३१)। अन्य ने कहा—मैं बारवई गया और वहाँ से शंख लाया (३१)। दूसरे ने कहा—मैं कपड़े लेकर बब्बरकुल गया और वहाँ से गजदन्त एवं मोती लाया (३२)। एक दूसरे ने कहा—मैं पलाश के फूल लेकर स्वर्णद्वीप गया। वहाँ से सोना खरीद कर लाया (६६-१)। अन्य व्यापारी ने कहा—मैं भैंस और गवल लेकर चीन, महाचीन गया और

---

१. एसो पारंपर-पुराण पुरसत्थिओ त्ति''''देसिय-वाणिय-मेलीए।—कु० ६५.२२, २४.

२. द्रष्टव्य—गो० इ० ला० इ०, पृ० ८१.८९.

३. श०—रा०ए०, पृ० ४९५.

४. एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग १, पृ० १८९ (फुटनोट ३९).

५. विग्रहराज चतुर्थ का हर्ष अभिलेख (वि०सं० १०३०) तथा रायपाल देव का नाडलाई प्रस्तर अभिलेख (वि०सं० १२०२).

वहाँ से गंगापटी एवं नेत्रपट नामक विशिष्ट चीनी वस्त्र लाया (२) दूसरे ने कहा—मैं पुरुषों को लेकर महिलाराज्य गया। उनके बदले में बराबर का सोना लाया (३)। अन्य व्यापारी ने कहा—मैं नीम के पत्ते लेकर रत्नद्वीप गया और वहाँ से लाभ में रत्न लाया (४)।

उद्द्योतनसूरि द्वारा प्रस्तुत यह विस्तृत वर्णन प्राचीन भारत के व्यापार का विकसित रूप उपस्थित करता है। भारत का विदेशों के साथ घनिष्ट व्यापारिक सम्बन्ध इस वर्णन से पुष्ट होता है। इस सामग्री की उपयोगिता प्राचीन भारतीय वाणिज्य के लिए जितनी है, उससे कहीं अधिक विदेशी व्यापार में प्रयुक्त आयात-निर्यात की वस्तुओं की जानकारी के लिए है। व्यापारी-मण्डल के इस प्रसंग का विस्तृत अध्ययन डा० बुद्धप्रकाश ने अपने लेख-'एन एर्थ सेन्चुरी इण्डियन डाकुमेन्ट ग्रान इन्टरनेशनल ट्रेड' में किया है।[1]

उपर्युक्त विवरण को जाँचने पर ज्ञात होता है कि कोशल में विशिष्ट प्रकार के हाथी पाये जाते थे, किन्तु वहाँ घोड़े बहुत अच्छी किस्म के नहीं होते थे। इसलिए जब बाहरी व्यापारी घोड़े लेकर वहाँ पहुँचा तो वहाँ के राजा ने गजपोतों (हाथियों के बच्चे) के बदले में घोड़े खरीद लिये। व्यापारी लोग दुहरे मुनाफे के लिए ऐसी सामग्रियाँ अपने साथ ले जाते थे जिससे उन्हें दोनों ओर से लाभ मिले। उत्तरापथ को जानेवाले व्यापारी ने अपने साथ सुपारियाँ ली, जो कि वहाँ नहीं होती थीं और वहां से घोड़े खरीदे, जो उसके अपने क्षेत्र में नहीं होते थे।

इसी प्रकार एक व्यापारी मोती लेकर पूर्वदेश सम्भवतया आसाम गया। हिमालय की तराई में पाये जानेवाले चमरीमृगों की पूंछों से बनाये जानेवाले चँवर वहाँ अच्छे सस्ते मिलते रहे होंगे, जिन्हें वह अपने देश के लिए खरीद कर ले आया।

एक व्यापारी बारवई गया। समुद्री सतह पर वहाँ शंख बहुतायत में और अच्छी किस्म के मिलते थे इसलिए वह वहाँ से शंख लाया। किन्तु इस व्यापारी ने यह नहीं बतलाया कि वह द्वारावती क्या लेकर गया था। इससे ज्ञात होता है कि व्यापारी कभी-कभी प्रसिद्ध वस्तुओं को खरीदने नगदी लेकर भी जाते रहे होंगे। बारवइ की पहचान डा० वी० एस० अग्रवाल ने वर्तमान कराची के निकट स्थित बरबरीकोन से की है, किन्तु डा० बुद्धप्रकाश ने इसकी पहचान दक्षिणभारत में स्थित बेरूवारी से की है, जो प्राचीनकाल में व्यापार का बड़ा केन्द्र था और जहाँ के शंख बहुत प्रसिद्ध थे।

एक व्यापारी बब्बरकुल वस्त्र लेकर गया। यह एक प्रसिद्ध नगर था, जहाँ अफ्रीकी विशिष्ट हाथीदाँत का बहुमूल्य सामान तथा बहुत अच्छी किस्म के

१. द्रष्टव्य—बु०ट्रे०क०म०, दिसम्बर १९७०.

परसियन गल्फ के मोती मिलते थे। यह व्यापारी वहाँ अपने वस्त्र बेचकर गजदन्त का सामान और मोती ले आया। बब्बरकुल अफ्रीका के उत्तर-पश्चिमी तट पर लालसागर के सामने स्थित माना जाता है।

एक व्यापारी पलाशपुष्प लेकर स्वर्णद्वीप गया और वहाँ से स्वर्ण भरकर लाया। यदि यह स्वर्णद्वीप सुमात्रा है तो उद्द्योतन के समय वहाँ श्रीविजय का राज्य था,[1] जो भारतीय राजवंशो से सम्बन्धित था। उसके समय भारत का व्यापारिक सम्बन्ध सुमात्रा से काफी बढ़ रहा था। उद्द्योतन द्वारा प्रस्तुत इस सन्दर्भ से यह बात और पुष्ट होती है। पलाशपुष्प आयुर्वेद के अनुसार अनेक प्रकार के उपचारों में काम आता है। सुमात्रा में इसकी अधिक मांग रही होगी। स्वर्णद्वीप सोने की प्राप्ति के लिए प्रसिद्ध था।[2] प्राचीन समय में दक्षिण-पूर्व एशिया के सभी देशों के द्वीप और प्रायद्वीप के लिए स्वर्णद्वीप शब्द प्रयुक्त होता था।

एक अन्य व्यापारी भैंसों और नील गायों को लेकर चीन एवं महाचीन गया और वहाँ से गंगापटी तथा नेत्रपट लाया। यह बहुत महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ है। उद्द्योतन के समय तक भारत में चीनी शिल्क कई रंगों में एवं श्वेतशिल्क भी आने लगी थी। गंगापटी चीनी श्वेतशिल्क है, जिसे भारत में चीनांशुक तथा गंगाजुल कहा जाता था तथा नेत्रपट रंगीन शिल्क के लिए नया नाम था।[3] वस्त्रों के परिचय के प्रसंग में इन पर विस्तार से विचार किया गया है। इस सन्दर्भ से यह ज्ञात होता है कि भारत और चीन के बीच सामुद्रिक आवागमन में वृद्धि हो चली थी।[4] हरिभद्र की समराइच्चकहा के बाद चीन और भारत के व्यापारिक सम्बन्ध का कुवलयमाला का उक्त सन्दर्भ प्रथम साहित्यिक उल्लेख है।

महिलाराज्य को पुरुष ले जानेवाला व्यापारी वहाँ से स्वर्ण भर कर लाता है। महिलाराज्य नाम के अनेक स्थान भारतीय साहित्य में प्राप्त होते हैं। सम्भवतः उस महिलाराज्य में पुरुष की संख्या महिलाओं की अपेक्षा बहुत कम रही होगी इसीलिए वहाँ सोने के तोल पर पुरुषों को खरीद लिया जाता था।

रत्नद्वीप की यात्रा करनेवाले व्यापारी के अनुभवों से ज्ञात होता है कि समुद्री-यात्रा कितनी कठिन थी। हमेशा प्राणों का भय बना रहता था। जिसे अपना जीवन प्रिय न हो वही रत्नद्वीप की यात्रा कर सकता था—**सुंदरो जस्स जीयं ना वल्लहं—अहो दुग्गमं रयणदीवं** (६६.६, ९)।

उक्त विवरण से आयात-निर्यात की निम्नवस्तुओं का पता चलता है :—अश्व, गजपोत, सुपारी, मुक्ताफल, चमर, शंख, नेत्रपट, गंगापटी, अन्य-वस्त्र, गजदंत का सामान, मोती, पलाशपुष्प, स्वर्ण, महिष, नीलगाय, पुरुष, नीम के पत्ते एवं रत्न।

---

१. उ०—कु० इ०, पृ० ११८ पर डा० अग्रवाल का नोट।
२. समराइच्चकहा, धरण की कथा।
३. इण्ट्रो० कुव० में डा० अग्रवाल का नोट।
४. मो०—सा०, पृ० १९६.

प्राचीन भारतीय व्यापारिक क्षेत्र में सुगंधित द्रव्यों एवं वस्त्रों का निर्यात तथा स्वर्ण और रत्नों का आयात प्रायः होता रहता था।[1] अश्व एवं गजपोत, महिष तथा नीलगाय सम्भवतः व्यापार में तब सम्मिलित हुए होंगे जब यातायात के साधनों में विकास एवं पथ-पद्धति में विस्तार हो गया होगा। आठवीं सदी इस बात के लिए प्रसिद्ध कही जा सकती है।

प्रसिद्ध मण्डियाँ

कुवलयमाला में आठवीं सदी की प्रसिद्ध तीन मण्डियों का वर्णन प्राप्त होता है :—(१) सोपारक, (२) प्रतिष्ठान एवं (३) विजयपुरी। इनके वर्णन में तत्कालीन व्यापार से सम्बन्धित अनेक तथ्य प्राप्त होते हैं।

सोपारक—प्राचीन भारत में सोपारक नगर स्थानीय एवं विदेशी व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र था। बृहत्कल्पभाष्य (१.२५०६) एवं पेरिप्लस[2] के अनुसार यहाँ पर सुदूर देशों के व्यापारी आते थे तथा बहुत से व्यापारियों (निगम) का यह निवास स्थान था।[3] कुव० के वर्णन से ये दोनों बातें प्रमाणित हो जाती हैं। सोपारक स्थल-व्यापार के केन्द्र के अतिरिक्त पश्चिमी समुद्रतट का विशिष्ट बन्दरगाह माना जाता था। कुव० में यहाँ से रत्नद्वीप की समुद्री-यात्रा के प्रारम्भ होने का विस्तृत वणन है, जिसके सम्बन्ध मे जल-यात्रा के प्रसग में विचार किया जायेगा।

प्रतिष्ठान-मण्डी—प्रतिष्ठान-मण्डी का प्राचीन भारतीय व्यापार के क्षेत्र में प्रमुख स्थान था। आठवी सदी में वाराणसी से व्यापारी धन कमाने के लिए प्रतिष्ठान आते थे। यद्यपि रास्ते में उन्हें अनेक कठिनाईयों का सामना करना पड़ता था। यह नगरी अनेक धन-धान्य एवं रत्नों से युक्त थी। इस मण्डी में अनेक प्रकार के वाणिज्य एवं पेशे होते थे, जिनसे धन कमाया जाता था।[4]

जयश्री-मण्डी—उद्द्योतन ने दक्षिणभारत की एक और प्रमुख मण्डी का वर्णन किया है। दक्षिण समुद्र के किनारे जयश्री नाम की महानगरी थी। इस नगरी का विपणिमार्ग काफी समृद्ध था। व्यापारियों की दुकाने अलग थीं, रहने के निवासस्थान अलग।[5] इस मण्डी से यवनद्वीप को जाने के लिए समुद्री-मार्ग था। जब सागरदत्त ने व्यापार करने समुद्र-पार जाना चाहा तो जयश्री-मण्डी के व्यापारी ने समुद्र-पार में विकने वाली वस्तुओं का सग्रह करना प्रारम्भ

१. मो०—सा० ए०, १७२.
२. पेरिप्लस, पृ० ४३.
३. द्रष्टव्य—गो० इ० ला० इ०, पृ० १४८.
४. अणेय-धण-धण्ण-रयण-संकुले महासग्ग-णयर-सरिसे णाणा वाणिज्जाइं कयाइं, पेसणाइं च करेमाणेहिं।—कुव० ५७.२९.
५. वणिएण तालियं आमणं, पयट्टो घरं, १०५.१६.

कर दिया और थोड़े दिनों में ही निर्यात का माल तैयार हो गया।[1] इस सन्दर्भ से यह ज्ञात नहीं होता कि निर्यात की जानेवालो वस्तुएँ क्या थीं, किन्तु यवनद्वीप में उनकी मांग बहुत रही होगी। तभी उनके बदले में सागरदत्त सात करोड़ की कीमत की वस्तुएँ—मरकतमणि, मोती, स्वर्ण, चाँदी आदि वहाँ से लेकर वापस लौटता है।[2]

विजयपुरी-मण्डी—उद्द्योतन ने कुमार कुवलयचन्द्र के विजयपुरी पहुँचने के समय वहाँ की व्यापारिक मण्डी का सूक्ष्म वर्णन किया है। विजयपुरी नगरी में प्रवेश करते ही कुमार को अनेक मांगलिक वाद्यों के शब्द गोपुर-द्वार पर सुनायी दिये। आगे चलने पर उसे हाट-मार्ग दिखायी पड़ा, जहाँ अनेक पण्ययोग्य वस्तुओं को फैलाये हुए क्रय-विक्रय में प्रवृत्त व्यापारियों द्वारा कोलाहल हो रहा था।[3] उस हाटमार्ग में प्रविष्ट होने पर कुवलयचन्द्र को अनेक देशों की भाषाओं एवं लक्षणों से युक्त देशी वनिये दिखायी पड़े।[4]

१८ देशों के व्यापारी

गोल्लदेश के वासी कृष्णवर्णवाले, निष्ठुर वचन बोलनेवाले, बहुत तकरार प्रिय एवं निर्लज्ज थे। वे 'अड्डे' शब्द का उच्चारण कर रहे थे (१५२.२४)। न्याय, नीति, संधि-विग्रह में पटु एवं स्वभाव से बहुभाषी मध्यदेश के वासी व्यापारी 'तेरे मेरे आउ' कह रहे थे (२५)। बाहर निकले हुए बड़े पेट वाले, कुरूप, ठिगने एवं सुरति-क्रीड़ा के रसिक मगध के निवासी 'एगे' 'ले' बोल रहे थे (२६)। कपिल एवं पीली आँखवाले तथा दिनभर भोजन की कथा कहनेवाले अन्तर्वेदी 'कित्तो किम्मो' जैसे प्रिय वचन बोल रहे थे (२७)। ऊँची तथा मोटी नाकवाले स्वर्णसदृश रंगवाले एवं भार वहन करनेवाले कीर देश के व्यापारी 'सरि पारि' शब्दों का उच्चारण कर रहे थे (२८)। दाक्षिण्य, दान, पौरुष, विज्ञान, दया से वर्जित शरीर वाले ढक्कदेश के वनिये 'एहं तेहिं' बोल रहे थे (१५३.१)। मनोहर, मृदु, सरल, सगीत या सुगन्धप्रिय एवं अपने देश का स्मरण करनेवाले सैन्धव 'चउडय मे' शब्दो का उच्चारण कर रहे थे (२)। बाँके, जड, जट्ट, एवं बहुभोजन करनेवाले तथा कठिन पुष्टता से युक्त शरीरवाले मरुदेश के व्यापारी 'अप्पाँ तुप्पाँ' बोल रहे थे (३)। घी एवं मक्खन खाने से पुष्ट शरीरवाले, धर्मपरायण तथा संधि-विग्रह में निपुण गुर्जर देशवासी 'णउरे

---

१. घेत्तुमारद्धाइं परतीर-जोग्गाइं भंडाएं। कमेण य संगहियं भंडं। —१०५.२७.

२. मरगय-मणि-मोत्तिय-कणय-रुप्प-संघाय-गब्भिण-बहुयं।
 गण्णेण गणिज्जंतं अहियाओ सत्त-कोडीओ ॥ वही १०६.४.

३. अणेय-पणिय-पसारियाबद्ध-कय-विक्कय-पयत्त-पवड्ढमाण-कलयल रवं हट्टमग्गं। —वही १५२.२२.

४. तत्थ य पविसमाणेणं दिट्ठा अणेय-देस-भासा-लक्खिए-देस-वणिए—वही. १५२.२२-२३.

भल्लउं' आदि शब्दों का उच्चारण कर रहे थे (४)। स्नान करने वाले, तेल एवं विलेपन लगानेवाले, बालों का सीमान्त बन्धन करनेवाले तथा सुशोभित सुन्दर शरीरवाले लाट देश के व्यापारी 'अम्हं काउं तुम्हं' बोल रहे थे (५)। थोड़े श्याम, ठिगने, क्रोधी, मानी तथा रौद्र स्वभाव वाले मालव देश के निवासी 'भाउय भइणी तुम्हें' का उच्चारण कर रहे थे (६)। उत्कट दर्प करने वाले, प्रिया के मोह में आसक्त, रौद्र, तथा पतंगवृत्ति (बलिदान हो जाने वाले) कर्णाटक देश के निवासी 'अडि पाँडि मरे' बोल रहे थे (७)। कपास के सूती वस्त्र पहिनने वाले, माँस, मदिरा एवं मैथुन में रुचि रखने वाले ताप्ति (तमिल) देश के निवासी 'इसि किसि मिसि' शब्दों का उच्चारण कर रहे थे (८)। सर्व कलाओं में प्रतिष्ठित, मानी, क्रोध करने पर प्रिय लगनेवाले तथा पुष्ट देहवाले कोशल के व्यापारी 'जल-तल ले' बोल रहे थे (९)। मजबूत, ठिगने, श्यामांग, सहिष्णु, अभिमानी तथा कलहप्रिय मराठे 'दिण्णल्ले गहियल्ले' का उच्चारण कर रहे थे (१०)। महिलाओं एवं संग्राम के प्रिय, सुन्दर शरीरवाले तथा भोजन में रौद्र आन्ध्र देश के वासी 'अटि पुटि रंटि' शब्दों का उच्चारण कर रहे थे (११)। इस प्रकार खस एवं पारस आदि १८ देशी भाषाओं को बोलनेवाले बनियों को कुमार कुवलयचन्द्र ने देखा।[1]

कुवलयमाला का यह वर्णन अनेक दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है। यथा :—(१) भौगोलिक दृष्टि से इन १८ देशों की पहचान की जा सकती है, (२) वहाँ के निवासियों का रहन-सहन एवं स्वभाव जाना जा सकता है, (३) प्रत्येक देश के निवासियो के कुछ नाम निश्चित हो गये थे। यथा—सिन्ध के निवासी सैन्धव एवं मालवा के मालव आदि व्याकरण की दृष्टि से इन पर प्रकाश पड़ सकता है, (४) प्रत्येक देश की लौकिक बोलियों का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है, (५) इतने देशों की आयात-निर्यात की वस्तुओं का ज्ञान किया जा सकता है, जिनका व्यापार विजयपुरी में होता था, तथा (६) विजयपुरी से इतने देशों के जल एवं स्थल-मार्ग क्या थे इसका पता चलने पर प्राचीन भारत की पथपद्धति पर नया प्रकाश पड़ सकता है। इस विवरण से सम्बन्धित प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्यायों में इस सामग्री को विस्तार से समीक्षा की गयी है।

बाजार का कोलाहल

"अरे, मुझे दो, मुझे दो। (मुझे) इससे सुन्दर अच्छा लगता है। सुन्दर नहीं है तो जाओ।[2] आओ, आओ, बोलो, यह तुम्हें खरीद पर ही देता हूँ।[3] सात गये तीन बचे। इस प्रकार हिसाब करते हुए बाकी आधा बचा।[4] बीस

१. इय अट्ठारस देसी-भासाउ पुलइऊण सिरिदत्तो।
अण्णाइय पुलएई खस पारस-बव्वरादीए ॥— वही कुव० १५३.१२.

२. दे-देहि देहि रोयइ सुंदरमिणमो ण सुन्दरं वच्च। —वही १४.

३. ए-एहि भणसु तं चिय अहव तुहं देमि जह कीयं। —वही

४. सत्त गयां तीण्णि थियो सेसं अद्धं पवेण-पादेण। —वही १५.

और यह अर्द्धबीस। हमें तो दाने-दाने का हिसाब रखना है।[1] सौ भार, कोटि लाख, सौ कोटि, एक पल, सौ पल, अर्धपल, कर्ष, मासा, रत्ति।[2] धुरं (२), वहेडो (६), गोस्थान (४), मंगल (?), सुत्ती (२०)।[3] अरे यहाँ आओ, इसके ऊपर तुम्हें थोड़ा ज्यादा दे दूँगा।[4] माल क्यों ढके हो? अच्छी तरह परीक्षा कर लो (फिर) तुम जाओ।[5] यदि माल किसी प्रकार खोटा हो तो ग्यारह गुणा दूँगा।"[6]

बाजार में व्यापारियों की इस बातचीत से अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य प्राप्त होते हैं। ग्राहकों को किस प्रकार आकर्षित किया जाता था, अपने माल की गारंटी दी जाती थी, लाभ-हानि का हिसाब लगाया जाता था, नाप-तौल के कौन-कौन से प्रमाण उस समय प्रचलित थे तथा जब तक सौदा न पट जाय व्यापारी अपना माल ढक कर रखते थे।

उद्द्योतनसूरि ने इस वातचीत द्वारा यह एक महत्त्वपूर्ण सूचना दी है कि उस मण्डी में ऐसे भी व्यापारी थे जो अपना माल ढककर रखते थे एवं ग्राहक उसकी निश्चित कीमत लगाकर माल उघाड़ने के लिए कहते थे। भारतीय व्यापारिक मंडियो में यह एक प्राचीन परिपाटी थी। उत्तरापथ के टक्क (टंकण) नामक म्लेच्छ सोना और हाथीदाँत आदि बहुमूल्य वस्तुएँ लेकर व्यापार के लिए दक्षिणापथ की यात्रा किया करते थे। ये दक्षिणवासियों की भाषा नहीं समझते थे, इसलिए हाथ के इशारों से मोल-तोल होता था। जबतक अपने माल की उचित कीमत न मिल जाय तब तक टक्क अपने माल पर से हाथ नहीं उठाते थे।[7] विजयपुरी मण्डी का माल ढकनेवाला व्यापारी सम्भवतया इन्हीं म्लेच्छों में से कोई रहा होगा, जो उत्तरापथ के किसी नगर (अन्तर्वेद) से यहाँ आया होगा। टंकण म्लेच्छ माल के नाप-तौल में अपनी विशेषता रखते थे। अतः आगे चल कर नाप-तौल करने को टंक कहा जाने लगा होगा। कुव० में (३९.२) कपटपूर्वक नाप-तौल करने को कूट टक कहा गया है और कूट टंक करनेवाले को तिर्यंच योनि का बंध बतलाया है। चार माषे के सिक्के, नाप एवं तौल को टंक कहा जाता था।[8]

---

१. वीसो य यद्धवीसो वयं च गणिका कणिसवाया॥ —१५३.१५.
२. भार-सयं अह कोडी-लक्खं चिय होइ कोडि-सयमेगं।
पल-सय-पलमद्ध-पलं करिसं मासं च रत्ती य॥ —वही १६.
३. होई धुरं च बहेडो गोत्थण तह मंगलं च सुत्ती य। —वही १७.
४. एयाण उवरि मासा एए अह देमि एएहिं॥ —वही १७.
५. कह भंडं संवरियं, गेण्हसु सुपरिक्खउण, वच्च तुमं।
६. जइ खज्जइ कह वि कवड्डिया वि एगारसं देमि। —वही १८.
७. सूत्रकृतांगटीका, ३.३.१८, ज०-जै०आ०स०, पृ० १७४ पर उद्धृत.
८. द्रष्टव्य—टंकसाल.

नाप-तौल एवं मुद्रा

कुव० के उक्त विजयपुरी-मण्डी के वर्णन एवं अन्य सन्दर्भों में नाप-तौल एवं मुद्रा से सम्बन्धित निम्नोक्त विशेष शब्द प्राप्त होते हैं :—

अंजलि (१०३.१), कर्ष (१५३.१६), कोटि, सौ कोटि (१५३.१६), कूडत्तं, कूड-तुल, कूड-माणं, कूड-टंकं (३९.२), गोणी (१६१.८), एगारसं (१५३.१८), पल, अर्धपल, सौ पल (१५३.१६), पाद (१५३.१६), भार (१५३.१६), मांसं, मासा (१६-१७), माण-प्रमाण (५७ २४, २३३.२२), रत्ती (१५३.१६), रुपया (२०.२७, १०५.२), वाराटिका (४३.५), सुवर्ण (१२.११, ५७.३२), आदि। इनकी विशेष पहचान इस प्रकार की जा सकती है।

अंजलि—सागरदत्त को जब मालूरवृक्ष की जड़ में अपार निधि प्राप्त होती है तब वह अंजलिमात्र ही उसमें से लेता है।[१] एक अंजुली रुपयों की पूँजी से ही वह सात करोड़ कमाने का प्रण करता है (१०५.५)। अंजलि नाम का परिमाण पाणिनि के समय में भी प्रचलित था।[२] चरक के अनुसार सोलह कर्ष या तोले की एक अंजलि होती थी, जिसे कुड़व भी कहते थे। गरुड़पुराण (३०२.७३) के अनुसार चार पल की एक अंजलि होती थी। कौटिल्य ने चार अंजलि (कुडव) के बराबर एक प्रस्थ माना है।[३] अतएव डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने ढाई छटाँक या १२॥ तोले के बराबर (लगभग १३५ ग्राम) एक अंजलि का नाप माना है।[४]

कर्ष—कर्ष एक प्राचीन नाप था। चरक ने इसे लगभग तोले के बराबर माना है। उसके अनुसार ४ कर्ष का एक पल होता था।[५] मनुस्मृति में एक कर्ष (८० रत्ती) के ताबे के कार्षापण को पण कहा है।[६] सम्भवतः उद्द्योतन के समय में कर्ष तौल एवं मुद्रा दोनों के लिए प्रयुक्त होता रहा हो तभी कुव० में कहीं कार्षापण का उल्लेख नहीं मिलता। तत्कालीन अभिलेखों में भी कर्ष के उल्लेख मिलते हैं।[७]

कूडत्तं, कूट-तौल, कूटमान एवं कूट-टंक—कुव० में इन शब्दों का प्रयोग गलत दस्तावेज तैयार करना, कम-ज्यादा तौलना, नापना एवं खोटे सिक्के चलाना आदि कार्यों के लिए हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि तत्कालीन

---

१. गेण्हसु य भंड-मोल्लं थोयं चिय अंजली-मेत्तं—कुव० १०५.१.
२. अष्टाध्यायी – (५.४, १०२).
३. अर्थशास्त्र, २.१९.
४. अ०—पा०भा०, पृ० २४१.
५. वही, पृ० २४१ पर उद्धृत।
६. कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिका कार्षिकः पणः।—८.१३६.
७. अर्ली चौहान डायनास्टीज, पृ० ३१७.

व्यापारिक मण्डियों में इस प्रकार के अवैध कार्य भी होते रहते होंगे। अन्य ग्रन्थों से यह बात पुष्ट होती है।[1]

कोटि, शतकोटि—ये संख्यावाचक शब्द हैं। सम्भवतः इनका सम्बन्ध ८ वीं सदी में प्रचलित प्रमुख सिक्के से रहा होगा। सिक्के का नाम न कहकर केवल संख्या द्वारा ही वस्तुएँ खरीदी-बेची जाती थीं।[2] जैसे आजकल भी व्यवहार में कहा जाता है कि गाय सौ में खरीदी या एक सौ पचास में बेची है, आदि।

गोणी—कुव० में वणिकपुत्रों द्वारा पशु लादने का धंधा करते समय गोणी-भरने का उल्लेख है। बैल या घोड़े के ऊपर सामान लादने के लिए दो बोरियों को सीकर जो बड़ा थैला-सा बनाया जाता है उसे आजकल 'गोन' कहते हैं। म० प्र० में पन्ना जिल्ले के व्यापारी प्रायः घोड़े लादकर व्यापार करते हैं। अतः उनमें 'गौन' नाप के लिए भो प्रचलित शब्द है। उनके नाप के अनुसार एक 'गौण' में लगभग दो मन अनाज आता है। दो मन की गौन का यह नाप प्राचीन भारत में भी प्रचलित था। पाणिनि के समय गौणी सामान भरने तथा नाप दोनों के लिए प्रचलित थी। चरक ने गोणी को खारी का पर्याय मानते हुए उसकी तौल भी २ मन २२ सेर ३२ तोले बतलायी है।[3] गोणी को आगे चलकर द्रोणी एवं वाह भी कहा गया है।[4]

पल, अर्द्ध-पल, शत-पल—पल एक प्राचीन माप है। ४ कर्ष के बराबर एक पल होता था। याज्ञवल्क्य-स्मृति (१.३६४) में एक पल को चार या पाँच सुवर्ण के बराबर माना है। राष्ट्रकूट राजा धवल एवं बालाप्रसाद के बीजापुर अभिलेखों मे पल एक माप के रूप में उल्लिखित है। अतः उद्द्योतन के समय भी पल एक माप रहा होगा। अर्द्ध-पल एवं शत-पल नाप के समय संख्या के लिए प्रयुक्त होते रहे होंगे। सम्भव है, वस्तुओं की कीमत भी इनके द्वारा लगायी जाती हो।

पाद (१५३.१६)—पाणिनि के समय में कार्षापण के चौथाई भाग को 'पाद' कहते थे। शुंगकाल मे मजदूरो की एक दिन की मजदूरी एक पाद अर्थात् ८ रत्ती चाँदी के बराबर थी।[5] उद्द्योतन ने जिस पाद का उल्लेख किया है, वह उनके समय में प्रचलित सिक्का (रूपक) का चौथाई भाग रहा होगा।

भार—उद्द्योतन ने भारशतं (१५३.१६) का उल्लेख किया है। यह भी प्राचीन माप है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र (२.१९) एव अमरकोश (२.९, ८७)

---

१. उपासकदशा, १, पृ० १०; निसीथचूर्णी-पीठिका ३२९; चूर्णी आदि।
२. द्रष्टव्य—अ०—पा० भा०, पृ० २५४५५
३. वही—पृ० २४३
४. अर्ली चौहान डाइनास्टीज, पृ० ३१७.
५. अ०—पा० भा०, पृ० २५८.

के अनुसार ढाई मन का होता है तथा इसी आधार पर ढाई मन की बोरी चलती है। उद्द्योतन के समय भी भार यही तौल रहा होगा। भारशतं का प्रयोग किसी ढाई सौ मन के तौल की वस्तु के लिए हुआ होगा।

माण-प्रमाण—व्यापारिक क्षेत्र में ये दोनों शब्द काफी प्रचलित हैं। वस्तुओं की नाप-तौल एवं उनकी प्रमाणिकता आदि की जानकारी में प्रत्येक व्यापारी का कुशल होना जरूरी है। उद्द्योतन के अनुसार वही व्यापारी धनार्जन कर सकता है जो माण-प्रमाण की जानकारी में कुशल हो (५७.२४)।

मासा—मासा एक तौल और एक सिक्के का नाम भी था। मनुस्मृति (८.१३५) एवं अर्थशास्त्र (२.१२) के अनुसार तांबे का मासा तौल में पांच रत्ती और चाँदी का दो रत्ती का होता था। वर्तमान में भी मासा तौल के लिए प्रचलित है, १२ मासे का एक तोला माना जाता है। उद्द्योतन ने मासं और मासा इन शब्दों का प्रयोग किया है। सम्भवतः एक सिक्का एवं दूसरा तौल के लिए प्रचलित रहा हो।[1]

रत्ती—यह मासा से छोटा तौल था। प्राचीन समय से अभी तक यह सोने-चाँदी को तौलने मे प्रयुक्त होता आ रहा है।

रुपया—प्राचीन मुद्राओं का नाम रुप्य इसलिए पड़ा क्योकि उन पर—कार्षापण आदि पर—अनेक तरह के रूप (सिम्बल) ठोंक कर छापे जाते थे। प्रथम आहत सिक्को को रुप्य कहा गया। बाद में सब प्रकार के सिक्कों के लिए रूप्य शब्द प्रयुक्त होने लगा।[2] कुव० में ज्योतिषि को नामकरण-संस्कार के लिए एक लाख रुपये देने का उल्लेख है।[3] इससे लगता है कि उस समय रुपये का मूल्य अधिक नही रहा होगा। आठवीं सदी का रूपक एक सामान्य प्रचलित सिक्का था। तत्कालीन अभिलेखों से यह स्पष्ट है।[4]

वराटिका—वराटिका (कौड़ी) सबसे कम कीमत वाली वस्तु समझी जाती थी। सम्भवतः इसीलिए वह वस्तुओं की कीमत लगाने में भी प्रयुक्त होने लगी होगी। यथा:—इतने रुपये और इतनी कौड़ी की। बृहत्कल्पभाष्य और उनकी वृत्ति में मुद्राओं के नाम में सबसे पहले कौड़ी (कवडग) का नाम आता है। इसके बाद काकिणी का। उद्द्योतन ने कौड़ी का प्रयोग देवताओ के पुनर्जन्म के सम्बन्ध में किया है कि अभी वे माणिक, मोती, हीरों के स्वामी हैं, और बाद मे फिर रास्ते में पड़ी कौड़ी को भी उठाते फिरेंगे।[5] इससे भी कौड़ी की निर्मूल्यता सिद्ध होती है।

---

१. द्रष्टव्य—गो०—इ० ला० इ०, पृ० २०५.५.
२. अ०—पा० भा०.
३. आइट्ठं च राइणा संवच्छरस्स सत्त-सहस्सं रूवयाणं। —२० २६.
४. शा०—रा० ए०, पृ० ५०३.
५. घेच्छं वराडयं धराणवट्टाओ—वही ४३.५.

सुवर्ण—उद्द्योतन ने कुव० में दो बार सुवर्ण नामक सिक्कों का उल्लेख किया है। राजा दृढ़वर्मन् ने रानी को कुपित करनेवाले को अर्द्धसहस्र सुवर्ण देने को कहा है[1] तथा मायादित्य एवं स्थाणु चोरों के भय से एक हजार सुवर्ण के मूल्य वाले रत्न खरीद कर अपनी यात्रा प्रारम्भ करते हैं।[2] इन दोनों प्रसंगों से ज्ञात होता है कि सुवर्ण मुद्रा के रूप आठवीं सदी में प्रचलित था। प्राचीन भारतीय साहित्य में हिरण्य एवं सुवर्ण का उल्लेख एक साथ मिलता है, कई जगह अलग-अलग भी। डा० भंडारकर ने यह सिद्ध किया कि अनगढ़ हुण्ड की संज्ञा हिरण्य थी। उसी के जब सिक्के ढाल देते थे तब वे सुवर्ण कहलाते थे।[3] गुप्तयुग के जो सुवर्ण के सिक्के प्राप्त हुये हैं उनका वजन लगभग १ कर्ष = ८० गुंजा (१५० ग्रेन) है।[4] अतः सम्भवतः उद्द्योतन के समय में प्रचलित स्वर्ण के सिक्को का वजन भी इसी के लगभग रहा होगा। तत्कालीन स्वर्ण का सिक्का प्राप्त होने पर इस पर अधिक प्रकाश पड़ सकता है।

एगारसगुणा—कुव० में 'एगारसगुणा' शब्द का प्रयोग हुआ है।[5] दोनों जगह दण्ड स्वरूप यह राशि देने को कही गयी है। सम्भवतः या तो जितनी कीमत की वस्तु का जिसका नुकसान किसी के द्वारा हुआ हो उससे ग्यारह गुनो कीमत जुर्माने के रूप में देने का कानून रहा हो, अथवा 'एगारसगुणा' नाम किसी निश्चित राशि के लिए तय हो, जो अपराधी को दण्ड स्वरूप देनी पड़ती रही हो। अन्य सन्दर्भ मिलने पर यह शब्द अधिक स्पष्ट हो सकेगा।

श्रेष्ठी

कुव० में वर्णित उपर्युक्त वाणिज्य एवं व्यापार के प्रसंगों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में श्रेष्ठियो का महत्त्वपूर्ण स्थान था। व्यापारियों के संगठन का श्रेष्ठो प्रधान होता था। इस समय नगर-सभ्यता-विकास पर थी। अतः श्रेष्ठियों को नगरश्रेष्ठी आदि नाम से भी सुशोभित किया जाने लगा था। कुव० में श्रेष्ठी पद को सूचित करने वाले निम्नोक्त शब्द मिलते हैं :—

१. भद्रश्रेष्ठि (भद्सेट्ठीणाम जुण्ण-सेट्ठी (६५.२१)
२. महानगरश्रेष्ठि (एक्कस्स महाणयर-सेट्ठिणो, ७३.८)
३. महाधनश्रेष्ठि (वेसमण-समो महाधणो णाम सेट्ठि, १०७.१६, २२४.१८)
४. जुण्णसेट्ठि (जुण्णसेट्ठिणो घरे अवइण्णा, १०९.२६)

---

१. जेण तुमं कोविया तस्स सुव्वणद्ध-सहस्सं देमि।—वही १२.११.
२. सुवण्ण-सहस्स-मोल्लाइं रयणाइं पंच-पंच गेण्हिमो।—वही ५७.३२.
३. प्राचीन भारतीय मुद्राशास्त्र, पृ० ५१.
४. कौटिल्य द्वारा स्वीकृत.
५. जं णत्थि तं एक्कारस-गुणं' देमि। —कुव० १३८.७.
जइ लज्जइ कह वि कवड्डिया वि एगारसं देमि। —वही १५३.१८

श्रेष्ठी के लिए प्रयुक्त इन शब्दों से ज्ञात होता है कि उस समय श्रेष्ठी का चुनाव अथवा पद परिपक्व आयु, अतुलसम्पत्ति एवं सभ्य-आचरण के आधार पर प्राप्त होता रहा होगा। नगरश्रेष्ठी का राजनीति तथा राजा पर विशेष प्रभाव रहता था। कुव० में मोहदत्त की कथा से ज्ञात होता है कि महानगरश्रेष्ठी की पुत्री से राजपुत्र के अवैध सम्बन्ध रखने के कारण श्रेष्ठी के कहने पर राजा स्वयं अपने पुत्र तोसल के प्राण-बध की आज्ञा दे देता है।[1]

●

---

१. आइट्ठो राइणा मंती, वच्च, सिग्घं तोसलं मारेसु—कुव० ७५.६.

परिच्छेद तीन

समुद्र-यात्राएँ

कुवलयमाला में वर्णित वाणिज्य एवं व्यापार के सन्दर्भों से यह सहज अनुमान किया जा सकता है कि इतना विस्तृत व्यापार जलमार्ग एवं स्थलमार्ग की सुविधाओं के बिना सम्भव नहीं था। उद्द्योतन ने स्वयं जलमार्ग एवं स्थल-मार्ग-सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ दी हैं, जिनके अध्ययन से ८ वी सदी की पथ-पद्धति पर नया प्रकाश पड़ता है।

जल-यात्राएँ

गुप्तयुग के समाज में लोगों की यह आम धारणा हो गयी थी कि समुद्र-यात्रा के द्वारा अधिक धन अर्जित किया जा सकता है। मृच्छकटिक में विदूषक की इस भावना – **भवति! किं युष्माकं यानपात्राणि वहन्ति?** (४ ३०)—का तथा बाण के इस कथन—**'अब्धभ्रमणेन श्रीसमाकर्षणं'**—(हर्षचरित, ६ पृ० १८९) का उद्द्योतन ने धनोपार्जन के साधनों में सागर-सन्तरण को प्रमुख स्थान देकर समर्थन किया है।[1] तत्कालीन साहित्य में उल्लिखित समुद्र-यात्राओं के वर्णनों से यह स्पष्ट हो गया है कि ८-९ वीं सदी में भारतीय व्यापारी लम्बी समुद्रयात्राएँ करने लगे थे, जिसका भारत की आर्थिक समृद्धि पर अच्छा प्रभाव पड़ा। विदेशों की सम्पत्ति से भारत माला-माल हो गया।[2]

समुद्रयात्रा का उद्देश्य

कुव० में समुद्र-यात्रा के चार प्रसंग वर्णित हैं। सार्थवाहपुत्र धनदेव, तीन भटके हुए यात्री, सागरदत्त एवं दो वणिक्-पुत्रों की कथाएँ समुद्रयात्रा-विषयक

१. सायर-तरणं—अत्थस्स साहयाइं।—कुव० ५७.२५.

२. प्रो० के० डी० वाजपेयी, भारतीय व्यापार का इतिहास।

विशेष सामग्री प्रस्तुत करती हैं।[1] इन सभी प्रसंगों में समुद्रयात्रा का उद्देश्य अपार धन कमाना है। लोभदेव सोपारक की व्यापारिक-मण्डी में रत्नद्वीप की यात्रा द्वारा अपार धन प्राप्ति की बात सुनकर स्वयं वहाँ की यात्रा करने के लिए तैयार हो जाता है, जिससे वह भी अधिक कमा सके।[2] पाटलिपुत्र का व्यापारी कुबेर के समान धनी होने पर भी धनार्जन हेतु रत्नद्वीप की यात्रा पर चल देता है।[3] सागरदत्त अपनी बाहुओं द्वारा सात करोड़ रुपये कमाने के लिए समुद्रयात्रा के व्यापार को ही उचित समझता है।[4] दो वणिक्पुत्र मजदूरी के लोभ से ही समुद्रयात्रा करनेवाले व्यापारी के साथ हो जाते हैं।[5] समुद्रयात्रा में धनोपार्जन के इस उद्देश्य को देखते हुए प्रतीत होता है कि आठवीं सदी में भारतीय व्यापारी अरब-बाजार के ठाठ-बाट से परिचित हो चुके थे। अतः उनके मन में धन बटोरने एवं सुख-सामग्री को एकत्र करने की प्रतिस्पर्द्धा जाग गयी थी। इससे भारतीय जहाजरानी का काफी विकास हुआ है।[6]

यात्रा की कठिनाइयाँ

समुद्रयात्रा करने में धनार्जन का लोभ तो था, किन्तु इसके लिए उतना ही साहस की भी आवश्यकता थी। आठवीं सदी में जलमार्ग की कठिनाइयाँ कम नहीं हुई थीं। सीमा के बन्दरगाहों पर विदेशियों का धीरे-धीरे अधिकार होता जा रहा था। अतः भारतीय व्यापारियों को चीन, स्वर्णद्वीप, रत्नद्वीप आदि जाने के लिए अन्य मार्ग अपनाने पड़ते थे, जो अनेक कठिनाइयों से भरे थे।

कुव० में सोपारक से रत्नद्वीप जाने का समुद्री-मार्ग अत्यन्त कठिन था। जो व्यापारी वहाँ होकर आया था वह अन्य व्यापारियों के समक्ष इस मार्ग की कठिनाइयों का वर्णन इस प्रकार करता है—समुद्र को पार करना दुष्कर है, रत्नद्वीप काफी दूर है, प्रचंड वायु, चपल बीजापहवा (वीथि), चंचल तरंगें, बड़े-बड़े मच्छ, मगर एवं ग्राह, दीर्घतन्तु (?) गलादेनेवाली तिमिंगिली,[7] रौद्र राक्षस, उड़नेवाले वेताल, दुर्लंघ्य पर्वत, कुशलचोर, विकराल महासमुद्र तथा दुर्लंघ्य मार्ग के कारण रत्नद्वीप सर्वथा दुर्गम है। इसलिये मैंने कहा कि वहाँ का व्यापार उसे सुन्दर है, जिसे अपना जीवन प्रिय न हो (६६.९)। अन्य व्यापारी भी उसकी बात सत्य मानकर कहते हैं कि सचमुच रत्नद्वीप दुर्गम है

---

१. कुव० ६७.१, ३०, ८९.८, १०५ ३१ एवं १९१.१४.
२. महंतो एस लाभो जं णिव-पत्तेहिं रयणाइं पाविज्जंति। ता किं ण तत्थ रयणदीवे गंतुमुज्जमो कीरइ ?—६६.१२.
३. सोय धणवइ-सम धणोवि होउण रयणद्दीवं जाणवत्तेण चलिओ।—८८.३०.
४. वही १०५.२६.
५. वही १९१.१३.
६. द्रष्टव्य—गो०—इ० ला० इ०, पृ० ११९.३०.
७. गिलणो तिमिंगिली, ६६.८.

तथा दुख के बिना सुख नहीं है।[1] रत्नद्वीप के इसी कठिन मार्ग के कारण भद्र श्रेष्ठी का जहाज सात बार समुद्र में उतारने पर सातों बार नष्ट हो गया। अतः उसने तो वहाँ जाने का विचार ही छोड़ दिया था।[2]

उद्द्योतन के इस विवरण में चपल बोजाप हवा (चपलावोइम्रो), दीर्घतन्तु, गला देनेवाली तिमिंगिली एवं कुशल चोर का उल्लेख अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। सम्भवतः आवश्यकचूर्णि (पृ० ७०९ अ) में उल्लिखित १६ हवाओं में बीजाप हवा ही उद्द्योतन की चवलाबीइओ है, जिस हवा के कारण वीथियाँ चपल हो जाती होंगी। दीर्घतन्तु किसी समुद्री जानवर का नाम हो सकता है। तिमिंगल एक भयंकर जलजन्तु था, जो चलती जहाज के यात्रियों को निगल जाने में समर्थ था। सम्भवतः इस जन्तु की भयंकरता के कारण ही साहित्य एवं कला में इसके उल्लेख प्राप्त होते हैं। भरहुत की कला में एक स्थान पर एक जहाज का चित्रण हुआ है जिसमें एक तिमिंगल ने धावा कर दिया है और जहाज के गिरे हुए कुछ यात्रियों को निगल रहा है (आ० ९)। के० वरुआ के अनुसार भगवान् बुद्ध की कृपा से तिमिंगल के मुख से वसुगुप्त की रक्षा का यह चित्रण है।[3] १०वीं सदी में भी समुद्रयात्रा में तिमिंगल का भय बना हुआ था।[4] कुशल चोरों का संकेत सम्भवतः बंगाल की खाड़ी के जल-दस्युओं के लिए रहा हो, जिनसे बचने के लिए भारतीय व्यापारी ८वी सदी में स्थलमार्गों से विदेश जाने लगे थे। क्योंकि स्थलमार्ग की प्राकृतिक कठिनाइयाँ जल-दस्युओं के आक्रमणों से सरल पड़ती होंगी।[5]

किन्तु जलमार्ग की उपर्युक्त कठिनाइयाँ भारतीय उत्साही वणिक्पुत्रों के लिए उनके उद्देश्य मे बाधा नही डालती थीं। क्योकि वे इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि साहसहीन पुरुष को लक्ष्मी आलिंगित होने पर छोड़ देती है। अतः पुरुष वही है, जो हृदय मे ठान ले उसे पूरा करके छोड़े।[6] इन तर्कों के बल पर धनदेव रत्नद्वीप की यात्रा के लिए स्वयं तो तैयार होता ही है, भद्रश्रेष्ठी को भी साथ कर लेता है। समराइच्चकहा के धरण आदि की समुद्रयात्रा के प्रसंग में भी साहस का यही परिचय मिलता है।

---

१. अहो दुग्गमं रयणदीवं। तहा दुक्खेण विणा सुहं णत्थि।—वही ६६.१०.
२. सत्त-हुत्तं जाणवत्तेण समुद्दे पविट्ठो। सत्त-हुत्त पि मह जाणवत्तं दलियं। ता णाहं भागी अत्थस्स। तेण भणिमो ण वच्चिमो समुद्दो।—वही ६६.२९.
३. भरहुत, भाग १, प्लेट ४०-१४, आ० ८५, भाग २, पृ० ७८; सार्थवाह, पृ० २१२ पर उद्धृत।
४. तिलकमंजरी, पृ० १४०.
५. मो०—सा०, पृ० २००.
६. पुरिसेण सव्वहा कज्ज-करणेक्क वावड-हियएण होइयव्वं।—कुव० ६६.२५.

जल-यात्रा की तैयारियाँ

कुवलयमाला के धनदेव एवं सागरदत्त द्वारा समुद्रयात्रा करने के प्रसंग में जल-यात्रा की प्रारम्भिक तैयारियाँ इस प्रकार की गयी थीं :—

१. समुद्र-यात्रा का निश्चय कर लेने पर समुद्र-पार बिकने वाली वस्तुओं को खरीदकर संग्रह करना प्रारम्भ कर दिया गया।[1]
२. जहाज तैयार करवा कर सजाया गया,[2]
३. निर्यात की जानेवाली वस्तुओं को जहाज पर लादा गया,
४. निर्यामकों को बुलाकर इकट्ठा किया गया,
५. आने-जाने के हिसाब से यात्रा-काल की अवधि निश्चित की गयी,
६. यात्रा पर प्रस्थान करने की तिथि एवं समय निश्चित किया गया,
७. यात्रा के दौरान अच्छे शकुनों पर विचार किया गया,
८. साथ चलने के लिए अन्य व्यापारियों को सूचना दी गयी,
९. इष्ट देवताओं की आराधना की गयी,
१०. ब्राह्मण-भोज कराये गये,
११. विशिष्ट जनों की पूजा की गयी,
१२. लौकिक देवताओं की अर्चना की गयी,
१३. पालों की व्यवस्था की गयी,
१४. मस्तूल खड़े कर दिये गये,
१५. जहाज में बैठने एवं सोने के लिए फर्नीचर (आसन) का संग्रह किया गया,
१६. लकड़ी के तख्तों एवं जलाऊ लकड़ी का संचय किया गया,
१७. ताजे एवं मीठे जल के पात्र भर लिये गये, अनाज अपने पास रख लिया गया,
१८. दलालों (आढ़तियों) को बुला लिया गया।[3] यह सब कार्य करते हुए प्रस्थान करने का दिन आ गया।[4]

---

१. तओ तद्दियहं चेय घेतुमारद्धाइं पर-तीर जोग्गाइं भंडाइं, १०५.२७.

२. तओ रयणदीव-कय-माणसेहिं सज्जियाइं जाणवत्ताइं। किं च करिउ समाढत्तं। घेप्पंति भंडाइं, उवयरिज्जंति णिज्जामया, गणिज्जए दियहं, ठावियं लग्गं, णिरूविज्जंति णिमित्ताइं, कीरंति अवसुईओ, सुमरिज्जंति इट्ठ-देवए, भुंजाविज्जंति बंभणे, पूइज्जंति विसिट्ठयणे, अच्चिज्जंति देवए, सज्जिज्जंति सेयवडे उब्भिज्जंति कूवाखंभए, संगहिज्जंति सयणे, वद्धिज्जंति कट्ठ-संचए, भरिज्जंति जल-भायणे त्ति। वही—६७.१-४.

३. गहिया आडियत्तिया, १०५ २८

४. एवं कुणमाणाणं समागओ सो दियहो, ६७.४.

उद्द्योतन द्वारा प्रस्तुत यह जल-यात्रा की प्रारम्भिक तैयारी अब तक के साहित्यिक सन्दर्भों में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। उद्द्योतन के पूर्व ज्ञाताधर्मकथा तथा समराइच्चकहा के जलयात्रा-सम्बन्धी प्रसंगों में भी एक स्थान पर कहीं इतनी सूक्ष्मता नहीं है।[1] पीने के लिए जल एवं ईंधन की व्यवस्था सभी वर्णनों में समान है। १०वीं सदी तक जलयात्रा के समय इन सभी वस्तुओं की व्यवस्था करनी पड़ती थी।[2] इससे ज्ञात होता है कि ८-१०वीं सदी तक की भारत की जहाजरानी में भले विकास हुआ हो, किन्तु समुद्री कठिनाईयाँ कम नहीं हुई थी।

जहाज का प्रस्थान

जलयात्रा का प्रारम्भ बड़े मांगलिक ढंग से होता था। जब निश्चित किया हुआ दिन आ जाता तो उस दिन सार्थवाह नहा-धोकर सुन्दरवस्त्र एवं अलंकार धारण करते, अपने परिजनों के साथ जहाज पर आरूढ़ होते, उनके चढ़ते ही तूर बजाया जाता, शंख फूंके जाते, मंगल किये जाते, ब्राह्मण आशीष देते, गुरुजन प्रसन्नता व्यक्त करते, पत्नियाँ दु:खी हो जातीं, मित्रजन हर्ष-विषाद युक्त होते, सज्जन पुरुष मनोरथ-पूर्ति की कामना करते और इस प्रकार मंगल, स्तुति एवं जय-जय की ध्वनि के साथ ही जहाज चल पड़ता।[3] जहाज चलते ही पाल खींच दिये जाते, लंगर खोल दिये जाते, पतवार चलाना शुरू कर दिया जाता, कर्णधार (मल्लाह) अपने-अपने स्थान पर नियुक्त कर दिये जाते, जहाज अपने मार्ग पर आ लगता तथा अनुकूल हवा के मिलते ही समुद्र की तरंगों पर उछलता हुआ आगे बढ़ जाता।[4]

कुव० का यह जहाज के प्रस्थान का वर्णन परम्परागत है। सागरदत्त की यात्रा के प्रसंग में प्रस्थान करने के पूर्व समुद्र-देवता की पूजा करने का उल्लेख है—**पूइऊण समुद्देव** (१०५.३२)। ज्ञाताधर्मकथा, समराइच्चकहा, एवं तिलकमंजरी में भी समुद्र-देवता की पूजा का उल्लेख मिलता है। ज्ञाताधर्मकथा में इस पूजन-विधि का शुद्ध लौकिक रूप देखा जा सकता है।

उद्द्योतन ने लोभदेव की यात्रा के प्रसंग में सिद्ध-यात्रा (**सिज्झऊ-जत्ता** ६६.२८) का उल्लेख किया है। समुद्रयात्रा के प्रसंग में यह एक पारिभाषिक शब्द बन गया था। इसके द्वारा सार्थवाह की यात्रा सकुशल पूर्ण हो एवं वह

---

१. ज्ञाताधर्मकथा, ८, पृ० ९७ आदि; समराइच्चकहा, पृ० २४०, ३९८, ५५२ आदि।

२. तिलकमंजरी, पृ० १३१.१३९.

३. कुव० ६७.५, ८.

४. तओ पूरिओ सेयवडो, उक्खित्ताइं लंबणाइं, चालियाइं आवेल्लयाइं, णिरूवियं कण्णहारेणं, लग्गं जाणवत्तं वत्तणीए, :पवाइओ हियइच्छिओ पवणो। - वही ६७.८.९.

सकुशल वापस लौट आये इसके लिए शुभकामनाएँ व्यक्त की जाती थीं। ज्ञाता-धर्मकथा, (८.७५) में यही भावना व्यक्त की गई है। आगे चलकर सुमात्रा के श्रीविजय के शिलालेखों में सिद्धयात्रा शब्द समुद्रयात्राके लिए प्रयुक्त पाया जाता है।

इस प्रसंग में जहाज को अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँचने में अनुकूल वायु का चलना आवश्यक माना है। उद्द्योतन ने इस पवन को हृदय-इच्छित एवं अनुकूल पवन[1] कहा है। आवश्यकचूर्णि में इसी पवन को गर्जभ कहा है, जोकि अबूहनीका के ग्रन्थ में 'हरजफ'[2] के नाम से उल्लिखत है।

समुद्र-पार के देशों में व्यापार

धनदेव की कथा से ज्ञात होता है कि समुद्र-पार के देशों में भारतीय व्यापारी पहुँचकर क्रमशः निम्नोक्त कार्य करते थे:–(१) जहाज किनारे लगते ही सभी व्यापारी उतरते (२) विक्रीयोग्य माल को उतारते, (३) भेंट लेकर वहाँ के राजा से मिलते, (४) उसे प्रसन्नकर वहाँ व्यापार करने की अनुमति लेते, (५) निर्धारित शुल्क चुकाते, (६) अपने माल को बेचने के लिए फैलाते, (७) हाथ के इशारों द्वारा कीमत तय कर अपने माल को बेचते, (८) अपने देश को ले जानेवाला माल खरीदते तथा (९) जो उन्हें वहाँ लाभ हुआ हो उसके अनुसार वहाँ की धार्मिक संस्थाओं को दान देकर पुनः अपने देश के लिए वापस चल देते।[3]

इस प्रसंग में भेंट लेकर राजा को प्रसन्न करने का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। यह प्रथा व्यापार के लिए अनुमति प्राप्त करने की द्योतक है। न केवल तत्कालीन साहित्य में अपितु प्राचीन भारत के कला अवशेषों में भी इस प्रथा का रूप सुरक्षित है। अमरावती और अजंता के अर्धचित्रों में इसका अंकन है। अमरावती के दृश्य में राजा सिंहासन पर बैठा है। पास में चामरग्राहिणियाँ और राजमहिषी परिचारिकाओं से घिरी बैठी हैं। चित्र की अग्रभूमि में कुर्ते, पजामें, कमरबंद और बूट पहिने हुए विदेशी व्यापारी फर्स पर घुटने टेक कर राजा को भेंट दे रहे है। उनके दल का नेता (सार्थवाह) राजा को एक मोती का हार भेंट कर रहा है।[4] अजंता के भित्तिचित्र में भी राजा को व्यापारियों

१. लद्धो अनुकूल पवणो (१०५.३३).
२. मो०-सा०, पृ० २०२ पर उद्धृत।
३. लग्ग कूले (१०६.२) उत्तिण्णा वणिया, उत्तारियाइं भंडाइं (१०६ २). गहियं दंसणीयं, दिट्ठो राया, कओ पसाओ, वट्टियं सुंकं। परियलियं भंडं, दिण्णा-हत्थ-सण्णा, विक्किणीयं तं। गहियं पडिभंडं। दिण्णं दाणं, पडिणियत्ताणियय-कूल हुत्तं।– कुव० ६७.१२-१३.
४. शिवराममूर्ति, अमरावती स्कल्पचर्स इन मद्रास म्युजियम, प्लेट २०.६, पृ० ३४,३५.

द्वारा भेंट देने का अङ्कन है।[1] लगता है यह प्रथा उद्द्योतन के समय तक ज्यों की त्यों थीं। आगे भी इसका अनुसरण होता रहा।

'विण्णा-हत्थ-सण्णा' का उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन व्यापार-पद्धति में यह एक नियम-सा बन गया था कि रत्न एवं मोतियों का मोल-भाव मुंह से जोर-जोर से चिल्लाकर नही किया जाता था। बल्कि विक्रय-योग्य मोतियों एवं हीरों पर एक कपड़े का टुकड़ा अथवा रूमाल ढक दिया जाता था। उसके अन्दर बेचनेवाला एवं खरीददार अपने हाथ डाल लेते थे और बिना कुछ बोले, हाथ के इशारों द्वारा सौदा तय कर लेते थे। इसी को उद्द्योतन ने **'विण्णा-हत्थ-सण्णा'** कहा है।[2] मारवाड़ियों में अभी भी सौदा तय करने की यह पद्धति प्रचलित है।

स्वार्थी व्यापारी—विदेशों से धन कमाकर लौटते समय कभी-कभी ऐसा होता था कि सार्थवाह के मन में लोभ आ जाता और वह अकेले ही सारे अर्जित धन को हड़प लेना चाहता था। जब जहाज बीच समुद्र में पहुँचता तब वह अपने मित्र व्यापारी को किसी बहाने मरवाने या समुद्र में डुबाने का प्रयत्न करता और बहुत बार अपने इस दुष्कृत्य में सफल भी हो जाता था। ६ ठी से १० वीं सदी तक के जैन-साहित्य में इस प्रकार के उदाहरण खूब मिलते है। इनसे ज्ञात होता है कि समुद्र-यात्रा में जितनी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती थीं, जितना अधिक लाभ होता था, उतने ही व्यापारी लोभी भी होते थे। कुव० में धनदेव ने इसी भावना से भद्रश्रेष्ठी को समुद्र में डुबा दिया था।

समुद्री-तूफान

प्राचीन समय में समुद्र-यात्रा निरापद नहीं थी। एक ओर जल-दस्युओं से जितना भय था, उतना ही समुद्री तूफानो से। कुव० में समुद्री-तूफान का जितना अच्छा वर्णन किया गया है, उतना अन्यत्र नहीं। लोभदेव एवं सागरदत्त की समुद्र-यात्रा मे आये समुद्री-तूफान के वर्णन से निम्न बातें प्रकाश मे आती हैं :—

पंजर-पुरुष—जहाज में एक ऐसा जलवायु विशेषज्ञ होता था, जो बादल के टुकड़ों के रंग देखकर सम्भावित तूफान का ज्ञान कर सकता था। यह अधिकारी जहाज के मस्तूल पर बैठा रहता था और वहीं से जहाज के संचालक को आगाह कर देता था। सागरदत्त के पंजर-पुरुष ने उत्तर दिशा में एक काले मेघपटल को देखकर यह बतला दिया था कि यह काजल के समान श्याम मेघ बड़ा खतरनाक है। अत. तुरन्त जहाज की रस्सियां ढीली कर दो, पालों को खोल दो, सारे माल को जहाज के तलघरे में भेज दो और जहाज को स्थिर

१. याजदानी, अजंता, भा० १, पृ० ४६.४७, सार्थवाह, पृ० २३८ पर उद्धृत।

२. ए कल्चरल नोट—डा० अग्रवाल, उ०-कुव० ६०, पृ० १२०.

कर लो। अन्यथा तुम सब मारे जाओगे।[1] किन्तु यह सब करने के पूर्व ही धन्धाधुन्ध मेह बरसने लगा। जहाज में लदे माल एवं मेघ के पानी के भार से जहाज समुद्र में डूब गया।[2]

धमधमेन्त मारुत—लोभदेव के जहाज को डुबाने के लिए भद्रश्रेष्ठी के जीव राक्षस ने धमधमेन्तमारुत को उत्पन्न कर समुद्र में तूफान मचा दिया। पानी बरसने लगा, ओले पड़ने लगे, उल्कापात होने लगा, वड़वानल जलने लगा, सर्वथा प्रलयकाल का दृश्य उपस्थित हो गया।[3] इस प्रसंग में उल्लिखित धमधमेन्तमारुत सम्भवतः वह कालिकावात है, जो समुद्र-यात्रा के लिए बड़ी भयंकर मानी गयी है। आवश्यकचूर्णिकार का कथन है कि यदि यह कालिकावात न चले, गर्जभवायु चले तभी जहाज गन्तव्य तक पहुँच सकता है।[4]

इष्ट देवताओं का स्मरण—कुव० में समुद्री तूफान के समय यात्री अपने-अपने इष्ट देवताओं का स्मरण करते हैं (६८.१७-१८)। राक्षस द्वारा समुद्र में तूफान पैदा करना एवं यात्रियों द्वारा इष्ट देवताओं का स्मरण करना प्राचीन भारतीय साहित्य में धीरे-धीरे एक अभिप्राय (motif) के रूप में प्रयुक्त होने लगा था। जायसी के पद्मावत (३८९.९०, दोहा) में भी इसी प्रकार का वर्णन है।[5] ऐसे संकट के समय समुद्र को रत्न चढ़ाये जाते थे। काठियावाड़ में समुद्रतट पर अग्नि जलाने तथा समुद्र को दूध, मक्खन और शक्कर चढ़ाने की प्रथा थी।[6] कुव० में सार्थपुत्र इस संकट से बचने के लिए भीगे कपड़े पहिन कर हाथ में धूप की कलुछी लेकर लोक-देवताओं को आहुति देकर मनाता है।[7]

जहाज का भग्न होना—प्राचीन भारतीय साहित्य में प्रायः जहाज भग्न के उल्लेख मिलते है। किन्तु कुव० के वर्णनों की यह विशेषता है कि इसमें समुद्र-यात्रा के जितने सन्दर्भ हैं, सभी में जहाजभग्न होने का उल्लेख है।[8] कोई भी

---

१. तत्थ पंजर-पुरिसेण उत्तरदिसाए दिट्ठं एक्कं सुप्पपमाणं कज्जिल-कसिण-मेह-पडलं। तं च दट्ठूण भणियमणेण "'एयं मेह-खंडं सव्वहा ण सुंदरं ता लंबेह लंबणे, मउलह सेयवडं, ठएह-भंडं, थिरीकरेह जाणवत्तं। अण्णहा विणट्ठा तुब्भे। —वही १०६.६, ९.

२. अंधारिय-दिसियक्कं विज्जुज्जल-विलसमाण-घण-सद्दं।
मुसल-सम-वारि-धारं कुविय-कयंतं व काल-घणं॥—१०६ ११.

३. सहसच्चिय खर-फरुसो उद्धावइ मारुओ धमधमेंतो।
सव्वह्वा पलय-काल भीसणं समुद्धाइयं महाणत्थं॥—६८.१३, १६.

४. मो०—सा०, पृ० १७०.

५. उ०—कुव० इ०, पृ० १२० पर उद्धृत।

६. कथासरितसागर, पेन्जर, जिल्द ७, अध्याय १०१, पृ० १४६.

७. सत्थवाहो उण अदण्णो अद्द-पड-पाउरणो धूय-कडच्छुय-हत्थो विण्णवेउं पयत्तो....
संपयं पसायं पेच्छिमो। —६८.२०

८. कुव० ६९.५, ८९.३२, १०६.८, १२, १९१.१३, १६ आदि।

व्यापारी समुद्रयात्रा से सकुशल वापस नहीं लौटता। यह प्रकारण नहीं हुआ। प्रथम तो आठवीं सदी में जलयात्रा की कठिनाइयों को देखते हुए जहाज-भग्न होना स्वाभाविक भी हो सकता है। दूसरे, कुव० में उद्द्योतनसूरि का प्रयत्न यह रहा है कि जीवन की प्रत्येक घटना का आध्यात्मिक प्रतीक बनाकर प्रस्तुत किया जाय। जैसे उन्होंने अर्थोपार्जन के साधनों को धार्मिक रूप दिया, उसी प्रकार जलयात्रा में जहाजभग्न का भी उन्होंने सुन्दर रूपक प्रस्तुत किया है।

भिन्नपोतध्वज—कुव० में एक ऐसे प्रसंग का वर्णन आया है जिसमें एक ही द्वीप पर तीन सार्थवाह जहाजभग्न हो जाने से अलग-अलग भटककर एकत्र होते हैं। पाटलिपुत्र से रत्नद्वीप को जाते हुए धन नामक व्यापारी का जहाज रास्ते में टूट जाता है। वह एक फलक के सहारे किसी प्रकार कुडंगद्वीप में जा लगता है। वह द्वीप अनेक हिंसक पशुओं से युक्त था तथा वहाँ के फल कड़वे थे। मनुष्य से निर्जन था। वहाँ भटकते हुए धन एक दिन किसी अन्य पुरुष को देखता है। पूछने पर ज्ञात हुआ कि वह व्यापारी स्वर्णद्वीप को जाते समय, जहाजभग्न हो जाने के कारण यहाँ आ लगा है। अब वे दोनों वहाँ भटकने लगे। एक दिन उन्होंने किसी तीसरे पुरुष को देखा, जो लंकापुरी को जाते समय वहाँ आ लगा था। तीनों समान दुःख का अनुभव करते हुए वहाँ अपना समय काटने लगे।[1] उन्होंने सलाह कर एक ऊँचे वृक्ष पर 'भिन्नपोतध्वज' के रूप में वल्कल (चिथड़े) टांग दिये।[2]

वे तीनों यात्री वहाँ किसी ऐसे पेड़ की तलाश में थे जिसके फल मधुर हों, किन्तु उन्हें निराश होना पड़ा। उन्हें वहाँ कादम्बरी के वृक्ष मिले, जिनमें फल नहीं थे। कुछ समय बाद उन वृक्षों में फल आना शुरू हुए, जिनकी ये बड़ी प्रतीक्षा से रक्षा करने लगे।

इसी समय किसी सार्थवाह की नजर वृक्ष पर लटकते भिन्नपोतध्वज पर पड़ी। करुणावश उसने अपना जहाज समुद्र में रुकवाकर दो नियामकों को नौका लेकर इन तीन भटके यात्रियों के पास भेजा। नियामकों ने उन व्यापारियों से जहाज पर चलने के लिए कहा। उनमें से दो तो काम्दवरी फलों की आशा से वहीं पर रह गये और एक व्यापारी उन निर्यामकों के हाथ जहाज में आ गया, जहाँ उसे सब दुःखों से छुटकारा मिल गया।[3]

धार्मिक रूपक 'भिन्नपोतध्वज' के द्वारा यह जानकर कि यहाँ भटके हुए यात्री रुके हुए हैं उनको तट तक ले जाने का कार्य उस रास्ते से गुजरनेवाला जहाज अवश्य करता था। भारतीय साहित्य में अनेक ऐसे उदाहरण हैं। किन्तु

१. अत्थि पाडलिपुत्तं णाम णयरं....सम-दुक्ख-सहायाणं मेत्ति अम्हाणं-८८-८९, ७.

२. ता एत्थ कहिंचि तुंगे पायवे भिण्ण-वहण-चिंधं उब्भेमो। 'तह' ति पडिवज्जिऊण उब्भियं वक्कलं तरुवर-सिहरम्मि। —वही ८९.७, ८.

३. आरूढो य दोणीए। गया तइं। तत्थ...सुह अणुहवंति, ८९.२७.

इस सामान्य घटना का धार्मिक रूपान्तर सम्भवतः उद्योतनसूरि ने पहली बार किया है। उनके अनुसार समुद्र जैसा यह संसार है। जहाज-भग्न होना कर्मों के भार से संसार-समुद्र को पार करने की असमर्थता है। फलक द्वारा किसी द्वीप पर लगना अपने संचित कर्मों द्वारा अगला जन्म-ग्रहण करना है। जहाँ ये तीनों यात्री मिलते हैं, वह कुडंगद्वीप मनुष्य लोक है, जहाँ अनेक दुःख हैं। तीनों यात्री जीवों के तीन प्रकार हैं, जो ८४ योनियों में फिरते हैं। कुडंगद्वीप में जो कादम्बरी के वृक्ष हैं, वे महिलाएँ हैं तथा उनमें जो फल आते हैं, वे सन्तान के प्रतीक हैं, जिनकी मनुष्य अज्ञानी बन कर रक्षा करता है। जो निर्यामक पुरुष उन्हें लेने गये थे, वे धर्माचार्य हैं तथा वह नौका दीक्षा का प्रतीक है। उस नौका पर बैठ कर जहाज द्वारा तीर पर पहुँच जाना मोक्ष है।[1]

प्रसिद्ध जल-मार्ग

कुव० में समुद्रयात्रा के वर्णन के प्रसंगों में निम्नोक्त जलमार्गों की सूचना मिलती है :—

१. सोप्पारक से चीन, महाचीन जानेवाला मार्ग (६६.२)
२. सोपारक से महिलाराज्य (तिब्बत) जानेवाला मार्ग (६६.३)
३. सोपारक से रत्नद्वीप (६६.४)
४. रत्नद्वीप से तारद्वीप (६९.१८)
५ तारद्वीप से समुद्रतट (७०.१२, १८)
६ कोशल से लंकापुरी (७४.११)
७. पाटलिपुत्र से रत्नद्वीप के रास्ते में कुडंगद्वीप (८८.२९, ३०)
८. सुवर्णद्वीप से लौटने के रास्ते में कुडगद्वीप (८९.४)
९. लंकापुरी को जाते हुए रास्ते में कुडंगद्वीप (८९ ६)
१०. जयश्री नगरी से यवनद्वीप (१०६.२)
११. यवनद्वीप से पाँच दिन-रात का रास्ता वाला चन्द्रद्वीप का मार्ग (१०६.१६)
१२. समुद्रतट से रोहणद्वीप (१९१.१३, १६)
१३. सोपारक से बब्बरकुल (६७.३३)
१४. सोपारक से स्वर्णद्वीप (६६ १)[2]

●

१. जो एस महाजलही संसारं ताव तं वियाणाहि।
जो दोणी सा दिक्खा जं तीरं होइ तं मोक्खं ॥—८९.९०.१, २.

२. द्रष्टव्य—गो०—इ० ला० इ०, पृ० १३८.

परिच्छेद चार

स्थल-यात्राएँ

प्राचीन भारत में यात्रा करना निरापद नहीं था। विशेषकर व्यापारिक यात्राओं में तो अनेक भय थे। व्यापारिक मार्ग सुरक्षित न होने के कारण रास्ते में चोर डाकुओं एवं जंगली जातियो तथा जानवरों के आक्रमणो का भय बना रहता था। इस कारण व्यापारी बाहरी मंडियों के साथ व्यापार करने के लिए एक दल बनाकर चलते थे। प्राचीन वाणिज्य की शब्दावलि में व्यापारियो के इस दल को सार्थ कहा जाता था एवं सार्थ के मुखिया को सार्थवाह।

कुव० में स्थल-यात्राओं के जो प्रसंग वर्णित हैं, उनसे सार्थवाह, सार्थ, मार्ग की कठिनाइयाँ तथा प्राचीन भारतीय स्थलमार्गो के सम्बन्ध म महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होती है।

सार्थवाह

अमरकोष के अनुसार 'जो पूँजी द्वारा व्यापार करनेवाले पान्थो का अगुआ हो वह **सार्थवाह** है।'[1] महाभारत मे भी सार्थ के नेता को सार्थवाह कहा गया है।[2] जातको मे इसका **सत्थवाह** के नाम से उल्लेख किया गया है। धार्मिक तीर्थयात्रा के लिए जैसे संघ निकलते थे और उनका नेता सघपति (**संघवइ**, **संघत्री**) होता था वैसे ही व्यापारिक क्षेत्र मे सार्थवाह की स्थिति थी। यात्राकाल में वह सार्थ का स्वामी होता था[3] तथा उसका कर्तव्य होता था कि वह सार्थ की सुरक्षा करता हुआ उसे गन्तव्य स्थान तक पहुँचाए। सार्थवाह कुशल व्यापारी होने के साथ साथ अच्छा पथ-प्रदर्शक भी होता था। सार्थवाह की परम्परा काफी विकसित हुई। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है—

१. सार्थान् साधनान् सरतो वा पान्थान् वहति सार्थवाह:, अमरकोष ३-९-७८.

२ अहं सार्थस्य नेता वै सार्थवाह. शुचिस्मिते।—वनपर्व, ६१,१२२.

३. वही, सार्थस्य महतः प्रभुः।

"भारतीय व्यापारिक जगत् में जो बुद्धि के धनी, सत्य में निष्ठावान, साहस के भण्डार, व्यापारिक सूझ-बूझ में पगे, उदार, दानी, धर्म और संस्कृति में रुचि रखनेवाले, नई स्थिति का स्वागत करनेवाले, देश-विदेश की जानकारी के कोष, यवन, शक, पल्लव, रोमन, ऋषिक, हूण आदि विदेशियों के साथ कन्धा रगड़नेवाले, उनकी भाषा और रीति-नीति के पारखी थे, वे भारतीय सार्थवाह थे। वे महोदधि के तट पर स्थित ताम्रलिप्ति से सीरिया की अन्ताखी नगरी तक यवद्वीप-कटाहद्वीप से चौल मण्डल के सामुद्रिक पत्तनों और पश्चिम में यवन, वर्बर देशों तक के विशाल जल-थल पर छा गये थे।[1]" डा० अग्रवाल के इस कथन को कुव० की एतद् विषयक सामग्री काफी पुष्ट करती है।

कुव० में ऐसे सार्थों का वर्णन है, जो जल एवं स्थलमार्ग से व्यापारिक यात्राएँ करते थे। उस समय स्थलयात्राएँ सम्भवतः दोनों प्रकार से प्रचलित थी—सार्थ द्वारा एवं बिना सार्थ के। मायादित्य एवं स्थाणु सालिग्राम (वाराणसी) से प्रतिष्ठान तक की यात्रा अकेले ही करते हैं, जिसमें उन्हें अनेक नदी, पर्वतों एवं अटवियों को पार करना पड़ता है।[2] किन्तु बिना सार्थ के यात्रा करने के कारण हमेशा चोरों आदि का भय बना रहता था। इसलिए वे दोनों दूरवासी-तीर्थिकों का वेष धारण कर वापस लौटते हैं, जिन्हें चोर परेशान न करते रहे होंगे।[3]

सार्थ के साथ यात्रा करने के प्रसंग में कुवलयमाला के वर्णनों से निम्नोक्त बातें ज्ञात होती हैं :—

तरुण सार्थवाह—सार्थ को लेकर व्यापार करने के लिए यह आवश्यक नहीं था कि कोई वृद्ध व्यापारी ही सार्थवाह बने। किन्तु कोई उत्साही धनाढ्य तरुण भी सार्थवाह बनकर व्यापारिक यात्रा कर सकता था। तथा व्यापारिक-मण्डल में भी उसका वही आदर-सत्कार होता था, जो एक वृद्ध एवं अनुभवी सार्थवाह का।[4]

सार्थ का प्रस्थान—स्थलयात्रा प्रारम्भ करने के पूर्व अनेक तैयारियाँ करनी पड़ती थी। दक्षिणपथ की ओर जानेवाले सार्थ में प्रथम वहाँ बेचे जाने वाले घोड़ों को तैयार किया गया, यान-वाहनों को सजाया गया, रास्ते के लिए खाद्य-सामग्री रखी गयी, दलाल (आढ़तिया) साथ में लिये गये, सार्थ का काम जानने वाले कर्मकारों को एकत्र किया गया, गुरुजनों की आशीष ली गई,

---

१. सार्थवाह, भूमिका।
२. तत्थ अणेय-गिरि-सरिया-सय-संकुलाओ अडइओ उलंघिऊण कह कह वि पत्ता पइट्ठाणं णाम णयरं।—कुव० ५७.२८.
३. ते य एवं परियत्तिय वेसा अलक्खिया चोरेहिं—वही ५८.३.
४. कुव० धनदेव की कथा, ६५-६८.

गोरोचन आदि के द्वारा वंदना की गयी और सेना की भाँति सार्थ चल पड़ा।[1] तब तरुण सार्थवाह को अनुभवी सार्थवाह द्वारा मार्ग की कठिनाइयों का सामना करने के लिए उचित सलाह दी गयी थी (६५.१६)।

उस समय किसी भी स्थान की यात्रा करने के लिए सार्थ को प्रामाणिक माना जाता था। अकेले-दुकेले यात्री किसी सार्थ का साथ पकड़ लेते थे, ताकि मार्ग में किसी तरह की कठिनाई न हो और गन्तव्य तक पहुँचा जा सके। कोशल की बणिक्‌पुत्री ने रात्रि के पश्चिम प्रहर में पाटलिपुत्र को जाने वाले एक सार्थ का अनुगमन किया, किन्तु गर्भावस्था के कारण वह सार्थ के साथ चल न सकी और पीछे रह गयी।[2] कुमार कुवलयचन्द्र ने विन्ध्यपुर से कांची की ओर जाने वाले सार्थ का साथ कर लिया था जिससे विजयपुरी तक वह पहुँच सके।[3]

सार्थ का साज-सामान—प्राचीन भारत में सार्थ के साथ अनेक सामान एवं सवारियाँ रखी जाती थीं जिससे रास्ते में जरूरत का सब सामान उपलब्ध हो सके। कुवलयमाला में दक्षिणपथ में जानेवाले सार्थ के वर्णन से ज्ञात होता है कि उस समय सार्थ स्वतन्त्र विचरण करनेवाले ऊँटों के कारण मरुदेश जैसा, बलिष्ठ बैलों की गर्जना से शोभित महादेव के मंदिर-जैसा, झूमकर चलनेवाले गधो के कारण रावण-राज्य जैसा, अनेक अश्वों के समूह के कारण राज्यांगण जैसा, वनियो के समूह के विचरण करने के कारण विपणिमार्ग जैसा तथा अनेक प्रकार के वर्तन एव सामान के कारण कुम्हार की दुकान जैसा दिखायी पड़ता था।[4] ऐसे सार्थो के सार्थवाह बड़ी कुशलता से सार्थ का संचालन करते हुए उसे आगे ले जाते थे। इस वर्णन से ज्ञात होता है कि ८वी सदी तक लम्बी व्यापारिक यात्राओं मे भी घोड़े और ऊँट का प्रयोग होने लगा था। इसके पहले लम्बी यात्रा में घोड़े का उपयोग केवल सेना में होता था। किन्तु ८वीं से १०वीं सदी तक घोड़े व्यापारिक यात्रायो में सार्थो के प्रमुख अंग हो गये थे। सम्भवत: यह अरब व्यापार की वृद्धि के कारण हुआ होगा, जिसमें घोड़े व्यापार के प्रमुख साधन थे।

---

१. सज्जीकया तुरंगमा, सज्जियाइं जाण-वाहणाइं गहियाइं पच्छयणाइं, चित्तविया आडियत्तिया, संठविओ कम्मयर-जणो, आउच्छिओ गुरुयणो, वंदिया रोयणा, पयत्तो सत्थो, चलियाओ बलत्थाउ।—कुव० ६५.१३, १४

२. राईए पच्छिम जामे पाडलिउत्तं अणुगामिओ सत्थो उवलद्धो। तत्थ गंतुं पयत्ता। —वही ७५.१३,१४.

३. भो भो सत्थवाह, तुब्भेहिं समं अहं किंचि उद्देसं वच्चामि त्ति।—वही १३५.८.

४. अणेय वणिय-पणिय-दंड-भंड-कुंडिया-संकुलो महंतो सत्थो। जो कइसओ। मरुदेसु जइसओ उद्दाम-संचरंत-करह-संकुलो। हर-णिवासु जइसओ ढेक्कंत-दरिय-वसह-सोहिओ। रामण-रज्ज-जइसओ उद्दाम-पयत्त-खर-दूसणु। रायंगणु जइसओ बहु-तुरंग-सगओ। विपणि-मग्गु जइसओ संचरंत-वणियपवरू। कुंभरावणु जइसओ, अणेय-भंड-विसेस-भरिओ त्ति।—कुव० १३४-३२, १३५.२.

सार्थ का पड़ाव एवं प्रस्थान—लम्बी स्थल-यात्राएँ करने के कारण सार्थ कहीं उचित स्थान पर अपना पड़ाव डाल देते थे। पड़ाव के समय सार्थ की सुरक्षा की पूरी व्यवस्था की जाती थी। वैश्रमणदत्त सार्थवाह का सार्थ सह्य-पर्वत की महाटवि के मध्यदेश में पहुँचा। वहाँ एक मैदान के पास बड़ा जलाशय था। उसके आगे भील-पल्ली थी, जिसका सार्थ के लिए बड़ा भय था। अतः वहीं जलाशय के पास सार्थ का पड़ाव डाल दिया गया। कीमती वस्तुओं को पड़ाव के घेरे के मध्य में रखा गया, अन्य वस्तुओं को उनके बाहर। एक सुरक्षा घेरा बनाया गया, पालकीवालों को सचेत कर दिया गयाँ, तलवारें निकाल ली गयीं, धनुष-बाण चढ़ा लिये गये तथा कनातें खींचकर सार्थ-निवेश बना लिया गया।[1] सूर्यास्त होते ही जब अन्धकार हो गया तो पहरेदार सामग्रियों पर ध्यान रखने लगे, घोड़ों के ऊपर से पलान उतार दिये गये तथा चौकी बना ली गयी और इस तरह सजगता पूर्वक बातचीत एवं रतजगा करते हुए बहुत-सी रात व्यतीत कर दी गयी (१३५.५-८)।

प्रभात-समय के पूर्व जब तारे छिपने लगे पश्चिम दिशा के पहरेदारों ने मजदूरों को जगाते हुए कहा—अरे कर्मकार लोगों उठो, ऊंट लादो, सार्थ को चालू करो, रजनी बीत गयी अतः प्रयाण शुरू कर दो। इसी समय तूर, मंगल और शंख बजाये गये, जिससे सब लोग जाग गये, चलने की तैयारी करने लगे। इस प्रकार शब्द होने लगे—अरे—अरे उठो, रात के काम समेट लो (**समग्गेसु रयणीओ**), ऊंट लादो, गधों पर कंठा लादो, उनमें उपकरण भरो, तम्बु लपेटो, बांसों को इकट्ठा बाँधो, माल-असबाब को लाद दो, कुटियों में आवाज़ करो (**अप्फोडेसु कुंडियं**), घोड़े तैयार करो, पलान लादो, बैलों को उठाओ। जल्दी चलो, ऊंघते मत रहो, कुछ भूल तो नहीं गया देख लो, इस प्रकार कोलाहल करता हुआ सार्थ प्रस्थान करने लगा।[2]

उद्द्योतन द्वारा सार्थ के पड़ाव एवं प्रस्थान का यह वर्णन स्थलमार्ग की यात्राओं का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है। बाण ने हर्षचरित में हर्ष की सेना का पड़ाव के बाद प्रस्थान का इसी प्रकार वर्णन किया है।[3] प्रभात समय में बाजे बजना, छावनी में जाग होना, डेरा-डंडा उठाना, सामान लादना, तम्बू समेटना आदि प्रस्थान के समय के प्रमुख कार्य थे। हरिभद्र की समराइच्चकहा में भी पड़ाव के समय पहरेदारों द्वारा सार्थ की रक्षा करने का उल्लेख है।[4]

---

१. अंब्भंतरीकयाइं सार-भंडाइं, बाहिरीकयाइं असार-भंडाइं, विरइया मंडली, आढत्ता आडियत्तिया, सज्जीकया करवाला, णिबद्धाओ असि घेणूओ, आरोवि-वियाइं कालवट्ठाइं, णिरूवियं सयलं सत्थ-णिवेसं ति। -वही १३५ ११-१२.

२. तूरसु पयट्ट वच्चसु चक्कमसु य णेय किंचिच पम्ह्ट्ठं।
अह सत्थो उच्चलिओ कलयल-सद्दं करेमाणो॥ —वही १३५.२५.

३. अ०—ह० अ०, पृ० १४०-४१.

४. ह०—स० क०, पृ०, ४७६.

इससे सार्थवाह को जो सार्थ का रक्षक कहा गया है, वह स्पष्ट हो जाता है। इस प्रसंग में कंठाल (कंडाल रावटी में रखे जानेवाले), पलान, पटकुटी (कनात) एवं दंड (बांस) ऐसे विशिष्ट शब्द हैं जिनका सार्थ के पड़ाव एवं प्रस्थान के समय ६ठी से १०वीं सदी तक बराबर प्रयोग होता रहा है। बाण ने हर्षचरित में ऊँट पर लादे जानेवाले कंडालों का वर्णन किया है। (दे० डा० अग्रवाल, हर्षचरित, पृ० १४२)। तिलकमंजरी में भी इसका उल्लेख है (पृ० १२२-२३)।

स्थल-मार्ग की कठिनाइयाँ -

प्राचीन भारत में स्थल-मार्ग में सार्थ द्वारा यात्रा करना भी निरापद नहीं था।[१] सार्थवाह की सजगता एवं सुरक्षा के बावजूद रास्ते की जंगली जातियाँ एवं चोरों का भय बना रहता था। दक्षिणापथ के यात्रियों के लिए विन्ध्याटवी से पार होना सबसे अधिक कठिन था। वहाँ की भिल्ल जातियों के आक्रमण एवं जंगली इलाका होने से यात्रियों को हमेशा भय बना रहता था। समराइच्चकहा एवं कुवलयमाला में शबर-आक्रमणों का वर्णन है। उद्द्योतन ने वैश्रमणदत्त सार्थवाह के सार्थ पर शबरों के आक्रमण का सूक्ष्म वर्णन किया है। शबरों ने जब यात्रियों को मार-डपटकर उनकी बहुमूल्य चीजें छीन ली तथा सार्थ तितर-बितर होने से सार्थवाह की लड़की कुवलयचन्द्र की शरण में आ गयी तो कुवलयचन्द्र भी शबर सेनापति से युद्ध करने लगा। अन्त में जब दोनों एक दूसरे से पराजित न हुए तो शबर सेनापति ने कुमार से संधि कर ली। बाद में जब परिचय हुआ तो सेनापति ने सार्थ का सब धन वापस कर दिया (१३८.६,९)।

प्राचीन भारतीय स्थलमार्ग

आठवी शदी में प्राचीन भारतीय स्थलमार्गों का काफी विकास हुआ। अन्तर्देशीय व्यापार की समृद्धि से यह ज्ञात होता है कि देश के विभिन्न व्यापारिक केन्द्र स्थलमार्गों द्वारा एक-दूसरे से जुड़े थे। उत्तरापथ एवं दक्षिणापथ प्रमुख मार्ग थे। इनमें से होकर अन्यान्य नगरों को भी रास्ते फूटते थे, जिनका व्यापारिक एवं अन्य यात्राओं के लिए प्रयोग होता था। कुव० की सम्पूर्ण कथा को ध्यान में रखते हुए घटनाक्रम से निम्नोक्त प्रमुख स्थलमार्गों का पता चलता है :—

१. अयोध्या से कोशाम्बी, विन्ध्याटवि, नर्मदानदी, सह्यपर्वत, चिन्तामणिपल्लि और कांची होते हुए विजयपुरी।
२. कांची से (रगड़ा संनिवेश) कोशाम्बी (चंडसोम की कथा, ४५-४८)।
३. उज्जयिनी से नर्मदानदी, नर्मदा से मथुरा एवं मथुरा से कोशाम्बी (प्रयाग) (मानभट की कथा, ५०-५५)।

---

१. The volume of Trade in our period seems to have gone down as a result of the insecurity of highways. The absence of a strong central power led to the growth of feudal anarchy and the increase in the power of unsocial elements.—Lallanji Gopal,—The Economic life of Northern India P. 101.

४. शालिग्राम (वाराणसी) से प्रतिष्ठान, प्रतिष्ठान से नर्मदातीर, नर्मदानदी से विन्ध्याटवी होते हुए कोशाम्बी (मायादित्य की कथा)।
५. तक्षशिला के दक्षिणापथ द्वारा सोपारक (धनदेव की कथा, ६५)।
६. सोपारक से कोशल, उत्तरापथ, पूर्वदेश, वारावती, बब्बरकुल (६५)।
७. तारद्वीप के समुद्रतट से गंगानदी होते हुए कोशाम्बी (७०-७२)।
८. कोशल से पाटलिपुत्र (७५.१४)।
९. उज्जयिनी से पाटलिपुत्र के बीच महा मार्ग (७६.२१)।
१०. पाटलिपुत्र से कोशाम्बी (मोहदत्त की कथा, ८०-२७, ३०)।
११. विन्ध्यावास से भरुकच्छ (९९-४, १८)।
१२. चम्पा से दक्षिणापथ द्वारा दक्षिण-समुद्र के किनारे स्थित जयश्री महानगरी तक मार्ग (१०३-१०४, ७)।
१३. विन्ध्याटवि से म्लेच्छपल्लि दक्षिणदिशा में (११२)।
१४. माकन्दी नगरो से दक्षिण-पश्चिम मार्ग में महाविन्ध्याटवि (११७-११८)।
१५. विन्धयाटवि से दक्षिणदिशा में नर्मदा नदी (१२०.३०,३२)।
१६. नर्मदा नदी के दक्षिणी किनारे पर स्थित देव अटवि से भरुकच्छ (१२३.१,२०)।
१७. विन्ध्यपुर से सह्यपर्वत होता हुआ कांचीपुरी को सार्थ-गमन (१३५)।
१८. रत्नपुर से अनेक पथ, महापथ होते हुए विन्ध्याटवि (१४१-१४५)।
१९. चम्पानगरी से समुद्रतट की स्थल-यात्रा (१६१.१३)।
२०. द्वारका से सह्यपर्वत की गुफा का मार्ग (१९३.३३)।
२१. चिन्तामणिपल्लि से भरुकच्छ एवं वहाँ से अयोध्या (२१५.२७,२८, २१६-४)।
२२. अयोध्या से सम्मेदशिखर पर्वत की यात्रा (२१६.६)।
२३. चम्पा से श्रावस्ती (२३०.१६)।
२४. अरुणाभनगर (श्रावस्ती के नजदीक) से उज्जियिनी (२३३.३१)।
२५. श्रावस्ती से काकन्दी (२४४-२९), ऋषभपुर से काकन्दी (२४६-२५६)।
२६. काकन्दी से हस्तिनापुर (२५६.२२)।
२७. सरलपुर से हस्तिनापुर (२५८.२६, ३६७.३३) एवं
२८. हस्तिनापुर से राजगृह (२६८.६)।

परिच्छेद पाँच

धातुवाद एवं सुवर्ण-सिद्धि

प्राचीन भारत में धनोपार्जन के विविध साधनों में स्वर्ण बनाने की प्रक्रिया एक प्रमुख साधन रहा है। उस समय लोग स्वर्ण दो प्रकार से अर्जित कर सकते थे। प्रथम, भारत के व्यापारी यहाँ की बनी चीजों या कच्चे माल को विदेश ले जाते थे। उसके बदले में वहाँ से सोना भर कर लाते थे। इसके लिए उन्हें बड़ी कठिनाइयाँ सहनी पड़ती थीं। दूसरे, कुछ ऐसे प्रयोगवादी लोग होते थे जो यहीं भारत में कुछ विशेष मसालो की रसायनिक प्रक्रिया द्वारा स्वर्ण तैयार करते थे। इनको कई बार प्रयोग बिगड़ जाने से विफल होना पड़ता था, किन्तु होशियार प्रयोगवादी सफल भी होते थे। इन प्रयोगवादियों में दो प्रकार के व्यक्ति होते थे। एक वे जो धातुवाद के द्वारा स्वर्ण बनाते थे और दूसरे वे जो रक्त-मांस आदि के द्वारा स्वर्ण बनाते थे। कुवलयमालाकहा में इन दोनों प्रकार के प्रयोगों का वर्णन आया है।

धातुवाद

प्रचीन भारत में शिक्षणीय विषयों के अन्तर्गत धातुवाद का प्रमुख स्थान था। क्योंकि धातुवाद कला होते हुए एक व्यवसाय के रूप में भी प्रचलित था। ७२ कलाओं का वर्णन करते समय कामसूत्र (कला सं० ३९), शुक्रनीति (कला सं० १२-१७) एव समराइच्चकहा (कला सं० ७२) मे धातुवाद के नाम से तथा कल्पसूत्र (कला सं० ७०), प्रबन्धकोश (कला सं० ७०) एवं पृथ्वीचंदचरित (कला सं० ६८) में धातुकर्म के नाम से इसका उल्लेख हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि धातुवाद प्राचीन भारत के शैक्षणिक जगत् में ही नहीं अपितु व्यवहारिक जीवन में भी प्रचलित रहा होगा।

उपर्युक्त ग्रन्थों में धातुवाद का कला के रूप में नामोल्लेख मात्र है। विस्तृत विवरण प्राप्त नहीं होता। केवल शुक्रनीति में धातुवाद को कुछ स्पष्ट किया गया

है। उसमें क्रमांक १२ से १७ तक की कलाओं के विषय हैं—पत्थर और धातुओं का गलाना तथा भस्म बनाना, धातु और औषधियों के संयोग से रसायनों का बनाना, धातुओं के मिलाने और अलग करने की विद्या, धातुओं के नये संयोग बनाना तथा खार निकालने का ज्ञान।[1] ये सभी कार्य धातुवाद के अन्तर्गत होते हैं।

उद्द्योतनसूरि ने कुव० में धातुवाद को अधिक स्पष्ट किया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में धातुवाद का छहबार उल्लेख हुआ है।[2] चतुर्थ उल्लेख (१९५-१९७) धातुवाद के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्रस्तुत करता है। कुमार कुवलयचन्द्र विवाह के बाद अयोध्या वापस लौट रहा था। रास्ते में एक रात्रि को उसकी भेंट कुछ धातुवादियों से होती है। कुमार उन धातुवादियों के निष्फल प्रयत्न को पुनः सफल बनाता है (१९७.१, ६)। इस प्रसंग में धातुवाद से सम्बन्धित निम्नांकित सामग्री प्राप्त होती है :—

शिक्षा—धातुवाद की शिक्षा ७२ कलाओं के अध्ययन करते समय ली जाती थी। यदि कोई व्यक्ति विधिवत समय पर इन कलाओं का अध्ययन नहीं कर पाता था तो वह अपनी आवश्यकतानुसार कुछ कलाओं को उनके अधिकारी विद्वानों की सेवा करके सीखता था। धातुवाद की शिक्षा भी इस प्रकार ली जा सकती थी। दो वणिक्पुत्रों द्वारा धनोपार्जन के लिए किये गये सभी प्रयत्न व्यर्थ हो गये तो वे धातुवाद के जानकार किसी व्यक्ति की सेवा करने लग गये। उससे धातुवाद की शिक्षा प्राप्त की।[3] किन्तु धातुवाद की शिक्षा एक ऐसी रसायनिक प्रक्रिया थी, यदि तनिक भी सीखने में चूक हो जाय तो सारे प्रयत्न व्यर्थ हो जाते थे।[4]

प्रयोग करने का समय आदि—धातुवाद की शिक्षा प्राप्त कर लेने मात्र से कुछ प्राप्त नहीं होता, जब तक उसका व्यवहार में प्रयोग न किया जाय। सफल प्रयोग करने के लिए प्रयोग का प्राथमिक परीक्षण, उपयुक्त एवं प्रसिद्ध स्थान, कुशल उपाध्यायों का निर्देशन, निपुण धातुकला के विशारदों का सहयोग, सरस औषधियाँ, शुभ लग्न तथा बलि का दिया जाना आदि आवश्यक उपकरण थे (१९५.२९, ३०)। फिर भी यदि धातुवादी स्वर्ण बनाने में सफल न हो पाते तो अपने पूर्व जन्म के पुण्य के अभाव को ही इसका कारण मानते थे।[5]

---

१. पाषाण-धात्वादिदृतिभस्मकरणम्। धात्वोषधीनां संयोगक्रियाज्ञानम्। धातुसांकर्य-पार्थक्यकरणम्। धात्वादीनां संयोग-पूर्वविज्ञानम्। क्षारनिष्कासनज्ञानम्। —शुक्रनीति, ६४ कलाएँ।

२. कुव० २२.५, ९८.१९, २०, १०४.१९, १९१.२४, १९१-१९७, २६९.७, ८.

३. अह तत्थ वि णिव्विण्णा अल्लीणा कं पि एरिसं पुरिसं।
धाउव्वायं धम्मिमो ति तेण ते किं पि सिक्खिविया॥ —१९१.२४.

४. कहिं भणह सामग्गीए जाओ ण जाओ, जेण कणयं ति चिंतियं सुव्वं जायं। —१९५.२८

५. तहवि विहडियं सव्वं। णत्थि पुव्व-पुण्णो अम्हाणं।—वही १९५.३०.३१.

प्रयोग-प्रक्रिया—उक्त उपकरण एकत्र हो जाने पर भी हर कोई धातुवाद का प्रयोग नहीं कर सकता था। क्योंकि विभिन्न धातुओं और औषधियों में अग्नि लगा देने से जब वे जलने लगती थी तो उनसे निकलती हुई ज्वाला का सही-सही ज्ञान करना बड़ा कठिन था। ज्वाला के विभिन्न रंगों की पहचान के द्वारा ही प्रयोग सफल होगा या नहीं इसकी जानकारी की जाती थी। ज्वाला के लक्षण इस प्रकार थे—ज्वाला यदि रक्तवर्ण हो तो तांबा, पीली हो तो **स्वर्ण,** श्वेत हो तो रजत, काली हो तो लोहा एवं प्रभावहीन हो तो कांसा उत्पन्न होता है।[1] जब ज्वाला प्रखर एवं शोभायुक्त हो तभी उस प्रयोग के द्वारा स्वर्ण की प्राप्ति होती है। कोमल और तेजहीन ज्वाला से कुछ हाथ नहीं लगता।[2]

ज्वाला लक्षण द्वारा ज्वाला विशेष को जानकर कुशल नरेन्द्र सत्व विशेष को हाथ मे लेकर, इष्टदेव को नमस्कार कर, परिपाकचूर्ण को ग्रहण कर, सिद्धों और जोणीपाहुड (नामक विद्या) के सिद्धो को प्रणाम करते हुये कुंडि के मुख में (मुसा-मुहम्मि) परिपाकचूर्ण को डालते थे। चूर्ण डालते ही कुंडी जलने लगती थी और जैसे ही वह सीधी होतो निषेक करने योग्य पदार्थों का उसमें सिंचन किया जाता। थोड़ी ही देर बाद वहाँ का प्रदेश चमकने लगता और स्वर्ण तैयार हो जाता था।[3]

प्रयोग में असफलता एवं सफलता—धातुवाद का प्रयोग करने में सभी सफल नहीं होते थे। इसके लिए विद्या मे कुशलता एवं बड़ी साधना की जरूरत होती थी। जो व्यक्ति सत्वरहित, अपवित्र, अब्रह्मचारी, तृष्णायुक्त, मित्र को ठगनेवाला, कृतघ्न, देवताओं को न माननेवाला, मंत्ररहित, उत्साह रहित, गुरु-निन्दक तथा श्रद्धारहित हो वह धातुवाद में कभी सफल नही हो सकता (१९७.२२, २४)। जो इन दोषों से रहित हो तथा गुरु और देवों का आराधक हो वह नरेन्द्र पर्वत को भी स्वर्ण बना सकता है।[4]

तीन प्रकार के प्रयोगवादी—स्वर्ण बनाने का प्रयोग करनेवाले व्यक्ति तीन प्रकार के होते थे :—(१) क्रियावादी, (२) नरेन्द्र और (३) धातुवादी।

---

१. तंबम्मि होइ रत्ता पीता कणयम्मि सुक्किला रयए।
लोहे कसिणा कंसम्मि णिप्पभा होइ जालाओ ॥—कुव० १९५.१४.

२. जइ आवट्टं दव्वं ता एसा होइ अहिय रेहिल्ला।
अह कहवि अणावट्टो स च्चिय मउया य विच्छाया ॥—वही १९५.१५.

३. जाणिऊण जाला-विसेसं कुमारेण—अवलंबिऊण सत्तं—पणमिया सिद्धा, गहियं तं पडिवाय-चुण्णं अभिमंतियं च इमाए विज्जाए। अवि य णमो सिद्धाणं णमो जोणी-पाहुड—सिद्धाणं इमाणं। इमं च विज्जं पढंतेण पक्खित्तं मूसा-मुहम्मि, धग त्ति य पज्जलिया मूसा ओसारिया य, णिसित्ता णिसेएण थोव-वेलाए णियच्छियं जाव विज्जु-पुंज-सच्छयं कणयं ति।—कुव० १९६.३०, १९७.१.

४. जे गुरु-देवय-महिमाणुतप्परा सयल-सत्त-संपण्णा।
ते तारिसा णरिंदा करेंति गिरिणो वि हेममए ॥—कुव० १९७-२७.

किन्तु लोक में इन सबको धातुवादी ही कहा जाता था।[1] यद्यपि तीनों के कार्य अलग-अलग थे। क्रियावादी योग साधना के द्वारा स्वर्ण बनाते थे। जो चतुराई पूर्वक पारा आदि रस को बाँधते थे वे नरेन्द्र कहलाते थे और जो धातुओं को लेकर पर्वत की गुफाओं में अग्निकर्म आदि करके स्वर्ण बनाते थे उन्हें धातुवादी कहा जाता था (१९७,३०.३१)।

इनके भी अनेक भेद हैं। क्रियाएँ कई प्रकार की हैं—अर्घक्रिया, उत्कृष्ट-क्रिया, कष्ट-क्रिया, रसक्रिया, धातुमूलक्रिया आदि। नाग, गंध, तांबा, हेम, यवक्षार, सीसा, त्रपु, कांसा, रुपया, स्वर्ण, लोह, क्षार, सूचक-कुनड़ी, ताल, नागिनी, भ्रमर आदि भेद से नरेन्द्रों के कई भेद हैं। और धातुवादियों का वर्णन तो इतना विस्तृत है कि उसका वर्णन करना वड़ा मुश्किल है (१९८.१, ५)।

उद्द्योतन द्वारा प्रस्तुत धातुवाद का उपर्युक्त विस्तृत विवरण इस बात का प्रतीक है, प्राचीन भारत मे धातुवाद काफी प्रसिद्ध रहा होगा। स्वर्ण को शुद्ध करने की प्रक्रिया प्राचीन भारत में बहुत पहले से प्रचलित थी। उसी का विकसित रूप यह धातुवाद है। धातुवाद में केवल स्वर्ण धातु को ही शुद्ध नहीं किया जाता था, अपितु विभिन्न धातुओ को अनेक मसालो के संयोग से स्वर्ण में परिवर्तित कर लिया जाता था। धातुवाद को नरेन्द्रकला (कु० १९७.१६) तथा धातुवादियों को नरेन्द्र कहा जाता था।[2]

जात्यस्वर्ण

कुव० मे धातुवाद के अतिरिक्त जात्यस्वर्ण एवं स्वर्णसिद्धि का भी वर्णन आया है। स्वर्ण तैयार करने की एक भिन्न प्रक्रिया थी। जात्यस्वर्ण उसे कहा जाता था, जो मैल सहित कच्ची धातु से विशेष विशुद्धीकरण की प्रक्रिया द्वारा शुद्ध किया जाता था। ग्रन्थ में जात्यस्वर्ण से नारकीय जीवों की ताड़न आदि क्रियाओ को तुलना की गयी है,[3] जो स्वर्ण को शुद्ध करने की प्रक्रिया पर प्रकाश

१. किरियावाइ णरिंदा धाउव्वाई य निण्णि एयाइं।
लोए पुण सुपसिद्धं धाउव्वाई इमे मव्वे ॥—कुव० १९७ २९.

२ We get some details about Dhātuvāda i e, the art of making artificial gold, being practised in a secluded part the Vindhya forest.. . It appears that one of the epithets of the Dhātuvādins was Narēndra, meaning a master of charms or antidotes. The word is also used in this sense in classical Sanskrit literatur. Dhātuvāda is also called Narēndra-kalā.
—Kuv. Int. p. 127.

३. अणेय कम-च्छेय-ताडणाहोण-घडण-विहडणाहिं अवगय-बहुकम्म-किट्टस्स जच्च-सुवणस्स व—कुव० २.२.

डालती है। इस प्रसंग का स्व० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस प्रकार अनुवाद किया है :—

There is a reference to gold of highest purity (jaçça-suvaṇṇa=jātya—suvarṇa, 2.2). Whatever impurity or dross was contained in the gold brought to the goldsmith was removed by the latter by subjecting it to different processes of testing it on the touch-stone (Kasa); cutting (chēda), heating under regulated fire (tāva), beating out into flat sheets (tāḍana), filing the sheets and the same process of beating it into a different shape, giving it a shape of round bar and dividing into several parts for final testing (vihaḍana) The purest gold (jaççasuvaṇṇa) was styled as dohdahi in Persian.[1] —Kuv. Int. P. 113.

जात्यस्वर्ण परशियन की **दोहदही** प्रक्रिया के अनुरूप है। भारत में इसे बारहवाणी कहा जाता था। ठक्कुरफेरू ने द्रव्यपरीक्षा में १२ डिग्री तक विशुद्ध सोने को प्रमाणित स्वर्ण कहा है (**भित्तिकनक**)।[2] पूर्व-मुस्लिम काल में विशुद्ध-सोना १६ डिग्री का माना जाता था, जिसे षोडसवर्णनक कहा जाता था।[3] इसे उद्द्योतनसूरि द्वारा उल्लिखित '**जच्चसुवण्ण**' कहा जा सकता है। मानसोल्लास में भी षोडसवर्ण का उल्लेख है, जिसे हिन्दी में सोलहवानी तथा राजस्थानी में सोलमो सोनो कहा जाता है तथा ज्ञानेश्वरी में इसे सोलेन कहा गया है।[4] (अनु० ८५)। कादम्बरी में जिस शृंगीकनक का उल्लेख है, सम्भवतः वह उद्द्योतन का 'जच्चसुवण्ण' ही है।

स्वर्णसिद्धि—कुव० में स्वर्ण तैयार करने की एक और प्रक्रिया का वर्णन है। लोभदेव नामक व्यापारी की कथा के प्रसंग मे स्वर्ण बनानेवाले समुद्रचारी अग्नियक नामक महाविट का उल्लेख हुआ है।[5] लोभदेव जैसे ही तारद्वीप के किनारे लगा उसे काले वर्णवाले, रक्तपिंगल आँखों वाले, सिर पर जटाजूट धारण किये हुए यमदूत सदृश कुछ पुरुषों ने पकड़ लिया। पकड़ कर उसे अपने स्वामी के पास लाये। पहले लोभदेव को खूब खिलाया-पिलाया गया। एकाएक फिर उसे बाँध दिया गया (**उद्धाविएहिं बद्धो**)। फिर बहुत से लोग उसके मांस को काटने लगे (६९.२३)। माँस छीलकर उसका रुधिर भी एकत्र किया गया (**छिण्णं मंसं, पडिच्छियं रुहिरं**)। लोभदेव जब वेदना से चिल्लाने लगा तो किसी औषधि विशेष का उस पर विलेप किया गया, जिससे वेदना शान्त हो

१. कल्चरल नोट, इण्ट्रोडक्शन, कुव०, पृ० ११३.
२. द्रव्यपरीक्षा—ठक्कुरफेरू, पृ० १७, जोधपुर १९६१.
३. काव्यमीमांसा—राजशेखर, अ० १७.
४. द्रष्टव्य—'द हाइएस्ट प्युरिटी आफ गोल्ड इन इण्डिया'—डा० अग्रवाल, द जर्नल आफ द न्यूमेसमेटिक सोसायटी इन इण्डिया, भाग १६, पृ० २७०.७४.
५. अत्थि समुद्दोयरचारी अग्गियओ णाम महाविडो, ६९.२६.

गई और घाव भरने लगे।[1] इस प्रकार प्रत्येक छः माह में लोभदेव का मांस और रुधिर वे समुद्रचारी निकालते थे और उससे स्वर्ण बनाते थे।[2]

वासव मन्त्री के पूछने पर धर्मनन्दन मुनि ने यह भी स्पष्ट किया कि समुद्रचारियों का महाविट समुद्र के किनारे किसी विशेष जलचर को पकड़ता था (**जलगोचर-संठाणो**, नोट ६८.२६); फिर मधुसिंचन और गंधरोचन के द्वारा उसकी परीक्षा करता था।[3] यदि वह उनके कार्य का होता (**तओ तं पगलइ**) तो फिर उसको रूधिर और मांस के द्वारा विशेष औषधि सहित साफ करता था और अन्त में हजारगुना ताँबा मिलाकर उसका स्वर्ण बना लेता था (**सुव्वं सहस्सेण पाविऊण हेमं कुणइ त्ति**)। डा० उपाध्ये के अनुसार वे चाँदी का सोना बनाते थे।[4] डा० अग्रवाल का कथन है कि इस प्रकार की प्रक्रिया से सोना बनानेवाले मुस्लिमयुग में 'मोमाइ' कहे जाते थे, जो यूनानी चिकित्सकों में काफी प्रसिद्ध थे।[5]

---

१. विलित्तो केण वि ओसह दव्व-जोएणं, उवसंता वेयणा, रूढं अंगं—६९.२४ :

२. एवं च छम्मासे छम्मासे उक्कत्तिय-मास-खंडो वियलिय-रुहिरो वट्टिठ-सेसो महादुक्ख-समुद्द-मज्झ-गओ बारस संवच्छराइं वसिओ। —६९.३०-३१.

३. तस्स परिक्खा मधुसित्थयं गंधरोहयं च मत्थए करिहं, ६९.२७.

४. उ०—कुव० इ०, पृ० १३८.

५. वही, पृ० १२०.

अध्याय पाँच

शिक्षा, भाषा और बोलियाँ

परिच्छेद एक

शिक्षा एवं साहित्य

उद्द्योतनसूरि ने प्राचीन भारतीय शिक्षा, भाषाओं और बोलियों के सम्बन्ध में कुवलयमालाकहा में जो जानकारी दी है, उसके अध्ययन से कई नवीन तथ्य प्राप्त होते हैं। ग्रन्थ की इस सामग्री का अध्ययन कई विद्वानों ने किया है।[1] अतः यहाँ विषय की पुरावृत्ति न करते हुए कुछ प्रमुख तथ्यों पर ही प्रकाश डाला जायेगा।

शिक्षा

व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के सर्वाङ्गीण विकास के लिए शिक्षा प्राप्त करना प्राचीन समय से ही आवश्यक माना गया है। प्राचीन भारतीय-शिक्षा पद्धति का उद्देश्य था चरित्र का संगठन, व्यक्तित्व का निर्माण, प्राचीन संस्कृति की रक्षा तथा सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यो को सम्पन्न करने के लिए उदीयमान पीढ़ी का प्रशिक्षण।[2] कुवलयमालाकहा में भी शिक्षा के इसी उद्देश्य को सामने रखा गया है। वाणिज्य एवं व्यापार मे दक्षता प्राप्त करना शिक्षण का एक विषय है, किन्तु जब तक उसका व्यावहारिक प्रयोग न हो, उपयोगिता साबित नहीं होती। उद्द्योतनसूरि की यह विशेषता है कि उन्होंने शिक्षा के सम्बन्ध मे जो आदर्श प्रस्तुत किये है कथा के पात्रो द्वारा उनका पालन भी करवाया है। उन्होंने जितनी भाषाओं का नाम लिया है, ग्रन्थ मे कही न कहीं उनके साहित्यिक

---

1. ए मास्टर—'ग्लीनिंग्स फ्राम द कुवलयमालाकहा' बुलेटिन आफ द एस० ओ० ए० एस० भाग १३, ३,४, लंदन, १९५०.
   क्यूपरलिडन—'द पैशाची फ्रेगमेन्ट आफ द कुवलयमाला' इण्डो इरानियन जर्नल, फस्ट, ३ पृ० २२९.४०, द हग १९५७.
   उपाध्ये—'द कुवलयमालाकहा एण्ड माडर्न स्कालरशिप' एण्ट्रोडक्शन, १८.
2. अल्तेकर—एजुकेशन इन ऐंशियण्ट इण्डिया, पृ० ३२६.

अंश उद्धरण के रूप में प्रस्तुत भी किये हैं। अतः कुवलयमालाकहा में उल्लिखित शिक्षा एवं साहित्य विषयक सामग्री परम्परागत ही नही, नवीन और व्यावहारिक भी है।

शिक्षा का प्रारम्भ—कुवलयचन्द्र जब आठ कलाओं से युक्त चन्द्रमा की भाँति आठ वर्ष का हो गया तब तिथि सुधवाकर शुभ नक्षत्र एवं सुन्दर लग्न में उसे लेखाचार्य के पास ले जाया गया।[1]

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में शिक्षा का प्रारम्भ प्रायः आठ वर्ष की अवस्था से माना जाता है। आठ वर्ष की अवस्था में उपनयन संस्कार होता था। तदन्तर शिक्षा प्रारम्भ होती थी। क्योंकि तब तक बालक का मस्तिष्क शिक्षा ग्रहण करने योग्य हो जाता था। जैन ग्रन्थों में उल्लिखित शिक्षा-पद्धति में भी आठ वर्ष की आयु में शिक्षा का प्रारम्भ माना गया है।[2] किन्तु कुछ इसके अपवाद भी हैं। स्मृतियों में पाँच वर्ष के बालक की शिक्षा प्रारम्भ करने का विधान भी है। आदिपुराण में पाँच वर्ष की आयु में लिपिसंस्कार करने का उल्लेख है, जिसमें सुवर्णपट्ट पर अक्षरज्ञान प्रारम्भ कर दिया जाता था (३८.१०२,१०६)। किन्तु शास्त्रों के अध्ययन का प्रारम्भ यहाँ भी उपनीतिक्रिया के बाद माना गया है।[3] अतः यह स्वीकार किया जा सकता है कि सामान्यतः आठ वर्ष की आयु में विद्या अध्ययन प्रारम्भ कर दिया जाता था। इस कारण उपनयन संस्कार को कलाग्रहण' उत्सव भी कहा जाने लगा था।[4]

गुरुकुल एवं विद्यागृह—वाराणसी उत्तर भारत मे एव विजयपुरी दक्षिण भारत में प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र थे। लेखक ने तक्षशिला के वर्णन मे उसको व्यापरिक स्थिति का तो उल्लेख किया है किन्तु उसके विद्यास्थान होने का वर्णन नहीं किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत के प्रसिद्ध विद्या-केन्द्रों में जाकर अध्ययन करना इस समय कम हो गया था क्योंकि इस समय निकटवर्ती निजी विद्यागृहों में अथवा एक गुरु से अध्ययन करने की परंपरा

---

१. अट्ठ-कलो व्व मियंको अह जाओ अट्ठवरिसो सो—लेहायरियस्स उवणीओ—कुव० २१.१२-१३

२. एव० आर० कापड़िया—'द जैन सिस्टम आफ एजुकेशन' जर्नल आफ द युनि० आफ बाम्बे जनवरी १९४०, पृ० २०६ आदि।
—ज० जै० के० पृ० १६९ पर उद्धृत.
डी० सी दासगुप्त—'जैन सिस्टम आफ एजुकेशन' पृ० ७४
—भगवती (अभयदेव वृत्ति) ११.११, ४२९ पृ० ९९९।
—नायाघम्मकहाओ, १ २० पृ० ३१, कथाकोषप्रकरण, पृ० ८, ज्ञानपंचमीकहा, ६ ९२ आदि।

३. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० २६१ ६४.

४ 'प्राचीन भारत मे जैन शिक्षणपद्धति'—डा० हरीन्द्रभूषण, संसद्-पत्रिका, १९६५.

बढ़ गयी थी। कुल मिलाकर ग्रन्थकार ने बड़े विद्याकेन्द्रों के रूप में वाराणसी और विजयपुरी का ही उल्लेख किया है।

कुवलयमालाकहा में अध्ययन करने के केन्द्र के रूप में चार प्रकार के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। कुवलयचन्द्र को लेखाचार्य के साथ एक ऐसे निजी विद्यागृह में रखा गया था, जहाँ सकल परिजनों के दर्शन तो दूर सूर्य और चन्द्रमा भी दिखायी नहीं पड़ते थे। बारह वर्ष तक कुमार माता-पिता के दर्शन किये बिना उस विद्यागृह में रहा (२१, १४-१५)। इस प्रकार के निजी विद्यागृहों का उस समय बाहुल्य था। राजकुमार एवं श्रेष्ठिपुत्रों के लिए इन विद्यागृहों का निर्माण किया जाता था। उस समय अपने घर पर स्वतन्त्र रीति से अध्ययन कराने वाले आचार्य शिक्षण के मेरुदण्ड थे।[1] धनपाल ने तिलकमंजरी में एक ऐसे ही निजी विद्यागृह का उल्लेख किया है।

दूसरे प्रसंग में विद्यागृह का कार्य एक व्यक्ति ही सम्पन्न करता है। मरुकच्छ के राजा भृगु की पुत्री केवल विदुषी ही नहीं, अपितु अध्यापन-कार्य में भी निपुण थी। उसने थोड़े ही समय में राजकीर को अक्षरज्ञान, नृत्य, व्याकरण, समुद्रशास्त्र, आदि सभी विद्याओं का अध्ययन करवाकर पडित बना दिया था। (**तीए पसाएण अहं अह जाओ पंडिओ सहसा** (१२३.२४)। राजकीर ने सभी शास्त्रो का अध्ययन करके अध्यापन कार्य करने की कुशलता भी प्राप्त की थी। अवसर पडने पर उसने भी संन्यासिनी ऐणिका को अक्षरज्ञान से लेकर धर्म-अर्थ एवं काम विद्याओ के सभी शस्त्रों का अध्ययन कराया था—**सव्व सण्णाओ गाहिया तओ धम्मत्थ-काम-सत्थाइं अहीयाइं**—(१२७.१७)।

तीसरे प्रकार के विद्यागृह साधु और साध्वियों के उपाश्रय और वसतिस्थान थे। वहाँ उपाध्यायों के द्वारा परम्परागत शास्त्रों की शिक्षा देने के साथ-साथ, शब्द, हेतुशास्त्र, छेदसूत्र, (प्रायश्चित विधायक-शास्त्र), दर्शन, काव्य एव निमित्त-विद्या आदि सिखाये जाते थे। श्रमणसंघों की ये चलती-फिरती पाठशालाएं थी।[2] कुवलयमाला में आचार्य धर्मनन्दन के शिष्य ग्यारह आगमों (३४.११) के अध्ययन एवं वाचन के साथ ही तन्त्र, मन्त्र, काव्य, ज्योतिष आदि शास्त्रों का भी पारायण करते थे।[3]

कुवलयमालाकहा में चौथे प्रकार के शिक्षाकेन्द्र के रूप में मठ का उल्लेख हुआ है। कुवलयचन्द्र ने विजयपुरी में प्रविष्ट होने के पूर्व एक मंदिर सदृश मठ को देखा, जो सार्वजनिक छात्रों का मठ था—**ण होई इमं मंदिरं किंतु सव्व-चट्टाणं-मढं** (१५०.१८)। दक्षिभारत में स्थित यह मठ देश के विभिन्न प्रान्तों

---

१. अ०—का० सा० अ०, पृ० १५.

२. ज० - जै० आ० स०, पृ० २९९.

३ बहु-तंत-मंत-विज्जा-वियाणया सिद्ध-जोय-जोइसिया।
अच्छंति अणुगुणेंता अवरे सिद्धंत-साराइं ॥ —कुव० ३४.२७.

के छात्रों का निवास-स्थान एवं अध्ययन-केन्द्र था। इस मठ में वैदिक, बौद्ध, चार्वाक एवं श्रमणदर्शन के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों का भी अध्ययन होता था। प्राचीन गुरुकुलों का विकसित रूप इस मठ में देखा जा सकता है। दक्षिण भारत में मठों की परम्परा पर्याप्त विकसित रही है।

शिक्षणीय विषय

उद्द्योतनसूरि ने उपर्युक्त शिक्षण-केन्द्रों में विभिन्न विषयों के पठन-पाठन का उल्लेख किया है। सामान्यतया शिक्षाकेन्द्रों में वे ही विषय छात्रों को पढ़ाये जाते थे जिनसे उनका बौद्धिक विकास हो तथा जो उनके जीवन में उपयोगी हो।[1] कुवलयमालाकहा में शिक्षणीय विषयों से सम्बन्धित जो उल्लेख प्राप्त हैं उनको इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—

व्याकरण एवं दर्शन शास्त्र—मठों में रहकर अध्ययन करने वाले छात्रों को व्याकरण एवं दर्शन-शास्त्र का अध्ययन करना अनिवार्य था। इसके साथ अन्य विषयों की भी शिक्षा दी जाती थी। विजयपुरी के सार्वजनिक मठ में जब कुवलयचन्द्र पहुँचा तो उसने वहां की व्याख्यान-शाला का निरीक्षण किया—**दिट्ठाओ य तेण वक्खाण मंडलीओ** (१५०.२४)। वहां प्रत्येक विषय के लिए अलग-अलग व्याख्यान-कक्ष थे। उद्द्योतन ने उनमें पढ़ाये जाने वाले विषयों का सूक्ष्म वर्णन किया है :—

प्रथम व्याख्यान मण्डप में प्रकृति, प्रत्यय, लोप, आगम, वर्णविकार, आदेश, समास, उपसर्ग के अन्वेषण से निपुण व्याकरण-शास्त्र का व्याख्यान हो रहा था।[2] सम्भव है, पाणिनि, पतंजलि के प्रसिद्ध व्याकरण-ग्रन्थ एवं सिद्धान्त-कौमुदी वगैरह का वहाँ अध्ययन होता रहा हो। व्याकरण का अध्ययन १०वीं सदी तक पर्याप्त विकसित हो चुका था। सोमदेव ने इन्द्र, जिनेन्द्र, चन्द्र, आपिशल. पाणिनि तथा पतंजलि के व्याकरण-शास्त्रों के अध्ययन का उल्लेख किया है।[3] ७२ कलाओ मे भी व्याकरण को प्रमुख स्थान प्राप्त है।

दूसरे कक्ष में बौद्धदर्शन, तीसरे कक्ष में सांख्यदर्शन, चतुर्थ व्याख्यान-मण्डप मे वैशेषिकदर्शन, पाँचवी व्याख्यानशाला में मीमांसादर्शन, छठवें कक्ष में न्याय-दर्शन, सांतवे कक्ष में अनेकान्तदर्शन तथा अंतिम आठवे व्याख्यानकक्ष में लोकायत (चार्वाक) दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों का पठन-पाठन होता था। इन सब दर्शनों के सिद्धान्तों की समीक्षा आगे धार्मिक जीवन वाले अध्याय में प्रस्तुत की जायेगी।

---

१. द्रष्टव्य—रामजी उपाध्याय, प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक-भूमिका, पृ० १९३ १६०.

२. पयइ-पच्चय-लोवागम-वण्ण-वियारादेस-समासोवसग्ग-मग्गणा-णिउणं वागरणं वक्खाणिज्जइ त्ति (१५०.२५)।

३. जै०-यश० सा०, पृ० १६२.६४.

कुवलयचन्द्र को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि विजयपुरी में एक साथ इन सभी दर्शनों की पढ़ाई होती है (१५१.४)। व्याकरण एवं दर्शन के इन विषयों के अतिरिक्त उस मठ में अन्य जिन विषयों का अध्ययन-अध्यापन होता था ग्रन्थकार ने उनका भी उल्लेख किया। निमित्त, मन्त्र, योग, अंजन, कालाजादू (कुहयं), धातुवाद, यक्षिणी-सिद्धि, युद्धविज्ञान (खत्तं), योगमाला, मन्त्रमाला, गारुड़विद्या, ज्योतिष, रस-बन्ध, रसायण, छन्द, वृत्ति, निरुक्त, पत्रच्छेद, इन्द्रजाल, दन्तकृत, लेप्पकृत, चित्रकला, कणककर्म, विषगरतन्त्र भूततन्त्र आदि शताधिक शास्त्रों का पारायण उस मठ में छात्र कर रहे थे—**सयाइं सत्थाणि सुव्वंति** (१५१.७, १०)।

कुछ छात्र वहां ऐसे रहते थे जो केवल मूलरूप में वेदों का ही पाठ करते थे—**केवल वेय-पाठ-मूलबुद्धि-वित्थरा चट्टा** (१५१.१२)। किन्तु शारीरिक एवं चारित्रिक दृष्टि से वे हीन थे (१५१ १४, १६)। मठ में इतने विषयों का अध्ययन-अध्यापन कार्य देखकर कुमार को कहना पड़ा कि धन्य हैं यहाँ के उपाध्याय, जो ७२ कलाओं और ६४ विज्ञानों में निपुण हैं।[1] ग्रन्थ में अन्यत्र भी उद्द्योतनसूरि ने ७२ कलाओं का विस्तृत वर्णन किया है। इसकी संक्षिप्त जानकारी इस प्रकार है—

भारतीय साहित्य में कलाएं

अध्ययनीय विषयों के अन्तर्गत पुरूषों एवं स्त्रियों के लिए कलाओं के परिज्ञान का उल्लेख भारतीय साहित्य के अनेक ग्रन्थों में मिलता है। 'कला' शब्द का प्रयोग शायद सबसे पहले भरत के नाट्यशास्त्र में ही मिलता है।[2] बाद में कामसूत्र और शुक्रनीति आदि में इसका वर्णन किया गया है।[3] प्रमुखरूप से रामायण, महाभारत (१४.८६,३), शुक्रनीति, वाक्यपदीय, कलाविलास (क्षेमेन्द्र), दशकुमारचरित, ब्रह्माण्डपुराण, भागवतपुराण की टीका, महिम्न-स्तोत्र टीका, शृंगारप्रकाश, काव्यादर्श, शैवतनय, सप्तशतीटीका, सौभाग्य-भास्कर आदि हिन्दू ग्रन्थों में कला के उल्लेख प्राप्त होते हैं। प्रायः सभी में ६४ कलाएं ही वर्णित हैं। केवल क्षेमेन्द्र ने कलाविलास में कला के भेद-प्रभेदों की चर्चा की है और उनको संख्या १०० से भी अधिक गिनायी है।[4]

बौद्धग्रंथों में ललितविस्तर (पृ० १५६) में प्रमुख रूप से विविध कलाओं का वर्णन है। इसमें कलाओं की संख्या ८६ गिनायी गई है। दिव्यावदान में (पृ० ५८, १०० एवं ३९१) भी कलाओं के उल्लेख हैं।

---

१. अहो साहु साहु-उवज्झाया णं बहत्तरिकला-कुसला चउसट्ठि-विण्णाणकमंतरा य एए त्ति। १५१.११

२. 'न तज्जानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला'—नाट्यशास्त्र, १.११६.

३. हिन्दी विश्वकोश, खण्ड २, पृ० ३७८.

४. भारतकोश, भाग ३, सुरेशचन्द्र वन्द्योपाध्याय,

जैन साहित्य में जहाँ कहीं भी अध्ययनीय विषयों की चर्चा हुई है वहाँ पर कलाओं का वर्णन विस्तार से हुआ है। १. ज्ञाता धर्मकथा २. समवायांग-सूत्र ३. औपपातिक सूत्र ४. राजप्रश्नीयसूत्र[1] ५. कल्पसूत्र ६. विपाकसूत्र ७. अंगशास्त्र ८. पृथ्वीचन्द्र चरित्त ९. समरादित्यकथा १०. कुवलयमाला ११. प्रबन्धकोश १२. प्राकृतसूक्तरत्नमाला[2] आदि ग्रन्थों में ७२ कलाओं एवं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि में ६४ कलाओं का उल्लेख मिलता है। हरिभद्रसूरि ने यद्यपि ८९ कलायें गिनायी हैं, परन्तु जैन-साहित्य में सामान्य रूप से पुरुषों के लिये ७२—**बावत्तरिकलापंडिया वि पुरिसा'**—एवं स्त्रियों के लिये ६४ कलाओं का विधान किया गया है। णायकुमारचरिउ एवं यशस्तिलकचम्पू आदि कुछ ग्रंथों में यद्यपि कलाओं की संख्या नही गिनायी गयी फिर भी प्रायः सभी कलाओं का प्रकारान्तर से वर्णन किया गया है।

कुवलयमाला में ७२ कलायें

प्रायः हर जगह कलाओं का वर्णन राजकुमारों के विद्याभ्यास के समय किया गया है। उद्द्योतनसूरि ने भी इसी अवसर को उपयुक्त चुना है। कुवलय-माला में जब कुवलयचन्द्र अपना अध्ययन समाप्त कर आचार्य के साथ राजधानी वापिस लौटते हैं तो उनके पिता महाराज दृढवर्मन् आचार्य से पूछते हैं—**उवज्झाय, किं अभिगओ कला-कलावो कुमारेण ण वा** (२१.२०)।

प्रथम तो आचार्य ने यह कह कर कि 'कुमार ने एक भी कला को ग्रहण नहीं किया 'राजा को विस्मय में डाल दिया। किन्तु बाद में स्वयंवरा कलाओं ने स्वयं कुमार को ग्रहण कर लिया है' (२१.२९) कहकर राजा को हर्षित कर दिया और उनके पुनः पूछने पर निम्न ७२ कलाओं का आचार्य ने परिचय दिया :—१. आलेख्य, २. नाट्य, ३. ज्योतिष (**जोइस**), ४. गणित, ५. रत्न-परीक्षा (**गुणा य रयणाणं**), ६. व्याकरण, ७. वेद-श्रुति, ८. गान्धर्वकला, ९. गंध-युक्ति (**गंध-जुत्ती**), १०. सांख्य (**संखं**), ११. योग (**जोगो**), १२. वर्षा या वर्ष का परिज्ञान (**वारिस-गुणा**), १३. होरा, १४. न्यायशास्त्र (**हेउ-सत्थं**), १५. छन्द, १६. वृत्ति, १७. निरुक्तं, १८. स्वप्नशास्त्र (**सुमिणय-सत्थं**), १९. शकुनज्ञान (**सउण-जाणं**), २०. आयुर्वेद (**आउज्जाणं**) २१. अश्वविद्या (**तुरयाण-लक्खणं**), २२. गजविद्या (**हत्थीणं लक्खणं**) २३. वास्तु-परीक्षा (**वत्थुं**), २४. वस्त्रक्रीडा (**वत्था खेड्डं**) २५. पातालसिद्धि (**गुहागयं**), २६. इन्द्रजाल, २७. हाथीदांत की कला (**दंत-कयं**), २८. तांबे की कला (**तंब-कयं**), २९. लेप्यकर्म, ३०. विनियोग (**प्रयासन-कला**), ३१. काव्य, ३२. पत्रच्छेद, ३३. फूल उगाने की कला (**फुल्ल-विही**), ३४. सिंचन कर्म (**अल्ल-कम्मं**), ३५. धातुवाद, ३६ पांसा खेलना (**अक्खाइया**), ३७. तन्त्र-विद्या (**तंताई**),

---

१. ज०—जै० आ० स०, पृ० २९६.

२. पा० म०, पृ० २३०.

३८. पुष्प-सज्जा (**पुप्फ-सयडी**), ३९. शब्द-ज्ञान (**अक्खर**) ४०. शास्त्र-ज्ञान (**समय**), निघन्टु, ४२. रामायण, ४३. महाभारत, ४४. कृष्ण लोह-कर्म (**कालायस-कम्मं**), ४५. छींक-निर्णय (**सेवक (सिक्क) णिण्णओ**), ४६. स्वर्ण-कर्म, ४७. चित्रकला (**चित्त-कला-जुत्तीओ**), ४८. द्यूत, ४९. यन्त्र-प्रयोग (**जंत-प्पओगो**), ५०. वाणिज्य, ५१. हार-ग्रन्थन (**मालाइत्तणं**), ५२. वस्त्र बनाने की कला (**वत्थ-कम्मं**), ५३. आभूषण-कला (**आलंकारिय-कम्मं**), ५४. उपनिषद् (**उपणिसयं**), ५५. प्रश्नोत्तर-तन्त्र (**पण्णयर-तंतं**), ५६. नाटक-योग (**सव्वे णाडय-जोगा**), ५७. कथा-निबन्ध, ५८. धनुर्वेद, ५९. देशीभाषा-ज्ञान (**देसीओ**), ६०. पाकशास्त्र (**सूव-सत्थं**), ६१. आरोहण (**आरुहयं**), ६२. लोक-वार्ता, ६३. अव-स्वापिनी विद्या (**ओसोवणि**), ६४. ताला खोलने की विद्या (**तालुग्घा-डणी**), ६५. माया कपट, ६७. मूलकर्म ६८. लावण्ययुद्ध, ६९. मुर्गा-युद्ध ७०. शयनासन-व्यवस्था (**सयणासणसंविहाणाइं**), ७१. दान एवं दक्षिण्य तथा ७२. मृदु एवं मधुरता (**मउयत्तणं महुरया**) ।

उपर्युक्त ७२ कलाओ का वर्गीकरण प्राकृत कुवलयमाला के गुजराती अनुवादक आचार्य हेमसागर सूरि ने अपनी सुविधानुसार किया है। किन्तु इनमें से कुछ कलाएं ऐसी है जिनका भेदकर उन्हे अलग-अलग किया जाना चाहिये और कुछ कलाओं को एक कला के अन्तर्गत हो समाहित होना चाहिए था।[1]

७२ कलाओं में अधिकांश कलाओ का अर्थ स्पष्ट है। किन्तु कुछ कलाएं ऐसी हैं जिनका अर्थ पूर्णतया समझ मे नही आता। और वह तब तक नहीं आ सकता जब तक तत्कालोन परिवेश को ध्यान मे रखकर न सोचा जाय। कलाओं के अर्थ निश्चय में कुछ मतभेद भी हो सकता है, कुछ नवीनता भी। निम्न-कलाओं का वैशिष्ट्य द्रष्टव्य है :

आयुज्जाण—इससे आपाततः आयुधज्ञान का बोध हो सकता है किन्तु इसका वास्तविक शब्दार्थ है—आयुज्ञान। आयुर्वेद की शिक्षा।

वत्थुं—इसका अर्थ विद्वान् अनुवादक ने 'वस्तुपरीक्षा' किया है, परन्तु वस्तुकला से इसका सम्बन्ध होना चाहिए। क्योंकि कलाओं के इस वर्णन में अन्यत्र कही वास्तुकला का उल्लेख नहीं है, जब कि ७२ कलाओं में वह सबसे प्रमुख कला मानी गयी है। अंगशास्त्र एव समरादित्यकथा में क्रमशः वत्थुविज्जा[3] एवं वत्थुगाव[4] का उल्लेख हुआ है, जिसका अर्थ है—गृहनिर्माण को जानने एवं वनाने की कला। अतः उक्त 'वत्थु' को स्थापत्यकला से ही सम्बन्धित होना चाहिए।

---

१. द्रष्टव्य—लेखक का लेख – 'कुव० में वर्णित ७२ कलायें : एक अध्ययन' —मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ।
२. अमरकोश, १.५.
३. अंगशास्त्र, पृ० २६.
४. स०—स० क० अष्टम भव, पृ० ७३४.

दंतकयं—हाथीदाँत की कला। किन्तु 'दन्तरंजन' की कला भी इसका अर्थ हो सकता है। क्योंकि इसके पूर्व भागवतपुराण की व्याख्या में दन्तरंजन की कला का ८वीं कला के रूप में उल्लेख हुआ है।[1]

विणिओगे—उद्द्योतनसूरि ने कला के रूप में इस शब्द का नया प्रयोग किया है। प्राचीन भारत में प्रचलित नियोग प्रथा से तो इसका सम्बन्ध नहीं हो सकता। विणिओग का अर्थ उपयोग या ज्ञान किया गया है।[2] सम्भवतः यह विशिष्ट प्रकार के ज्ञान रखने की कला हो। किन्तु इससे उपयुक्त इसका अर्थ 'प्रशासन-कला' करना चाहिए। क्योंकि 'विणिओग' का अर्थ—आज्ञा, हुक्म आदि भी मिलता है।[3] 'नियोजित करना' अर्थ भी प्रशासन से सम्बन्ध रखता है।

अल्लकम्मं—अल्ल का शाब्दिक अर्थ कोशकार ने 'अहृ' किया है, जिसका अर्थ दिन या दिवस भी होता है।[4] अतः इससे हम 'दैनिकव्यवहार की कला' का भी अर्थ ग्रहण कर सकते हैं। अनुवादक ने शायद इसी अभिप्राय से इसका अर्थ 'नमस्कार को कला' किया है, किन्तु यदि 'अहृ' का अर्थ 'आर्द्र' किया जाय तो सहज ही उक्त कला सिंचनकर्म से सम्बन्धित हो जाती है। ३४-पुष्पविधि कला के बाद इसका उल्लेख भी 'सिंचनकर्म' का ही समर्थन करता है।

सक्खाइया—इसका अर्थ, आख्यायिका के अर्थ में कहानी लिखने या कहने की कला किया जा सकता है। अन्य ग्रन्थो में भी इसका यही अर्थ है। अनुवादक ने 'पांसा खेलने की क्रिया' इसका अर्थ किया है, जबकि द्यूतकर्म का इस प्रसंग में अलग से उल्लेख है।

कालायसकम्मं—कृष्ण लोहे को आग में गलाकर उससे शस्त्र आदि बनाने की कला। आजकल लोहार जिस कार्य को करते हैं।

मालाइत्तणं—पुष्पों के हार आदि गूंथने की कला। माली का कार्य।

उपणिसयं—इसका अर्थ उपनिश्रय हो सकता है, किन्तु औपनिषदिक अर्थ करना अधिक संगत है। उपनिषद विद्या का अर्थ रहस्यविद्या है। ऐसी विद्या, जिसे गुरु अपने विशिष्ट शिष्य को ही पढाते थे और जिसको गोपन रखने की शिष्य को प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। अनुवादक ने इसका अर्थ 'मुगटनी कला' किया है जिसका अर्थ जादू-टोना भी है।

ओसोवणि—अवस्वापिनी-विद्या, जिसके प्रभाव से दूसरे को गाढ़ निद्राधीन किया जा सके। देवानन्दा ब्राह्मणी को अवस्वापिनी विद्या से सुलाकर

१. भागवतपुराण की टीका।
२. अर्धमागधी कोश भाग ४, पृ० ५५२.
३. अर्धमागधीकोश भाग २, पृ० ९३६.
४. पा० म०, पृ० ७४.

हरिणेगमेषी ने महावीर का गर्भहरण किया था।[1] अनुवादक ने 'अवस्वापिनी निद्रा' इसका अर्थ किया है। निद्रा की जगह विद्या कहना अधिक संगत है।

मूलकम्म—प्राथमिक उपचार का ज्ञान। समरादित्यकथा में एक घायल व्यक्ति का औषधिवलय से उपचार करने को 'मूलकर्म' कहा गया है।[2]

इस तरह उक्त विवेचन के बाद भी ये कलाएं अभी भी अधिक गवेषणा की अपेक्षा रखती हैं।

उद्द्योतनसूरि ने ७२ कलाओं के अतिरिक्त कुछ अन्य विद्याओं का भी कुवलयमालाकहा में विभिन्न प्रसंगों मे वर्णन किया है, जो व्यक्ति के बौद्धिक-विकास एवं ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित हैं।

अश्वविद्या

७२ कलाओं के अन्तर्गत—'**तुरयावलक्खणं लक्खणं च हत्थीणं** (२२.३) का उल्लेख हुआ है। अतः अश्वविद्या राजकुमारों के शिक्षणीय विषयों में अनिवार्य थी। विद्या-अध्ययन करके राजमहल में वापिस लौटने पर एक दिन राजा दृढ़वर्मन् ने अश्वक्रीड़ा के निमित्त कुवलयचन्द्र को अपने पास बुलाया। उसे एक श्रेष्ठ अश्व प्रदान कर उससे अश्वो को जाति, मान, लक्षण एवं अपलक्षण आदि को सुनने की जिज्ञासा की। कुमार ने राजा के प्रश्न के उत्तर में अश्वविद्या से सम्बन्धित सूक्ष्म एवं विस्तृत जानकारी प्रस्तुत की। उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

अश्वों के नाम—अश्वक्रीडा के समय राजपुत्रों को जो अश्व प्रदान किये गये थे उनके नाम इस प्रकार हैं—गरुडवाहन, राजहंस, राजशुक, शस, भंगुर, हूण, चंचल, चपल, पवनवेग पवनावर्त एवं उदधिकल्लोल (२३.९,१२)। ये सब नाम शस एवं हूण को छोड़कर भारतीय हैं किन्तु अश्वों के नामों की अन्यत्र जो सूचियाँ मिलती हैं,[3] उनमे अनेक नाम अरबी और फारसी भाषा से सम्बन्ध रखते हैं।[4] उपर्युक्त नाम साहित्यिक हैं जो अश्व की द्रुतगति तथा जातीय श्रेष्ठता पर आधारित हैं।

कुवलयचन्द्र के अश्व का वर्णन—अश्वक्रीड़ा के लिए कुवलयचन्द्र को जो उदधिकल्लोल नामक अश्व दिया गया था, उसके खुर स्वर्ण से मढ़े थे और रत्नजटित पलेंचा उस पर कसा हुआ था।[5] उसका कवि ने श्लेषात्मक उपमा के द्वारा अत्यन्त रमणीय वर्णन किया है। वह अश्व वायु जैसा था। गमन करने

१. कल्पसूत्र २, २७, पृ० ४४ अ। ज्ञातृधर्मकथा १६, पृ० १८६.
२. ह०—स० क०, छठा भव.
३. सांडेसरा—वर्णकसमुच्चय, भाग १, पृ० १९१; महाभारत, द्रोणपर्व आदि।
४. पी० के० गुणे—'भारतीय अश्वागम'—वर्णी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृ० ४५५.
५. कणयमय-घडिय-खलणं रयणविणिम्मिविय-चारू पल्लाणं (२३-१२).

में ही मन लगाने वाला, मन जैसा क्षणभर में दूर-देशों तक पहुँचने वाला, युवतियों के स्वभाव की तरह भोला एवं चंचल, खलजनों की संगति सदृश अस्थिर, चोर सदृश हमेशा उद्विग्न रहने वाला, दुष्ट राजा की तरह हमेशा कान ऊँचे रखने वाला, पीपल के पत्ते सदृश सिर के बाल कंपित करने वाला, महामूर्ख की तरह गर्दन हिलाने वाला, अपमानित एवं कुपित मुनिसदृश नथने फुलाने वाला, समुद्रसदृश गंभीर आवर्त से शोभित उरस्थलवाला, विपणिमार्ग सदृश माण-प्रमाण से युक्त मुखवाला, सज्जन पुरुषों की बुद्धि सदृश स्थिर एवं विशाल पीठवाला तथा वेश्या के प्रेम की तरह अनवस्थित चार पैरों वाला वह उदधिकल्लोल था (२३.१३, १८)।

अश्वों की १८ जातियाँ—इस प्रकार के अश्व को देख कर राजा ने उसके लक्षण आदि पूछे। कुमार ने उसका उत्तर देते हुए वर्ण और लक्षण की दृष्टि से अश्व की निम्न १८ जातियों का नाम लिया—

१. माला, २. हायणा, ३. कलया, ४. खसा, ५. कक्कसा, ६. टंका, ७. टंकणा, ८. शरीरा, ९. सहजाणा, १०. हूणा, ११. सैंधव, १२. चित्तचला, १३. चंचला, १४. पारा, १५. पारावया, १६ हंसा, १७. हंसगमणा एवं १८. वास्तव्यय।

ये अश्वों की सामान्य जातियाँ हैं। इनमें वर्ण एवं लक्षणों की विशेषता के कारण वोल्लाह, कयाह एवं सेराह नाम के अश्व उत्तम कोटि के होते हैं।[1] ये अश्वों के अरबी नाम थे, जो अरब के व्यापारियों द्वारा भारतीय बाजार में प्रचलित किये गये थे। अरब व्यापारियों का राष्ट्रकूट राजाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध था, जो अश्वों के व्यापार में उन्हें मदद करते थे। बाण और दण्डी से लेकर हेमचन्द्र तक अश्वों के भारतीय नामों के स्थान पर अरबी नाम प्रचलित हो चुके थे।[2] भारतीय अश्वों एवं उनके अरबी नामों तथा अरब से अश्व-व्यापार के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने अध्ययन प्रस्तुत किया है।[3] तुलनात्मक-अध्ययन

---

१. एयाणं जं पुण वोल्लहा कयाहा सेराहाइणो तं वण्ण-लक्षण विसेसेण भण्णइ—(२३ २४)

२. अग्रवाल—'इंडियन नेम्स आफ द हार्सेस'.

३. डा० गोडे, पी० के०—'सम डिस्टिंक्टिव नेम्स आफ हार्सेस'; नामक लेख—स्टडीज इन इंडियन लिटररी हिस्टरी, भाग ३, प (० १७२ १८१.
अग्रवाल, वासुदेवशरण, पद्मावत, पृ० ५२१.
डा० मोतीचन्द्र, ज्योग्राफिकल एण्ड एकानामिकल स्टडी इन द महाभारत।
अश्वशास्त्रम् (तंजौर सरस्वतीमहल सेरीज ५६, १९५२ में प्रकाशित), पृ० ६६.७.
डा० गुणे—'सम रिफरेन्सेज टू पर्सियन हार्सेस इन इंडियन लिटरेचर फ्राम ए० डी० ५०० टू १८००'—पूना ओरियण्टलिस्ट, ११, १९४६, पृ० १.७.
'सम स्पेशल हार्स नेम्स इन ए० डी० १०००.१२००',—प्रेमी अभिनन्दन-ग्रन्थ, १९४६, पृ० ८०.८७.

से कुवलयमालाकहा में उल्लिखित अश्वविद्या पर नवीन प्रकाश पड़ सकता है। इस क्षेत्र में अश्ववैद्यककार श्री जयदत्त (१००० ई०), यादवप्रकाश (१०४० ई०) आचार्य हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) एवं सोमेश्वर (११३० ई०) के ग्रन्थों का अध्ययन पर्याप्त सहायक होगा। क्योंकि यह समय ऐसा था जब फारसी और अरबी घोड़ों का भारत-व्यापी व्यवसाय उन्नत था। देश की सेनाओं में विदेशी अश्वों का प्राधान्य था तथा भारतीय साहित्यकार इससे अपरिचित नहीं थे।

अश्वों का प्रमाण—कुवलयचन्द्र ने अश्वों के प्रमाण, लक्षण एवं दोषों का वर्णन करते हुए कहा है कि अश्वशास्त्र के जानकार ऋषि (**रिसीहिं किर लक्खणण्णूहिं**) पूर्ण वय को प्राप्त पुरुष की अंगुलियों के नाप से अश्व के अंगों के नाप का निर्धारण करते हैं। मुख बत्तीस अंगुल, ललाट तेरह अंगुल, मस्तक और केश आठ-आठ अंगुल, छाती चौबीस अंगुल, ऊँचाई अस्सी अंगुल और अश्व की परिधि ऊँचाई के प्रमाण से तिगुनी होनी चाहिए (२३.२५,२७)। इस प्रमाण वाले अश्व अश्वों की सभी जातियों में होते हैं। जिन राजाओं के पास इस प्रमाण वाले घोड़े होते हैं वे राज्य करते हैं और यदि दूसरों के पास हों तो उन्हें लाभ होता है (२८)।

आवर्त—अश्व के गुणों की परीक्षा करते समय सोमदेव के अनुसार ४३ बातों पर विचार करना चाहिए।[1] अश्वशास्त्र में भी इन्हीं गुणों की परीक्षा आवश्यक बतायी गयी है।[2] इन ४३ गुणों में से उद्द्योतनसूरि ने आवर्त के सम्बन्ध में विशेष जानकारी दी है। आवर्त अश्व के शरीर पर रोमराजि का एक निश्चित प्रकार है, जिसे भौरा-भौरी भी कहा जाता हैं।

अश्व के शरीर के छिद्र एवं उपछिद्र के पास चार, ललाट में दो, छाती और मस्तक के ऊपर भी दो-दो ये कुल मिलाकर दस आवर्त प्रत्येक अश्व में होते हैं। यदि किसी अश्व में दस से कम अधिक आवर्त होते हैं तो शुभाशुभ फल देने वाले होते है।[3]

अशुभ आवर्त—जिस अश्व के पेट, आँख और नासिका में आवर्त होता है, उसका स्वामी एवं बन्धुवर्ग अकारण ही क्रोधित होता है (२४.१)। जिस अश्व की भुजा एवं आँख के मध्य में आवर्त होता है उसका स्वामी व अश्व-पालक अपनी जीविका का उपार्जन नहीं कर पाता (२४.२)। जिस अश्व की नासिका के पास आवर्त होता है उसका स्वामी अश्व पर से गिरकर मृत्यु को

---

१. जै०—यश० सां०, पृ० १८३.

२. अश्वशास्त्र, पृ० १८, श्लोक ३.७.

३. दस णियमेणं एए तुरयं देव होंति आवत्ता।
एत्तो ऊणहिया व सुहासुह-करा-विणिद्दिट्ठा ॥—कुव० २३.३०.
तुलना कीजिये—अश्वशास्त्र २५-२६, श्लोक १६-१७.

प्राप्त होता है (२४.३)। जिस अश्व के जानु में स्पष्ट आवर्त होता है वह अपने स्वामी को युद्धक्षेत्र में गिराकर मृत्यु को प्राप्त कराता है। जिस अश्व के कान में दोष (आवर्त) हो और उसके रोम सीप आकार के हों वह अपने स्वामी की भार्या को दुःखदायी होता है (२४.५)।

शुभलक्षण (२४.६)—जिस अश्व के ललाट पर तीन रोम राशियाँ होती हैं, उसका स्वामी निश्चित रूप से यज्ञ दाक्षिण्य के द्वारा विजयी होता है (२४.७)। उपछिद्र के ऊपरी भाग में जिस अश्व के आवर्त होता है, उसके स्वामी के धन-धान्य में वृद्धि होती है (२४.८)। जिस अश्व के आगे के दो पगों में स्पष्ट आवर्त हों वह मेहली[1] अश्व अपने स्वामी को आभूषण से अलंकृत कराता है (२४.९)।

कुवलयचन्द्र अश्व के उपर्युक्त लक्षणों को कहकर उनके उदाहरण देने लगा तो राजा ने रोक दिया और कहा कि कुमार अब वाद में सुनेंगे—**कुमार, पुणो वि सत्था सुणिहामी** (२४.९)। इस कथन से ज्ञात होता है कि उद्द्योतन-सूरि उपर्युक्त अश्वविद्या का निरूपण किसी अश्वशास्त्र के आधार पर कर रहे थे, किन्तु विस्तार के भय से उन्होंने यहीं समाप्त कर दिया।

ज्योतिष-विद्या

ज्योतिष-विद्या के अन्तर्गत यात्रा के लिए मुहूर्त, जन्म, विवाह एवं गृह-निर्माण व अन्य शुभ कार्यों के लिए तिथि, नक्षत्र और और लग्नशुद्धि का विचार किया जाता है। कुव० में ७२ कलाओं के अन्तर्गत तीसरे नम्बर पर ज्योतिष-विद्या का उल्लेख किया गया है। प्रसंगवशात् सम्पूर्ण ग्रन्थ मे अनेक बार ज्योतिष-विद्या का उल्लेख हुआ है।

सर्वप्रथम ग्रन्थ में कुवलयचन्द्र के जन्म के उपरान्त ज्योतिष-विद्या का विशद वर्णन देखने को मिलता है। राजा दृढवर्मन् कुमार के भविष्य को जानने के लिए सिद्धार्थ नामक साम्वत्सरिक को बुलवाते है। साम्वत्सरिक सिद्धार्थ प्रथम कुवलयचन्द्र के जन्म के समय के नक्षत्र, लग्न आदि का ज्ञान कर कुमार को चक्रवर्ती होने की घोषणा करता है। बाद मे राजा के आग्रह करने पर वह राशियों की गणना, स्वरूप एव उनके गुणो का विवेचन करता है।

कुवलयचन्द्र के जन्म के समय पर विचार करते समय साम्वत्सरिक ने सम्वत्सर, ऋतु, मास, तिथि, वार, नक्षत्र, राशि, योग, लग्न, ग्रह, होरा आदि पर विचार किया है (१९.५,६)। राशियों के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी

१. मेहली का अर्थ कोश में पार्श्वनाथ तीर्थंकर के वंश का एक साधु किया गया है (पा० स० म०)। पार्श्वनाथ अश्व वंश के थे। सम्भव है, अच्छे घोड़ों को भी उनके वंश के नाम में व्यवहृत किया जाने लगा हो।

दी गयी है। राशियों की कुल संख्या बारह है—मेष, वृषभ, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, मकर, कुम्भ और मीन (१९-१०)। प्रत्येक राशि का फल भिन्न-भिन्न बतलाया गया।

कुव० का राशि-वर्णन परम्परागत ज्योतिषशास्त्रों से कितना सादृश्य रखता है, परवर्ती साहित्य को कितना प्रभावित करता है आदि बातें विचारणीय हैं। कुवलयमाला कहा में इस राशिवर्णन को सर्वज्ञ भगवान् के सुशिष्यों द्वारा प्रणीत कहा गया है। बंगाल ऋषि के द्वारा कथित होने से इसे बंगाल-जातक कहते हैं।[1]

उक्त राशि-वर्णन में राशियों के जो फल बताये गये हैं उनकी प्रामाणिकता प्रत्येक राशि के ग्रह नक्षत्र आदि पर निर्भर है। जो राशि स्वयं बलवान् होती है एवं जिसका स्वामी ग्रह बलवान होता है उसीका फल सच्चा होता है। और यदि राशि बलवान न हुई तथा क्रूर ग्रहों की उस पर दृष्टि लगी हो तो राशिफल कुछ मात्रा में सत्य एवं कुछ मात्रा में मिथ्या भी हो जाता है।[2]

कुव० में कुवलयमाला के विवाह के अवसर पर विवाह-लग्न का विस्तार से विवेचन किया गया है। सभी ग्रहों की सौम्य दृष्टि होने पर फागुन शुक्ला पचमो बुधवार को स्वाति नक्षत्र में रात्रि के प्रथम पहर बीत जाने पर द्वितीय पहर की चौथी घड़ी समाप्त होने पर पाँचवीं प्रारम्भ होते ही सिंह लग्न समाप्त होता है और कन्यालग्न प्रारम्भ होता है। यही मूहूर्त विवाह के लिए शुभ माना गया है। इस लग्न में विवाहित कन्या को दीर्घकालीन सौभाग्य, करोड़ों की सम्पत्ति, चक्रवर्ती पुत्र आदि की प्राप्ति होती है (१७०.११,१५)। उद्द्योतनसूरि ने जन्म और विवाह के अतिरिक्त यात्रा प्रारम्भ करने (६७.२) राज्याभिषेक (१९९.१९) एवं दीक्षा आदि शुभ कार्यों के लिए भी शुभ-तिथि आदि पर विचार किया है।

निमित्त-शास्त्र

जिन लक्षणों को देख कर भूत और भविष्य में घटित हुई और होने वाली घटनाओं का निरूपण किया जाता है, उन्हे निमित्त कहते हैं। इनका वर्णन जिन शास्त्रो में होता है, उन्हे निमित्तशास्त्र कहते हैं। निमित्त के आठ भेद हैं—(१) व्यंजन (२) अंग (३) स्वर (४) भौम (५) छिन्न (६) अन्तरिक्ष

---

१. 'देव, आसि किर को वि सव्वण्णू भगवं दिव्व-णाणी, तेण सुसिस्साणं साहियं तेहि वि अण्णेसिं ताव, जाव बंगाल-रिसिणो एवं तेण एयं बंगाल-जायगं भण्णइ'। २०.२,३.

२. जइ रासी बलिओ रासी-सामी-गहो तहेव, सव्वं सच्चं। अह एए ण बलिया कूरग्गह-णिरिक्खिया य होंति, सा किंचि सच्चं किंचि मिच्छं ति।—२०.२४,२५.

(७) लक्षण एवं (८) स्वप्न। इनमें से कुवलयमालाकहा में सातवें लक्षण-निमित्त एवं आठवें स्वप्न-निमित्त का वर्णन हुआ है।

लक्षण-निमित्त (सामुद्रिक विद्या)—स्वस्तिक, कलश, शंख, चक्र आदि चिह्नों के द्वारा एवं हस्त, मस्तक और पादतल की रेखाओं द्वारा शुभाशुभ का निरूपण करना लक्षण-निमित्त है। इसे सामुद्रिक-विद्या भी कहते हैं।

कुव० में लगभग ३६ गाथाओं में सामुद्रिक-विद्या का वर्णन हुआ है।[1] विजयपुरी को जाते समय कुमार कुवलयचन्द्र की वनसुन्दरी ऐणका से भेंट होती है। वहां शबर दम्पत्ति के दर्शन पर कुवलयचन्द्र शारीरिक लक्षणों के आधार पर उनके असली स्वरूप को पहिचान जाता है। ऐणिका के आग्रह पर वह संक्षेप में सामुद्रिक-विद्या का विवेचन करता है। तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से उस सामग्री की संक्षिप्त जानकारी इस प्रकार है।

पूर्वकृत कर्मों के अनुसार शरीर को जैसे सुख-दुख की अनुभूति होती है, वैसे ही शरीर के लक्षण भी सुख-दुख के पारिचायक होते हैं। अंग, उपांग और अंगोपांग में ये लक्षण पाये जाते हैं। इनके फल विभिन्न प्रकार के होते हैं। यहाँ पुरुष के कुछ शारीरिक लक्षण द्रष्टव्य है।

पाद-लक्षण— जिस पुरुष के पैर का तलुवा रक्तवर्ण, चिकना और कोमल होता है, टेढा नहीं होता, वह इस पृथ्वी का राजा होता है। जिसके पैर के तलुवे मे चन्द्र, सूर्य, वज्र, चक्र, अंकुश, शंख व छत्र होता है और गहरी चिकनी रेखाएं होती हैं वह राजा होता है। जिसके पैर का अगूठा गोल होता है उसकी पत्नि अनुकूल होती है। और पैर की अंगुलि के प्रमाण जिसका अंगूठा होता है उसकी भार्या दु:खी होती है। इत्यादि।

पाद-लक्षण के वाद शारीरिक संरचना के क्रमानुसार जंघा, लिंग, वृषण, पेट, नाभि, गर्दन, ओष्ठ, दांत, जीभ, नाक, आख, पलक, कपाल, मस्तक, कंठ, वक्षस्थल, पीठ आदि का अलग अलग सामुद्रिक वर्णन कुव० मे किया गया है। सभी चिह्नों के फल बतलाये गये है। फिर भी इस वर्णन को संक्षेप-वर्णन ही कहा गया है। यदि पुरुष-लक्षण विस्तार से कहे जायँ तो लाखों गाथायें भी पर्याप्त नहीं होंगी।[2] डा० नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार यह विवरण वाराही संहिता के अध्याय ६८-६९-७० एवं बृहत्पराशरहोरा के अध्याय ७५ एवं ८१ से तुलनीय है। कुछ बातें समान हैं एवं कुछ में अन्तर है।[3]

---

१. कुव० १२९, १३०१३१, पृष्ठ.

२. एसो संखेवेणं कहिओ तुह पुरिस-लक्खण विसेसो।
जइ-वित्थरेण इच्छसि लक्खेहि वि णत्थि णिप्फत्ती ॥—कुव० १३१.२३.

३. उ० —कुव० इ० पृ० १४२, नोट पृ० १२९.

स्वप्न-निमित्त—स्वप्नदर्शन के आधार पर शुभाशुभ-फल का प्रतिपादन करना स्वप्ननिमित्त है। कुवलयमालाकहा में रानी प्रियंगुश्यामा को कुवलयचन्द्र के जन्म के पूर्व स्वप्न आता है। सुबह वह राजा को निवेदन करती है। राजा मन्त्रियों से इस स्वप्न का फल निकालने को कहता है। कुवलय० में स्वप्न-दर्शन की परम्परा प्राचीन साहित्य के ही अनुरूप है। किसी भी महापुरुष के जन्म के पूर्व उसकी माता को इस प्रकार के स्वप्न दिखायी देने की बात अनेक जगह कही गयी है। किन्तु यहाँ चन्द्रमा का कमलपुष्पों की माला के द्वारा आलिंगन करते हुए दिखायी देना—**कुवलयमालाए वढं अवगूढं चंदिमा-णाहं** (१६.९) स्वप्नदर्शन की परम्परा में विशेष अर्थ रखता है। स्वप्नदर्शन-शास्त्र के पंडित के लिए यह नवीन बात थी। इसलिए उसने स्वप्नफल बतलाते हुए यही कहा कि राजन्! कुवलयमाला के दर्शन से रानी को एक पुत्री की प्राप्ति होनी चाहिये।[1] लेकिन राजा की सभा में बृहस्पति जैसे विद्वान् भी उपस्थित थे। उन्हें यह स्वप्नफल उचित नहीं लगा। अतः उन्होंने इसे अधिक स्पष्ट करते हुए कहा—राजन्! यदि केवल कुवलयमाला के ही दर्शन हुए होते तो स्वप्नशास्त्र के ज्ञाता का यह कथन कि आपको पुत्री की प्राप्ति होगी, ठीक था। किन्तु महारानी ने स्वप्न में कुवलयमाला द्वारा चन्द्रमा को आलिंगन करते हुए देखा है अत इसका अर्थ यह होना चाहिये कि आपके होने वाले पुत्र को कुवलयमाला की तरह सर्वजनमनोहरा प्रियतमा की प्राप्ति होगी (१७.३.५)।

विभिन्न विद्याएँ

कुव० में शिक्षणीय विषयों के उक्त प्रसंगों के अतिरिक्त अनेक विद्याओं के भी संक्षेप में उल्लेख हुए है। उनमें शावरीविद्या प्रमुख है। यह जादू-टोने से संबन्धित प्रतीत होती है। जब वनसुन्दरी ऐणिका से कुवलयचन्द्र की भेंट होती है तो वहां वह एक शवर-दम्पत्ति के दर्शन करता है। पूछने पर ज्ञात होता है कि यह शवर-दम्पत्ति शावरी-विद्या की साधना के लिए प्रयत्नशील है। ऐणिका इस प्रसंग में बतलाती है कि विद्याधर भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करके अनेक विद्याओं की साधना करते है। इन विद्याओं को प्राप्त करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के उपाय हैं—**ताणं च कप्पा साहणोवाया** (१३२.१)। किन्हीं विद्याओं को काल की मर्यादा से प्राप्त किया जाता है। तथा कुछ विद्यायें अग्नि, वांस की भेरी, नगर की पिरोलो, महा अटवियो, पर्वतों आदि में कापालिक. चण्डाल, राक्षस, बन्दर, भील का भेष धारण कर प्राप्त की जाती हैं (१३२ १, ३)।

महाशाबरी विद्या—उक्त विद्याओं में से शावरी-विद्या अधिक कठिन है। इसकी प्राप्ति के लिए शबर (भील) का भेष धारण कर पत्नी के साथ जंगलों में इधर-उधर घूमना होता है। असिधारा के समान अखंड-ब्रह्मचर्य का पालन

१. तओ भणियं सुमिण-सत्थ-पाठएहिं 'देव, तेण एसा वि तुह दुहया धूया भविस्सइ' त्ति।—कुव० १७.३.

करना पड़ता है।[1] शबर दम्पत्ति के सम्बन्ध में ऐणिका बतलाती है कि वे विद्याधर और विद्याधरी हैं। पूर्व जन्म में इनके पूर्वजों ने शबरविद्या को प्राप्त किया था। अतः उस परम्परा को कायम रखने के लिए विद्याधरों ने इस विद्याधरदम्पति को शाबरीविद्या प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया है। सभी विद्याधरों ने विद्या की प्राप्ति हेतु इन्हें शुभकामनाएं प्रदान की हैं—**सिज्झउ से विज्ज, सिज्झउ से विज्ज** (१३३.१६) तभी से यह दम्पत्ति शबरभेष धारण कर मौन-व्रत लेकर इस विद्या की प्राप्ति में लगा हुआ है।[2]

इस प्रसंग से महत्व की बात यह ज्ञात होती है कि शबर-विद्या के जानकार शबर-लोग होते होंगे। उनसे इस विद्या को सीखने के लिए शबरों का रूप धारण करना आवश्यक रहा होगा।

भगवती प्रज्ञप्ति-विद्या—कामगजेन्द्र को जब विद्याधर कन्यायें ले जाने लगी तो उन्होंने उसे बताया कि वे यह नहीं जानती थीं कि कामगजेन्द्र कहाँ रहता है तथा उसकी नगरी कहाँ है? अतः इसको जानने के लिए उन्होने भगवती प्रज्ञप्ति नाम की विद्या का आह्वान किया। उसके आने पर उससे कामगजेन्द्र का पता पूछा और तदनुसार यहाँ तक पहुँची।[3] जैन साहित्य में प्रज्ञप्ति-विद्या के अनेक उल्लेख मिलते हैं।[4] कथासरित्सागर में भी इसका उल्लेख है।[5]

कुव० में ७२ कलाओं के प्रसंग में विभिन्न विद्याओं के अतिरिक्त कुछ ऐसे विषयों को भी पढ़ाये जाने के उल्लेख हैं, जो जीवन में अधिक व्यावहारिक तथा उपयोगी थे। साथ ही जाति एवं वर्ण के अनुकूल भी। यथा—

चाणक्यशास्त्र का अध्ययन—वाराणसी नगरी में वहाँ के युवक जन अन्य कला-कलापों के साथ चाणक्यशास्त्र को भी सीखते थे।[6] डा० अग्रवाल एवं उपाध्ये ने चाणक्यशास्त्र का अर्थ चाणक्य अथवा कौटिल्य का अर्थशास्त्र किया है।[7] अर्थशास्त्र के अतिरिक्त चाणक्यनीति भी इसमें सम्मिलित रही हो, यह भी संभव है।

---

१. इमाणं साबरीओ विज्जाओ····असिहारएण बंभ-चरिया-विहाणेण एत्थ वियरइ त्ति—१३२.४.

२ तओ ते दुवे वि पुरिसो महिला य इहेव ठिया पडिवण्ण-सबर-वेस त्ति—वही १३३.१७.१८.

३. इमस्स य अत्यस्स जाणणत्थं आहूया भगवई पण्णत्ति णाम विज्जा—कुव० २३६-२२.

४. ज०—जै० भा० स०, पृ० २६४, ३४६ आदि।

५. मोनियरविलियम्स संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी।

६. सिक्खविज्जंति जुवाणा कला कलावइं चाणक्क-सत्थइं च। —कुव० ५६.२८,

७. उ०—कुव० इं०, पृ० १३३.

कामशास्त्र का अध्ययन—उद्द्योतनसूरि चार पुरुषार्थों का औचित्य निरूपण करते समय कहते हैं कि पक्षपात एवं गर्वपूर्वक लोगों ने कामशास्त्र में यह लिख दिया है कि धर्म, अर्थ एवं काम पुरुषार्थ को पूर्ण करने से ही संसार सधता है। किन्तु यह केवल परिकल्पना ही है।[१] इससे कामशास्त्र के उद्धरण प्रसिद्ध होने का संकेत मिलता है। एक अन्य प्रसंग राजकुमार तोसल को अपने अध्ययन-काल में पढ़े हुए कामशास्त्र के कन्यासंवरण की यह युक्ति याद रहती है कि रूप-यौवन आदि से सम्पन्न धनिक सैकड़ों साम, भेद आदि उपायों से कन्या को प्रलोभन देते हैं। और यदि वह इस प्रकार वश में न हो तो पराक्रम, छल आदि के द्वारा उससे विवाह कर लेना चाहिए। बाद में कुल के बड़े लोग उसे समर्पित कर ही देते हैं।[२]

खान्यविद्या का अध्ययन—सागरदत्त को जब धनोपार्जन का कोई उपाय नही सूझता तो वह विद्यागृह में पढ़ी हुई खान्यविद्या का स्मरण करता है—**सुमरिओ अहिणव-सिक्खिओ खण्णवाओ** (१०४.२१), जिससे उसे धन मिल जाता है। इसी प्रकार कई अन्य प्रसंगों से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में अध्ययनीय विषयों में धातुवाद का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। इस सम्बन्ध में आर्थिक जीवन वाले अध्याय में जानकारी दी जा चुकी है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि कुवलयमालाकहा में उन सभी विषयों की शिक्षा विद्यागृहों अथवा मठों में छात्रों को दी जाती थी, जो उनके बौद्धिक विकास में सहायक थे तथा जिससे वे अपने जीवन को सुखी तथा सम्पन्न बना सकते थे। किन्तु इतना अवश्य था कि पहले जीवन का लक्ष्य निर्धारित होता था फिर तदनुसार विभिन्न अनुकूल विषयों का अध्ययन किया अथवा कराया जाता था।

अध्ययन करने के उपाय

कुव० में अध्ययन करने की विधियों का कहीं अलग से उल्लेख नहीं किया गया है। किन्तु मुनि धर्मनन्दन के शिष्य मुनियों की रात्रिचर्या के प्रसंग में यह बतलाया गया है कि वे अध्ययन में रत रहने के लिए क्या-क्या कार्य करते थे। उन कार्यों से निम्नांकित शिक्षाविधियों के संकेत प्राप्त होते है :— १. अभ्यास (गुणेंति), २. पठन-पाठन (पढंति), ३. प्रश्नोत्तर, ४. शास्त्रार्थ, ५. व्याख्यान, ६. नय एवं ७. स्वाध्याय। इन्हीं से मिलती-जुलती शिक्षा-विधियों का उल्लेख जिनसेन ने अपने आदिपुराण से भी किया है।[३]

अक्षरलिपि सीखने की विधि—एक अनपढ़ एवं मानवीय सभ्यता से अलग रहनेवाली बालिका को राजकीर ने अध्ययन कराने के लिए सर्वप्रथम उसे

१. भणियं कामसत्थयारेहिं····परिकप्पणा-मेत्त-चिय, कुव० २.२०, २१.

२. भणियं च कामसत्थे कण्णा-संवरणे····बंधुय्गेणं, वही ७८.९, १२.

३. शास्त्री, नेमिचन्द्र, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० २६६.७०.

सहँकार फल के द्वारा संज्ञाओं का ज्ञान कराया। फिर खाना, पीना, छोड़ना, लेना आदि क्रियाएँ सिखायीं और जब वह इन क्रियाओं और संज्ञाओं को सीख गयी तो इसी विधि से उसे अक्षर-लिपि का ज्ञान कराया।[1] धीरे-धीरे वह सभी शास्त्रों में निपुण हो गयी—**तओ धम्मत्थ-काम-सत्थाइं अहीयाइं** (१२७.१७)। शास्त्रों के ज्ञान से उसे हिताहित, भक्ष्याभक्ष्य, कार्य-अकार्य का ज्ञान हो गया और तब उसे जैनधर्म का ज्ञान कराया गया।[2]

लेखन-सामग्री—कुव० में लेखन-सामग्री के रूप में खड़िया, स्लेट, भार-पट तथा स्वर्ण की पट्टी (**कणक सिलायलं** २०१.२६) का उल्लेख है। कुवलय-माला ने कुमार कुवलयचन्द्र को अपने प्रेमोद्गार भोजपत्र में अंकित करके भेजे थे **अइतणुयभुज्जवत्तंतरियं** (१६०.१३)। वस्त्रो पर पत्र लिखकर मुद्रांकित करके भेजे जाते थे—(**अवणीया मुद्दा** १८०.१६) तथा चित्र बनाये जाते थे, जिन्हें पटचित्र कहते थे (पृ० १९१.९३)। पुस्तकें ताड़पत्रों पर लिखी जाती थी (२०१.१)। पुस्तकों को बस्ते अथवा डोरी आदि में बाँधकर रखा जाता था (९५.२१) तथा पढते समय पुस्तक लकड़ी के पीठ पर रखी जाती थी—**पोत्थय-रयणं पीढम्मि** (९५.२०)। सौधर्म लोक के एक स्वाध्याय के प्रसंग में कहा गया है, पुस्तक का गत्ता पद्मरागमणि से तथा पृष्ठ स्फटिकमणि से निर्मित था जिसमे इन्द्रनीलमणि से सुन्दर अक्षर लिखे हुए थे (९५.२१)। इससे ज्ञात होता है कि पुस्तको को नाना रंग से सज्जित किया जाता रहा होगा।

कुलदेवता ने राजा दृढ़वर्मन् को जो कुलधर्म का स्वरूप लिखकर दिया था वह ताड़पत्र की पाण्डुलिपि थी। ताड़पत्र लकड़ो के दो पट्टो के बीच रखे हुए थे—**पट्टंत-पत्तिया-णिवहं** (२०१.२८)। ताड़पत्रो मे ललित मात्रायें एवं वर्ण लिखे हुए थे, जिनपर मरकत धूलि से छिड़काव किया गया था।[3] इस ताड़पत्रीय पाण्डुलिपि की लिपि ब्राह्मी थी—**बंभी लिवीए लिहियं** (२०१.२८)। ब्राह्मी के अतिरिक्त अन्य किसी लिपि का उल्लेख ग्रन्थकार ने नहीं किया है। केवल एक प्रणय-प्रसग में अपरलिपि में लिखे हुए सूक्ष्म अक्षरों का उल्लेख है—**अवरलिवी-लिहियाइं सुहुमाइं अक्खराइं** (१६०.२२९)। इस लेख को प्रेमी के सखा ने पढ़कर अर्थ बतला दिया था। इससे प्रतीत होना है कि ब्राह्मीलिपि के अतिरिक्त यह कोई सांकेतिक लिपि थी।

छात्रों का स्वरूप एवं उनकी दिनचर्या

विजयपुरी के मठ में विभिन्न प्रान्तों के छात्र निवास करते थे। इनमें लाट, कर्णाटक, मालव, कन्नौज, गोल्ल, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, ढक्का, श्रीकंठ

१. एवं च इमिणा पओगेण अक्ख-लिवीओ गाहिया।—कुव० १२७.२६.
२. ते मि मए सिक्खविया णिउणं वयणं जिणवराणं॥ —वही १८.
३. ललिउव्वेल्लिर-मत्ता-वण्णयपट्टंत-पत्तिया-णिवहं।
वंभी-लिवीए लिहियं मरगय-रय-पूरियं पुरओ॥—२०१.२८.

(काश्मीर) एवं सिन्ध के छात्र प्रमुख थे। पाटलिपुत्र के छात्र भी वहाँ थे—**पाटलिपुत्र महानगरवास्तव्ये** (१५१.२३)।"इनकी दिनचर्या अध्ययन के अतिरिक्त अन्य प्रकार की थी।

कुछ छात्र धनुर्वेद, फलक-खड्ग (**फर-खेड्ड**)[2] असिधेणु आदि शस्त्रों के प्रयोग में ही अपना मन लगाते थे, कुछ भाला फेंकने में। कुछ छात्र आलेख्य, गीत, वादित्र आदि के अभ्यास में अपना समय काटते थे (**आलेक्ख-गीय-वाइय**)। कुछ छात्र, जिन्हें नाटक करने का शौक था, भाण, श्रृंगाटक तथा डोंबलिक जैसे नाटक करते रहते थे और कुछ छात्र नृत्य का अभ्यास करते रहते थे (१५०.२१)। सम्भवत: ये छात्र क्षत्रिय और वैश्य जाति के रहे होंगे। क्योंकि ब्राह्मण जाति के छात्रों की दिनचर्या अलग थी। वे वेदों का ही अध्ययन करते थे।

वेदपाठी छात्रों के बाल हाथों के द्वारा कुटिल बनाये गये थे। वे निर्दयतापूर्वक पैर पटक-पटक कर चलने से मोटे अंग वाले थे, उनके भुजाओं के कंधे ऊँचे थे, उन्होने दूसरों का माल खा-खाकर शरीर पर मांस चढ़ा रखा था, धर्म-अर्थ-काम पुरुषार्थों से रहित तथा बांधव, मित्र एवं धन आदि से भी वे हीन थे। कुछ छात्र जवान थे। एवं कुछ छात्र अभी बालक ही थे। किन्तु पर-युवतियों को देखने में हमेशा उनका मन लगा रहता था। अपने स्वरूप पर उन्हे घमण्ड था एवं वे अपने को सौभाग्यशाली मानते थे। हमेशा ऊँचा मुख करके और आखें चढ़ाकर रहते थे तथा गुरुओं द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त व दण्ड को न माननेवाले एवं आलसी थे—**इट्ठाणुघट्ठ मट्ठोरू** (कुव० १५१.१४-१६)।

कुवलयचन्द्र ऐसे छात्रों को देख कर कहता है कि अरे ये तो दूसरों के परिवाद की चिन्ता करनेवाले तथा उसी में अपना मन लगाने वाले हैं। अत: अवश्य ही इन्होंने कुवलयमाला के विषय में भी सुना होगा—**परतत्ति-तग्गय-मणा** (१५१.१७)। मठ के छात्रो का उपर्युक्त विवरण छात्रावास के जीवन का यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत करता है।

विभिन्न विद्याओं के जानकार—कुवलयमाला में दो तरह के विद्वानों का परिचय मिलता है। प्रथम वे, जो विद्यालयों में विभिन्न प्रकार के विषयों का अध्ययन कराते थे और दूसरे वे, जो राजा के दरबार में अपने-अपने विषय के पंडित होते थे। मठों के उपाध्याय न केवल सभी दर्शनो के ज्ञाता अपितु ७२ कलाओ और ६४ विज्ञानो में भी पारंगत होते थे (१५१.११)। राजदरबार में उद्द्योतन ने २७ विषयों के अधिकारी विद्वानों के उपस्थित रहने की सूचना दी है तथा यह

---

१. लाडा कण्णाडा वि य मालविय-कणुज्ज-गोल्लया केइ।
मरहट्ठ य सोरट्ठा ढक्का सिरिअंठ—सेंधवया॥—कुव० १५०.२०.

२. द्रष्टव्य—ठाकुर, अनन्तलाल, 'सम डाउटफुल रीडिंगस् इन कुव०'
—सम्बोधि, १९७२.

भी कहा है कि ऐसी कोई कला, ऐसा कोई कौतुक और ऐसा कोई विज्ञान शेष नहीं था, जिसके विद्वान् पंडित राजा दृढ़वर्मन् के आस्थानमण्डप में उपस्थित न हों।[1] उपाध्याय एवं विद्वानों का पूर्ण सम्मान होता था। शिक्षाग्रहण करने वाले शिष्य अपने उपाध्याय की सेवा करने को तैयार रहते थे।[2]

कुवलयमाला में शिक्षा-सम्बन्धी प्राप्त उपर्युक्त विवरण इस बात का संकेत है कि गुप्तयुग के उपरान्त भी शिक्षणीय विषयों में विविधता बनी हुई थी। आदर्श और व्यवहार का शिक्षा में समन्वय था। यद्यपि सांस्कृतिक विस्तार के कारण छात्रों की जीवनचर्या में एकरूपता नहीं रह गयी थी, फिर भी गुरु-शिष्य के सम्बन्ध शालीनतापूर्ण और घनिष्ठ थे।

●

---

१. सा नत्थि कला तं णत्थि कोउयं तं च नत्थि विण्णाणं।
जं हो तस ण दीसइ मिलिए अत्थाणिया मज्झे ॥१६.२७

२. 'देव, पसीवसु, करेसु पडिवज्जसु ओलग्गं त्ति। तुब्भे उवज्झाया, अम्हे चट्टा त्ति'—१९७.८

परिच्छेद दो

भाषाएँ तथा बोलियाँ

कुवलयमालाकहा में प्रसंगवश अनेक भाषाओं एवं देशी बोलियों का प्रयोग हुआ है। यद्यपि सम्पूर्ण ग्रन्थ प्राकृत भाषा में रचित है तो भी संस्कृत, अपभ्रंश, पैशाची आदि भाषाओं का प्रयोग भी ग्रन्थ में कई बार हुआ है। कुवलयमालाकहा में प्रयुक्त भाषा-विज्ञान से सम्बन्धित सामग्री भारतीय भाषा-शास्त्र के अध्ययन-अनुसन्धान के क्षेत्र में पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है।

प्रमुख भाषाएं

उद्द्योतनसूरि ने प्रमुख रूप से प्राकृत, अपभ्रंश एवं पैशाची भाषाओं के सम्बन्ध मे विभिन्न प्रसगों में जो जानकारी दी है, उसे इस प्रकार एक साथ देखा जा सकता है।

प्राकृत—ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के आरम्भ में ही यह सूचना दी है कि यह कथा प्राकृत भाषा में लिखी जायेगी।[1] यहाँ ग्रन्थकार का अभिप्राय साहित्यिक प्राकृत से है, चाहे वह महाराष्ट्री हो या शौरसेनी। सम्पूर्ण कथा इसी प्राकृत में लिखी गयी है। यद्यपि ग्रन्थ में पैशाची, मागधी, राक्षसी (चूलिका पैशाची) एवं मिश्र प्राकृत का भी परिचय दिया गया है।[2]

कुवलयमाला में प्राकृत भाषा के लक्षण आदि का परिचय देते हुए कहा गया है कि प्राकृत भाषा में सभी कलाओं का निरूपण करनेवाले विचार तरंगों के रूप में रहते हैं।[3] वह लोकवृतान्त रूपी महासमुद्र से महापुरुषों के द्वारा मंथन

१. पाइय-भासा-रइया-मरहट्ठय-देसि-वण्णय-णिबद्धा। —कुव० ४.११.

२. पेसाइयं, मागहियं, रक्खसयं, मीसं च—(१७५.१५)।

३. सयल-कला-कलाव-माला-जल-कल्लोल-संकुलं (७१.३)।

करके निकाले गये अमृतसदृश है।[1] तथा वह सुन्दर वर्ण एवं पद-रचना से युक्त सज्जन पुरुषों के वचन की भाँति सुखदायी है।[2]

संस्कृत—ग्रन्थ में उद्द्योतनसूरि ने संस्कृत भाषा का उपयोग प्रायः उद्धरण के रूप में किया है।[3] उद्धरण पद्य के रूप में भी हैं और गद्य के रूप में भी। डा० ए० एन० उपाध्ये ने कुवलयमाला के संस्कृत उद्धरणों के सम्बन्ध में अपने एक निबन्ध में जानकारी प्रस्तुत की है।[4] कुल मिलाकर ग्रन्थ में संस्कृत का पाँच बार उल्लेख हुआ है तथा चौदह उद्धरण दिये गए हैं। उनके मूल सन्दर्भों को खोजने से ग्रन्थकार के पाण्डित्य का पता चल सकता है।

उद्द्योतनसूरि ने संस्कृत के लक्षण आदि का इस प्रकार परिचय दिया है कि संस्कृत भाषा अनेक पद, समास, निपात, उपसर्ग, विभक्ति, लिंग, परिकल्पना, कुविकल्प आदि दुर्गम दुर्जन के हृदय की भाँति विषम है।[5] इस वर्णन से प्रतीत होता है कि उद्द्योतनसूरि का संस्कृत के प्रति कोई विशेष झुकाव नहीं था और उस समय भी संस्कृत अपनी क्लिष्टता के कारण जनसामान्य के लिए कष्टदायक थी। सम्भवतः वह युग प्राकृत आदि देशी भाषाओं के प्रयोग का युग था इसलिए संस्कृत जैसी परम्परागत भाषाओं के प्रति रुचि का कम होना स्वाभाविक है।

अपभ्रंश—उद्द्योतनसूरि ने ग्रन्थ में अपभ्रंश भाषा का प्रयोग कौतूहलवश अथवा परवचन के रूप में किया है (४.१३)। अपभ्रंश के पद्यांश अथवा गद्यांश यद्यपि ग्रन्थ मे सर्वत्र कहीं न कहीं उपलब्ध होते हैं, किन्तु ग्रन्थ के प्रथम अर्ध-भाग में अधिक हैं। अपभ्रंश के इन अशों को उनके स्वरूप एवं सन्दर्भों के आधार पर इस प्रकार विभक्त किया जा सकता है—

पद्य—पद्य के अन्तर्गत अपभ्रंश में तीन दोहे ग्रन्थ में उल्लिखित हैं, जिनमें से एक ग्रामनटी के द्वारा एवं एक गुर्जर पथिक के द्वारा गाया गया है। यथा—

जो जसु माणसु वल्लहुउं तं जइ अण्णु रमेइ।
जइ सो जाणइ जीवइ व सो तहु प्राण लएइ॥—(४७.६)

जो णवि विहुरे विभज्जणउ धवलउ कड्ढइ भारू।
सो गोट्ठंगण-मंडणउ सेसउ व्व जं सारू॥—(५९.५)

१. लोय-वुतंत-महोयहि-महापुरिस-महणुग्गयामय-णीसंद-विंदु-संदोहं—(७१.४)।

२. संघडिय-एक्केक्कम-वण्ण-पय-णाणारूव-विरयणा-सहं सज्जण-वयणं-पिव सुह-संगयं (७१.४,५).

३. कोऊहलेण कत्थइ पर-वयण-वसेण सक्कय-णिबद्धा —(४.१३)।

४. ब्रह्मविद्या, जुबली संस्करण, भाग १-४ (१९६१)।

५. अणेण-पय-समास-णिवाओवसग्ग-विभत्ति-लिंग-परियप्पणा-कुवियप्प-सय-दुग्गमं दुज्जण-हिययं पिव विसमं।—कुव० (७१.२)।

कुछ अपभ्रंश के पद्य ऐसे भी हैं जो गद्य के साथ आये हैं। यथा:—

किंच भण्णउ। सव्वहा खलु असुइ जइसउ'........
तहे सो वि वरउ किं कुणउ अण्णहो ज्जि कस्सइ वियारू।
खलो चई सई जे-बहु-वियार-भंगि-भरियल्लउ ।।—(६.९)

गद्य—ग्रन्थ में ऐसे अनेक अपभ्रंश-गद्यांशों का उपयोग हुआ है, जिनसे अपभ्रंश के लक्षण आदि पर भी प्रकाश पड़ता है। ये गद्यांश प्रायः प्राकृत वर्णन आदि के प्रसंग में उपलब्ध होते हैं, जिनमें कहीं-कहीं पद्य भी प्राप्त होते हैं। प्रमुखतः दुर्जनवर्णन (५.२७), सज्जनवर्णन (६.१५), अश्ववर्णन (२३.१३), रगडा-सन्निवेशवर्णन (४५.१७), अवन्ती और उज्जयिनी वर्णन (५०.३,१२४-२८), काशी एवं वाराणसीवर्णन (५६.२१), कोशलवर्णन (७२.३१), पल्लिवर्णन (११२.९ १२ १४.१६, २१.२४), ग्रीष्मवर्णन (११३-६,८, १०.१२, २१.२४), अकाल वर्णन (११.२०), विन्ध्यवर्णन (११८.१६), नर्मदावर्णन (१२१.१), सार्थवर्णन (१३४.३३), रत्नपुरीवर्णन (१४०.२), पावसवर्णन (१४७.२४), विजयपुरीवर्णन (१४६.६) इत्यादि प्रसंगों में अपभ्रंश भाषा के अनेक वाक्य एवं शब्द प्रयुक्त हुए हैं। जैसे कि—

वरउ (६.६), वियारु (६.९), जारज्जायहो, दुज्जणहो (६.११), सज्जणु, कमलु, पुणि (६.२२), देंतहों (६.२२), मुत्ताहारु, जइसउ (६.२३), देसु (२३.९), चोरु जइतओ (२३.१४), रेहरु (४५.१८), मेहलउ (५०.१७), देवकुलेहिं (५६.२२), मंडणइं (५६.२७), गामाइं (७२.३१), तुंगइं (७२.३५), थूरिएल्लय, मारिएल्लय, बुत्थेल्लय (११२ १२), छेज्जइं (११२.१६), बंभणु (११२.२१) जुण्ण-घरिणियओ, जइसियओ (११३.२४), ओसिहीसु, उयरेसु (११७.२०), कइसिया (११८.१६), विवणि-मग्गु (१२४.२९), कमलइं (१२४.३१), मरूदेसु, हर-णिवासु (१३४.३३), कुंभरावणु (१३५.१), भट्टिया-गहणइं (१४७.२८), धवलहरु (१४६-६) इत्यादि।

उपर्युक्त प्रसंगों में जो अपभ्रंश प्रयुक्त हुई है, यद्यपि शब्दों और स्वरूप की दृष्टि से तो वह प्राकृत है, किन्तु सामान्यतः अपभ्रंश के लक्षण उसमें अधिक मिलते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि साहित्यिक प्राकृत पर अपभ्रंश का प्रभाव बढ़ता चला जा रहा था। उद्द्योतनसूरि के समय में अपभ्रंश एक साहित्यिक भाषा बन चुकी थी और उसका सम्बन्ध स्टैन्डर्ड प्राकृत की अपेक्षा बोलचाल की भाषा से अधिक था।

सम्भवतः प्रथम बार उद्द्योतनसूरि ने अपभ्रंश भाषा के इतने गद्यांशों को एक साथ उपस्थित किया है, जो अपभ्रंश के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। राजा अपभ्रंश में सेनापति को सम्बोधन करता है, ग्रामनटी अपभ्रंश का गीत गाती है एवं गुर्जरपथिक अपभ्रंश का दोहा पढ़ता है। ये प्रसंग इस बात की ओर इंगित करते हैं कि उद्द्योतनसूरि के समय में समाज के प्रायः सभी वर्गों में

अपभ्रंश बोलने का प्रचार था, जो यदाकदा साहित्यिक प्राकृत से प्रभावित होती रहती थी।

डा० ए० एन० उपाध्ये ने कुव० में प्रयुक्त अपभ्रंश के गद्यांशों का तुलनात्मक अध्ययन हेमचन्द्र के व्याकरण में दिये गए अपभ्रंश के उदाहरणों से किया है। डा० उपाध्ये का मत है कि उद्द्योतनसूरि द्वारा प्रयुक्त अपभ्रंश प्राय: हेमचन्द्र के नियमों का अनुसरण करती है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि दोनों उद्द्योतनसूरि और हेमचन्द्र एक ही भाषा के क्षेत्र से सम्बन्धित थे और दोनों का अध्ययन भी एक ही परम्परा में हुआ था।[1]

पैशाची—कुव० में पैशाची भाषा का उपयोग करने की सूचना ग्रन्थकार ने प्रथम ही दे दी है (पेसाय भासिल्ला ४.१३)। क्योंकि ग्रन्थकार जानता था, कथा में कुछ ऐसे प्रसंग व चरित्रों का वर्णन आयेगा जिनकी स्वाभाविकता के लिए उनकी भाषा में ही उन्हें प्रस्तुत करना पड़ेगा। उद्द्योतन की यह भाषात्मक उदारता है कि उन्होंने अपने समय में बोले जानेवाली प्राय: सभी भाषाओं व बोलियों का ग्रन्थ में उपयोग किया है। उनके सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्रस्तुत की है, जिससे मध्यकालीन भारतीय भाषाओ के अध्ययन में पर्याप्त सहायता मिल सकती है।

ग्रन्थ में पैशाची भाषा के चार सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। प्रथम, मथुरा नगरी के अनाथ आश्रम के निवासियों की बातचीत (५५.१५)। द्वितीय, ग्राम-महत्तरों द्वारा मित्रद्रोह जैसे पाप के प्रायश्चित्त के लिए बतलाये गये विभिन्न उपाय (६३.१८.२०, २२.२५)। तृतीय, रमणीक वस्तुओं का वर्णन करते हुए पिशाच[2] तथा चतुर्थ, मठ के छात्रों की कुमारी कुवलयमाला के सम्बन्ध में की गयी बातचीत (१५१.१८)। इन प्रसंगों में पैशाची के अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं। यथा—लप्पिप्यते, एतं, नती, उय्यान, नकर, पुथवी, कतरो, पतेसो, रमनिय्यो, कुसुमोतर, रमनो, तितस, भोति, विविथ, यति, सुनेसु, मथुकर, वथ (७१.१०, २४) इत्यादि।

कुवलयमाला के उक्त पैशाची भाषा से सम्बन्धित सन्दर्भों का श्री एल० बी० गांधी, श्री ए० मास्टर,[3] श्री एफ० बी० जे० क्यूपर एवं डा० ए० एन० उपाध्ये,[4]

१. It can safely be said that the Apabhramsa used by Uddyotana is duly covered by the rules given by Hemchandra, and this is but natural, because both of them hail from nearly the same linguistic area and belong to the same tradition of learning, —Journal of the Oriental Research Institute, No. March—June' 1965.

२. भणियमाणेण-पिसाएण णियय-भासाए—वही, ७१.९.

३. जर्नल आफ द रायल एशि० सोसाईटी १९४३, पृ० २१७.

४. जर्नल आफ द ओरियण्टल इन्स्टीटयूट, मार्च-जून, ६५.

ने विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया है। अतः इस सम्बन्ध में कुछ अधिक लिखना यहाँ आवश्यक नहीं है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ग्रन्थ के उक्त पैशाची भाषा के सन्दर्भ में पैशाची भाषा के जिन शब्दों का उपयोग हुआ है, प्रायः वे हेमचन्द्र द्वारा निर्धारित पैशाची भाषा के लक्षण और स्वरूप का अनुकरण करते हैं। इनके पीछे प्राकृत की पृष्ठभूमि है। अपभ्रंश के तत्त्व भी उनमें देखे जा सकते हैं। पठसि जैसे संस्कृत एवं पालि के रूप भी इनमें उपलब्ध हैं। पालि एवं पैशाची की साम्यता को इससे बल मिल सकता है।

पैशाची भाषा के ये सन्दर्भ इस बात का भी संकेत करते हैं कि उस समय के समाज में प्रायः सभी वर्गों के लोग (ग्रामीण एवं वेदपाठी विद्यार्थी भी) बोलचाल की भाषा में व्याकरण के नियमों से रहित विभिन्न भाषाओं के शब्दों का प्रयोग करते थे। ग्रन्थ मे उपर्युक्त प्राकृत, सस्कृत, अपभ्रंश एवं पैशाची के अतिरिक्त अन्य देशी भाषाओं के भी उल्लेख मिलते हैं।

दक्षिण भारत की भाषा—ग्रन्थ में यत्र-तत्र दक्षिण-भारत की भाषाओं के उल्लेख मिलते हैं। उत्तर भारत के व्यापारी दक्षिण-भारत के प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों में व्यापार करने जाते थे। वे वहाँ की भाषाओं को समझने का ज्ञान रखते थे। कुवलयचन्द्र जब विजयापुरी की तरफ गया तो उसने ऐसी अनेक देशी भाषाओं को बोल कर काम चलाया जो सरलता से न समझी जा सकती थीं और न बोली जा सकती थीं।[1]

राक्षसी एवं मिश्र भाषा—इन दोनों भाषाओं का उल्लेख सस्कृत, अपभ्रंश, पैशाची, मागधी के साथ हुआ है (१७५.१४)। किन्तु इनके कोई उदाहरण व लक्षण आदि नही दिये गये। सम्भवतः राक्षसी का अभिप्राय चूलिका-पैशाची से है तथा सभी भाषाओं का मिश्रित रूप मिश्र-भाषा है।

देशी भाषा—ग्रन्थ में देशी भाषा का अनेक बार उल्लेख हुआ है। विजय-पुरी के बाजार के प्रसंग में एक साथ १८ देशों की भाषाओं के उदाहरणों सहित वहाँ के निवासियों का वर्णन किया गया है (१५२.५३)। इस प्रसंग में गोल्ल, मध्यदेश, मगध, अन्तर्वेद, कीर, ढक्का, सिन्ध, मरुभूमि, गुजरात, लाट, मालव, कर्नाटक, ताप्ति, कोशल, महाराष्ट्र, आन्ध्र, खस, पारस एवं बर्बर प्रदेशों की देशी भाषाओं के उल्लेख हैं। इन उदाहरणों एवं इस प्रसंग का विस्तृत अध्ययन श्री ए० मास्टर ने किया है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि कुवलयमाला में भाषा एवं बोलियों के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी दी गयी है। देशी भाषाओं व बोलियों का इसमें खुल कर प्रयोग हुआ है। ग्रन्थ में देशी भाषाओं की इसी विविधता के कारण ही अन्त में ग्रन्थकार को यह कहना पड़ा है—

---

१. बोलेमाणो णाणाविह देस-भासा दुलक्ख-जंपिय-क्वयाइं बोलेमाणो—कुव०, १४९.४.

जो जाणइ देसीओ भासाओ लक्खणाइँ धाऊ य ।
वय-णय-गाहा-छेयं कुवलयमालं पि सो पढउ ॥—२८१.२३

उद्द्योतनसूरि ने विविध भाषाओं और बोलियों के प्रयोग के लिए कुवलयमाला में पात्रों के बीच बातचीत के ऐसे प्रसंग उपस्थित किये हैं, जो उनकी चारित्रिक विशेषताओं पर तो प्रकाश डालते ही हैं, तत्कालीन भाषाओं और बोलियों के अनेक शब्द एवं अंश भी प्रस्तुत करते हैं। ग्रन्थ के कुछ प्रमुख कथोपकथनों का विवरण इस प्रकार है :—

ग्राममहत्तरों की बातचीत

चंडसोम अपने भाई एवं वहिन की हत्या करने के बाद अग्नि में जलने जा रहा था कि कुछ युवकों ने उसे बलपूर्वक पकड़ लिया (**बलिय-जुवाणेंहि सो धरिओ** (४८.१२)। कृषि और गोकुल से संवर्धित पूर्वजों की परम्परा से चले आ रहे मनु, व्यास, वाल्मीकि, मार्कण्डेय महाऋषियों के महाभारत, पुराण, गीता के श्लोकों द्वारा वृत्ति (सिलोय वित्तपण्णा) कमानेवाले सौत्रिक-पंडितों ने कहा कि तुम प्रायश्चित द्वारा पाप से मुक्त हो सकते हो (४८.१७)। चंडसोम ने जब प्रायश्चित पूछा तो एक पंडित बोला—'बिना इच्छा से किया गया पाप बिना इच्छा के ही शुद्ध हो जाता है'—**'अकामेन कृतं पापं अकामेनैव शुद्धयति** (४८.१०)। असम्बद्ध प्रलाप करते हुए दूसरा बोला—'प्राण-घात करने की इच्छा से न मारने पर भी कोई मर जाय तो ब्रह्महत्या नहीं लगती'—**जिघांसंतं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्मा भवेत्** (४८.१९)। तीसरे ने कहा—'क्रोध में किये गये पाप में क्रोध ही अपराधी होता है'—**कोपेन यत्कृतं पापं कोप एवापराध्यति** (४८.२०)। चौथे ने कहा—'ब्राह्मणों से अपना पाप कह देने से जीव शुद्ध हो जायेगा'—**ब्राह्मणानां निवेद्यात्मा ततः शुद्धो भविष्यति**। पांचवे ने कहा—अज्ञानपूर्वक किये गये पाप में दोष नहीं लगता'—**अज्ञानाद्यत्कृतं पावं तत्र दोषो न जायते** (४८.२१)।

इस प्रकार पूर्वापर असम्बन्धित वचनों को कहने वाले बढरभट्ट ने उसे सलाह दी कि घर की सब सम्पत्ति ब्राह्मणों को देकर तीर्थ-यात्रा करने से प्रायश्चित होगा (अनुच्छेद ९५)।

इस वार्तालाप में संस्कृत भाषा के पाँच उद्धरण प्रयुक्त हुए हैं, जो सम्भवतः जिन महाऋषियों के नाम लिये गये हैं उनकी रचनाओं के हों। दूसरा उद्धरण (जिघां०) वासिष्ठस्मृति २, १८ में उपलब्ध होता है।

मथुरा के अनाथमंडप में कोढ़ियों की बातचीत

मानभट मथुरा के अनाथमंडप में जब ठहरता है तो वहाँ पर स्थित कुष्ठरोगी परस्पर में बातचीत करते हैं। एक कहता है—अरे भाइयो, तुम लोग

कौन-कौन से तीर्थ कर आये ? क्या-क्या व्याधियाँ अथवा पाप नष्ट हो गये। को-को कयरहिं तित्थे के वेवागयाहं कयरा वाहिया पावं च फिट्टइ (५५.१४)।

दूसरे ने कहा—'वाराणसी' कोढियों से मुक्त नहीं है, अतः 'वाराणसी' जाने से कोढ़ मिट जाता है—अभुक्का 'वाणारसी' कोढिएँहिं, तेण वाणरसीहिं गयहं कोढो फिट्टइ (५५.१५)।

तीसरे ने कहा—हुं, यह क्या वृतान्त तुमने कहा ? अरे कहाँ कोढ़, और कहाँ वाणारसी ? लोक में यह प्रसिद्ध है कि मूलस्थान के भट्टारक जो कोढ़ के देव हैं (वे) कोढ़ को नष्ट करते हैं— हुं हुं कहिओ वुत्तंतओ तेण जंपिएल्लउ। कहिं कोढं कहिं वाणारसि। मूलत्थाणु भडारउ कोढइं जे देइ उदालइज्जे लोयहुं (५५.१५-१६)।

चौथे ने कहा—अरे यदि मूलस्थान के देवता कोढ़ को दूर करते हैं तो फिर किस कार्य को करने से अपना कोढ़ अच्छा होगा ?—रे रे जइ मूलत्थाणु देइजे उद्दालइज्जे कोढइं, तो पुणु काइं कज्जु अप्पाणु कोढयल्लउ अच्छइ।

अन्य ने कहा—यदि कोढ़ अच्छा नहीं होता तो कोई कार्य नहीं करना है—जा ण कोढिएल्लउ अच्छइ ता ण काइं कज्जु। महाकाल भट्टारक की जो छः मास सेवा करता है उसका कोढ़ जड़ से नष्ट हो जाता है—महाकालभडारयहं छम्मासे सेवण्ण कुणइ जेण मूलहेज्जे फिट्टइ (५५.१८)।

दूसरे कोढ़ी ने कहा—इससे क्या, जिस तीर्थ में जाने से बहुत पुराना पाप नष्ट हो जाता हो मुझे वह बताओ—काइं इमेण, जत्थ चिर-परूढु पावु फिट्टइ, तं मे उद्दिसह तित्थं—(५५.१९)।

दूसरे ने उत्तर दिया—प्रयाग-वट को प्रदक्षिणा करने से बड़ा से बड़ा पाप तुरन्त ही नष्ट हो जाता है—प्रयाग-वड-पडियहं चिर-परूढ़ पाय वि हत्थ वि फिट्टंत्ति—(५५–१९)।

अन्य ने कहा—पहले पाप पूछ, फिर पाँव बढाना—पाव पुच्छिय पाय साहट्टि—(५५.२०)।

दूसरे ने उत्तर दिया—हे गांव के प्रधान ! यदि माता-पिता का वध किया हो, तथा महापाप किया हो तो भी गंगा-संगम में नहाने और भैरव-भट्टारक की प्रदक्षिणा करने से नष्ट हो जाता है—खेड्डु मेल्लहं (?), जइ पर-माइ-पिइ-वह-कयई पि महापावाइं गंगा-संगमें ण्हायहं भइरव-भडारय-पडियहं णासंति (५५-२०-२१)।

मानभट यह सुनकर गंगा-संगम में नहाने के लिए चल पड़ता है—(५५-२२,२३)।

प्रस्तुत वार्तालाप में मूल-स्थान, भट्टारक, महाकाल, प्रयाग का अक्षयवट एवं भैरवभट्टारक धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ हैं, इन पर विशेष अध्ययन

धार्मिक जीवन वाले अध्याय में किया गया है। शेष सन्दर्भ भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इसमें जो शब्द प्रयुक्त हुए हैं वे अधिकतर अपभ्रंश के साहित्यिक स्वरूप से मिलते-जुलते हैं। इस सम्पूर्ण वार्तालाप का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन एव अनुवाद श्री ए० मास्टर ने किया है।[1] डा० उपाध्ये के अनुसार ए० मास्टर के अध्ययन में मूल सन्दर्भों में भिन्नता है एवं शब्दों की व्याख्या में भी नवीन प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त गुंजाइश है।[2] अतः इस सन्दर्भ का पुनः अध्ययन किया जाना अपेक्षित है।

ग्राममहत्तरों की बातचीत

मायादित्य ने मित्रद्रोह जैसे पाप से मुक्ति पाने के लिए गांव के प्रधानों को एकत्र कर[3] अग्नि में जलने के लिए उनसे सहमति एवं आग·ईंधन आदि मांगा—**देहु, मज्भ, पसियह, कट्ठाइं-जलणं च** (६३.१७)। यह सुनकर एक ग्राममहत्तर ने कहा—यह सब (मित्रद्रोह का पाप) दूषित मन से करने पर पाप होता है। आचार्यों ने यह कहा है—**एहु एहउं दुम्मणस्सहुं। सव्वु एउ आयरिउ**—तुमने कोई कपट नहीं किया है—**तुज्भ ण उ वंकु चलितउं**—। जैसा प्रारब्ध (दैव) होता है वैसी मति होती है एवं तदनुसार ही आचरण करना पड़ता है—**प्रारद्धउं एवु अइ सुगति। प्रोतु वर भ्राति संप्रतु**—(६३·१७-१८)।

तब दूसरे ने कहा—तुमने धन और सुख की आशा में जो कुछ भी किया है वह सब दुष्ट मनवाले मोह के कारण। अतः इस समय तुम (दान) बोल दो, उसी से तुम्हारी शुद्धि हो जायेगी—**जं जि विरइवु धण-लवासाए। सुह-लंपडेण तुब्मइं। दुत्थट्ठ-मण-मोह-लुद्धउं। तुं संप्रति बोल्लितउं। एतु एतु प्रारद्धु मल्लउं**—(६३.२०)।

तब एक वृद्ध महत्तर ने कहा[4]—अग्नि में तपकर स्वर्ण तो शुद्ध हो सकता है, किन्तु मित्रद्रोही की शुद्धि कहाँ? कापालिकव्रत धारण करने में भी इसकी शुद्धि नहीं—**एत्थ सुज्भति किर सुवण्णं पि वइसाणर-मुह-गतउं। कउं प्रावु मित्तस्स वंचण। कावालिय-व्रत-धारणे। एउ एउ सुज्भेज्ज णहि,** (६३.२२)।

तब पूरे द्रग के स्वामी ज्येष्ठमहामहत्तर ने कहा[5]—धवल वाहन एवं धवलदेह वाले महादेव के सिर पर निर्मल जलवाली जो गंगा बहती है, उस पवित्र

१. ए० मास्टर—बी० एस० ओ० ए० एस० भाग १३, पार्ट ४, पृ० १००५ आदि।
२. The text differs here and there from the one presented by Master; there readings are exhaustively noted, and there would be a good deal of margin for difference in interpretation. Kuv. Introduction P. 136 (Notes).
३. दे जलणं पविसामि ति चिंतयंतेण मेलिया सव्वे गाम-महयरा—(६३. १३)
४. तओ अणेण भणियं चिर-जरा जुण्ण-देहेण—६३. २१
५. तओ सयल-द्रंग-सामिणा भणियइ जेट्ठ-महामयहरेण—६३. २४

गंगा में यदि नहाओ तो मित्र-द्रोह नामक पाप घुल सकता है—**धवल-वाहण-धवल-देहस्स सिरे भ्रमिति जा विमल जल। धवलुज्जल सा भडारी। यति गंग प्राबेसि तुहुं। मित्र-द्रोज्झु तो णाम सुज्झति (६३.१५)।**

ऐसा कहने पर सबने कहा—'अहो बहुत सुन्दर कहा। अग्नि में प्रवेश करने का निश्चय छोडकर तुम गंगा जाओ वहाँ नहाकर अनशन पूर्वक मरोगे तो तुम्हारा पाप शुद्ध हो जायेगा।' ऐसा कहकर ग्राममहत्तरों की सभा विसर्जित हो गयी—**विसज्जिओ गाम-महयरेहिं** (६३. २८)। मायादित्य गंगा स्नान के लिए चल पड़ा।

इस वार्तालाप में द्रंग, ग्राममहत्तर आदि शब्दों का राजनैतिक महत्त्व है। द्रंग उस गाँव को कहा जाता था, जहाँ गुर्जर रहते थे। डा० उपाध्ये ने अपनी काश्मीर-यात्रा में वहाँ के एक व्यक्ति से 'द्रंग' का प्रयोग इसी अर्थ में करते सुना था।[१] डा० अग्रवाल ने द्रंग का अर्थ 'रक्षा-चौकी' किया है, जिसका राजतंरगिणी में अनेक बार उल्लेख हुआ है और जो उत्तर-पश्चिम भारत में प्रसिद्ध प्रशासनिक संस्था थी। उद्द्योतन द्वारा उल्लेख करने से राजस्थान में भी उसके अस्तित्व का पता चलता है।[२] महामहत्तर द्रंग के अधिकारी होते थे।[३]

प्रस्तुत वार्तालाप का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन ए० मास्टर ने अपने एक लेख में किया है।[४] शब्दों के प्रयोग से इस वार्तालाप की भाषा किसी एक भाषा से सम्बन्धित नहीं है, अपितु अपभ्रंश एवं प्राकृत का मिश्रित रूप है। ग्राममहत्तरों के मुख से कहलाने के लिए इसमें भाषागत नियमों का अभाव है, जिससे यह ग्रामीण बोलो जैसी प्रतीत होती है।

पिशाचों की बातचीत (७१.९-२५)

लोभदेव इधर-उधर भटकता हुआ जब किसी समुद्रतट पर पहुँचा तो एक वटवृक्ष के नीचे लेट गया। वहाँ उसने वृक्ष पर बैठे हुए पिशाचों की बातचीत सुनी। उद्द्योतन ने यह पूरी बातचीत पैशाची भाषा में प्रस्तुत की है। इसका स्वरूप निश्चित है, अतः यहाँ मूल उद्धरण देना उपयुक्त नहीं है। इस सम्पूर्ण पैशाची वार्तालाप का अध्ययन ए० मास्टर ने किया है।[५] जिसमें प्रभूत सामग्री उन्होंने प्रस्तुत की है। यद्यपि यत्र-तत्र किंचित् सुधार की भी आवश्यकता

१. He told me in broken Hindi that it was the 'Dṛanga' meaning 'village of Gūjaras. —Kuv. Int. p. 137.
२. A cultural note, Kuv. Int. p. 117.
३. S. RTA. p. 354-55.
४. BSOAS, 13, Part II, p. 410.
५. A. Master : BSOAS XII 3.4 P. 659.

है।[1] बाद में जे० क्यूपर ने इस पर और विशेष प्रकाश डाला है।[2] डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि गुणाढ्य की बृहत्कथा का पैशाची-संस्करण उद्द्योतनसूरि के समय में विद्यमान था, जिसका उपयोग उन्होंने इस प्रसंग में किया है।[3]

१८ देशों के व्यापारियों द्वारा प्रयुक्त विशिष्ट शब्द

विजयपुरी के बाजार में जिन १८ देशों के व्यापारी उपस्थित थे उनकी भाषाएँ भी भिन्न थीं। प्रत्येक व्यापारी कुछ विशिष्ट शब्दों का प्रयोग अधिक करते थे। इन शब्दों की पहचान एवं अर्थ के लिए डा० ए० मास्टर[4] एवं डा० उपाध्ये ने[5] अपना अध्ययन प्रस्तुत किया है। तदनुसार इस प्रसंग में प्रयुक्त शब्दों का अर्थ-निश्चय इस प्रकार किया जा सकता है।

१. गोल्ल :—'अड्डे' (१५२.२४)—अड्डे या अरडे का अर्थ लगाना कठिन है। चूँकि गोल्ल आभीर जाति के सदृश थे, सम्भव है, पशुओं को हाँकने के लिए इस शब्द का अधिक प्रयोग होता रहा हो। मध्यप्रदेश में हल के बाँयी ओर चलने वाले बैल को 'अर्र' कहकर हाँका जाता है।

२. मध्यदेश :—'तेरे मेरे आउ'—मध्यदेश में आजकल हिन्दी अधिक बोली जाती है। 'तेरे-मेरे आउ' हिन्दी के तेरे, मेरे, आओ' शब्दों के प्राचीन रूप हो सकते हैं।

३. मागध :—'एगे ले'—'एगे ले' में मागधी का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। कर्ता एक वचन मे 'ए' का प्रयोग तथा 'र' के स्थान पर 'ल' का होना मागधी भाषा के अनुकूल है।

४. अन्तर्वेद :—'कित्तो-किम्मो'—'कित्तो किम्मो' शब्द भी हिन्दी भाषा के प्राचीन रूप प्रतीत होते हैं। बुदेलखण्ड मे कितने के लिये 'कित्तो' कहा जाता है। इस देश का व्यापारी 'कित्तो' शब्द का प्रयोग हो सकता है 'कितने' के लिये ही करता रहा हो। ग्रन्थ की 'पी' प्रति में 'कि ते कि मो' शब्दों का प्रयोग हुआ है, जिसमें से मो का अर्थ 'वयम्' हो सकता है। तव वाक्य का अर्थ होगा—कहाँ तुम, कहाँ हम।

१. His readings and renderings need minor improvements here and there. —Kuv. Int. P. 138.
२. F. B. J. Kuiper—'The Paiṣācī Fragment of the Kuvalayamālā' —Indo-Iranian Journal, Vol. I, 1953, No. 3.
३. The Paiṣācī language seems to have been represented by the Brahatkathā which had survived in its original form upto the time of Uddyotanasūri. —Kuv. Int. P. 120.
४. A. Master—BSOAS XIII—2. 1950, PP. 413.15.
५. Kuv. Int. P. 144-45 (Notes).

५. **कीर—'सारि-पारि'**—'सारि-पारि' का सामूहिक अर्थ 'मिट्टी का दुग्ध-पात्र' हो सकता है। 'पी' प्रति का 'वारि' शब्द लेने पर 'पानी का पात्र' अर्थ होता है। कीर (काश्मीर) के लोग अपनी भाषा में इन शब्दों का प्रयोग अधिक क्यों करते थे, यह वहाँ की सांस्कृतिक परम्परा के अध्ययन से ही ज्ञात हो सकेगा।

६. **ढक्क—'एहं-तेहं'**—(१५३.१)—'जी' प्रति में टक्क पाठ है, जिसका अर्थ पंजाब किया जा सकता है। वहाँ के निवासी एहं = एह = यहाँ या यह तथा तेहं = तेह = वहाँ या वह (अर्थात् यहाँ-वहाँ या यह-वह) शब्दों का प्रयोग करते थे।

७. **सैन्धव—'चउडयमे'**—सिन्ध के निवासी 'चडडय में' 'शब्दों का प्रयोग अधिक करते थे। उपाध्येजी ने 'चंडडयं' का अर्थ सुन्दर होने की सम्भावना व्यक्त की है। 'चउड' का अर्थ चोड़ देश भी हो सकता है।

८. **मारुक—'अप्पां-तुप्पां'**—मरुदेश (मारवाड़) के निवासी मारुक थे। वे 'अप्पां-तुप्पा' शब्द बोल रहे थे। मारवाड़ी में अप्पां = आपां का अर्थ 'हम' तथा मंझी पजावी में तुप्पां = तुपा का अर्थ 'तुम' है।[1] अतः वे 'हम-तुम' बोल रहे थे। किन्तु बुन्देलखण्ड में 'हम-तुम' के लिए 'अपन-तुपन' शब्द अभी भी प्रयुक्त होता है जो 'अप्पां-तुप्पां' के अधिक समीप लगता है।

९. **गुर्जर—णउ रे भल्लउं**—गुर्जर-जाति के लोग 'णउ रे भल्लउं' शब्दों का उच्चारण कर रहे थे, जिनका अर्थ है—अरे यह अच्छा नहीं है।'

१०. **लाट—'अम्हं काउं तुम्हं'**—वर्तमान गुजरात का अधिकांश भाग उस समय लाट के अन्तर्गत था। अतः सम्भव है, वहाँ के निवासी जिन शब्दों का प्रयोग कर रहे थे वे पुरानी गुजराती भाषा में प्रयुक्त होते रहे हों। इसका अर्थ हो सकता है—'हमने किया तुमने'।

११. **मालव—'भाउय भइणी तुम्हें'**—उज्जयिनी के आस पास रहने वाले लोग 'भाउय भइणी तुम्हे' शब्दों का प्रयोग करते थे, यदि इनका वाक्य बनाया जाय तो अर्थ होगा—'तुम भाई एवं बहिन हो'। इन शब्दों का शौरसेनी प्राकृत से अधिक साम्य है।

१२. **कर्नाटक—'अडि पांडि मरे'**—ग्रन्थ की 'पी' प्रति में 'अद्रि पोंडि रमरे' पाठ है। ये शब्द कन्नड भाषा के नहीं है। किन्तु 'अडि पांडि' ये दोनों शब्द तेलुगु भाषा के हैं, जिनका अर्थ है—'वह जाता है।' उस समय कर्नाटक प्रदेश के लोग इसलिए तेलुगु बोलते रहे होंगे, क्योंकि आठवीं सदी में कर्नाटक और

---

१. द्रष्टव्य, लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया।

तेलुगु प्रदेश की सीमाएँ स्पष्ट नहीं थीं तथा दोनों प्रदेशों की लिपि भी एक थी।[1]

१३. ताजिक—'इसि किसि मिसि'— ताइए शब्द का अर्थ पर्सियन या अरब निवासियों से सम्बन्धित है। सम्भव है ये 'किशमिश' के व्यापारी रहे हों और वही शब्द अधिक बोलते हों। किन्तु इसि-किसि-मिसी' का असि-मसि-कसि-वाणिज्ज जैसे वाक्य से भी सम्बन्ध हो सकता है, जिसका अर्थ सैनिक, लेखन एवं कृषि कार्य है।

१४. कोसल—'जल तल ले'—कोशल के लोग 'जल तल ले' शब्दों का प्रयोग अधिक करते थे। ये शब्द छत्तीसगढी बोली में 'जेला तेला' रूप में बोले जाते हैं। छत्तीसगढ़ को पहले महाकोशल कहा जाता था।

१५. मरहट्ठ—'दिण्णल्ले गहियल्ले'—महाराष्ट्र के लोग 'दिण्णल्लेगहियल्ले' जैसे शब्दों को बोलते थे, जो कि मराठी भाषा में 'दिलेले' एवं 'घेतलेले' के रूप मे प्रचलित है, जिनका क्रमशः अर्थ है—'दिया एवं लिया'। इनके साहित्यिक प्रयोग भी उपलब्ध हैं।[2]

१६. आन्ध्र—'अटि-पुटि रंटि'—इन शब्दो का सम्बन्ध तेलगु भाषा से है, उसमें इनके 'अडि पोडि रडि' रूप मिलते हैं, जिनका अर्थ है—वह, जाना, आना।

ग्रन्थ में उक्त १६ गाथाओं द्वारा ही १६ देशों की भाषाओ के नमूने दिये गये है। किन्तु ग्रन्त मे कहा गया है कि १८ देशी भाषाग्रों के वनियो को कुवलयचन्द्र ने देखा—'इय अठ्ठारस देसी-भाषाउ पुलइउण सिरिदत्तो—१५३-१२)। अतः डा० ए० मास्टर का सुझाव है कि दो छूटी हुई भाषाएँ ओड़ एवं द्राविडी होनी चाहिए—जैसा कि नाट्यशास्त्र में उल्लेख है। अभी उक्त प्रदेशो के शब्दों की व्याख्या पूर्ण नही कही जा सकती है। सम्भव है, आगे चलकर कुछ और प्रकाश पड़े। इस प्रसग मे प्रयुक्त देशो के नामों की भौगोलिक पहचान प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में एव व्यापारियो के रूप रग का वर्णन आर्थिक-स्थिति वाले अध्याय मे पहले किया जा चुका है।

मठ के छात्रों की बातचीत (१५१-१८)

विजयपुरी के मठ के छात्र विभिन्न प्रान्तो के निवासी थे। अतः उनकी परस्पर की बातचीत मे भी अनेक भाषाओ और बोलियों का संमिश्रण प्राप्त होता है। इस प्रसग का भी भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन डा० ए० मास्टर ने किया है।[3] मूल सन्दर्भ इस प्रकार है :—

१. उपाध्ये, कुव०, इन्ट्रो०, पृ० १४५.
२. उ० वही
३. बी० एस० ओ० ए० एस० भाग १३, पार्ट—४ प (० १०१०) आदि।

बातचीत प्रारम्भ हो गयी—अरे अराष्ट्रक ! बोल बे, यदि नहीं भूला है तो। जनार्दन ! पूछता हूँ—तुमने कल कहाँ जींमण (भोजन) किया था ?[1] उसने कहा—जान जाओ, मैंने वहीं जीमा था, जहाँ कंठा भूषण पहिने हुए किरात के लड़के ने जींमा था ?[2] तो उसने कहा—क्या वलक्ख किसी विशेष-महिला का नाम है ?[3] तब पहले ने कहा—अहा। यह स्त्री तो सम्पूर्ण अपने लक्षणों से गायत्री जैसी है (२०)।

तब दूसरे ने कहा—वर्णन करो, वहाँ का भोजन कैसा था ? **वर्ण्णि कीदृशं तत्र भोजनं** (२१)। दूसरे ने कहा—त्यागी भट्ट ! मेरा भोजन तो स्पष्ट है। मैं तक्षक हूँ, वासुकी नहीं।[4] तब दूसरे ने कहा—तुमने तो क्या कर दिया ? तुम्हारा पेट वतलाता है। तुमसे भोजन के विषय में पूछा, तुम अपना नाम वतलाते हो—**कत्तु पडत्ति तउ, हृदय उल्लाव, भोजन स्पृष्ट स्वनाम-सिंघसि।**

एक दूसरे ने कहा—अरे तू बड़ा महामूर्ख है, ये पाटलिपुत्र के रहनेवाले कहीं समासोक्ति समझेंगे ? **अरे रे बड्डो महामूर्ख, ये पाटलिपुत्र-महानगरा-वास्तव्ये ते कुत्था समासोक्ति बुभंति।**

दूसरे ने कहा—हम से तो ये अधिक मूर्ख हैं—**अस्मादपि इयं मूर्क्खतरी—**। दूसरे ने पूछा—किस कारण—**'काइं कज्जु'** ? उसने जवाब दिया—मूर्ख और चतुर के कथन में प्रचुर (भेद है)—**अनिपुण निपुणाथोक्ति-प्रचुर**—। दूसरे ने कहा—पर, मुझे क्या ? छोड़ो, हम तो विद्वान् हैं—**'मर काइं मां मुक्त, अम्बोपि विदग्धः संति**—(२४)। तीसरे ने कहा 'भट्ट' सचमुच तुम विद्वान् हो, भोजन में क्या था मुझे स्पष्ट रूप से कहो—**भट्टो, सत्यं त्वं विदग्धः, पुणु भोजने स्पष्ट नाम कथित-** (२५)। उसने कहा—अरे मूर्ख, वासुकी के हजार मुख कहे गये हैं—**अरे, महामूर्खः वासुकेर्वदन-सहस्रं कथयति** (२६)।

छात्रों की यह बातचीत सुनकर कुवलयचन्द्र ने सोचा अहो असम्बद्ध अक्षर एव वार्तालाप का प्रयोग करने वाले ये ग्रामीण बालक हैं—**अहो असंबद्ध-क्खरालावत्तणं बाल-वेसियाणं** (१५१.२६)। दूसरों के भोजन से इन्होने अपने शरीर पुष्ट कर रखे हैं तथा विद्या, विज्ञान, ज्ञान, विनय से हीन हैं। छात्रपने को छोड़ चुके हैं (१५२.१)। कुमार ने अन्य छात्रों से पूछा—अरे भट्टपुत्रो, क्या तुम राजकुल का वृतान्त नहीं जानते हो ?[5]

---

१. रे रे आरोट्ट, भण रे जाव ण पम्हुसइ। जनार्दन, प्रच्छहुं कत्थ तुब्भे कल्ल जिमियल्लिया—१५१.१८-१९)।
२. साहिउं जे ते तओ तस्स वलक्खएल्लयहं किराडहं तण ए जिमियल्लया—वही २०.
३. किं सा विसेस-महिला वलक्खइएल्लिय—वही २०।
४. चाइ भट्टो, मम भोजन स्पष्टं, तक्षको हं, न वासुकि—२१.
५. भो भो भट्टउत्ता, तुम्हें ण-याणाह यो राजकुले वृत्तांत—१५२.२

छात्रों ने कहा—अरे व्याघ्रस्वामी, कह, राजकुल की क्या खबर है—**भण, हे 'व्याघ्रस्वामि, क वार्ता राजकुले** (१५२.२)। उसने कहा—पुरुष-द्वेषिणी कुवलयमाला ने श्लोक टांग रखा है—'**कुवलयमालाए पुरिस-द्वेषिणीए पायओ लंबितः** (१५२.३)। यह सुनकर ताल ठोक कर एक छात्र खड़ा हुआ और बोला—यदि पंडिताई के कारण है तब तो कुवलयमाला मुझे परिणाइ जानी चाहिए—'**यदि पांडित्येन ततो मइं परिणेतव्या कुवलयमाला** (१५२.४)। दूसरे छात्र ने कहा—अरे तुम्हारा पाण्डित्य क्या है—**अरे कवणु तउ पाण्डित्यु**। उसने जवाब दिया—छह अगो वाले वेद पढ़ता हूँ, तथा त्रिगुण-मन्त्र पढ़ता हूं। क्या। यह मेरा पाण्डित्य नहीं है? **षडगुं वेउ पढमि, त्रिगुण-मन्त्र पढमि, किं न पाण्डित्यु** (१५२.५)। दूसरे ने कहा—अरे, तीन गुण वाले मन्त्र-पढ़ने से उससे विवाह नही होगा। बल्कि जो उस श्लोक को पूरा करेगा उसे वह परिणाई जायेगी,—**अरे ण मंत्रेंहि तृगुणेंहि परिणिज्जइ। जो सहियउ पाए भिंदइ सो तं परिणेइ**—१५२.५।

यह सुनकर एक दूसरे छात्र ने कहा—मैंने पाद पूरा कर लिया। यह गाथा पढता हूँ—**अहं सहियओ जो ग्वाथी पढमि** (१५२.६)। छात्रो ने कहा—अरे व्याघ्रस्वामी, तुम कैसी गाथा पढते हो—**कइसी रे व्याघ्रस्वामि, गाथा पढ़सि त्वं** (१५२.७)। उसने कहा—यह गाथा है:—

> सा ते भवतु सुप्रीता अबुधस्य कुतो वलं।
> यस्य यस्य यदा भूमि सर्व्वत्र मधुसूदन ॥१५२.८

यह सुनकर दूसरे छात्र ने कुपित होकर कहा—अरे मूर्ख स्कन्धक को गाथा कहता है। हमने गाथा न पूछी थी?—**अरे अरे मूर्ख, स्कंधकोपि गाथ भणसि। अम्ह गाथ ण पुच्छह** (१५२.९)। तब उसने कहा—अच्छा, भट्ट यजुस्वामी, तुम गाथा पढ़ो—**त्वं पढ भट्टा यजुस्वामि गाथ**, (१५२.१०)। उसने कहा—सुनो पढता हूँ—**सुट्ठु पढ़मि**—

> आइं कज्जि मत्तगय गोदावरि ण मुयंति।
> को तहु देसहु आवतइ को व पराणइ तत्त ॥१५२.११

यह सुनकर दूसरे ने कहा -अरे हमने श्लोक नही पूछा, गाथा पढ़ो—**अरे सिलोगो अम्हेण पुच्छह, ग्वाथो पढहो**—(१५२.१) उसने कहा—**अच्छा**, सुनो, पढता हूँ—

> तवोल-रइय-राओ अहरो दृष्टा कामिनि-जनस्स।
> अम्हं च खुभइ मणो दारिद्र-गुरू णिवारेइ ॥१५२.१३

तब सब छात्र बोल पड़े—अहो, धन्य है भट्ट यजुस्वामी, कुशल पंडित एवं विद्वान् है, जो गाथा पढता है। इसी को वह व्याही जानी चाहिये—**अहो**

भट्ट यजुस्वामि, विदग्ध-पंडितु विद्यावंतो ग्वाथो पढति, एतेन सा परिणेतव्या—(१५२.१४)। तब दूसरे ने कहा—अरे, वह पाद कैसा है, जो कुवलयमाला ने लटका रहा है—**अरे केरिसो सो पायओ जो तीए लंबिओ** (१५२.१५)। तब दूसरे ने कहा—राजांगण में मैंने पढ़ा था, किन्तु भूल गया हूँ। वैसे सभी उसे पढ़ते हैं—**राजांगणे मइ पढिउ आसि, सो से विस्मृतु, सव्वलोकु पढति-त्ति**—(१५२.१५)।[1]

छात्रों की इस बातचीत को सुनकर कुमार ने सोचा—इन अनाथ छात्रों की असम्बद्ध बातचीत मात्र प्रलाप है।[2] केवल इतना ज्ञात होता है कि कुवलयमाला ने राजांगण में अपूर्ण श्लोक (पाद) लटका रहा है। अतः वहीं चलना चाहिए (१५२.१८)।

———

१. छात्रों की बातचीत का हिन्दी भावानुवाद, डा० जगदीशचन्द्र जैन ने अपने ग्रन्थ 'प्राकृत साहित्य का इतिहास में भी किया है।

२. अहो, अणाह-वट्टियाणं असंबद्ध-पलावत्तणं चट्टाणं ति-१५२.१७.

परिच्छेद तीन

शब्द-सम्पत्ति

कुवलयमालाकहा महाराष्ट्री प्राकृत में लिखी गई है, किन्तु उसमे प्रायः अन्य प्राकृतो का भी प्रयोग हुआ है। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि अपभ्रंश, पैशाची, देशी एवं द्रविड भाषाओ के शब्दो को भी इसमें ग्रहण किया गया है। ग्रन्थ मे इन सब भाषाओ के कुछ ऐसे शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, जिनके अर्थ सरलता से ग्रहण नहीं होते तथा जो भूगोल, व्यापार एवं बातचीत आदि प्रसगो मे पारिभाषिक हो गये थे। अतः ग्रन्थ के हार्द को समझने के लिए ऐसे कुछ शब्दों की सूची यहाँ दे देना उचित होगा। प्राकृत-अपभ्रंश के कोश-निर्माण मे यह सूची सहायक हो सकती है। इस शब्द-सूची में अपभ्रंश एवं देशी भाषा के शब्द भी सम्मिलित है। ग्रन्थ का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करते समय इन सबका उपयोग किया जा सकेगा।

अतालूहणो (४७.२७)	=	अतरंग, प्रियपुत्र
अंबिल (५८.२०)	=	खट्टी वस्तु
अड्डे अरड (१५२.२५)	=	संख्यावाचक
अप्पा-तुप्पा (१५३.३)	=	हम-तुम
अम्ह काउ तुम्ह (१५३.५	=	हमने किया तुमने
अडि पाडि मरे (१५३.७)	=	वह जाता है
अटि पुटि रटि (१५३.११)	=	वह जाना, आना
अणाढिय (१३३ २२०)	=	अनादृत
अणोर-पारे (७०.१३)	=	प्रचुर
अत्थाण-समय (८४.३)	=	सभा का समय
अब्वावार (२०४.३)	=	व्यापार-वर्जित
अब्भत्तिया (४.१७)	=	अभ्यर्थित

अप्फोडेंति (१३२.२५)	=	ताली बजाना
अयंडे (१५४.९)	=	अकस्मात्
आडियत्तिया (६५.१४)	=	शिविका-वाहक पुरुष, आढ़तिया
आढत्तं (४७.४)	=	आक्रान्त,आरब्ध,प्रारम्भ किया हुआ
आमणं (१०५.१६)	=	दुकान
आलाणखंभो (१५४ १०)	=	हाथी बांधने का स्तम्भ
आलप्पालं (४७.४)	=	आकथनीय कलंक
आलबहं (४३.३३)	=	संभाषण
अल्लियउ (८६.३२)	=	समीप में आना
अल्लीणाओ (१०१.१०)	=	आलिंगन करना
आरोट्ट (१५१.१८)	=	अराष्टक, अरोट, अरोड़ा
ओलग्गिउ (५०.२६)	=	सेवा करना, किसी के अधीन रहना
ओक्खंदं (९९.१६)	=	शत्रु सेना द्वारा नगर का घेरा
ओमालिओ (२५.२८)	=	पूजित
ओयंच्छिय-वयणा (१५६.२७)	=	तेजस्वी वचन
इब्भकुमारिया (७.२७)	=	वणिक्पुत्री
इट्ठाणुग्घट्ठ-मट्टोरू (१५१)	=	गुरुप्रायश्चित्त
उक्कुट्ठि (१३२.२५)	=	उत्कर्ष करना
उद्दंड-पोंडरीय (१०.५)	=	प्रचंड राजा
कंडूल (६.२०)	=	खाजवाला
कच्छउड (८ १)	=	पार्श्वभाग (?)
कंदुग्घुसिय (३५.५)	=	(?)
कंदुय रमिरी (२३३.१	=	गेंद में रमी हुई
कडिल्लयं (८१.२२)	=	कटि-वस्त्र, अटवी, प्रतिहार
कण्णुं (५७.१६)	=	कर्णोत्पल, कान का आभूषण
कण्णुं-णरिंद (१६.२९)	=	राजा कर्ण
करकं (२२५.२२)	=	शव
कलुण-चीरि (११३.२३)।	=	करुण, दीन, कीट-विशेष (झींगुर)
कसा (१३९.९)	=	चाबुक
कणिसवाया (१५३.१५)	=	धान्य का अग्रभाग
कालवट्टाइं (१३५.१२)	=	कर्ण का धनुष

कासकुसुमेहिं (२३८.३)	=	कास का फूल
कुड्डालिहिया (१३८.२)	=	भींत पर लिखित
कुड्डिणीमग्गे (५४.१२)	=	रथ्या, मुहल्ला
केयरो (१३०.२७)	=	टेढ़े अंग वाला
केस टमरइं (७२.३५)	=	केशसमूह
कोडंल (४५.१५)	=	कान का कुण्डल, व्यंतरदेव का नाम
कोटि (४६.१८)	=	शस्त्रविशेष
कोट्ठय-कोणाओ (४७.१५)	=	कोठे का कोना
खदुआ-मोत्थय (४१.१९)	=	नागरमोथा
खुड्ड (६.७)	=	क्षुद्र, अधम
खलु (६.६)	=	दुर्जन, खल
खल्लुवकत्तण (४१.३१)	=	खाल निकालना
खलो (६ ६)	=	पशुओं का खाद्य, खली
खोरं (१७१.१९)	=	नृत्य का कोई पात्र, गली
खोरमंडलीओ (७.३०)	=	नटों की मंडली
खोहिविजहि (१०१.१४)	=	विचलित करना
गप्पडिया (४४.३३)	=	गर्भ में पड़ा हुआ
गयघडाहि (१६६.९)	=	हाथी का समूह
गामकोडोम्रो (२८४.३)	=	करोड़ ग्राम
गामिल्लम्रो (२५० ३५)	=	गवार
गाम-चडय (११३.७)	=	गाँव के गौरेया पक्षी
गाम-वोद्रह (५२.४)	=	गाँव के तरुण
गुडिया (१६६.९)	=	हाथी का कवच, पलान उतारना
गुडियम्रो (११३.१०)	=	लिप्त
गुडेसु तुरगमा (१३५ २४)	=	पलान कस दिया
गुलेगुलेताओ (१८ २४)	=	हाथी की आवाज मे हर्ष से बोलना
गुणण-घणीओ (८२ ३३)	=	आवृत्ति करने की ध्वनि
गोदी (३२-३३)	=	मंजरी, बौर
गोज्जा (४२.१५)	=	गवैया
गालए (१५४ १)	=	गोलक
गोसेच्चिय (४८.२)	=	प्रातःकाल ही

चउर-सिहरम्मि (१६२.१०) = पर्वतशिखर- चौर शिखर
चडय-रवइं (८३.२) = गौरेया की आवाज
चित्तविया आढयत्तियार (६५) = आढ़तिया को सचेत किया (?)
चीरी रुएसु (११३.३) = चोर के वृक्ष
चेडीओ (१६७.११) = कन्यायें
छंदिऊण (८४.२४) = अनुज्ञा देकर
छण्णउइ (२८४.३) = छिपा हुआ
छणमओ (१५.२५) = उत्सवसदृश
छप्पणअ (३.१८) = विदग्ध कवि
छलिउं (१३६.२३) = स्खलित होना, हारना
छाउब्बाया (७६-१९) = छायायुक्त (?)
छेंछइओ (७.२८) = कुलटा
छिड्डण्णेसिणा (९९.१५) = अवसर की तलाश करने वाला
छोढ्णं (१०४.१५) = फेंक कर
जंग एसु (२४.१३) = शिविका-विशेष
जंपाणेसु (२४.१३) = वाहन-विशेष
जमल-जणओ (१२६-१९) = जोड़े से जन्मने वाला
जहारुह (६ ३०) = यथारुचि, यथोचित
जामइल्लया (१३५,१८, २३४, २०) = पहरेदार
जालीए (१२६.१२) = लताओं का जाल
जिमिओ (६६.२१) = भोजन किया
जूरइ (७८.२) = गुस्सा करना
जूरह (२००.२०) = निन्दा करना
जूरसु (१६७.१०) = अफसोस करो
जूरिय व्वं (१५९.१७) = खेद करना चाहिए
जूरिहिइ (७७.२८) = क्रोध करेगा
जोवकारिओ (९१.१५) = 'जय जय' करना
झंपा (६४.२४) = एकदम से कूदना
झंपुल्लिया (११२.१७) = ऊँची-कूद
झत्ति (१०५.२) = शीघ्र, झट्टी (बुन्देलखण्डी में)

झसो (६४.१७)	=	मत्स्य, मछली (झक, फारसी में)
झोलियासु (२४-१३)	=	डोली, झोली
टंकछिण्णे (१७८.१७)	=	तलवार का काटा हुआ
टमरइं (७२.३५)	=	बाल-समूह
डंगा (४६.१४)	=	लाठी, डागं
डड्ढं (१६९.१७)	=	दग्ध, प्रज्वलित
डाइणीओ (८२.२८)	=	डाकिनी
ढंढाए (१६९.१७)	=	ढण्ढण, एक जैन ऋषि
णरेंसु (२४.१२)	=	वाहन-विशेष (?)
णहवयाओ (८.१)	=	नखक्षत (?)
णज्जइ (११५.२५)	=	जानना
णडइल्ला (४२.१५)	=	नाटकीय, नाटक में रत रहने वाला
णायरियाए (१८२.२२)	=	नागरिका
णिल्लुक्कदेहो (११५.३०)	=	छिपा हुआ शरीर
णिप्पइरिक्के (१०.७३२)	=	एकान्त स्थान
णोल्लिया (५२.१७)	=	प्रेरित की हुई
णोल्लिज्जमाणी (५२.२०)	=	घूमने लगीं
तडुविय (२५.१३)	=	विस्तीर्ण
तालियं (१०५.१६)	=	ताला लगाना, बन्द करना
तिमिंगिलो (६६.८)	=	मत्स्य की एक जाति
तोडहिया (८२.३३)	=	वाद्य-विशेष
थड्ढो (६.५)	=	गर्विष्ठ, अभिमानी
दंसणीय (६७.१२)	=	भेंट
दिण्णा हत्थसण्णा (६७.१३)	=	हाथ के इशारे सौदा करना
देसिओ (६२.१५)	=	पथिक, यात्री
देसिय-मेलिए (६५.२५)	=	व्यापारी-मण्डल
देवाणुप्पिया (९६.२८)	=	राजा के लिए सम्बोधन
धरिज्जइ (६.१३)	=	पकड़ना, धरना
धरिओ (४८.१२)	=	पकड़ा हुआ
धूसर (५९.१)	=	घुस्सा
पंगुलया (८८.२३)	=	लंगड़ा

पंडय (८०.९)	=	नपुंसक
पंसुलि (४१.१०)	=	कुलटा
पक्कण-कुलम्मि (८१.१०)	=	चाण्डाल कुल (१०.७२)
पच्छयण (५७.२८)	=	पाथेय
पत्तलाओ (१८.२४)	=	राजदेय, अधिकार-पत्र
पल्हत्थिय (७.२०)	=	पालथी मार कर बैठना
पत्थर (१४३.२३)	=	पाद-ताड़न
पर-तत्ति-तग्गओ (१२७.२३)	=	दूसरे के दोष निकालने वाले
पसियह (६३.१६)	=	अनुमति देने की कृपा करना
पहया (५२.१७)	=	प्रहार करना
पुअड मंडलइ (१६९.३२)	=	तरुण-मण्डली
पुलिल (५१.२६, ११२.१६)	=	व्याघ्र
पेसो (१३७.२७)	=	दास
पेसओ (१०५.१३)	=	बेचना
पोत्तीओ (१३९.७, १५७.३२)	=	धोती
पोत्थय (१९१.२९)	=	पुस्तक
वइल्ल (१८६.१२)	=	बैल
बप्पो-बप्पो (५१.१२)	=	पिता, बाप
बरहिणओ (८.२०)	=	मयूर
बहिणि-गालि (११२.२२)	=	बहिन की गाली
बोडण (४१.३१)	=	शिर मुडाना (बोडो, गुजराती में)
भंडमोल्लं (१०५.५)	=	पूँजी
भडारा (९१.१३)	=	भट्टारक, स्वामी
भाइल-तुरंग (६५.२९)	=	हल में जोतने वाले घोड़े
भेल्लियं (१२२.२०)	=	युद्ध के लिए ललकारना
भोइया (१२४.५)	=	ग्रामाध्यक्ष (भोगिन्)
मंगुसे (२८.२४)	=	नकुल, न्यौला
मंदुलय (५५.११)	=	रोगग्रस्त
मइलु (५४.३०)	=	मैला, अस्वच्छ
मज्झिल्ल खंडम्मि (९१.३४)	=	मध्यम खण्ड, मझला
मडहा (१२९.२१)	=	छोटा, थोड़ा

मट्ठोरु (१५१.१६)	=	आलसी, जड़
मरिही (१६१.१२)	=	मर जायेगी
मवजाणवतं (२२४.२९)	=	ठठरी (ऊँट की गाड़ी)
मय-सिलिंब (५८.१९)	=	मृग का बच्चा
महल्ल (२.१८)	=	विस्तीर्ण, बकवादी
महाभडारम्मि (१५४.१)	=	कोषागार
महावढरभट्ट (४८.२२)	=	महा—बड़े, वढर—मूर्ख—छात्र, भट्ट—ब्राह्मण
मलिण-कुचेलो (१५५.१४)	=	मैले-कुचेले वस्त्र
माईण (१२२.११)	=	जटाधारी स्त्री देवता
मालूर-यणी (२३४.१३)	=	बेल का पेड़
मुद्दिऊण (१५४.१)	=	मुद्रा लगाकर
मुहलिया (१५४.२८)	=	मुखरित वाचाल
मूलिया (१६६.३०)	=	स्त्री-वैद्य
मेढी (१८६.१२)	=	पशुबन्धन काष्ठ
मेल्लि (९१.१३)	=	परित्याग करना (निद्रा)
मोडिया (१२.२)	=	मोड़ी हुई वनलता
लट्ठिप्पईव-सिहाए (१४०)	=	दीपक रखने की लकड़ी (दीवट)
लल्लाया (४०.३०)	=	मछली पकड़ने वाला
लोणिय (१५३.४)	=	मक्खन, नवनीत
रंडा (४०.१५)	=	विधवा (रांड)
रल्लयइं (१६९.१५)	=	रल्लक नाम का मृग
रल्लय-कंवलए (१८.२६)	=	रल्लक के रोम से बने हुए कंबल
रिक्खाओ (१०१.११)	=	थकान
रुल्ला (४०.३०) कल्ला	=	मद्य पीने वाला
वच्चहि (५७.३३)	=	बेचना
वणीमयाणं (६५.८)	=	याचक, भिक्षु, भिखारी
वत्तिणीए (६२.३३)	=	मार्ग, चित्र की रेखाएँ
वल्लक्ख-एल्लयहं (१५१.१९)	=	वलक्ख, श्वेत, एल्लयहं (?)
वलामोडिय (८.२५, ९.३)	=	वलपूर्वक आघात, ग्रंन्थि-बन्धन
वसिमं (१९५.७)	=	वसति वाला स्थान

वालुय-कवलं (१६१.३३)	=	बालु में भुनते चने जैसा
वासहर पालीए (१४१.१४)	=	वासघर-पालिका
वासारत्तो (१०१.१२)	=	वर्षाकाल
विरावेहिं (११३.१३)	=	आवाज
विलया (१०७.२६)	=	महिला
वेसविलया (५६.३०)	=	घर की दासी
वूडोरोमचो (१५९.२६)	=	रोमाँच होना
वोढुं (२२४.२९)	=	पहुँचाना, ले जाना
वेल्लहल (२३२.११)	=	कोमल
वेयारिऊण (१२५.१५)	=	ठगकर, बहकाकर
वेलविऊण (८४ २४)	=	झांसा देकर
वेसओ (११३.२१)	=	वेश्या
संड-रमणिज्जो (५० १)	=	वृक्षसमूह से सुशोभित
सफल्लिया (१३५.२६)	=	कुमुद
समायाणं (२१७.५)	=	सयमविशेष
समिलं समुप्पइग्रो (२०९ १८)	=	लकड़ी की कील
समग्गं (१४० १८)	=	डिब्बा
सजमेसु (२५.१३)	=	गाँठ का बन्धन
सरिहह (११३.७)	=	सरहद, सीमा
सुहिल्लि (८३.१४)	=	सुखकेलि, आनन्द
सेज्जायर-घरे (९९.३१)	=	उपाश्रय के मालिक का घर
सोवणय (५३.१३)	=	शयनकक्ष
हत्थारोहाणं (१५५.११)	=	महावत
हल्लप्फुल्ला (८३.१४)	=	आकुलता, हालफूल (प्रसन्नता)।

अध्याय छह

ललित कलाएँ एवं शिल्प

परिच्छेद एक

नाट्य कला

उद्द्योतनसूरि ने कुवलयमालाकहा में नाटय कला की विविध सामग्री प्रस्तुत की है। उसे तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। (१) नाटय-कला से सम्बन्धित विशिष्ट शब्द, (२) नृत्य के विभिन्न प्रकार तथा (३) लोक-नाटय की परम्परा। इनका विशेष विवरण इस प्रकार है—

नाटय कला से सम्बन्धित विशिष्ट शब्द

कुवलयमालाकहा की प्रथम पंक्ति ही नृत्य के वर्णन से प्रारम्भ होती है। मंगला-चरण करते हुए कवि कहता है कि उन प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव को नमस्कार है, जिनके जन्मोत्सव पर बाहुलताओं को ऊँचा कर बजते हुए मणिवलय के ताल से शब्द करती हुई देवियाँ नृत्य करती हैं।[1] दूसरे प्रसंगों में कहा गया है कि अनेक प्रकार के नृत्य करने के कारण कुवलयचन्द्र के चरण कोमल थे।[2] तथा कुमार महेन्द्र कुवलयचन्द्र की कामातुर अवस्था को देख कर कहता है—'कुमार, तुम्हारे चेहरे पर यह शृंगार, वीर, वीभत्स, करुण आदि अनेक रसों से युक्त नाटक-सा आत्म-गत भाव क्या नृत्य कर रहा है?[3] इस प्रकार के सन्दर्भों द्वारा उद्द्योतन ने नाटय कला से सम्बन्धित अनेक शब्द प्रयुक्त किये है, जो विचारणीय हैं।

नृत्त—ताल और लय के आधार पर किये जानेवाले नर्तन को नृत्त कहा गया है—**नृत्तं ताललयाश्रयम्**।[4] नृत्त में अभिनय का सर्वथा अभाव होता है।

---

१. पढमं णमह जिणिंदं जाए णच्चंति जम्मि देवीओ।
उव्वेल्लिर-बाहु-लया-रणंत-मणि-वलय-तालेहिं॥—१.१

२. अणेय णट्ट-करणंगहार-वलण-कोमलइं।—२२.२२.

३. कुमार, किं पुण इमं सिंगार-वीर-बीभच्छ-करुणा-णाणा-रस-सणाहं णाडयं पिव अप्पगयं णच्चीयइ त्ति।—१५९.७.

४. दशरूपक, १.९.

केवल ताल और लय के आधार पर द्रुत, मन्द या मध्यम पदनिक्षेप किया जाता है। नृत्त के दो भेद हैं—मधुर और उद्धत। मधुर नृत्त को लास्य तथा उद्धत नृत्य को ताण्डव कहते हैं।[1] उद्द्योतनसूरि ने इन दोनों प्रकार के नृत्यों का उल्लेख किया है।

लास्यनृत्त—लास्य नृत्त के अन्तर्गत कुवलयमालाकहा में उल्लिखित इन नृत्तों को रखा जा सकता है—ताल पर नृत्त करनेवाली देवियों का नृत्त (१.१)। राम में नाचती हुई युवतियों का नृत्त,[2] पवन से उद्वेलित कोमल लताभुजाओं का नृत्त,[3] गीतरव द्वारा भंग ताल-लय से युक्त अप्सराओं का नृत्त,[4] नूपुर की किंकिणियों के शब्दो की लय पर नाचती हुई अप्सराओं का नृत्त,[5] तथा बाहुलताओ के सचालन से मणिवलय के शब्दों के ताल पर मंथरगति से पदनिक्षेप करती हुई कुवलयमाला की माता का नृत्त[6]। इस विवरण से ज्ञात होता है कि कामिनियों के मधुर एवं सुकुमार नृत्त लास्य नृत्त कहे जाते हैं। बाहुओं का कोमलता से निक्षेप इसकी विशेषता है। मयूर का कोमल नर्तन भी लास्य के अन्तर्गत आता है, जिसका उल्लेख उद्द्योतन ने किया है।[7] दशरूपककार के अनुसार नाट्यशास्त्र में सुकुमार नृत्य का प्रारम्भ पार्वती ने किया था (१.४)।

ताण्डव नृत्त—उद्धत नृत्य को ताण्डव कहा गया है। धनंजय के अनुमार नाट्य में ताण्डव का संनिवेश महादेव ने किया था (दशरूपक १ ४)। महादेव के ताण्डव नृत्य का उल्लेख उद्द्योतनसूरि ने दो प्रसंगो मे किया है। राक्षस द्वारा समुद्र मे तूफान उत्पन्न कर देने से समुद्र मनुष्यों के सिरों की मुडमाला पहिने हुए—**विरइय-णर-सीस मालावयं**, पवन से उद्वेलित जलखडों की आवाज द्वारा अट्टहास करते हुए तथा वेताल की अग्नि द्वारा तृतीयनेत्र को जलाते हुए शंकर की तरह ताण्डव नृत्य करने लगा **तडयं णच्चमाणस्स** (६८.२६)। वर्षाऋतु मे मेघसमूह ने काले मेघटुकडों की मुडमाला पहिन कर—**अहिणव-मलिण-जलय-माला—कयंकवालमालालंकारे**—विजलियो की चमक का तृतीय नेत्र धारण कर—

---

१ वही, १.१०.

२. ताल-चलिर-वलयावलि-कलयल-सद्दओ।
गसयम्मि जइ लब्भइ जुवई-सत्थओ॥—४ २९.

३ णच्चंतं पिव पवणुव्वेल्ल-कोमल-लया-भुयाहिं।—३३ ७.

४ गीय-रव भंग णासिय-ताल-लउम्मग्ग-णच्चिरच्छरसं।—९६.१४.

५. अवसेसच्छरसा-गण-सरहस-णच्चंत-सोहिल्लं।
रयण-विणिम्मिय-णेउर-चलमाण-चलंत- किंकिणी-सद्दं।—९६.२०, २३.

६. कुवलयमाला-जणणी वि सरहसुव्वेल्लमाण-बाहुलया-कंचण-मणि-वलय-वर-सरल-कल-ताल-वस-पय-णिक्खेव-रेहिरा मंथरं परिसक्किया। १७१.१३.

७. णच्चंति बरहिणो गिरिवर-विवर-सिहरेसु।—१४७.२४.

तडय-जयणग्गि-विलसंत-विज्जुलए—तथा मेघगर्जना के द्वारा भयंकर अट्टहास करता हुआ नृत्य में संलग्न होकर महादेव की नटराजमुद्रा को चुरा लिया।[1]

इससे स्पष्ट है कि शंकर की ताण्डव मुद्रा की प्रमुख विशेषताओं-मुण्डमाला धारण किए हुए, त्रिनेत्र खोले हुए एवं अट्टहास करते हुए—से उद्द्योतनसूरि भली-भाँति परिचित थे। महादेव की इस नटराजमुद्रा तथा ताण्डव नृत्य के सम्बन्ध में श्रीकुमारस्वामी ने 'डांस आफ शिव' नामक ग्रन्थ में विशद प्रकाश डाला है। इस नटराजमुद्रा की अनेक मनोज्ञ मूर्तियाँ भी विभिन्न स्थानों से प्राप्त हुई हैं।[2] शंकर के ताण्डव नृत्य के अतिरिक्त ताण्डव नृत्य की अन्यविधियाँ भी ८वीं सदी में प्रचलित रही होंगी। क्योंकि आदिपुराण में पुष्पाञ्जलि-प्रकीर्णक ताण्डव नृत्य तथा जलसेचन-ताण्डव नृत्य का भी उल्लेख मिलता है।[3]

नृत्य—भावों पर आश्रित अनुकृति को नृत्य कहते हैं।[4] इसमें केवल आंगिक अभिनय की प्रधानता रहती है तथा कथोपकथन का अभाव रहता है। अतः नृत्य में श्रव्य कुछ नहीं होता। इसके देखने मात्र से सामाजिक आनंदित होते हैं। इन विशेषताओं के कारण नृत्य नाट्य एवं नृत्त से भिन्न होता है। उद्द्योतनसूरि ने नृत्य के सम्बन्ध में निम्नोक्त जानकारी दी है:—

१ कन्याएँ नृत्यशास्त्र में इतनी पारंगत होती थी कि दूसरों को नृत्यलक्षण आदि की शिक्षा देती थीं—**गहियं णट्ट-लक्खणं** १२३.२४।

२. नृत्यकला शिक्षा का मुख्य विषय थी (२२.९)। मठ के छात्र अनेक प्रकार के नृत्य सीखते थे—**सिक्खति के वि छत्ता छत्ताण य णच्चणाइं** च १५०.२३।

३. शृंगार, वीर, करुण आदि भावों को नृत्य में आँखों के द्वारा व्यक्त किया जाता था।[5]

नगर में विभिन्न अवसरो पर अनेक प्रकार के नृत्य होते थे। यथा—

४. राजभवन में विलासिनी स्त्रियों के नृत्य—**णच्चिरविलासिणीयणं** (१७.२०)।

५. जन्मोत्सव पर मदरस पीकर घूम-घूम कर नाचने से लावण्य की बूदो

१. गज्जिय-भीमट्टहास-णच्चणाबद्ध-केली-वावड-हर-रूव-हरे मेघ-संघाए।—१४८.७.
२. भटशाली—'द आइकोनोग्राफी आफ बुद्धिस्ट एण्ड ब्राह्मेनिकल स्कल्पचर्स इन द ढाका म्युजियम'।—जै०-यश० सां० में उद्धृत।
३. कृतपुष्पाञ्जलेरस्य ताण्डवारम्भसंभ्रमे, आदिपुराण—जिनसेन, (१.११४).
४. अन्यद्भावाश्रयं नृत्यम्, दशरूपक, १,८.
५. सिंगार-वीर-बीहच्छ-करुण-हास-रस-सूययाइं णयणाणि वि—२२.२३

सदृश हार तथा मुक्तावली के मोती गिराने वाली विक्षिप्त कामिनियों के नृत्य—(१८.१५)।

६. हर्षपूर्वक नाचने वाले नागरिकों का नृत्य णच्चइ णायरलोओ (१८.३१)।
७. मुग्धा युवति का नृत्य—णच्चंति के वि मुइया—(९३.१४)।
८. पवन से उद्वेलित तरंगों का नृत्य (६८.१३, १२१.१९)
९. कुल की वृद्ध महिलाओं का विवाहोत्सव पर नृत्य (१७१.१३)
१०. भाई के विवाह पर खुशी का नृत्य (४७.३०)
११. रहस-वधाव का नृत्य—एसो वि जणो लिहिओ णच्चंतो रहस-तोस-भरिय-मणो—(१८७.२०)।
१२. विवाह पर वाद्यों के साथ महिलाओं का विलासपूर्वक नृत्य (१८८.८)।
१३. कौमुदी-महोत्सव पर प्रमत्त लोगों का जनपद में नृत्य (१०३.१४)।

नाट्य—नायक, नायिका एवं अन्य पात्रों का आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्विक अभिनयों द्वारा अवस्थानुकरण करना नाट्य कहलाता है।[1] अवस्थानुकरण से तात्पर्य है—चाल-ढाल, वेश-भूषा, आलाप-प्रलाप आदि के द्वारा पात्रों की प्रत्येक अवस्था का अनुकरण इस ढंग से किया जाय कि नटों में पात्रों का तादात्म्यभाव हो जाये। अर्थात् दर्शकों के समक्ष तदाकार रूप उपस्थित हो हो जाय। जैसे नट रावण की प्रत्येक प्रवृत्ति की ऐसी अनुकृति करे कि सामाजिक उसे रावण ही समझें।

नाट्य दृश्य होता है इसलिए इसे 'रूप' भी कहते हैं और रूपक अलंकार की तरह आरोप होने के कारण 'रूपक' भी कहते हैं। इसके नाटक आदि दस भेद होते है।[2]

उद्द्योतनसूरि ने निम्न प्रसंगों मे विशेष रूप से नाट्य के सम्बन्ध में सूचना दी है। राजा दृढ़वर्मन् के दरबार मे भरतनाट्यशास्त्र के प्रतिष्ठित विद्वान् उपस्थित रहते थे—भारह-सत्थ-पत्तट्ठा—(१६ २३)। ७२ कलाओं में नाट्य का द्वितीय स्थान था—आलेक्खं णट्टं (२२.१)। संगीत एवं काव्य के साथ नाट्य भी प्रमुख कला के रूप में गिना जाता था—गंधव्व-कव्व-णट्टे (१६.२८)। नट, नर्तक, मुष्टिक एवं चारणगण विभिन्न प्रकार के नाट्य करते हुए गाँव-गाँव में घूमते थे।[3] नटो का समूह (नाटक मंडली) रंगमंच पर नाटक प्रस्तुत करता था, जिसे देखने के लिए पूरा गाँव उमड़ पड़ता था (४६-४७)। उत्सवों पर नाट्य करते हुए नटों को भरतपुत्र के नाम से पुकारा जाता था एवं पुरस्कृत

१. दशरूपक, १.७.
२. दशरूपक, १.७८
३. णड-णट्ट-मुट्ठिय-चारण-गणा परिभमिउं समाढत्ता—४६.९.

किया जाता था ।[1] शृंगार, वीर, करुण आदि रसों से युक्त नाटक अभिनीत होते थे । नट पात्रविशेषों के चरित्र का अनुकरण करने में इतने पटु होते थे कि उनकी तुलना बनावटी चरित्र वाले व्यक्तियों से दी जाती थी ।[2] तथा नट पात्रों के अनुरूप बनावटी चेहरे धारण कर लोगों का मनोरंजन करते थे ।[3]

कुवलयमालाकहा के उक्त सन्दर्भों से नाट्य की निम्नलिखित प्रमुख विशेषतायें स्पष्ट होती हैं :—

१. नाट्य में पात्रों के चरित्र का अनुकरण अभिनय द्वारा किया जाता था, नाट्यशास्त्र के इस कथन का उद्द्योतन ने समर्थन किया है ।

२. पात्र की वेषभूषा के अनुकरण द्वारा नट उससे तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करता था । इसका संकेत दशरूपककार ने भी किया है ।

३. नाट्य प्रधान रूप से रस के आश्रित रहता है । सामाजिक को रसानुभूति कराना ही नाट्य का चरम लक्ष्य है । शृंगार, वीर, करुण रस आदि की परिपुष्टि नायक की प्रकृति के अनुसार नाटक में की जाती है, यह बात भी उद्द्योतन स्वीकार करते हैं ।

लोक-नाट्य

कुवलयमालाकहा में चडसोम की कथा के प्रसंग में ग्रन्थकार ने लोक-नाट्य से सम्बन्धित विस्तृत जानकारी दी है । शरद् ऋतु में पृथ्वी को धन-धान्य से समृद्ध देखकर आनन्दित होकर नट, नर्तक, मुष्टिक, चारणगण आदि ने गाँवों में घूमना प्रारम्भ कर दिया । लोककलाओं द्वारा प्रजा का मनोरंजन करनेवाले ऐसे कितने ही कलाकारों के नाम प्राकृत साहित्य में मिलते है । उनमे नट, नर्तक, मौष्टिक और चारण (कथावाचक) आदि प्रमुख हैं ।[4] दशहरा पूजकर अपनी कला का प्रदर्शन करने के लिए निकलने की परम्परा आज भी ग्रामीण-जीवन में कलाकारों में पायी जाती है । गुजरात एवं मध्यभारत में पायी जानेवाली भवाई जाति के लोक कलाकार दशहरा पूजकर अपनी यात्रा पर निकल जाते हैं

---

१. भो भो भरह-पुत्ता, लिहह सायरदत्तं इमिणा सुहासिएण लक्खं दायव्वं, १०३.१९.

२. इमिणा अलिय-कय-कवड-पंडिय-णड-पेडय-सरिसेणं—१७३.८.

३. णड-पडिसीसय-जडा-कडप्प-तरंग-भंगुर-चल-सहावेण इमिणा मायाइच्चेणं, (५९.१५).

४. द्रष्टव्य—ज०-जै० आ० स०, पृ० ३९६.

और लगभग आठ माह तक अपने नाट्य एवं नृत्यों का प्रदर्शन गाँव-गाँव में घूम कर करते रहते हैं।[1]

चंडसोम के गाँव में भी अनेक गाँवों में विचरण करती हुई एक नटमंडली आयी।[2] गाँव के प्रधान ने नाटक-मंडली की दिखायी (पारिश्रमिक) दे दी तथा पूरे गाँव को नाटक देखने के लिए निमन्त्रित किया—**तेण तस्स णडस्स पेच्छा दिण्णा, णिमंतियं च णेण सव्वं गामं**—(४६.१०)। राजस्थान में भीलों के गवरीनाट्य के सम्बन्ध में यही परम्परा है। गाँवों के निवासी अभिनेताओं के भोजन आदि की व्यवस्था स्वयं करते हैं तथा नाट्य-मंडली को सवा रुपया एवं नारियल भेंट करते हैं।[3] गाँव के प्रधान ने दिन में खेती आदि के काम-काज के कारण ठीक अवसर न जानकर रात्रि के प्रथम पहर में उस नाटक को दिखाने की व्यवस्था की (४६.११, १२)। रात्रि में बच्चों के सो जाने पर तथा घर के सभी कार्य सम्पन्न हो जाने पर गीत और मृदंग की आवाज सुनते ही सभी ग्रामवासी नाटक देखने के लिए निकल पड़े। किसी के हाथ में छोटी मसालें थीं, कोई बैठने के लिए माँचे लिए था, किसी ने पैरों में जूते पहन रखे थे तथा कोई हाथ में लाठी लिये हुए था।[4]

चन्द्रसोम भी नाटक देखना चाहता था, किन्तु अपनी पत्नी को किसकी देख-रेख में छोडकर जाय, यह समस्या थी। वह अपने साथ उसे नाटक देखने ले नही जा सकता था। क्योंकि एक तो रंगशाला में हजारो सुन्दर युवकों की दृष्टियों की वह शिकार बनती। दूसरे, चंडसोम का छोटा भाई भी नाटक देखने गया हुआ था। अतः चंडसोम अपनी वहिन श्रीसोमा के पास पत्नी को छोड़कर नाटक देखने चला जाता है। थोड़ी देर बाद श्रीसोमा भी नाटक देखने चली जाती है, किन्तु उसकी भाभी अपने पति के भय के कारण नाटक देखने नहीं जा पाती (४६.१६, २१)।

इस विवरण से स्पष्ट है कि लोकनाट्यो की गाँवो में बहुत अधिक प्रसिद्धि थी। हजारों की संख्या में लोग रंगशाला में उपस्थित होते थे तथा स्त्री-पुरुष सभी इन नाटकों को देखने के लिए लालायित रहते थे। गाँवों में आज भी मनोरंजन के साधनों के प्रति यही उत्साह प्राप्त होता है।

चंडसोम नाटक का पूरा आनन्द नहीं ले सका। क्योंकि रंगशाला में उसके पीछे कोई जवान युगल बैठा नाटक देख रहा था। उस युवक-युवती की बातचीत सुन कर चंडसोम को यह सन्देह हुआ कि उसकी पत्नी ही अपने किसी

१. देवीलाल सामर, राजस्थानी लोकनाट्य, पृ० २८.

२. तम्मि य गामे एक्कं णड-पेडयं गामाणुगामं विहरमाणं संपत्तं—४६.१०.

३. रा० लो०, पृ० ४२.

४. गहिय-दर-दइर-लीवा अवरे वच्चंति मंचिया-हत्था।
परिहिय-पाउय-पाया अवरे डंगा य घेतूण॥—४६.१४.

प्रेमी के साथ आकर वहाँ बैठी हुई है। थोड़ी देर बाद चंडसोम ने यह सुना कि वह युवती अपने साथ के युवक को पीछे-पीछे उसके घर आने का संकेत देकर चली गयी है, तो उसका सन्देह पक्का हो गया (४६.४७)। तभी नाटकमंडली में से एक ग्रामनटी ने यह गीत गाया—'जो जिसे प्रियतमा मानता है, यदि उसके साथ दूसरा रमण करता है (और) यदि वह (उसे) जीवित जानता है तो वह उसके प्राण ले लेता है'—**ताव इमं गीययं गीयं गाम-णडीए**—(४७.५, ६)। इसे सुन कर चंडसोम गुस्से से लाल हो गया और अपनी पत्नी तथा उसके प्रेमी को मारने के लिए रंगशाला से निकल गया (४७.९)।

चंडसोम की आगे की कथा प्रस्तुत लोकनाट्य से सम्बन्धित नहीं है। किन्तु उक्त कथांश से ही इस सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। यथा-

१. नाटक प्रदर्शन के बीच-बीच में उपदेशात्मक गीत भी गाये जाते थे।
२. नाटक में नट एवं नटी दोनों मिलकर प्रदर्शन करते थे। तथा
३. नाटक प्रदर्शन के लिए रंगमंच की व्यवस्था की जाती थी।

उक्त विवरण में उद्द्योतनसूरि ने यद्यपि यह स्पष्ट नहीं किया है कि नाटक-प्रदर्शन का विषय क्या था तथा रंगमंच की कैसी व्यवस्था की गयी थी। किन्तु प्रतीत होता है कि नाटक शृंगार प्रधान ही रहा होगा। तभी युवक-युवतियों की वहाँ अधिक भीड थी, प्रेमी-प्रेमिका में मिलन-सम्बन्धी वार्तालाप हो रहा था तथा ग्रामनटी ने भी इसी प्रकार का गीत भी प्रस्तुत किया था। यह गीत उस नाटचकथानक का अंतिम निष्कर्ष भी हो सकता है। भरत के नाट्यशास्त्र में (२७.९१) भी शृंगार रस के नाटक सूर्यास्त के पश्चात् खेले जाने का उल्लेख है।

रंगमंच—रंगमंच की अवस्था लोकनाट्यों में बड़ी सरल होती है। राजस्थानी लोकनाट्यों में लगभग सभी नाट्यों के रगमंच ऐसे निर्मित होते है कि यदि चारों ओर से नहीं, तो भी तीन तरफ से तो जनता अधिक से अधिक संख्या में इन नाट्यों को देख सकती है।[1] कुवलयमाला के उक्त प्रसंग से ज्ञात होता है कि केवल रंगमच में ही सम्भवत: प्रकाश की व्यवस्था थी। दर्शकों के बैठने के स्थान पर अंधेरा रहता होगा। तभी चंडसोम अपने पीछे बैठी किसी अन्य युवती को देख न पाने के कारण अपनी पत्नी मान बैठता है। उद्द्योतन ने अन्यत्र भी रंगमंच का उल्लेख किया है। रंगमंच में विलासिनियों के नृत्यो का आयोजन होता था, जिनमें अपार भीड़ होती थी।[2] तथा विवाह आदि विशेष अवसरों पर रंगशालाओं को सजाया जाता था—**कीरंति मंच-सालाओ**—(१७०.२२)।

---

१. रा० लो०, पृ० १.

२. **सुंदरयर-सुर-सय-संकुले वि रंगम्मि णच्चमाणीए**—४३.१२

कुवलयमालाकहा में वर्णित इस लोकनाट्य की तुलना वर्तमान में प्रचलित 'भवाइ नाट्य' से की जा सकती है। दोनों में निम्न साम्य नजर आता है—(१) दशहरे के बाद गाँव-गाँव घूमना, (२) निम्न वर्ग के लोगों द्वारा प्रदर्शन, (३) मनोरंजन की प्रधानता, (४) रंगमंच की सरलता, (५) शृंगार-रस की प्रधानता, (६) अभिनय के साथ गीतों का गायन, (७) वाद्य-संगीत से प्रारम्भ होना, (८) स्त्री एवं पुरुषों द्वारा अभिनय तथा (९) रात्रि में नाट्य का प्रदर्शन आदि।[1]

लोकनाट्य के अन्य प्रकार—उद्द्योतनसूरि ने उपर्युक्त लोकनाट्य के अतिरिक्त निम्न लोकनृत्यों का भी ग्रन्थ में उल्लेख किया है:—१. रासमंडली (१४८.१४), २. डांडिया नृत्य (८ २३), ३. चर्चरी नृत्य (१४५.५), ४. भाण (१५०.५२) ५. डोम्बिलक एवं ६ सिग्गडाइय (१५०.५२)। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:—

रासमण्डली—कुवलयमाला में नृत्य का दो बार उल्लेख हुआ है। सुधर्मा स्वामी रासनर्तन के छल से पाँच सौ चोरों को प्रतिबोधित करते हैं—**रास-णच्चण-च्छलेण**-(४.२५)। इस रास नृत्य में चर्चरी गायी जाती है—**इमाए चच्चरीए संबोहियाइं**। तथा युवतियाँ वलय ताल की लय पर नृत्य करती हैं—**रासयम्मि जइ लब्भइ जुवई-सत्थओ**—(४.२६)। अन्यत्र शरद् ऋतु के त्योंहारो का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने रासमंडली का वर्णन इस प्रकार किया है:—गाँव के आँगन में गोष्ठी के युवक-युवती जन कमलो का अलंकार धारण कर वलयावली की ताल पर मधुर गीत गाते हुए रासमंडली में अनेक प्रकार की लीलायें करते थे।[2] मध्यदेश की युवतियाँ भी रासमंडली में नाच कर अपने वलयों से मनोहर आवाज करती थी (७.११)।

भारतीय नाट्य परम्परा में रासलीला का प्रमुख स्थान रहा है। प्राचीन समय से रासनृत्य के उल्लेख प्राप्त होते हैं। किन्तु हरिवंश (२.२०, ३५, नील-कंठ) में कहा गया है कि जब एक पुरुष के साथ अनेक स्त्रियाँ नृत्य करें तो उसे हल्लीसक-क्रीडा कहते हैं, वही रास-क्रीडा कहलाती है।[3] हर्षचरित (पृ० २२) में मण्डलीकृत नृत्य को हल्लीसक कहा गया है। आगे चलकर शंकर ने रास की परिभाषा को और स्पष्ट किया है—आठ, सोलह या बत्तीस व्यक्ति मंडल बनाकर जब नृत्य करें, तो वह रासनृत्य कहलाता है।[4] कुवलयमाला का उपर्युक्त

---

१. श्याम परमार, लोकधर्मी नाट्य-परम्परा, पृ० ५१.५४.

२. कोमल-बाल-मुणाल....गीय-रासमंडली-लीला-वावडेसु गामंगण-गोट्ठ जुवाण-जुवल-जणेसु—१४८.१३, १४।

३. द्रष्टव्य, आर० बी० जोशी, श्री रासपंचाध्यायी-सांस्कृतिक भूमिका,' पृ० १३.

४. अष्टौ षोडश द्वात्रिंशद् यत्र नृत्यन्ति नायकाः।
पिण्डीबन्धानुसारेण तन्नृत्तं रासकं स्मृतम्॥
—रास और रासान्वयी काव्य, प्रस्तावना, पृ० ११

सन्दर्भ रासनृत्य की इसी परिभाषा को पुष्ट करता है, जिसमें मंडलीनृत्य और ताल आवश्यक था।

१५-१६वीं सदी में कृष्णभक्ति के प्रचार के कारण रासमंडली का विकास अधिक हुआ। रासलीला नृत्य और संगीत प्रधान नाट्य है, जिसमें खुले रंगमंच और सामान्य प्रसाधन-सामग्री का उपयोग होता है। उद्द्योतन ने 'लीला' शब्द का प्रयोग किया है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय तक रासनृत्य के साथ कृष्ण की लीलाओं का भी प्रदर्शन होने लगा होगा। डा० श्याम परमार के अनुसार रासक या रासलीला नृत्य, अभिनय और संगीत की त्रिवेणी का एक मिलाजुला लौकिक रूप है।[1]

डांडिया नृत्य—डांडिया नृत्य के सम्बन्ध में उद्द्योतन ने केवल संकेत किया है कि विनीता नगरी में डंडे का उपयोग केवल छत्र एवं नृत्य में होता था—**दंडवायाइं णवरि दीसंति छत्ताण य णच्चणहं**, (८.२३)। वर्तमान में डांडियाँ नृत्य जालोर तथा मारवाड़ का प्रतिनिधि नृत्य है।[2] अतः ग्रन्थकार अवश्य ही इससे परिचित रहे होंगे। डाँडिया नृत्य में १५-२० आदमी हाथों में डंडे लेकर नाचते हैं। घेरे के बीच ढोल बजाया जाता है तथा नृत्यकार नाचते हुए परस्पर डंडों की चोट से मधुर शब्द करते हैं।[3]

चर्चरीनृत्य—कुव० में चर्चरी का दो बार उल्लेख हुआ है। सुधर्मा स्वामी ने रासनृत्य मे एक चर्चरी द्वारा चोरों को सम्बोधित किया (४.२६)। तथा दर्पफलिक मद्य के प्रभाव से प्रक्षिप्त अवस्था में असम्बद्ध अक्षरों से युक्त एक चर्चरी गाता हुआ नृत्य करने लगा।[4]

भाण एवं डोम्बलिक प्रसिद्ध लोकनृत्य हैं।[5] सिग्गडाइय के स्वरूप के सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं हुई।

संगीत

कुवलयमाला में संगीतकला के सम्बन्ध मे कोई विस्तृत वर्णन किसी एक प्रसंग में उपलब्ध नही है। किन्तु फुटकर प्रसंगों में अनेक बार गान्धर्वकला तथा गीत गाये जाने का उल्लेख हुआ है। कुवलयचन्द्र के जन्म के समय महिलाओं के गीतों से दिशामण्डल व्याप्त हो गया।[6] कन्याराशि में उत्पन्न होने के कारण

---

१. लोकधर्मी नाट्य-परम्परा, पृ० १८.
२. रा० लो०, पृ० १४.
३. द्रष्टव्य, वही।
४. इमं असंबद्धक्खरालाव-रइयं चच्चरियं णच्चमाणो,
५. द्रष्टव्य, चतुर्भाणी—डा० मोतीचन्द्र।
६. सरहस विलया ··· गंधव्व-पूरंत-सद्दं दिसा-मंडलं, १८.१७.

व्यक्ति गन्धर्व, काव्य एवं नाट्यकला में पारंगत होता है।[1] ७२ कलाओं में गन्धर्व कला भी सम्मिलित थी (२२.१)। अनेक वाद्यों के प्रसंग में भी गन्धर्व का उल्लेख हुआ है (४३.६)। इससे ज्ञात होता है कि संगीतकला के लिए गन्धर्व शब्द सामान्य रूप से प्रयुक्त होता था। सम्भवत: गन्धर्व नाम का कोई वाद्य भी था (४३.६)।

गीतों का कई प्रसंगों में उल्लेख हुआ है। कुवलयचन्द्र को देखकर नगर की वनिताएँ मधुर गीत गाने लगी—**अण्णा गायइ महुरं** (२६.१७)। स्वर्ग लोक में संगीत का मधुर स्वर सुनायी पड़ता है, जबकि मनुष्य लोक में आकर कठोर और निष्ठुर स्वर सुनना पड़ता है—**संपइ खर-णिट्ठुर-सरेहिं** (४३ ६)। नाटक प्रदर्शन के साथ-साथ ग्रामनटी एक गीत भी गाती है (४७.५)। नाटक के प्रारम्भ में ही मृदंग के साथ गीत गाया जाता था (४६.१२)। मदन-महोत्सव के समय युवक उद्यान मे झूला झूलते हुए अपनी-अपनी प्रियतमाओं के गुणगान गाते हैं। कोई गोरी की प्रशंसा गाता है, कोई श्यामांगी की। मानभट भी एक द्विपदी गाता है।[2] रात्रि के पश्चिम पहर में कोई गुर्जर पथिक एक धवलद्विपथक गाते हुए मंदिर के पास से गुजरता है, जिसमे वह सफेद बैल के गुणों की बड़ाई करता है।[3] विन्ध्या अटवी में किन्नरमिथुन का मधुर गीत गूँज रहा था (२८.९)। स्वर्ग में पद्मप्रभ लय-ताल से शुद्ध गीत को सुनता है—**लय-ताल-सुद्ध-गेयं** (९३.२५) तथा घंटा का महाशब्द होने से गाने वालों का गीत-रव भंग हो जाता है (९६.१३)। विवाह के अवसर पर जैसे ही वर-कन्या के परस्पर हाथ मिले कि गीत गाना प्रारम्भ हो गया (१७१.७) तथा मनोहर मंगल गाये जाने लगे।[4] अन्य अवसरों पर भी मंगल गाये जाने के उल्लेख मिलते हैं।[5] अन्य अवसर पर नृत्य के साथ चर्चरी तो गायी ही जाती थी (४.२९)। विवाह के अवसर पर भी चर्चरी के गाते ही लोगों की भीड़ लग जाती थी—**चच्चरि-सद्द-मिलंत-जणोहं** (१७१.१९)।

इस प्रकार ज्ञात होता है तत्कालीन जीवन मे संगीतका विशेष महत्व था एवं प्राय: उल्लास के सभी अवसरों पर गीत गाये जाते थे। गुर्जर पथिक के गीत के उल्लेख से प्रतीत है कि सम्भवत: यह किसानो का पहट का गीत था, जो वर्तमान में भी मध्यप्रदेश में प्रचलित है। रात्रि के अन्तिम पहर में बैलों को खेत की तरफ ले जाते हुए किसान गीत गाते हुए गाँव से निकलते हैं। इनके गीत प्राय: कृषि के कार्यों से सम्बन्धित होते हैं।

---

१. गंधव्वे कव्व-णट्टे वसण-परिगओ, १९.२८
२. णियय-पियाणं चेय पुरओ गाइउं पयत्ता हिंदोलयारूढा।....गाइउं पयत्तो इमं च दुवइ-खंडलय, ५२.९, १२.
३. राईए पच्छिम-जामे केण वि गुज्जर-पहियएण इमं धवल-दुवहयं गीयं, (५९.३)।
४. गिज्जंत-सुमंगल-मणहरए, १७१.१८
५. वही—६७.६, १३२.३३, १३५.३१, १८८.८, १९८.६, २४४.२।

परिच्छेद दो

वादित्र

संगीत के प्राचीन आचार्यों ने वाद्यों की उपयोगिता पर विशद प्रकाश डाला है।[1] उनके अनुसार संगीत के लिए वाद्यों का होना तो आवश्यक है ही, वाद्यों की सामाजिक और धार्मिक उपयोगिता भी है। वाद्य मानव की अन्त-र्भावनाओं की अभिव्यक्ति के द्वार है। सांस्कृतिक कार्यों के परिचायक किसी वाद्य-विशेष के वजते ही ज्ञात हो जाता है कि भगवान् की पूजा हो रही है, विवाह हो रहा है, पुत्रजन्म मनाया जा रहा है अथवा सेना का प्रयाण हो रहा है। इसके अतिरिक्त शास्त्रीय संगीत की विभिन्न परम्पराओं को जीवित रखने में भी वाद्यों का योगदान रहा है।[2] अतः प्रत्येक युग में प्रयुक्त वाद्य-यन्त्र अपने समय का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके सांस्कृतिक अध्ययन से कई तथ्य प्राप्त हो सकते हैं।

कुवलयमालाकहा में उल्लिखित वादित्र

उद्द्योतनसूरि ने कुवलयमाला में विभिन्न प्रसंगों में चौबीस प्रकार के वादित्रों का उल्लेख किया है। अकारादि क्रम से उन्हें इस प्रकार रखा जा सकता है:—

१. आतोद्य	२. काहल	३. घंटा	४. झल्लिरी
५. डमरुक	६. ढक्का	७. तन्त्रि	८. ताल
९. त्रिस्वर	१०. तूर	११. तोडहिया	१२. नाद
१३. नारद	१४. तुम्बरू	१५. पडुपटह	१६. भेरी
१७. मंगल	१८. मृदंग	१९. वंस	२०. वज्जिर
२१. वव्वीसक	२२. वीणा	२३. वेणु	२४. शंख

१. भरतनाट्य, अध्याय ३४, श्लोक, १८.२१।

२. डा० लालमणि मिश्र, 'भारतीय संगीतवाद्यों का स्वरूपात्मक एवं प्रयोगात्मक विवेचन' (थीसिस) प्रथम खण्ड, पृ० ३६.

उद्द्योतन ने वाद्यों के लिए सामान्य शब्द आतोद्य एवं तूर का प्रयोग किया है। इनके सम्बन्ध में विशेष जानकारी इस प्रकार है:—

आतोद्य—कुवलयमाला में देवलोक के वर्णन में कहा गया है कि देव सेनापति के घंटा की आवाज होते ही अन्य देवताओं का विशिष्ट स्वरवाला आतोद्य बजने लगा तथा आतोद्य के शब्द से अप्सराएँ चकित होकर एकाएक हुंकार भरने लगीं।[1] यहाँ आतोद्य किसी वाद्य-विशेष के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसका स्वर विशिष्ट होता था तथा जो देवागनाओं को नृत्य के लिए चकित कर देता था।

नाट्यशास्त्र में (३३.१, २०) में अतोद्य के अन्तर्गत सभी वाद्यों को ग्रहण किया गया है। अमरकोष में भी चार प्रकार के वाद्यों के लिए आतोद्य शब्द व्यवहृत हुआ है।[2] किन्तु संगीतरत्नाकर में (६ १०७७) उल्लेख है कि 'आवज' को हुडक्का का पर्याय माना जाता था। यह 'आवज' आतोद्य का ही अपभ्रंश प्रतीत होता है—आतोद्य > आउज्ज > आवज। अतः डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'आवज' को ढोल जैसा मढ़ा हुआ एक वाद्य माना है। लोक में बजाने वाले को 'ओजी' (आवज से) कहा गया है।[3] तबला का विकास होते ही 'आवज' लोक सगीत का वाद्य बन कर रह गया। इसकी बनावट हुडक्का जैसी होती थी। इससे ज्ञात होता है कि उद्द्योतन के समय तक 'आतोद्य' स्वतन्त्र एक वाद्य के रूप में प्रचलित हो कुका था, जिसका उत्तरकालीन रूप ढोलक अथवा हुडक्का है।

तूर—कुवलयमाला में तूर शब्द का उल्लेख १६ बार हुआ है।[4] ८ बार अन्य वाद्यों के साथ मे तथा ८ वार अकेले तूर का ही उल्लेख है। इन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि तूर निम्नोक्त अवसरों पर मुख्य रूप से बजाया जाता था:—

१. जन्मोत्सव पर (१८ १२)
२. विभिन्न यात्राओं के अवसर पर (६७.६, १३२.१०, १३५.२१, १८१.३१)।
३. विवाहोत्सव पर (१७१.७, १८८.८)
४. प्रातःकाल में (१७३.१९, १९८.७, २४४.२)।
५. दीक्षा के समय (२०६.८)।
६. माँगलिक कार्यों के समय (१८७.१८)।

---

१. घंटा-रव-गुंजाविय-वज्जिर-सुर-सेस-विसर-आउज्जं।
आउज्ज-सद्द-संभम-सहसा-सुर-जुवइ-मुक्क हुंकारं॥ ९६.१२.

२. चतुर्विधमिदं वाद्यवादित्रातोद्यनामकम्, अमरकोश, १.१. ६.

३. चुमाल, गढ़वाली लोकगीत संग्रह, पृ० ३.

४. तूर १८.१२, ६७.६, १३२.१०, १३५.२१, आदि.

तूर का शब्द अत्यन्त गंभीर होता था—**तूर-रव-गहिर-सद्दं** (१७१.२२) तथा यह फूंक कर बजाया जाता था—**पवाइयाइं तूराइं** (१७१.७)। इससे ज्ञात होता है कि तूर एक प्रकार का सुषिर वाद्य था। आजकल इसे तुरही तथा रमतूरा कहा जाता है। इसके अनेक रूप उपलब्ध होते हैं। आदिपुराण (१२.२०६) एवं यशस्तिलकचम्पू (पृ० १८४ हिन्दी) में इसे तूर्य कहा गया है। उक्त विवरण से ज्ञात होता है कि आठवीं सदी में तूर एक मंगल वाद्य के रूप में प्रचलित था।

किन्तु डा० लालमणि मिश्र का कथन है कि तूर सम्भवतः कोई वाद्य विशेष न होकर वाद्ययन्त्रों के समूह के लिए प्रयुक्त होनेवाला एक शब्द था। बाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि ने वहु वाद्य-सूचक के रूप में ही तूर्य शब्द का प्रयोग किया है। पालि-साहित्य में 'तुरिय' वन्दवादक का द्योतक माना गया है। अतः संस्कृत 'तूर्य' पालि 'तुरिय' एवं प्राकृत 'तूर' अनेक वाद्यों की सामूहिक ध्वनि को व्यक्त करता है।[1] इससे ज्ञात होता है कि सम्भवतः प्राचीन समय में तूर वाद्य-समूह का वाचक रहा हो, किन्तु लगभग ७-८वीं सदी तक यह वाद्य-विशेष के रूप में प्रयुक्त होने लगा था।

आतोद्य एवं तूर के अतिरिक्त शेष वाद्यों को उनके स्वरूप के अनुसार चार भागों में विभाजित किया जा सकता है:—

तत वाद्य

जो वाद्य तन्तु, तार या ताँत लगाकर वनाये जाते हैं वे तत कहलाते हैं। कुवलयमाला में प्रयुक्त तत वाद्यों का विशेष परिचय इस प्रकार है:—

वीणा—वीणा अत्यन्त प्राचीन वाद्य है। इसकी प्राचीनता एवं वीणा-वादन की विधि की विस्तृत विवेचना डा० लालमणि मिश्र ने अपने शोध-प्रबन्ध में की है। प्राचीन भारत में अनेक प्रकार की वीणाओं का प्रचलन था। किन्तु प्रत्येक युग में एक या दो वीणायें ही मुख्य होती थीं। आगे चलकर उनके स्वरूप में थोड़ा-वहुत परिवर्तन होता रहता था। आठवीं सदी में किन्नरी, एकतन्त्री, महती, नकुलि, त्रितन्त्री एवं सप्ततन्त्री वीणायें प्रचलित थीं। उद्द्योतनसूरि ने कुवलयमाला में वंसवीणा, त्रिस्वर, नारद-तुम्वरू वीणा, तन्त्री का उल्लेख किया है।

वंसवीणा—कुवलयमाला में वंस-वीणा शब्द का एक साथ प्रयोग हुआ है।[2] प्राचीन ग्रन्थों में वंस-वीणा नाम की किसी वीणा का उल्लेख नहीं मिलता। अतः यह शब्द दो वाद्यों का द्योतक है—वंशी और वीणा का। एक साथ इनके उल्लेख होने का कारण यह है कि प्राचीन समय में सामगान की संगति में वेणु

१. मि०—भा० वा० वि०, पृ० ४०
२. संख-भेरी-तूर-काहल-मुइंग-वंस-वीणा-सहस्स-जय-जयासद्द-णिब्भरं।—१८१.३१

तथा वीणा आवश्यक वाद्य थे। वंशी के स्वरों का आधार लेकर वीणा के तार स्वरों में मिलाये जाते थे। नारदीय शिक्षा का यह वाक्य—**यः समगानं प्रथमः स्वरः सवेणोर्मध्यमः**—इस बात की पुष्टि करता है। अतः वंशी के स्वर गायक और वीणावादक के लिए प्रामाणिक स्वर थे। आठवीं सदी तक वंशी को यह महत्त्व प्राप्त रहा होगा तभी उद्द्योतन ने वंस-वीणा जैसे संयुक्त शब्द का प्रयोग किया है।

इसके अतिरिक्त अन्य पाँच प्रसंगों में वीणा का उल्लेख कुवलयमाला में हुआ है।[1] उनसे ज्ञात होता है कि अधिकतर वीणावादन स्त्रियाँ करती थीं—**एक्का वायइ वीणं** (२६.१७)। तथा वीणा बजाकर राजकुमार मनोरंजन किया करते थे। तत वाद्य-यन्त्रों में वीणा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। तार तथा बजाने के भेद से वीणा के अनेक प्रकार प्रचलित थे। संगीतरत्नाकर में वीणा के १० भेद तथा संगीतदामोदर में २९ प्रकार गिनाये हैं।[2] कृष्णभक्ति के प्रचार के कारण मध्यकालीन भारत में वीणवादन की कला विशेष रूप से प्रचलित थी।

त्रिस्वर—नगर की स्त्रियों में से कोई एक त्रिस्वर का स्पर्शकर रही थी—**अण्णा उण तिसरियं छिवइ** (२६.१८)। यह कोई ऐसा वाद्य था जिससे तीन स्वर निकलते रहे होंगे। सम्भवतः यह त्रितन्त्री वीणा सदृश रही होगी। संगीत-रत्नाकर में तीन तारों वाली वीणा को त्रितन्त्री कहा गया है। डा० लालमणि मिश्र के अनुसार आगे चलकर त्रितन्त्री ने सितार तथा तंबूरा का नाम एवं रूप ग्रहण कर लिया था। लोकभाषा में त्रितन्त्री को जंत्र कहा जाता था।[3]

नारद-तुम्बरू—उद्द्योतनसूरि ने देवलोक के प्रसंग में अन्य वाद्यों के साथ नारद-तुम्बरू वीणा एवं वेणु वाद्यों का भी उल्लेख किया है।[4] यहाँ नारद-तुम्बरू का उल्लेख अधिक महत्त्वपूर्ण है। भारतीय संगीत के इतिहास के परिप्रेक्ष्य में इनका परिचय ज्ञात किया जा सकता है। भारतीय संगीत में समगान या वैदिक संगीत का युग लगभग एक हजार ई० पू० वर्ष में समाप्त हो गया था। उसके बाद जनपद युग के आरम्भ से शास्त्रीय संगीत का नया युग प्रारम्भ हुआ। इसके प्रधान आचार्य नारद और तुम्बरू थे। इनके संगीत को गान्धर्व या मार्गी संगीत कहा गया। भारतीय संगीत का यह दूसरा युग गुप्तकाल के लगभग समाप्त हुआ और नवराग-रागिनियो वाला नया संगीत

---

१. कुव० २६.१७, ९३.१८, ९६ २४, १६९.१०, २३५.१८,
२. डा० गायत्री वर्मा—कवि कालिदास के ग्रन्थों पर आधारित तत्कालीन भारतीय संस्कृति, पृ० ३३२
३. तत्र त्रितन्त्रिकेव लोके जन्त्र शब्देनोच्यते।—स० स०, वाद्य अध्याय, पृ० २४८.
४. वर-संख-पडह-भेरी-झल्लिरि-झंकार-पडिसद्दं।
णारय-तुंबुरु वीणा-वेणु-रवाराव-महुर-सद्दालं।—९६.२३,२४.

प्रारम्भ हुआ, जिसे उस समय देशी संगीत कहा गया। गुप्तयुग में नारद द्वारा प्रवर्तित मार्गी संगीत को प्रतिष्ठित माना जाता रहा।[1]

नारद संगीत की इसी प्रतिष्ठा के कारण महाकवि बाण ने कादम्बरी में गन्धर्व लोक में नारद—संगीत प्रचलित होने का उल्लेख किया है—**कलगिरा गायन्त्या नारद-दुहित्रा**—(कादम्बरी, अनु० २०५)। उद्द्योतनसूरि ने भी देवलोक में नारद और तुम्बुरू का उल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय लोक में नारद-तुम्बरू का संगीत प्रचलित नहीं था तथापि उसे प्रतिष्ठा अवश्य प्राप्त थी। उद्द्योतन ने नारद-तुम्बुरू का उल्लेख अनेक वाद्यों के साथ किया है। अतः सम्भव है, उनके समय तक नारद और तुम्बरू आचार्यों के नाम पर कोई वाद्य-विशेष प्रचलित हो गये हों।

तन्त्री—उद्द्योतन ने तन्त्री का इन प्रसंगों में उल्लेख किया है। देवलोक में जीव गन्धर्व, ताल, तन्त्री के मिले-जुले मधुर शब्द को सुनता है।[2] देवलोक में में कोई मधुर गीत गा रहा था, कोई तन्त्री-वाद्य बजा रहा था।[3] चोर के भवन के समीप तन्त्री का शब्द एवं युवतियो के गीत सुनायी पड़ रहे थे।[4] इससे ज्ञात होता है कि तन्त्री वाद्य का गीत से घनिष्ट सम्बन्ध था एवं उसका रव मधुर होता था।

किन्तु वास्तव में तन्त्री कोई वाद्य नहीं है। तत वाद्यों में प्रयुक्त होनेवाली सामग्री का ही एक अंश है। वैदिक काल में उपलब्ध वाद्यों में मूँज तथा दूब की तंत्रियाँ बनायी जाती थीं। तदनन्तर इसके लिए रेशम का धागा एवं जानवरों के वाल प्रयुक्त किये जाने लगे। घोड़े की पूँछ का वाल तन्त्री के लिए प्राचीन काल में अधिक उपयुक्त समझा जाता था। आगे चलकर जानवरों की खालों से तन्त्रियों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। इन त्रितन्त्रियो को ताँत कहा जाता था। आज भी सारगी, सारिंदा आदि मे ताँत का प्रयोग देखा जा सकता है।[5]

अवनद्ध वाद्य

जो वाद्य चमड़े से मढ़े होते है, वे अवनद्ध कहलाते हैं। उद्द्योतनसूरि ने अवनद्ध वाद्यों के अन्तर्गत मृदंग, पटह, काहल, भेरी एवं ढक्का का उल्लेख किया है।

मुइंग, मुरय—उद्द्योतन ने मृदंग के लिए मुरव(७.१७, ८.११, २६.१८), मुरय (२२.२२,८३.२, ९३ २५, १५६.९), मुइंग (९३ १८, ८.१८, १८१.३१)

१. अ०—का० सां० अ०, पृ० २०७
२. गंधव्व-ताल-तंती-संवलिय-मिलंत-महुर-सद्दंणं— ४३ ६
३. गायंति के वि महुरं अण्णे वाएंति तंति-वज्जाइं—९३.१४.
४. उच्छलइ तंति-सद्दो वर कामिणी-गीय-संवलिओ।—२४९.१३.
५. मि०—भा० वा० वि०, पृ० १८४.

तथा मउंद (२६.१८) शब्दों का प्रयोग किया है। इनमें मुरव, मुरय तथा मुइंग मृदंग के पर्यायवाची है तथा मउंद सम्भवतः मृदंग से कुछ भिन्न वाद्य-विशेष रहा होगा। रामायण, महाभारत, भरतशास्त्र तथा कालिदास के ग्रन्थों में मृदंग एवं मुरज का एक साथ उल्लेख मिलता है। शारंगदेव एवं अभिनवगुप्त ने मुरज को मृदंग का पर्यायवाची माना है। भरत ने स्पष्ट किया है कि यह वाद्य मांगलिक होने से मृदंग और मुलायम मिट्टी से बने हुए होने के कारण मुरज कहा जाता है। अतः मुरज मृदंग का विशेषण स्वीकार किया जा सकता है।[1] किन्तु प्रतीत होता है कि आठवीं सदी तक मुरज एवं मृदंग में आकार एवं उपयोग की दृष्टि से कुछ निश्चित भेद हो गया था।

कुवलयमाला में मृदंग व मुरज का इन प्रसंगों में उल्लेख हुआ है। विनीता नगरी में निर्दय करतल द्वारा मुरज ताड़ित किया जा रहा था (७.१७)। मुरज के शब्दों से मेघों जैसी गर्जना होती थी (८.११)।[2] अयोध्यानगरी में दो मुंह केवल मृदंग के ही थे (८.१८)। कुवलयचन्द्र की हाथ की अंगुलियाँ मुरज पर अनवरत ताडन करने के कारण कठोर हो गयीं थीं।[3] नगर की तरुणियों में से कोई मुरज पर प्रहार करती थी—**देइ मुरवम्मि पहरं** (२६.१८) तथा कोई मउन्द (मकुन्द) वजाती थी—**अण्णा छिवइ मउंदं** (२६.१८)। कामदेवगृहों में कामिनियों के गीत के साथ मुरज वजता था (८३.२)। आठ देवकन्याओं में से एक के हाथ में मृदंग था (९३.१८)। कुमार कुवलयचन्द्र के शोक में अयोध्या में मुरज शब्द वन्द हो गया था (१५६.९) तथा प्रयाण के समय अन्य वाद्यों के साथ मृदंग भी बजाया जाता था (१८१.३१)।

कुवलयमाला के इन सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि मृदंग दो मुख वाले मिट्टी के खोल से बनता था, जिन पर चमडा मढ़ा होता था। इसे वजाने के लिए जोर से ताड़न करना पड़ता था। स्त्री-पुरुष दोनों ही विभिन्न अवसरों पर मृदंग वजाते थे। बंगाल में अभी जिसे खोल कहा जाता है, उसी से मृदंग की पहचान की जा सकती है।

पटु-पटह—कुवलयमाला कहा में इन प्रसगों में पडु-पडह का उल्लेख हुआ है। प्रातः काल पटुपटह की आवाज से भवनो के हंस जाग उठे (१६.१०, १७३.१८, १९८ ६, २६९.९)। डोंव के लड़के को पटह के शब्द से कोई भय नहीं होता।[4] देवलोक में अन्य वाद्यों के साथ पटह भी वज रहा था (९६.२३)। ऋषभदेव के अभिषेक के समय पटह वजाया गया (१३२.२३)। गोपुरद्वार पर

१. मि०—भा० वा० वि०

२. तुलना कीजिए : मेघदूत १.५९

३. अणवरय-मुरय-ताडण-तरलियाओ दीह-कढिणाओ पुलएइ अंगुलीओ, २२.२२

४. किं कोइ डोंब-डिंभो पडहय-सद्दस्स उत्तसइ—३८ २८

पटह बज रहा था (१५२.१९)। राजा दृढ़वर्मन् ने नगर में घोषणा करने के लिए पाटहिक को बुलाया—संपत्तो पाडहिओ (२०३.७)। पाटहिक ने नगर के चौराहों आदि पर घोषणा करने के बाद ढं ढं ढं करके ढक्का बजाया।[1]

इन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि पट्टपटह प्रातःकाल राजभवनों में निश्चित रूप से बजाया जाता था। अतः यह एक मांगलिक वाद्य था। पटह शास्त्रीय तथा लोक संगीत दोनों में प्रयुक्त होता था। अतः प्राचीन ग्रन्थों में मृदंग के बाद पटह के सबसे अधिक उल्लेख मिलते हैं। संगीत-रत्नाकर में पटह के दो प्रकारों—मार्गीपटह और देशीपटह का विस्तृत विवेचन किया गया है।[2] संगीतपारिजात में पटह को ढोलक कहा गया है—पटह ढोलक इति भाषाया। इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन युग का पटह मध्ययुग में ढोलक कहा जाता था। हिन्दी शब्दसागर में पटह का अर्थ नगाड़ा और दुदंभि किया गया है। कुवलयमाला के संदर्भ से इतना और ज्ञात होता है कि पटह बजानेवाले को पाटहिक कहते थे तथा डोंब जाति पटह बजाने के लिए प्रसिद्ध थी।

ढक्का—उद्द्योतन ने नगर में घोषणा करने के प्रसंग में ढक्का (२०३.१३) तथा प्रयाणक ढक्का का उल्लेख किया है। कुमार कुवलयचन्द्र के स्कन्धावार में जैसे ही मेघसदृश गंभीर शब्द करनेवाला प्रयाणक ढक्का बजा तुरन्त ही स्कन्धावार के परिजन उठ गये एवं जाने की तैयारी करने लगे।[3] यशस्तिलक में भी ढक्का का युद्ध के प्रसंग में उल्लेख हुआ है।[4]

संगीत ग्रन्थों में डक्का को अवनद्ध वाद्य कहा गया है।[5] संगीत-रत्नाकर के अनुसार यह लकड़ी का बना वर्तुलाकार वाद्य है, जिसके दोनों मुंह पर चमड़ा मढ़ा रहता है।[6] दोनों मुख तेरह-तेरह अंगुल चौड़े रखे जाते हैं। इसको बाँयीं बगल में दबाकर दाहिने हाथ से डंडी द्वारा बजाया जाता है।[7] उद्द्योतनसूरि ने इसकी आवाज ढं ढं ढं ढं जैसी बतलायी है। आजकल भी ढक्का या ढोल का प्रचलन है। ढक्का के छोटे आकार को ढुलकिया कहा जाता है।

भेरी—कुवलयमाला में भेरी का उल्लेख अन्य वाद्यों के साथ हुआ है (९६.२३, १३२.१०, १८१.३१)। एक अन्य प्रसंग में उद्द्योतन ने कहा है कि

---

१. एवं च घोसेंतेण 'ढं ढं ढं ढं' ति अप्फालिया ढक्का—२०३.१३।
२. सं० र०, ६.८०५.
३. सजल-जलय-गंभीर-धीर-पडिसद्द-संका···अप्फालिया पयाणय-ढक्का-१९८.२१.
४. प्रहितासु विभ्रासितसैन्यसमाजचिक्कासु ढक्कासु। पृ० ५८०.
५. काशिका, ४.२, ३५.
६. सं० र०, ६.१०९०, ९४.
७. मि०—मा० वा० वि०, पृ० १९९ (थीसिस).

इस संसार रूपी कीचड़ में जीव इतना रम जाता है कि उसे इसके परिणाम का भय ही नहीं होता, ठीक वैसे ही जैसे भेरीकुल के घरों के परावत प्रतिदिन भेरी का शब्द सुनते-सुनते उससे भयभीत नहीं होते।[१] इससे ज्ञात होता है कि भेरी बजाने वालों की अलग कोई जाति होती थी।

भेरी अत्यन्त प्राचीन वाद्य है। जनसाधारण में इसका अधिक प्रचलन था। भेरी मृदंग जाति का वाद्य था, जिसके दोनों मुख चमड़े से मढ़े होते थे। संगीतरत्नाकर के अनुसार इसके दाहिने मुख को लकड़ी तथा बायें मुख को हाथ से बजाया जाता था।[२] किन्तु भेरी के स्वरूप में क्रमशः परिवर्तन होता रहा है। वर्तमान में विवाहोत्सव के समय जो तुरही जैसा वाद्य फूँक कर बजाया जाता है, उसे भेरी कहते हैं। सम्भवतः प्राचीन समय से भेरी के अवनद्ध एवं सुषिर दोनों रूप प्रचलित रहे होंगे।[३]

झल्लरी—कुवलयमाला में झल्लिरी का ' न्य वाद्यों के हाथ तीन बार उल्लेख हुआ है (९६.२३, १३२.२३, १७१.७)। ऋषभदेव की पूजा में झल्लरी पर ताड़न किया गया—**ताडियाओ झल्लरीओ** (१३२.२३)। इससे ज्ञात होता है कि झल्लरी अवनद्ध वाद्य था। संगीतरत्नाकर में भी इसे अवनद्ध वाद्य कहा गया है। यह एक ओर चमड़े से मढ़ा वाद्य था जिसे बाँयें हाथ से पकड़ कर दायें हाथ से बजाया जाता था।[४] यह आजकल की चंग या खजरी के अनुरूप था।

किन्तु भरत मुनि ने झल्लरी को प्रत्यंग वाद्यों में सम्मिलित किया है, जिसमें स्वर नहीं मिलाया जाता। आहोवाल के अनुसार झल्लरी मजीरा के सदृश होती थी।[५] तथा श्री चुन्नीलाल शष ने झालर और झल्लरी को एक माना है।[६] इससे ज्ञात होता है कि सम्भवतः झल्लरी अवनद्ध तथा घन-वाद्य के रूप में प्रचलित रही होगी।

डमरुक—उद्द्योतन ने नगरी के कापालिक गृहों में डमरुक के बजने का उल्लेख किया है।[७] कापालिकों का सम्बन्ध शैव सम्प्रदाय से था अतः शिव के वाद्य डमरुक का कापालिक गृहों में बजना स्वाभाविक है। वर्तमान में भी शिवमदिरों में डमरु बजाये जाते हैं। दक्षिण भारत मे डमरुक के बड़े आकार

---

१. अणुदियहम्मि सुणेता अवरे गेण्हंति णो भयं धिट्ठा।
भेरी कुलीय परावय व्व भेरीए सद्देणं ॥ ३८.२९.

२. सं० र०, ६.११४८, ५७.

३. मि०—भा० वा० वि०, पृ० २५२ (थीसिस)।

४. सं० र०, ६ ११३७.

५. मि०—भा० वा० वि०, पृ० १९९.

६. ब्रजमाधुरी- वर्ष १३, अंक ४, पृ० ४७.

७. घंटा-डमरुय-सद्दइं कावालिय-घरेसु—८२.३२.

को 'हुरुक्का' कहा जाता है।[1] डमरुक शिव का वाद्य होने के कारण लोक में भी काफी प्रचलित है।

सुषिर वाद्य

जो वाद्य वायु के दबाव से बजाये जाते हैं, वे सुषिर कहलाते हैं। उद्द्योतनसूरि ने सुषिर वाद्यों के अन्तर्गत वेणु, शंख, एवं काहला का उल्लेख किया है।

वेणु—कुवलयमाला में वंश (२६.१८), वेणु (६६.२४), एवं वंशवीणा (१८१.३१) शब्दों का प्रयोग वंशी के लिए हुआ है। बाँस से बने होने के कारण ही इस वाद्य को वंश एवं वेणु कहा जाता था। लोक में इसके लिए बाँसुरी शब्द अधिक प्रचलित है। नाद उत्पन्न करने वाली वंश-नलिका होने के कारण प्रारम्भ में इसका नाम नादी भी था।[2] वंशी के जन्म के सम्बन्ध में कालिदास ने सुन्दर कल्पना की है। उनके अनुसार किन्नर ने वायुप्रवेश के कारण छिद्रित वंश नलिका से निकलती हुई मधुरध्वनि को सुनकर नलिका को वंशी का रूप दिया।[3] किन्तु इसके पूर्व भी वेणु के उल्लेख प्राचीन साहित्य में मिलते हैं। कृष्णभक्ति के विकास के साथ-साथ वेणु के प्रचार में भी वृद्धि हुई है।

शंख--उद्द्योतनसूरि ने विभिन्न प्रसंगों में १३ बार कुवलयमाला में शंख का उल्लेख किया है। प्रायः शंख इन अवसरों पर फूंके जाते थेः—

समुद्र-यात्रा के समय (**पवादियाइं संखाइं**, ६७.६), पूजा के समय (१३२.२३), सार्थ के प्रयाण के समय (१३५.२१, १८१.३१), विवाहोत्सव पर (**पूरियाइं संखाइं** १७१.७), नगरप्रवेश के समय (२००.१), प्रातःकाल राजभवनों में (२६९.९) तथा राज-दरबारों में मध्याह्न एवं सायंकाल के समय।

उद्द्योतन ने राजदरबार में बजने वाले शंखों को जामशंख[4] तथा मध्याह्नशंख—**मज्झण्ण-संख-सद्दं** (२०७.८) कहा है। इनके बजते ही राज-दरबार के लोग दैनिक कार्य करने लग जाते थे।[5]

संगीतशास्त्र में शंख की गणना सुषिर वाद्यों में की जाती है। यह शंख नामक जलकीट का आवरण है और जलस्थानों—विशेषकर समुद्रों में उपलब्ध

---

४. मि०—भा० वा० वि०, पृ० २०२.

१. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० ४४१.

२ कुमारसंभव, १.८.

३. उय जाम-संख-सद्दो कुविय-कयंतस्स हुंकारो।—१९९.२२.

४. तं च सोऊण समुट्ठिया सव्वे धम्म-कज्जाइं काउं समाढत्ता।—१९९.२३.

होता है। वाद्यों में शंख ही ऐसा है जो पूर्णतया प्रकृति द्वारा निर्मित है और अपने मौलिक रूप में वादन योग्य होता है। संगीत-पारिजात के अनुसार वाद्योपयोगी शंख का पेट बारह अंगुल का होता है और मुखविर बेर के बराबर।[1] भारतवर्ष में शंख का प्रयोग प्राचीनकाल से चला आया है और आज भी मांगलिक कार्यों के अवसर पर शंख फूंका जाता है। साधारणतया शंख से एक ही स्वर निकलता है, किन्तु इससे भी राग-रागनियाँ उत्पन्न की जा सकती है।[2] गीता में प्रत्येक महारथी के भिन्न-भिन्न शंख वर्णित हैं। जैसे कि हृषीकेश का पांचजन्य और अर्जुन का देवदत्त।[3]

काहला—उद्द्योतन ने काहला का उल्लेख कुवलयचन्द्र की यात्रा के प्रसंग में केवल एक बार किया है (१८१·३२)। काहला तीन हाथ लम्बा, छिद्रयुक्त तथा धतूरे के फूल के आकार का सुषिरवाद्य है। यह सोना, चांदी तथा पीतल का बनाया जाता है। इसके वजाने से 'हा हू' शब्द होते हैं।[4] संगीतसार के अनुसार इसे लोक में 'भूपाड़ो' कहा जाता था। उड़ीसा में अभी भी इस वाद्य का प्रचलन है। काहला का प्राचीन स्वरूप कलकत्ता म्युजियम में सुरक्षित है।

घन वाद्य

जो वाद्य धातु के बने होते हैं तथा ठोकर लगा कर वजाये जाते है, वे घन कहलाते हैं। उद्द्योतनसूरि ने घनवाद्यों के अन्तर्गत घटा और ताल का उल्लेख किया है।

घंटा—कुवलयमालाकहा में घंटा का दो प्रसंगो में उल्लेख हुआ है। कौशाम्बी नगरी के कापालिक गृहों में शाम होते ही घंटा और डमरुक बजाये जाने लगे। देवलोक में समवसरण की सूचना देने के लिए सुरसेनापति ने घंटा बजाया। घंटा के वजते ही अन्य देवघण्टे भी वजने लगे। उनकी आवाज से देवताओं के अन्य वाद्य भी वजने लगे।[5] इससे ज्ञात होता है कि घंटा मांगलिक वाद्य था। देवअर्चना में प्राचीन समय से आज तक प्रयुक्त होता है। यद्यपि शास्त्रीय संगीत से घंटा का कोई सम्वध नहीं है तथापि भगवान् की पूजा में उसका अत्यधिक महत्त्व होने कारण संगीत के ग्रन्थो में भी उसे पर्याप्त स्थान मिला है। संगीतरत्नाकर में घण्टा को घनवाद्य कहा गया है (६·११०२,८)। पूजा के अतिरिक्त युद्ध एवं विजय के अवसर पर भी घण्टा बजाया जाता था, जिसे जयघण्टा कहा जाता था।[6]

---

१. जै०—यश० सा०, पृ० २२५.
२. चुन्नीलाल शेष, अष्टछाप के वाद्ययन्त्र, व्रजमाधुरी, वर्ष १३, अंक ४.
३. भागवतगीता, १.१५, १८.
४. सं० र०, ६.७३४, ९५.
५. सुर-सेणावइ-तालिय-घंटा-रावुच्छलंत-पडिसद्दं—९६.११.१२.
६. यशस्तिलकचम्पू, पृ० ५८२.

ताल—उद्द्योतन ने ताल का दो प्रसंगों में उल्लेख किया है। रासनृत्य में युवतियों द्वारा ताल बजाने से उनके वलय कल-कल शब्द कर रहे थे (४.२९)। स्वर्ग में गन्धर्व, ताल एवं तन्त्री का सम्मिलित मधुर शब्द हो रहा था (४३.६)।

अग्नि द्वारा शोधित कांसधातु के वाद्य घनवाद्यों में प्रमुख हैं। इनमें ताल नामक वाद्य सर्वप्रमुख है। ताल एक प्रकार का मंजीरा ही है, किन्तु इसका आकार सामान्य मंजीरा से बड़ा होता था। शास्त्रीय संगीत में घन-वाद्यों का अत्यधिक महत्त्व था क्योंकि ताल, लय आदि का संकेत वादक इन्हीं से ग्रहण करते थे। ताल को धारण करने के कारण मंजीरा को प्राचीन समय में 'ताल' नाम दिया गया था।

संगीतग्रन्थों के वर्णन के अनुसार ताल दो भागों में विभाजित होता है। एक डोरी के माध्यम दोनों भाग परस्पर जुड़े होते हैं। इन दोनों भागों को इस प्रकार बजाया जाता है, जिससे इनकी ध्वनि मधुर लगे (सं० र० ६,११७७)। आजकल देहातों मे रामधुन आदि के अवसरों पर मंजीरे बजाने का काफी प्रचलन है, जो ताल के संक्षिप्त रूप मे होते हैं।

उपर्युक्त वाद्यो के अतिरिक्त उद्द्योतन ने कुव० में गन्धर्व (४३.६, तोडहिया (८२.३३), नाद (६.२४), मंगल (६७.६ आदि), वज्जिर (९६.१२) तथा वव्वीसक, मन (२६.१७) वाद्यो का उल्लेख किया है। संगीतग्रन्थों के अध्ययन से इन पर विशेष प्रकाश पड़ सकता है। सम्भव है, तोडहिया, बज्जिर एवं वव्वीसक लोक-वाद्य रहे हों।

परिच्छेद तीन

चित्रकला

उद्द्योतनसूरि ने कुवलयमालाकहा में चित्रकला के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी दी है। भित्तिचित्र एवं पटचित्र का विशेष वर्णन इस ग्रन्थ में हुआ है। चित्रकला की विषयवस्तु, निर्माण-प्रक्रिया एवं उसमें प्रयुक्त रंग आदि के सम्बन्ध मे जानने के लिए ग्रन्थ में उल्लिखित चित्रकला के सभी सन्दर्भों का परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। उद्द्योतनसूरि ने इन प्रसंगों में चित्रकला का वर्णन किया है:—

१. राजा दृढ़वर्मन् के दरबार में अन्य विद्वानों के साथ चित्रकला में प्रवीण **अण्णे चित्तयम्म-कुसला** (१६.२४) विद्वान् भी उपस्थित रहते थे।

२. कुवलचन्द्र का जन्म होते ही अन्तःपुर की परिचारिकाएँ अनेक कार्यों में व्यस्त हो गयीं। एक ने कहा—प्रिय सखी पुरन्दरदत्ते, भवन की सभी भित्तियों पर प्रतिबिम्बित मनोहर चित्रकर्म से व्याप्त एवं पूर्णिमा के चन्द्रमा की पक्तियों से रेखांकित मंगलदर्पणमाला की सम्हाल तू स्वयं क्यों नहीं करती ? (१७.२५, २६)।

३. कुमार कुवलयचन्द्र ने ७२ कलाओं में चित्रकला का भी अभ्यास किया था—**चित्त-कला-जुत्तीओ** (२२.६)।

४. शाम होते ही कामिनीगृहों में चित्रभीतियों को साफ किया जाता था—**पप्फोडेसु चित्त-भित्तीओ** (८३-४)।

५. कुवलयचन्द्र कुवलयमाला से विवाह कर अयोध्या की तरफ लौट रहा था। रास्ते में चित्रपट लिए हुए एक मुनि से उसकी भेंट हुई। परिचय पूछने पर मुनि ने इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया:—

'कुमार, लाट देश में द्वारकापुरी नगरी है। वहाँ के राजा सिंह का मैं भाणु नामक पुत्र हूँ। मुझे चित्रकर्म करने का व्यसन हो गया था—**ममं च चित्तयम्मे वसणं जायं**—(१८५.११)। रेखा, स्थान, भाव से युक्त रंग-संयोजन द्वारा चित्रकर्म मैं जानता हूं तथा चित्रों की परीक्षा करना भी जानता हूँ।'[1] एक दिन मैं बाह्य उद्यान में गया। वहाँ एक उपाध्याय से मेरी भेंट हुई। उन्होंने मुझसे कहा—'कुमार, मैंने एक चित्रपट लिखा है। उसे आप देखें, सुन्दर है या नहीं।' मैंने कहा—'चित्रपट दिखाइये तब बताऊँ कि वह कैसा है।' उपाध्याय ने मुझे चित्रपट दिखाया। उस चित्रपट में पृथ्वी की समस्त वस्तुएँ चित्रित थीं।[2] दिव्य चित्रकर्म की भाँति वह अत्यन्त संक्षिप्त, किन्तु सभी दृश्यों को प्रत्यक्ष करने वाला था।[3]

मैंने पूछा—'मुनिवर, इस पट में आपने क्या लिखा है ?' वे बोले 'कुमार, यह संसार-चक्र है।' मैंने कहा—'कृपया इसे विस्तार से समझाइये।' मुनि ने छड़ी के अग्रभाग से उस चित्र को इस प्रकार दिखाना प्रारम्भ किया—**वंडग्गेणं पदंसिउं पयत्तो** (१८५.२२)।

'कुमार, देखो, यह मनुष्य लोक का चित्र है, जहाँ केवल दुःख ही प्राप्त होते हैं।' मनुष्य लोक के चित्र में निम्न चित्रों का अंकन उस चित्रपट में था—

१. शिकार के लिए घोड़े पर आरूढ़ दौड़ता हुआ राजा।[4]
२. मरने के डर से काँपते हुए इधर-उधर भागते हुए जीव (१८५.३०)।
३. पशुओं को इकट्ठा करने के लिए हांका भरने वाले लोग (१८५.३१)।
४. डाकुओं के द्वारा पकड़ा गया कोई व्यक्ति, जो भय से काँप रहा है।[5]
५. उस व्यक्ति को अनेक पीड़ाएँ देते हुए डाकू (१८६.१,२)।
६. लुटनेवाले व्यक्ति का परिग्रही रूप (१८६.३)।
७. हल जोतते हुए कृषक पुत्र[6]।
८. कंधे पर जुआ रखे हुए, नाक छिदाये हुए, गले में रस्सी बाँधे हुए तथा रुधिर गिराते हुए बैल (१८६.७, ८)।

---

१. रेहा-ठाणय-भावेंहि संजुयं वण्ण-विरयणा-सारं।
   जाणामि चित्तयम्मं णरिंद दट्ठुं पि जाणामि ॥—१८५.१२
२. दिट्ठं च मए तं पुहईए णत्थि जं तत्थ ण लिहियं।—१८५.१५
३. दिव्व-लिहिययं पिव अइसंकुलं सव्ववुत्तंत-पच्चक्खीकरणं, वही—१६.
४. आहेडयं उवगओ एसो सो णरवई इमं पेच्छ .... धावइ तुरयम्मि आरूढो, २८
५. एसो वि को वि पुरिसो गहिओ चोरेंहि ... विक्कोसइ वराओ, वही, ३२.
६. एए वि हलियउत्ता लिहिया मे णंगलेण वाहेंता, १८६.६

९. हल के फाल से फटती हुई धरती (१८६.६)।
१०. जमीन खोदते हुए मजदूर (लिहिओ परकम्मकरो) १०,११।
११. फसल काटते हुए किसान (१८६.१२)।
१२. खलिहान में बैलों द्वारा फसल से अनाज निकालते हुए किसान,(वही)।
१३. खाट पर लेटे हुए ज्वर से पीड़ित व्यक्ति। उसके परिचर्या करते हुए कुटुम्ब के लोग (१८६.१४,१७)।
१४. पति के मर जाने पर रोती हुई पत्नी (१८६.२०), दास (२१), मित्रगण (२३)।
१५. कफन उढ़ाकर शव को कंधे पर ले जाते हुए व्यक्ति (२४)।
१६. तृण, काठ और अग्नि ले जाते हुए अकृतज्ञ बंधुगण (२५)।
१७. चिता बनाते हुए तथा अग्नि देते हुए बन्धुगण (२७)।
१८. जलती हुई चिता के पास रोती हुई पत्नी (३०), पिता (३१) माता (३२)।
१९. अपने सिर पर लकड़ी भमाते हुए तथा तालाब में जाकर मृतात्मा को पानी देते हुए रिस्तेदार (१८७.३, ४)।
२०. ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा देते हुए कुटुम्बी (५)।

'कुमार, यह एक दूसरा चित्र मैंने लिखा है। इसे देखने की कृपा करो कि यह शोभन एवं विद्ध है अथवा नहीं ?'[1] निम्नोक्त चित्रों का अंकन उस चित्रपट मे था :—

१. कोई युवक किसी युवती के साथ कुछ वात कर रहा है एवं युवती लज्जावश पाँव के अगूँठे से जमीन खोद रही है तथा मुस्कुरा रही है (१८७.७, ८)।
२. स्पर्शसुख की इच्छा से प्रियतमा का गाढालिंगन करता हुआ युवक (६)।
३. युवक-युवतियो के मैथुन की अनेक मुद्राएँ (१२)।
४. संगीत एवं धार्मिक क्रियाओं द्वारा जन्मोत्सव मनाती हुई महिलाएँ (१८)।
५. जन्मोत्सव पर नाचते हुए लोग (२०)।
६. गाते हुए, दाँत दिखाकर हँसते हुए, आँसू बहाकर रोते हुए, किसी कार्य के लिए भागते हुए तथा विश्राम करते हुए व्यक्तियों के चित्र (२१-२५)

१. पेच्छसु कुणसु पसायं विद्धं किं सोहणं होइ, १८७.६.

७. पहलवानी करता हुआ बलशाली पहलवान (२६)।
८. आभूषण पहिने हुए कोई रूपवान व्यक्ति (२७)।
९. कण्ठा एवं कटक पहिने हुए कोई धनवान (२८)।
१०. अपने ऊँचे कुल का घमण्ड करता हुआ व्यक्ति (२९)।
११. उन्मत्त लोभी व्यक्ति (३०)।
१२. ज्ञान एवं आचरण से रहित हाथ में पुस्तक लिए कोई पंडित (३१)।
१३. तप करने का ढोंग करता हुआ कोई भुजदण्ड धारण किये हुए व्यक्ति (३२)।
१४. धनुष-बाण लिए हुए कोई व्यक्ति (१८७.३३)।
१५ नंगी तलवार लिए हुए कोई व्यक्ति (१८८.१)।
१६. पिंजड़े में बन्द शुक-सारिका (१८८.३)।
१७. गर्भभार से पीड़ित प्रसूत के लिए तड़पती स्त्री (४)।
१८. बच्चे के जन्म पर नाचती हुई स्त्रियाँ (८)।
१९. मुर्गों एवं शुकों के साथ खेलता हुआ बच्चा (१३)।
२०. कन्याओं एवं युवतियों के साथ रमण करता हुआ तरुण (१४,१५)।
२१. स्त्रियों के बीच उपेक्षित कोई बूढा व्यक्ति (१६)।
२२. भीख माँगता हुआ कोई भिखारी (१७)।
२३. चीवर एवं कंथा पहिने हुए कोई साधु (१८)।
२४. भौतिक साधनों का उपभोग करता हुआ कोई व्यक्ति (१९)।
२५. पालकी में बैठा राजा (२०)।
२६. संग्राम में लड़ते हुए सैनिक (२१)।
२७. सिंहासन पर बैठा हुआ राजा तथा सामन्त लोग (२२)।
२८. लोभवश समुद्र में घुसने वाले व्यक्ति (२४)।
२९. परधन को चुराते हुए चोर (२५)।
३०. मछली पकड़ते हुए मछुए (२६)।
३१. झूठ बोलते हुए बनिये (२८)।
३२. घर त्याग कर मोक्षमार्ग का साधन करने वाले साधु (१९)।

'कुमार, इस प्रकार यह मैंने मनुष्य लोक का संक्षेप में विद्ध तथा स्थान से मनोहर चित्र अंकित किया है—एयं कुमार, लिहियं मणुयाणं विद्धठाणयं रम्मं संखेवेण (१८८.३०)।' इस प्रकार कहकर उन मुनिराज ने मुझे चित्रपट का

दूसरा भाग दिखाया, जिसमें तिर्यंच गति के जीवों का चित्रण था। वह चित्र चित्र-कला की दृष्टि से श्रेष्ठ एवं सुस्पष्ट था—**तं चिय सुव्वत्ति णिउणो तं चित्तकलासु सुदृठु विम्माओ**—(१८८.३२)। अतः उन्होंने मुझसे उस पर क्षण भर दृष्टि डालने का आग्रह किया। उस चित्र में सिंह और गज का युद्ध, बाघ और वृषभ का युद्ध, भैंसों का युद्ध तथा मोर और सर्प का युद्ध चित्रित था (१८८.३३, १८९.१) एवं निर्बल जीव का बलवान जीव द्वारा कैसे भक्षण किया जाता है इसका विस्तृत चित्रण था (१८९.५,१७)।

इसके बाद उन्होंने मुझे नरक का चित्र दिखाया।[1] उसमें नारकियों को परस्पर लड़ते हुए तथा नाना दुःख प्राप्त करते हुए चित्रित किया गया था। वैतरणी नदी बनी हुई थी, जिसमें गर्म पानी बह रहा था, इत्यादि। तदन्तर उन्होंने मुझे स्वर्ग का चित्र दिखाया।[2] उसमें देव, अप्सरा तथा इन्द्र आदि का अनेक सुख भोगते हुए चित्रण था। अन्त में शाश्वत सुखवाले मोक्ष का चित्रण था—**लिहिओ मोक्खो अच्चंत-सुम-सोक्खो**—(१९०.१३)।

इस 'संसार-चक्र' नामक पटचित्र के अतिरिक्त उन मुनिराज के पास एक दूसरा भी पटचित्र था—**दिट्ठं मए तस्स एक्क-पएसे अण्णं चित्तयम्मं** (१९०.२१)। मेरी प्रार्थना पर उन्होंने उसे भी खोलकर दिखाया। उसमें दो वणिक पुत्रों की कथा चित्रित थी, जिसमें निम्नोक्त दृश्य थे—

१. प्रासाद, नागरिक लोग, विपणिमार्ग तथा राजमंदिर में बैठे हुए राजा से युक्त चंपा नगरी का चित्र (१९०.२४-२७)।
२. धणदत्त नामक श्रेष्ठी एवं उसकी भार्या का दो पुत्रों सहित चित्र (२८-२९)।
३. दोनों वणिक्पुत्र व्यापार करते हुए—**वणिय-कम्मम्मि** (१९१.२)।
४. हल जोतते हुए—**हल-णंगल-जोत्त-पग्गह-विहत्था**। (१९१.६)।
५. पशु लादते हुए—**आरोविय-गोणि-भरियाला**। (१९१.८)।
६. मजदूरी न देता हुआ उनका मालिक (१९१.१०)।
७. भीख माँगते हुए (१२)।
८. समुद्र तट पर स्थित जहाज में नोकरी माँगते हुए (१५)।
९. बीच समुद्र में भग्न-जहाज (१८)।
१०. फलक पर आरूढ़ दोनों वणिक् पुत्र (१९)।
११. रोहण-द्वीप पर परस्पर बातचीत करते हुए (२१)।

१—एयं पि पेच्छ णरयं कुमार लिहियं मए इह पडम्मि। १८९.१८.

२. एयं पि मए लिहियं कुमार सग्गं सुओवएसेण। १८९.३२.

१२. हाथ में पुस्तक लिए हुए (२९)।
१३. बिल में प्रवेश करते हुए—**बिलम्मि पविसंतया लिहिया** (२६)।
१४. मन्त्रसाधना करते हुए (३१)।
१५. देवी के चरणों में बैठे हुए (१६२.१)।
१६. पर्वत की चोटी पर बैठे हुए (१६२.२)।
१७. अस्थिमय पंजरित शरीरवाले (१६२.३)।
१८. पर्वत के शिखर से गिरते हुए (१६२.१०)।
१९. साधु के पास बैठकर उपदेश सुनते हुए (१९)।
२०. तप करते हुए—**लिहया तवं काऊण समाढत्ता** (१६३.३२)।

इस विस्तृत चित्रपट के वर्णन के बाद कुवलयमाला में चित्रकला के दो उल्लेख और प्राप्त हैं :—

६. कुवलयचन्द्र के अभिषेक के समय राजसभायें चित्रित की गयीं—**चित्तिज्जंति राय-सभाओ** (१६६.२६)।

७. अरूणाभपुर के राजकुमार कामगजेन्द्र के दरबार में एक चित्रकार पुत्र उपस्थित हुआ। उसने पट पर चित्रित एक चित्रपुतली राजकुमार को समर्पित की—(२३३.८)। वह चित्र सकल कलाओं में प्रवीण लोगों के द्वारा प्रशंसनीय था—**सयलकला-कलाव-कुसल-जण-वण्णणिज्ज त्ति**। उसे देखकर कामगजेन्द्र ने कहा—'किसी ने सच ही कहा है कि राजा, चित्रकार एवं कवि तीनों नरक में जाते हैं (२३३.९)। क्योंकि पृथ्वी में जिस वस्तु का अस्तित्व भी नहीं होता, ये तीनों उसकी सत्ता बतलाते हैं। अतः झूठ बोलने के कारण नरकगामी होते हैं (२३३.११,१२)'।

चित्रकार-दारक ने कामगजेन्द्र की इस बात का प्रतिवाद करते हुए कहा—'कुमार, राजा तो स्वतन्त्र होता है अतः उसे नरक जाने से कौन रोक सकता है। कवि जो कुछ सुनता है, देखता है तथा अनुभव करता है उसे ही अपनी प्रतिभा से (**सत्तीए**) काव्य में उतारता है। उसी प्रकार चित्रकला में प्रवीण चित्रकार भी किसी वस्तु को देखकर ही चित्र बनाता है।'[1] इस सुन्दरी का चित्र भी मैंने उज्जयिनी की राजकुमारी को देखकर तदनुरूप बनाया है—**उज्जेणीए...बट्ठूण इमं रूवं तइउ चिचय विलिहियं एत्थ** ((२३३.१६)।

१. राया होइ सतंतो वच्चउ णरयम्मि को णिवारेइ।
जं चित्त-कला-कुसलो कई य अलियं पुणो एयं॥
सत्तीए कुणइ कव्वं दिट्ठं व सुयं व अहव अणुभूयं।
चित्त-कुसलो वि एवं दिट्ठं चिय कुणइ चित्तम्मि॥—कुव० २३३.१४,१५.

यह सुनकर कामगजेन्द्र ने उस चित्र को पुनः देखना प्रारम्भ किया। उस चित्र की निम्नोक्त विशेषतायें थीः—

१. उसकी आकृति निद्रा सदृश मन एवं नयनों को हरने वाली थी—**निद्दं पिव मण-णयण-हारिणी।**
२. वह चित्र तिलोत्तमा सदृश स्थिर पलक वाला—(**तिलोत्तिमं पिव अणिमिस दंसणं**),
३. शक्ति सदृश हृदयविदारण में समर्थ (**सत्तिं पिव हियय-दारण-पच्चलं**),
४. स्वर्ग सदृश अनेक पुण्यों से प्राप्त (**सग्गपुरिं पिव बहु-पुण्ण-पावणिज्जं**),
५. शुक्ल पक्ष के प्रथम दिन के चन्द्रमा सदृश विशुद्ध रेखायुक्त,
६. महाराजा की राज्यवृत्ति सदृश सुविभक्त वर्णों (रंग) से शोभित—(**महाराय-रज्जवित्ति पिव सुविभत्त-वण्ण-सोहियं**),
७. पृथ्वी सदृश स्पष्ट लिखावट—रचना से युक्त (**धरणिं पिव ललिय-वीसंत-वत्तिणी-विरयणं**),
८. विपणिमार्ग सदृश मान-प्रमाण से युक्त (**विवणि-मग्गे पिव माण-जुत्तं**) तथा
९. जिनेन्द्र भगवान् सदृश सुप्रतिष्ठित अंगोपांगयुक्त (२३३.२०,२३) था।

कामगजेन्द्र को उस चित्र को देखकर ऐसा प्रतीत हुआ मानों चित्रकला में प्रवीण ब्रह्मा ने स्वयं कामदेव के शरीर को तोड़कर उसे अमृत में मथकर स्याही बनायी है तथा उससे यह चित्र बनाया है।[1] चित्र को देखकर वह क्षण-भर को स्तम्भित, ध्यानस्थ तथा प्रतिमासदृश हो गया।[2] तदनन्तर उसने पट में चित्रित उस राजकुमारी से विवाह करने की इच्छा व्यक्ति की। तब मन्त्रियों ने उसे सलाह दी कि आप अपना चित्र चित्रपट में बनवाकर इस चित्रकार के द्वारा उस राजकुमारी के पास भिजवा दीजिये। चित्र को देखकर वह राजकुमारी स्वयं आपको वरण कर लेगी।[3] चित्रकार दारक कामगजेन्द्र का चित्र बनाकर उज्जयिनी वापिस चला जाता है (२३३.३०)।

कुवलयमाला में उल्लिखित चित्रकला के इस विवरण से प्राचीन भारतीय चित्रकला के सम्बन्ध में कई नये तथ्य प्राप्त होते हैं। इस सामग्री को मुख्यतया दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—भित्तिचित्र एवं पटचित्र। इनका विवरण इस प्रकार है :—

---

१. भंतूण मयण-देहं मसिणं मुसुमूरिऊण अमएण।
चित्तकला-कुसलेणं लिहिया णूणं पयावइणा ॥—२३३.२४.
२. तं च दट्ठूण राया खणं थंभिओ इव झाण-गओ इव सेलमओ इव आसि।—२३३.२५.
३. देव, णियय-रूवं चित्तवडए लिहावेसु, तेणेय चित्तयरएण—२३३.२९.

भित्तिचित्र

प्राचीन भारत में भित्तिचित्र प्रमुखतः तीन स्थानों पर बनाये जाते थे। गुफाओं के अन्तर्गत, चैत्यालयों की दीवालों पर एवं राजमहलों के भवनों की भित्तियों पर। शयनागार में भित्तिचित्र बनवाने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। तदनुसार ही उद्द्योतन ने रानी प्रियंगुश्यामा के शयनागार एवं कामिनियों के वास-भवनों में भित्तिचित्रों का उल्लेख किया है। इन चित्रों की सजावट तथा देखभाल के लिये एक अलग परिचारिका भी होती थी। प्रियंगुश्यामा के शयनागार में भित्तिचित्रों के साथ पूर्णिमा की पंक्तियाँ तथा मंगलदर्पणों का उल्लेख किस कारण हुआ है, स्पष्ट नहीं हो सका। सम्भवतः छत की दीवाल पर बने हुए चन्द्रमा के चित्रों एवं दीवालों के चित्रों को बड़े-बड़े शीशों में प्रतिबिम्बित किया जाता होगा, जिससे सद्यप्रसूता रानी पलंग पर लेटे-लेटे ही इन चित्रों का देखकर मन बहला सके।

राजसभाओं को चित्रित करने के प्राचीन भारतीय साहित्य में उल्लेख मिलते हैं।[1] कुव० में राज्याभिषेक के समय राजसभा को चित्रित करने के उल्लेख से ज्ञात होता है कि मांगलिक अवसरों पर चित्रकारी करना भी शुभ माना जाता था। आज भी विवाह आदि के अवसरों पर घर की दीवालों एवं द्वार पर चित्र बनवाये जाते हैं।

पटचित्र

गुप्तयुग से मध्ययुग तक के भारतीय साहित्य में पट-चित्रकला के प्रचुर उल्लेख प्राप्त होते हैं। हर्षचरित में बाजार में पटचित्र दिखाकर आजीविका कमाने वालों का उल्लेख है। इनके पटचित्र परलोक की यातनाओं एवं वैभव से पूर्ण होते थे।[2] उदयसुन्दरीकथा में कुंडलित पटचित्र का उल्लेख है, जिसे फैलाकर राजा स्वयं अपने चित्र को देखता है।[3] समराइच्चकहा में पटचित्र-दर्शन के अनेक उल्लेख हैं। जिनसेन ने पटचित्र दर्शन द्वारा प्रत्यक्ष में मनोरजन तथा परोक्ष में पूर्वजन्म के वृतान्त को स्मरण करने का वर्णन किया है।[4] णायकुमारचरिउ में पटचित्र उपहार स्वरूप भेंट किये जाने का उल्लेख है। पंचदशी नामक वेदान्त ग्रन्थ में पटचित्र कैसे बनाये जाते थे इसका विस्तृत वर्णन है (पंच० ६ १,३)। उद्द्योतनसूरि ने कुवलयमालाकहा मे पटचित्रकला की इस प्रसिद्धि को और आगे बढ़ाया है तथा इस कला के विकसित रूप को प्रस्तुत किया है।

---

१. उ०-प्रा० सां० भू०—(चित्रकला)।
२. हर्षचरितम्—बाण, पृ० १५१.
३. उदयसुन्दरीकथा, अध्याय, ३, पृ० ५१.
४. मया विलिखितं पूर्वभवसम्बन्धिपट्टकम्।
क्वचिद् किंचिन्निगूढान्तः प्रकृतं चित्ररंजनम्॥—आदिपुराण ६.१९०.

कुवलयमालाकहा के वर्णन के आधार पर पटचित्रकला के प्रमुख तीन प्रकार प्राप्त होते हैं—व्यक्तिगत चित्र, धार्मिक चित्र एवं कथात्मक पटचित्र। इनके सम्बन्ध में उद्द्योतन ने निम्नोक्त विशेष जानकारी दी है।

व्यक्तिगत पटचित्र—नायक-नायिका में चित्रदर्शन का अभिप्राय (motif) साहित्य व लोक में प्राचीन समय से प्रचलित है। इस कारण व्यक्तिगत पटचित्रों का निर्माण अधिक मात्रा में हुआ। उद्द्योतनसूरि ने भी कामगजेन्द्र की कथा में इसी अभिप्राय का प्रयोग किया है। उज्जयिनी की राजकुमारी एवं कामगजेन्द्र के चित्र इतने आकर्षक बनाये गये थे कि दोनों परस्पर मोहित हो गये। व्यक्तिगत पटचित्रों की यह प्रमुख विशेषता रही है कि उनमें विद्धरूप आरोपित किया जाता रहा है। उद्द्योतन ने ऐसे चित्र को शक्ति के समान हृदय को विदारण करने में समर्थ माना है (२३३.२१)। व्यक्तिगत चित्र स्पष्ट रेखा, सुविभक्त रंग-संयोजन, मनोहर लिखावट, मान-प्रमाणयुक्त तथा सुनिश्चित अंगोपांग वाला होने के कारण ही इतना आकर्षक बनता होगा। उपलब्ध प्राचीन आकर्षक चित्रों में ये सभी विशेषताएँ प्राप्त होती हैं।

धार्मिक पटचित्र—पटचित्रों का मुख्य विषय धार्मिक रहा है। विशेषकर लम्बी-लम्बी पटों का निर्माण धार्मिक विषयवस्तु के कारण ही हुआ। क्योंकि उनमें अनेक विषयों का चित्रण करना पड़ता था। धार्मिक चित्रों में धार्मिक महापुरुषों, साधु-साध्वियों, भक्तजनों एवं पारलौकिक जीवन के चित्र अधिक अंकित किये गये हैं। कुवलयमाला में वर्णित 'भवचक्र' नामक पटचित्र भी धार्मिक चित्र ही है, किन्तु उद्द्योतनसूरि ने इसके लिए विषयवस्तु नयी चुनी है। गुप्तयुग में बुद्धघोष के उल्लेख के अनुसार ऐसे चरणचित्र बनाये जाते थे, जिनमें पाप-पुण्य के कर्मों का फल दिखाया जाता था।[1] महाकवि बाण ने यमपट्टों का उल्लेख किया है, जिनमें मृत्यु के बाद प्राप्त होने वाले सुख-दुखों को चित्रों द्वारा दिखाया जाता था।[2] उद्द्योतनसूरि ने न केवल स्वर्ग एवं नरक लोक के दृश्यों का पटचित्र में वर्णन किया है, अपितु मनुष्य लोक के जीवन का यथार्थ दृश्य भी चित्र में अंकित किया है। इस तरह के दृश्यों का चित्र न तो किसी ग्रन्थ में उल्लिखित है और न ही वर्तमान में उपलब्ध पटचित्रों में प्राप्त है। अतः उद्द्योतन ने पटचित्रकला के इतिहास में एक नया मौलिक विषय प्रस्तुत किया है, जिसका आंशिक रूप राजस्थान की मध्ययुगीन रामदला की पड़ तथा बंगाल के पटचित्रों में देखा जा सकता है।

धार्मिक पटचित्रों की एक और विशेषता का उल्लेख उद्द्योतनसूरि ने किया है। कुवलयमालाकहा में भवचक्र नामक पटचित्र छड़ी के अग्रभाग से दर्शक

१. उपाध्याय, भगवतशरण—गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास, पृ० १९७.
२. अ०—ह० अ०, पृ० ३१८

को गाथाओं द्वारा समझाया जाता है। चित्र समझाने के लिए पद्यों का प्रयोग इसलिए होता है ताकि पीढ़ी-दर-पीढ़ी इन चित्रों का प्रदर्शन होता रहे और नया प्रदर्शक पद्यों को कंठस्थ कर दर्शकों को चित्र समझाता रहे। राजस्थान में अनेक ऐसे पड़ प्रचलित हैं, जिनके प्रदर्शक गा-गाकर उन्हें दर्शकों को समझाते हैं।

कुवलयमाला का 'भवचक्र' नामक पटचित्र इस बात का भी संकेत करता है कि प्राचीन समय में धर्म प्रचार के लिए चित्रों का बहुविध उपयोग होता था। क्योंकि जहाँ प्रचारक की भाषा जनता नहीं समझती थी, वहाँ चित्रों की अभिव्यक्ति ही भावों की व्याख्या करने में समर्थ होती थी।[1] इसके लिए पटचित्र अधिक उपयोगी साबित हुए।[2] क्योंकि वे मोड़कर आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाये जा सकते थे। धनपाल ने इस प्रकार के पटचित्रों का उल्लेख किया है।[3] धार्मिक पटचित्रों की परम्परा तिब्बत में भी रही है, जिनका मूल आधार भारतीय बौद्ध पट-चित्र थे। इन तिब्बती धार्मिक चित्रों को 'टंक' कहा जाता था।[4]

कथात्मक पटचित्र—व्यक्तिगत एवं धार्मिक चित्रों के अतिरिक्त वस्त्रों पर कुछ ऐसे चित्र भी बनाये जाते थे जिनका सम्बन्ध किसी न किसी कथा अथवा कथांश से होता था। यह कथा महापुरुषों के जीवन से भी सम्बन्धित हो सकती थी, एक साधारण लोक कथा भी। कुव० में उल्लिखित दो वाणिक्-पुत्रों की कथा प्राचीन भारत में कथात्मक पटचित्र कला का प्रतिनिधित्व करती है। इसका विकसित रूप राजस्थान की पाबू जी की पड़, देवनारायण की पड़ आदि में तथा बंगाल के पटचित्रों की कथाओं में प्राप्त होता है।[5] कथा के अनुरूप ही इन पटचित्रों का नाम रख दिया जाता था। यथा-सच्चरित्तपट, कामदेवपट, लक्ष्मीपट, पाबु जी की पड़ आदि।[6] प्रायः कथात्मक पटचित्र जीविकोपार्जन के साधन के रूप में अधिक प्रचलित रहे हैं।

प्राचीन भारतीय चित्रकला के परिभाषिक शब्द

उद्द्योतनसूरि ने कुवलयमालाकहा के उपर्युक्त विवरण में अनेक ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है, जो भारतीय चित्रकला मे प्रायः प्रयुक्त होते रहे हैं। समय-समय पर कई नये शब्द जुडते रहे हैं। इस दृष्टि से कुव० में प्रयुक्त निम्न शब्द विचारणीय हैं—

---

१. पर्सी ब्राउन, इंडियन पेंटिंग, पृ० २६.
२. द्रष्टव्य, लेखक का 'पट-चित्रावली की लोक-परम्परा' नामक लेख, राजस्थान भारती, भाग १२, अंक ३-४.
३. तिलकमंजरी, पृ० १६५.
४. ज० ई० एस० जुकेर,—'पैंटिंग आफ द लामाज्' इलस्ट्रेड वीकली आफ इंडिया, २० मई, ७३
५. द्रष्टव्य, लेखक का उपर्युक्त लेख।
६. सम्मेलन-पत्रिका, कला अंक, पृ० ९९.

चित्तयर-दारओ (२३३.७)—प्राचीन भारतीय साहित्य में चित्रकार के लिए अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं :—शिल्पी, निपुण चित्रकार, चित्राचार्य, चित्र-विद्धोपाध्याय, चित्रकर, वर्णाट, रंगाजीव, रूपदक्ष आदि। किन्तु चित्रकार के लिए **चित्तयरदारओ** (चित्रकार का पुत्र) शब्द का प्रयोग उद्द्योतन ने संभवत: प्रथम बार किया है। प्रतीत होता है कि यह शब्द उस चित्रकार के लिए प्रयुक्त होता रहा होगा जो नायक-नायिका के चित्र बनाकर एक दूसरे के पास पहुँचाता रहा होगा। यह कार्य उसके लिए जीविका का साधन रहा होगा। सम्भवत: बड़े चित्रकारों के पुत्र अथवा युवक चित्रकार इस कार्य को करते रहे होंगे। अत: उन्हें चित्रदारक कहा जाने लगा होगा।

चित्तकला-कुत्तीओ, चित्तकुसलो, चित्तकला-कुसलो (२३३.२४)—इन तीनों शब्दों का अभिप्राय चित्रकला में अत्यन्त निपुण चित्रकार से है, जिसे आजकल मास्टर पेन्टर कहते हैं। प्राचीन समय में इसे चित्राचार्य[1] तथा निपुणचित्रकार[2] कहा जाता था। उद्द्योतनसूरि ने ऐसे चित्रकार की तुलना प्रजापति से की है—**चित्त-कला-कुसलेणं लिहिया णूणं पयावइणा।**

चित्तपुत्तलिया (२३३.८)—उद्द्योतन ने नायिका के हू-बहू चित्र को चित्र-पुत्तलिया कहा है।[3] हू-बहू चित्रों को प्रतिकृति, सादृश्य, प्रतिच्छन्दक एवं विद्धचित्र भी कहा था। हर्षचरित (पृ० १६५) तथा तिलकमंजरी (पृ० १६२) में भी चित्रपुत्रिका शब्द का प्रयोग हुआ है। उदयसुन्दरी कथा में (पृ० ९६) इसी को लेख्यपुत्रिका कहा गया है।

रेहा, वण्ण, वत्तिणी-विरयणं (१८५.१२)—रेखा, रंग एवं लिखावट प्राचीन चित्रकला में प्रचलित परिभाषिक शब्द थे। किसी भी अच्छे चित्र के रेखा, वर्ण और लिखावट (वर्त्तिनी) प्राण होते हैं। चित्रसूत्रम् में मार्कण्डेय ने यही बात कही है :—

> रेखा च वर्तना चैव भूषणं वर्णमेव च।
> विज्ञेया मनुजश्रेष्ठ चित्रकर्मसु भूषणम् ॥४१.१०

उज्जयिनी की राजकुमारी के चित्र में विशुद्ध रेखा, सुविभक्त रंगसंयोजन एवं स्पष्ट लिखावट होने के कारण ही वह इतना आकर्षक था कि कामगजेन्द्र उसे देखते ही चकित रह गया। यही स्थिति द्रौपदी के 'शम्बरकर्षण-चित्रपट' को देखकर दुर्योधन की हुई थी। दूतवाक्य में उसके उद्गार हैं—**अहो अस्य वर्णाढ्यता, अहो भावोपपन्नता, अहो युक्तलेखता।** इससे ज्ञात होता है कि रेखा, वर्ण और लिखावट को प्रथम शताब्दी में ही किसी अच्छे चित्र के गुण माना जाता था और आठवीं सदी तक इस स्थापना में कोई कमी नहीं आयी थी।[4]

---

१. मालविकाग्निमित्र नाटक, अंक प्रथम।
२. तिलकमंजरी—धनपाल।
३. दट्ठूण इमं रूवं तइउ च्चिय विलिहियं एत्थ—२३३.१९
४. द्रष्टव्य, शु०—भा० स्था०, पृ० ५५४-६०.

भाव (१८५.१२)—कुव० में भानुकुमार कहता है कि वह रेखा, स्थान और भाव से युक्त रंग-संयोजन द्वारा श्रेष्ठ चित्रकला को जानता है—**रेहाठाणय-भावेहिं संजुयं वण्ण-विरयणा-सारं** (१८५.१२)। इनसे स्पष्ट है कि रेखा के अतिरिक्त भाव और स्थान भी चित्रकला के प्रधान गुण थे। किसी भी चित्र की उत्कृष्टता भावों की समुचित अभिव्यक्ति से ही सम्भव है। चित्र केवल यन्त्राकृति सादृश्य नहीं है। रूप का सादृश्य जब भाव के दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर बाहर आता है तभी वह प्राणवन्त बनता है। चित्रकार पहले किसी भी वस्तु या व्यक्ति के रूप को अपने ध्यान में लाता है और मन में आये हुए उस ध्यान को आलेख द्वारा चित्र में उतारता है, तभी उत्कृष्ट चित्र बनता है। चित्रकला के इस महान सत्य को कालिदास ने भी अभिव्यक्त किया है—**'मत्सा-दृश्यं विरहतनुना भावगम्यं लिखन्ती'**—(मेघदूत २.२२)।

ठाणय (१८५.१२)—चित्रण के प्रकार या सौन्दर्य प्रगट करने की भंगिमा को स्थान कहते हैं। कोई चित्र किस कोण से सुन्दर दिखेगा, कुशल चित्रकार को इसका भी ज्ञान होना चाहिए। चित्रसूत्रम् में नौ प्रकार के स्थानों का वर्णन है[1]—ऋज्वागत, अनृजु, साचीकृत, अर्ध-विलोचन, पार्श्वगत, परावृत्त, पृष्ठागत, पुरावृत्त एवं समानत। शिल्परत्न में भी इन्हीं ९ स्थानों का उल्लेख है। कुव० में उल्लिखित उज्जयिनी की राजकुमारी का चित्र सम्भवतः अनृजु स्थान को ध्यान में रखकर बनाया गया था। क्योंकि उसकी चितवन इतनी तिरछी तथा तीखी थी कि शक्ति की तरह हृदय-विदारण में समर्थ थी।

माण, अंगोवंग (२३३.२२)—उद्द्योतनसूरि ने उज्जयिनी की राजकुमारी के चित्र को मानयुक्त तथा सुप्रतिष्ठित अंगोपांग वाला कहा है। चित्रसूत्रम् के अनुसार उद्द्योतन का यह उल्लेख प्रमाणित होता है, जिसमें कहा गया है कि व्यक्तिगत चित्रों में किसी पुरुष या स्त्री के अङ्ग, उपांग प्रमाण के अनुसार ही चित्रित होना चाहिये, हीनाधिक नहीं। अर्थात् चित्र के अङ्गों की ऊँचाई-निचाई तथा पुष्टता आदि स्पष्ट होनी चाहिए। तिलकमंजरी में चित्र की इस विशेषता को **'निम्नोन्नतविभागाः'** (पृ० १६६) कहा गया है। इसकी तुलना विष्णु-धर्मोत्तर पुराण में वर्णित वर्तना (शैडिंग) से की जा सकती है। पालि में इसे ही **उज्जोतन** कहा गया है।

बद्धुं (१८५.१२)—कुव० कहा में यह शब्द चित्रकला की परीक्षा करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। भानुकुमार कहता है कि मैं चित्रकला तो जानता हो हूँ, उसकी परीक्षा करना भी जानता हूँ—(१८५.१२)। चित्रकला का अभ्यास उसके लिए व्यसन जैसा था। अपने इस समीक्षक ज्ञान के आधार पर ही वह मुनिराज से कहता है कि पहले आप अपना चित्र दिखलाइये तब बता सकूंगा

१. नवस्थानानि रूपाणां, चित्रसूत्रम् (३९.१)।

कि वह सुन्दर है अथवा नहीं।[1] कलाचार्य भी उसकी इस समीक्षक योग्यता से प्रभावित है। चित्रकला के अन्य ग्रन्थों में इस शब्द का उल्लेख नहीं है।

कुव० में उल्लिखित चित्रकला के उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि आठवीं सदी तक चित्रकला पर्याप्त विकसित हो चुकी थी। चित्रकला के स्वरूप एवं विषयवस्तु में भी विविधता थी। यही कारण कि है कि महाकवि बाण को उज्जयिनी की चित्रकला में विश्व के विविध रूप दिखायी दिये—(दर्शितविश्वरूपा चित्रभित्ति)। तथा उद्द्योतन ने समस्त पृथ्वी की वस्तुओं को चित्रपट में प्रतिबिम्बित दिखाया ही है।

●

---

१. जाणामि चित्तयम्मं णरिंद दट्ठुं पि जाणामि, १८५.१२।
—दंसेहि मे चित्तयम्मं जेण जाणामि सुंदरं ण व त्ति, १८५.१४।

परिच्छेद चार

नगर स्थापत्य

उद्द्योतन ने कुवलयमालाकहा में विभिन्न नगरों का वर्णन अत्यन्त व्यवस्थित रूप में किया है। इससे प्राचीन भारतीय नगर-सन्निवेश के विषय में महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। नगर की सुरक्षा के लिए चारों ओर एक गहरी खायी खोदी जाती थी, जिसे परिखा कहा जाता था। परिखा के बाद नगर के चारों ओर मजबूत और ऊँची दीवाल बनायी जाती थी जिसे प्राकार कहते थे। प्राकार पर ऊँची ऊँची बुर्जे बनायीं जातीं थीं, जिनमें बैठकर आते हुए शत्रु को दूर से ही देखा जा सके। इन्हें अट्टालिका कहते थे। प्राकार में विभिन्न दिशाओं में मुख्य और सामान्य द्वार बनाये जाते थे। मुख्यद्वार को गोपुर कहा जाता था। संभवतया गोपुर से प्रवेश करते ही रक्षामुख बनाये जाते थे, जिसे सैनिक चोकी या चेकपोस्ट कहा जा सकता है। रक्षामुख के उपरान्त नगर की आन्तरिक संरचना का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध में कुवलयमाला में उपलब्ध विनीता (७ २२), कोशाम्बी (३१.२९, ३०), कांची (४५.१६), समवसरण (९६.३२), जयश्री (१०४.९), माकन्दी (११७.२), उज्जयिनी तथा विजया (१४९.२०) आदि नगरियों के वर्णनों में उल्लिखित नगर-स्थापत्य द्रष्टव्य है।

परिखा–उद्द्योतन ने उज्जयिनी नगरी का वर्णन करते हुए कहा है कि भवनों की कतार राज्यपथों से विभक्त थी, राज्यपथों में विपणिमार्ग शोभित थे, विपणिमार्ग की शोभा गोपुरद्वार थे, गोपुरद्वार के आगे प्राकार शिखर बने थे, प्राकारशिखर की शोभा परिखाबन्ध से थी। परिखा में निर्मल जल की तरंगे शोभित थीं, जिनपर सुगन्धित पुष्प शोभित थे (१२४.२९, ३१)। इस वर्णन से परिखा, प्राकार, गोपुर, राज्यपथ, विपणिमार्ग, भवनपंक्ति का क्रम निश्चित होता है, जो प्राचीन नगरसन्निवेश के अनुकल है।

परिखा के इस उल्लेख के अतिरिक्त उद्द्योतन ने अन्यत्र परिखा को तप्त स्वर्ण से निर्मित (**उत्तत्त-कणय-मइया फरिहा**) (४५.१६) तथा पृथ्वीसदृश गंभीर

स्वभाववाली (गंभीर सहावश्रो परिहश्रो धरिणिश्रो व, ११७.३) कहा है। इससे ज्ञात होता है कि परिखा नगर की सुरक्षा के लिए गहरी बनायी जाती थी तथा उसमें जल भरा होता था। पुरन्दरदत्त ने पाताल सदृश जल से भरी गहरी परिखा को तैरकर पार किया था (८७.१२)।

प्राचीन समय में नगर सुरक्षा के दो साधन थे—प्राकृतिक तथा कृत्रिम साधन कृत्रिम साधनों में राजभवन या नगर के चारों ओर परिखा का निर्माण किया जाता था।[1] परिखा की गहराई लगभग १५ फुट होती थी।[2] परिखा तीन प्रकार की बनती थीं—जलपरिखा, पंकपरिखा, रिक्तपरिखा।[3] उद्द्योतन ने जलपरिखा का ही उल्लेख किया है। जातकों में इसे उदकपरिखा कहा गया है। कमल एव पुष्पों से युक्त होने के कारण कुवलयमाला में उल्लिखित यह परिखा वही है, जिसे कौटिल्य ने 'पद्मवतीपरिखा' कहा है।[4]

प्राकार—उद्द्योतन ने स्वर्ण एवं मणिरत्नों से निर्मित प्राकारों का उल्लेख किया है (६४.३३, ८६.३२, ११७.३ आदि)। जयश्री नगरी का प्राकार उसकी करधनी सदृश था (१०४.९) तथा विजयपुरी का प्राकार वलय की भाँति उसे घेरे हुए था (१४६.२१)। ये उल्लेख प्रस्तर प्राकारों के साहित्यिक रूप हैं। प्राकार अत्यन्त ऊँचे बनाये जाते थे ताकि शत्रु उन्हें पार न कर सकें।[5] पुरन्दरदत्त को रात्रि में वाह्य उद्यान में जाने के लिए अपने नगर के ऊँचे प्राकार को लाँघना बड़ा कठिन था। क्योकि वह प्राकार देवताओं द्वारा भी अलंघ्य था (८७.१२)। प्राचीन नगर सन्निवेश में प्राकार नगर की सुरक्षा का अन्यतम साधन समझा जाता था। यही कारण है कि प्राचीन भारत के सभी विशिष्ट नगरो का वर्णन प्राकारयुक्त मिलता है।[6] सम्भवत: ८वीं सदो की राजनैतिक अस्थिरता के कारण प्राकार की ऊँचाई और अधिक रखी जाने लगी होगी।

अट्टालक—उद्द्योतन ने कोशाम्बी नगरी के वर्णन में तुंग अट्टालक (३१.१६) का उल्लेख किया है। प्राकारों के ऊपर जो बुर्ज बनाये जाते थे उन्हें प्राचीन ग्रन्थों में अट्टालक कहा गया है।[7] ये अट्टालक नगर-प्राकार के चारों दिशाओं में बनते थे। अट्टालकों की ऊँचाई के कारण ही उद्द्योतन ने उन्हें तुंग अट्टालक कहा है। अर्थशास्त्र में (पृ० ५२) अट्टालकों तक सोपान बनाये जाने का उल्लेख है। इन अट्टालकों पर सैनिक तैनात रहते थे।[8]

---

१. अर्थशास्त्र, खण्ड १, पृ० ३१.
२. अ०—पा० भा०, पृ० १४४.
३. रा०—प्रा० न०, पृ० २४२.
४. अ० शा०—पृ० ५१.
५. शुक्रनीतिसार, अध्याय १, पंक्ति ७४४, दत्त—'टाउन प्लैनिंग इन एंशिएण्ट इण्डिया', पृ० ८७
६. अय्या, 'टाउन प्लैनिंग इन एंशिएण्ट डेकन', पृ० ३८.
७. अ० शा०, पृ० ५२.
८. रा०—प्रा० न०, पृ० २४८.

गोपुर—नगर के प्राकार द्वारयुक्त होते थे।[1] नगर के मुख्यद्वार को ही गोपुर कहा गया है।[2] उद्द्योतन ने भी प्राकारों की शोभा गोपुरद्वार को कहा है (१२४.३०)। गोपुर अत्यन्त ऊँचे बनते थे (५०.१९, ५६.२६)। सुरक्षा की दृष्टि से गोपुरद्वार में मजबूत कपाट लगे होते थे।[3] उद्द्योतन ने मणिनिर्मित कपाट का उल्लेख किया है—**गोउरकवाडमणि-संपुड** (१४९.२२)। ये दरवाजे निश्चित समय पर खुलते तथा बन्द होते थे।[4] पुरन्दरदत्त को रात्रि में गोपुरद्वार बन्द होने के कारण प्राकार लाँघकर बाहर जाना पड़ता है (८७.१२)। इसके अतिरिक्त उद्द्योतन ने नगर के अन्य सन्निवेशों के साथ गोपुर का कई बार उल्लेख किया है—(१५६.५, २०३.१०, २४६.३२ आदि)। वर्तमान में जयपुर नगर के विभिन्न द्वार (अजमेरी गेट आदि) प्राचीन गोपुरों की याद दिलाते हैं।

रक्षामुख—उद्द्योतन ने गोपुरों में रक्षामुख का उल्लेख किया है—**रच्छामुह-गोउरेसु** (१५६.५), (२८७.२२)। कुवलयचन्द्र के अभिषेक के समय रक्षामुखों को सजाया गया था—(१९९.२८)। ज्ञात होता है कि प्राचीन समय में गोपुर के अतिरिक्त जो गौण नगरद्वार होते थे, जिन्हें प्रतोली कहा जाता था।[5] उद्द्योतन ने उन्हें ही रक्षामुख कहा है। प्रतोली के समीप सैनिक नियुक्त किये जाते थे, ताकि शत्रु नगर में न घुस सकें।[6] रक्षा के इस प्रबन्ध के कारण ही उन्हें रक्षामुख भी कहा जाने लगा होगा। उद्द्योतन ने अन्यत्र **रच्छा-चउक्क** (५८.३२) का भी उल्लेख किया है। ये रक्षाचौक उस समय के पुलिस थाने थे। गुप्त प्रशासन में इन्हें 'गुप्तस्थान' कहा गया है। वस्तुपाल एवं तेजपाल के अभिलेखों में इन्हें रक्षाचतुष्क ही कहा गया है। मुगलकाल में भी इनका अस्तित्व था। आधुनिक हिन्दी में चौकी या थाना शब्द इनके लिए प्रयुक्त होता है।[7]

राजमार्ग—प्राचीन नगर सन्निवेश में गोपुर के बाद राजमार्ग बने होते थे। प्राचीन ग्रन्थों में इन्हें राजपथ[8] तथा महारथ्या[9] भी कहा गया है। उद्द्योतन ने इन्हें राजपथ तथा राजमार्ग कहा है। कुवलयचन्द्र के अभिषेक के समय राजपथ सुगन्धित जल से सींचे गये थे (१९९.२६)। नगर में प्रवेश करते हुए कुमार क्रमशः राजमार्ग को छोड़कर राजद्वार पर पहुँचा।[10] राजमार्ग नगर के विस्तार के अनुसार चौड़े बनाये जाते थे।[11] उद्द्योतन ने सम्भवतः राजमार्गों

---

१. अ० शा०, पृ० ५३.
२. पुरद्वारं तु गोपुरम्—अमरकोष, पृ० ७७, द्र०, शु०-भा० स्था०, पृ०१०५.
३. कपाटा : सर्वद्वारेषु—अपराजित-पृच्छा, पृ० १७३.
४. मेक्रिण्डिल, मेगस्थनीज एण्ड एरियन, पृ० ६६.
५. अ० शा०, पृ० ५३ एवं द्रष्टव्य, शु०-भा० स्था०, पृ० १०६-७.
६. हरिवंशपुराण, अध्याय ५४.
७. उ०-कुव० इ०, पृ० ११७
८. विष्णुसंहिता, अध्याय ७२, पंक्ति ७८.
९. समरांगणसूत्रधार, पृ० ३९.
१०. कमेण य वोलीणो कुमारो रायमग्गं, संपत्तं रायदारं, (२००.३)।
११. द्रष्टव्य—रा०-प्रा० न० पृ० २५४.

की चौड़ाई के कारण ही उन्हें महापथ भी कहा है—(१४५.९, १५६.५, २०३.१५)।

रथ्या—प्राचीन ग्रन्थों में राजमार्गों से छोटे मार्गों को उपरथ्या तथा रथ्या कहा गया है।[1] उद्द्योतन ने इसे 'रच्छा' कहा है—(५८.३२, २४७.२२, २५२.२ आदि)। किन्तु रथ्या का अर्थ शब्दकोश में 'मुहल्ला' दिया गया है। सम्भव है, मुहल्लों की संकरी गलियों को रथ्या कहा जाता रहा हो।[2] उद्द्योतन ने इन छोटी गलियों को वीथि (११७.३) तथा कतार-संकर (१९९.२८) भी कहा है। कुमार के अभिषेक के समय कतारसंकरों को साफ किया गया था।

चत्वर—राजमार्ग एक दूसरे को समकोण पर काटते थे। इनकी कटान से चौराहे बनते थे। प्राचीन ग्रन्थों में चौराहों के लिए चत्वर,[3] चतुष्पथ,[4] तथा शृंगाटक,[5] शब्द आते हैं। उद्द्योतनसूरि ने चौराहों के लिए चतुष्क और चत्वर शब्दों का एक साथ प्रयोग किया है—**चउक्क-चच्चर** (१४५.९, १५६.५, ५८.३२ आदि)। सम्भव है, चतुष्क और चत्वर में छोटे-बड़े चौराहे का भेद रहा हो। बड़े नगर के चौराहों को नगरचत्वर (**णयर-चच्चरे** ८६.२) कहा जाता था।[6] उद्द्योतन ने नगर के चौराहे पर स्थित कल्याणकारी केन्द्र का (९९.२२) तथा शरद ऋतु में नगर के चौराहों पर नटों द्वारा नृत्य करने का उल्लेख किया है।[7] अग्निपुराण में (अ० ६५ पंक्ति ४) नगर के चौराहों पर सभागार बनाने का उल्लेख है, जहाँ नागरिक मनोविनोद के लिए एकत्र होते थे। इससे ज्ञात होता है नगरचत्वर मनोविनोद के भी केन्द्र थे। सम्भवतः इसीलिए उद्द्योतन ने कई बार किसी व्यक्ति को खोजने (५८.३२) तथा कोई भी घोषणा आदि करने के प्रसंग में चत्वरों का अवश्य उल्लेख किया है।[8]

सिंगाडय—कुव० में चौराहों के साथ ही त्रिगड्डों का भी उल्लेख हुआ है। त्रिगड्डों के लिए शृंगाटक एवं त्रिक शब्द का प्रयोग उद्द्योतन ने किया है।[9] प्राचीन ग्रन्थों में त्रिगड्डो का उल्लेख कम मिलता है, जबकि कुव० में कई

---

१. समरांगणसूत्रधार, पृ० ३९.
२. डा० शुक्ला के मतानुसार यही उपमार्ग (रथ्यायें-उपरथ्यायें) पुर को मुहल्ल में बाँटते हैं—भा० स्था०, पृ० ८६.
३. मृच्छकटिकम्, अंक १.
४. अ० शा०, पृ० १४५.
५. शृंगाटक चतुष्पथे—अमरकोष, द्वितीय काण्ड।
६. मृच्छकटिकम्, अंक १.
७. एक्कम्मि य णयरि-चच्चरे णडेण णच्चिउं पयत्तं, (१०३.१५).
८. पाडहिओ घोसिउं च पयत्तो। कत्थ। अवि य।
सिंगाडय-गोउर-चच्चरेसु-पंथेसु-हट्ट-मग्गेसु।
घर-मढ-देवउलेसुं आराम-पवा-तलाएसुं॥—२०३.१०.
९. तिय-चउक्क-चच्चर, १४५.९.

बार इसका उल्लेख है। ज्ञात होता है कि आठवीं सदी तक नगर सन्निवेश में त्रिगड्डों का भी निर्माण होने लगा था, जिन्हें आजकल तिराहा कहते हैं।

हट्ट—नगर के प्रसिद्ध राजमार्गों तथा चत्वरों के किनारे-किनारे बाजारें होती थीं, जिन्हें उद्द्योतन ने हट्ट (२०३.१०) तथा विपणिमार्ग (२६.२८) कहा है। आजकल हट्ट को हाट कहा जाता है। विपणिमार्ग का विशेष विवरण आगे पृथक् रूप से प्रस्तुत किया गया है।

नगरसन्निवेश की उपर्युक्त सामग्री के अतिरिक्त उद्द्योतनसूरि ने कुव० में नगर के अन्य प्रमुख स्थानों का भी विभिन्न प्रसंगों में उल्लेख किया है। यथा—देवकुल (५८.३२), तडाग (२४७.२२), सूनाघर (५८.३२), आराम (२५९.१८), सरहद (२६१.१३), चट्टमठ (१५७.१६), पवा (२०३.१०), वापी (२०८.२८), आवसथ (८२.३३), सभा (१९९.३०), सत्रागार (२७ ३३), मंडप (३१.१४), उद्यान (२०८.२८), स्कन्धावार (१९४.२९) आदि इनमें से अधिकांश का विशेष परिचय सामाजिक संस्थाओं के अन्तर्गत सामाजिक जीवन वाले अध्याय में दिया गया है। नगरसन्निवेश में स्कन्धावार एवं भवन-स्थापत्य का विशेष महत्त्व है। अतः उनका परिचय यहाँ प्रस्तुत है।

स्कन्धावार

उद्द्योतनसूरि ने कुव० में स्कन्धावार का उल्लेख कई प्रसंगों में किया है। कुमार कुवलयचन्द्र ने अपने पिता का पत्र पाकर विजयपुरी से अयोध्या के लिए प्रस्थान की तैयारी की और दूसरे दिन विशाल स्कन्धावार से प्रयाण प्रारम्भ कर दिया (१८४.२२)। कुछ दूर जाकर कुमार ने पौरजनों से विदा ली तथा कुछ और आगे जाकर अपने ससुर एवं सास से वापिस लौट जाने की प्रार्थना की (१८४.२२,२४)। रास्ते में मुनि के चित्रपट को देखकर कुमार कुवलय-चन्द्र पुनः स्कन्धावार निवेश में लौट आया।[1] वहाँ से चलकर वह विन्ध्याटवी में पहुँचा। वहाँ पड़ाव डाल दिया। सुबह प्रयाणक वाद्य बज उठा (१९८.२२)। उसके शब्द से स्कन्धावार के सभी परिजन जाग गये। समान बाँधने की तैयारी करने लगे। हाथी पर हौदे रखे गये, अश्वों पर पलान कसे गये, ऊँट लादे गये, बैल लादे गये, रथ जोत दिया गया, गाड़ियाँ हाँक दी गयी, सामान के पात्र तैयार कर लिये गये, तम्बू लपेट लिए गये—**संवेल्लिज्जंति पडउडीओ,** सैनिकों ने वर्दियाँ पहिन लीं (**परिहिज्जंति समायोगे**), आयुध समेट लिए गये और पैदल सैनिक आगे चल पड़े (१९८.२२-२७)।

एक अन्य प्रसंग में, कामगजेन्द्र उज्जयिनी की राजकुमारी को व्याहने के लिये अपनी महारानी के साथ स्कन्धावार-सहित चल पड़ा। कुछ दूर जाकर पड़ाव डाला। रात्रि होते ही स्कन्धावार के अधिकांश लोग सो गये। किन्तु पहरेदार जागते रहे तथा गीत गाते रहे (२३४.१)।

१. संपत्ता तं खंधावार-णिवेसं। तत्थ कय-कायव्व-वावारा।—१९४.२९.

स्कन्धावार के उपर्युक्त विवरण से सांस्कृतिक महत्त्व की निम्नोक्त जानकारी मिलती है :—

१. स्कन्धावार को स्कन्धावारनिवेश एवं कटक सन्निवेश कहा जाता था (**संपत्तो कडय-संणिवेसं**, १९७.११, २४३.२७, २४४.१७)।
२. स्कन्धावार राज्यद्वार के बाहर के प्रदेश का नाम था, जहाँ तक पौरजन विदाई देने आते थे ।
३. स्कन्धावार अस्थायी निवास-व्यवस्था का नाम था, जहाँ आवश्यकता की सभी वस्तुयें उपलब्ध होती थीं ।
४. स्कन्धावार राजकीय स्थापत्य का प्रमुख अंग था ।
५. स्कन्धावार में सैनिक-प्रयाण का वर्णन उपलब्ध होता है ।

इस प्रसंग में उद्द्योतन द्वारा प्रयुक्त '**परिहिज्जंति समायोगे**' शब्दों का प्रयोग अधिक महत्त्वपूर्ण है । गुजराती अनुवादक ने इस पद का अर्थ 'स्थिरता को त्याग दिया' किया है, जो ठीक नहीं है। समायोग ७-८वीं सदी में सैनिक-वेषभूषा के लिए एक पारिभाषिक शब्द था । बाण ने कादम्बरी (अनु० २५७) में कुमार की वर्दी को समायोग कहा है । हर्षचरित में सम्राट् हर्ष का सैनिक अभियान भी समायोग ग्रहण से प्रारम्भ होता है (पृ० १५७) । अतः यहाँ पर भी उद्द्योतन का आशय सैनिकवर्दी पहिन लेने का है। इससे स्पष्ट है कि 'समायोग' सैनिकों के किसी सिले हुए वस्त्र के लिए प्रयुक्त होता था । शंकर ने 'समायोग' को दर्जियों का पारिभाषिक शब्द कहा है (हर्ष० पृ० २०७) ।

प्राचीन भारतीय राजप्रासाद की रचना में सबसे बड़ी इकाई स्कन्धावार होती थी । उसके भीतर राजकुल और राजकुल के भीतर धवलगृह होता था। स्कन्धावार पूरी छावनी की सज्ञा थी, जिसमें हाथी, घोड़े, सेना, सामन्त एवं रजवाड़ो का पड़ाव भी रहता था। महाकवि बाण द्वारा हर्षचरित के वर्णन से स्पष्ट होता है कि स्कन्धावार राजकुल के सामने का बहुत बड़ा मैदान कहलाता था, जहाँ राजा से मिलने आने वाले व्यक्ति ठहरते थे । इसी मैदान में बाजार-हाट भी होते थे, जिन्हे विपणिमार्ग कहा जाता था। विपणिमार्गों के बाद राज-द्वार होता था, जहाँ कड़ा पहरा रहता था ।[1]

महाकवि बाण द्वारा प्रस्तुत स्कन्धावार के इस स्थापत्य की पुष्टि उद्द्योतनसूरि ने की है। कुवलयचन्द्र जब विजयपुरी नगरी के राजद्वार तक पहुँचता है तो उसे प्रथम अन्य स्थानों पर भी ठहरना पड़ता है । कुवलयमाला के इस वर्णन से तत्कालीन स्थापत्य का यह क्रम ज्ञात होता है :—

१. नगर की उत्तरदिशा में पनघट (१४९.२७,३०)
२. विभिन्न प्रान्तों से आये हुए छात्रों का गुरुकुल (मठ) (१५०.१६,१७)

---

१. हर्षचरित : एक सास्कृतिक अध्ययन, पृ० २०३.

३. नगरी का गोपुर द्वार (१५२.१९)
४. हाटमार्ग (विपणिमार्ग) (१५२.२२)
५. राजांगण (राज्य द्वार के बाहर का स्थान) (१५३.१९, २०)
६. अन्तःपुर का बाह्यद्वार।[1]

प्रस्तुत वर्णन में कुमार का राजांगण से राजमहल में प्रवेश पागल हाथी की भगदौड़ के बीच हुआ है। अतः राजद्वार में सभाज्ञा प्रवेश, एवं बाह्य आस्थानमण्डप का वर्णन बीच में छूट गया है। उसके बाद अन्तःपुर आता है। किन्तु अन्यत्र उद्द्योतनसूरि ने सिंहद्वार (३२.३२, २००.३) एवं बाह्य-आस्थान-मण्डप का उल्लेख किया है।[2] जिससे ज्ञात होता है कि उनके समक्ष प्राचीन भारतीय राजप्रासाद के स्थापत्य का चित्र स्पष्ट था।

बाह्याली

उद्द्योतन ने राजप्रासाद स्थापत्य-निर्माण के क्रम में विपणिमार्ग के बाद वाह्याली का उल्लेख किया है। कुवलयचन्द्र आदि अश्वों पर चढ़कर विपणिमार्ग के बाद वाह्याली में पहुँचे (२६.२८)। घोड़ों को दौड़ाने का लम्बा-चौड़ा मैदान उस समय वाह्याली कहा जाता था, जो सज्जनमैत्री के समान सपाट (लम्बा) था—**दीहं सज्जण-मेत्ति व्व वाहियालिं पलोएइ** (२६.३०)। यह वाह्याली स्कन्धवार के द्वार से बाहर होनी चहिए, क्योंकि स्कन्धवार के प्रवेश-द्वार में हाथियों और घोड़ों के ठहरने के स्थान का उल्लेख तो बाण ने किया है, किन्तु उनके मैदान का नहीं। दूसरे, वाह्याली में पहुँचने के बाद राजा और कुमार अन्य साथियों को वहीं रोक देते हैं।[3] स्वयं आगे बढ़ जाते हैं, जहाँ से कुमार का घोड़ा आकाश में उड़ जाता है। अतः वाह्याली की स्थिति नगर से बाहर ही प्रतीत होती है।

वाह्याली को मोनियर विलियम ने भी घोड़ों के दौड़ने का मैदान कहा है। प्राचीन साहित्य में इसके और भी उल्लेख प्राप्त हैं।[4] अलंकार-विमर्शिनी में एक अन्य प्रसंग में वाह्याली का उल्लेख है। इसकी पहिचान करते हुए डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने इसे अश्वक्रीडा का मैदान स्वीकार किया है। साथ ही उनका सुझाव है कि यह मैदान आधुनिक 'पोलो' नामक खेल के लिए प्रयुक्त होता रहा होगा।[5] इस मन्तव्य को स्वीकार करने में अभी वाह्याली एवं पोलो की भाषा की दृष्टि से समानता तथा पोलो को भारतीय खेल सिद्ध करना आदि समस्याओं पर ऊहापोह की आवश्यकता है।

---

१. सअंतेउरो आरूढो भवण-णिज्जूहए दट्ठुं पयत्तो(१५४.१८).
२. कुव० ११.१५, ५०.३१ आदि।
३. दट्ठूण य वाहियालिं धरियं एक्कम्मि पदेसे सयल-बलं।—वही २६.३१.
४. आदिपुराण—जिनसेन, (३७.४७), मानसोल्लास, ४.३, ३३०, ४.४, ७९७. आदि। परिशिष्टपर्वन् (हेम०) एवं राजतरंगिणी में भी द्रष्टव्य-मोनियरविलियम।
५. डा० रामचन्द्र द्विवेदी से परामर्श करने के आधार पर।

बाह्याली को पोलो का मैदान स्वीकार करने के पक्ष में जिनसेन (८वीं) के आदिपुराण एवं मानसोल्लास के सन्दर्भ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इसमें जो वर्णन प्राप्त हैं, उनसे निम्नोक्त प्रमुख सूचनाएँ मिलती हैं :—

१. यह सौ धनुष लम्बा और उतना ही चौड़ा समतल मैदान होता था।
२. उसके मध्य में दर्शकों के लिए आलोक-मंदिर (दर्शक-कक्ष) बना होता था।
३. अश्व-क्रीडा के समय अश्वारोही दो भागों में आठ-आठ की संख्या में विभक्त हो जाते थे।
४. मैदान में दोनों छोरों पर एक-एक तोरण (गोल करने का स्थान) होता था, जिनमें से गेंद निकाली जाती थी।
५. अश्वारोही अपनी गेद्दिका से गेंद को उछालते थे।[1]
६. जो अश्वारोही बिना जमीन पर गिराये हुए गेंद को आकाश से लाकर तोरण से निकाल लेता था, वही या उसका पक्ष विजयी समझा जाता था।[2]

विपणिमार्ग

उद्द्योतन ने विपणिमार्ग का इन प्रसंगों में उल्लेख किया है। विनीता नगरी के विपणिमार्ग का विस्तृत वर्णन (पृ० ७.२६, ८.१.५) है। कुमार का अश्व विपणिमार्ग जैसा मान-प्रमाण युक्त था।[3] अश्व पर चढ़कर कुवलयचन्द्र राजमार्ग से गुजरकर विपणिमार्ग में आया, जहाँ अनेक दिशाओं के देशी बनिये अनेक प्रकार की वस्तुओं को फैलाकर कोलाहल कर रहे थे।[4] सागरदत्त पूंजी लेकर जयश्री नगरी के विपणिमार्ग में प्रविष्ट हुआ (१०५.७)। कुवलयचन्द्र ने एक सार्थ को देखा जो विपणिमार्ग जैसा अनेक बनियों से भरा हुआ था (१३५.१)। कुमार विजयपुरी नगरी में घुसते ही हाटमार्ग में जा पहुँचा (१५२.२२)। मुनि ने कुमार को चित्रपट में लिखे हुए चम्पापुरी के विपणिमार्ग को दिखाया, जो धन-धान्य से युक्त था (१९०.२६)। उज्जयिनी की राजकुमारी का चित्र विपणिमार्ग जैसा मानयुक्त था (२३३.२२)।

विपणिमार्ग का उक्त विवरण प्राचीन भारतीय वाणिज्य एवं व्यापार की दृष्टि से जितना महत्त्व का है, उतना ही स्थापत्य की दृष्टि से। यह नगर-विन्यास का एक अभिन्न अंग था। इसके आकार-प्रकार का संतुलन इतना निश्चित था कि उसकी उपमा चित्र के आकार-प्रकार के सन्तुलन से दी जा सकती थी। हर्षचरित (पृ० १५३) के वर्णन से भी ज्ञात होता है कि विपणिमार्ग

१. मानसोल्लास, ४.४.८००, ८२७.
२. द्रष्टव्य, शा०—आ० भा०, पृ० २४४.४६.
३. विवणि-मग्गु-जइसएण माणप्पमाण-जुत्तेण मुहेण। —२३.१७.
४. कुमारो वोलीणो राय-मग्गाओ—कमेणं संपत्तो विवणि-मग्गं अणेय-दिसा-देस-वणिय-णाणाविह-पणिय-पसारयाबद्ध-कोलाहलं—२६.२७-२८.

या बाजार की मुख्य सड़क स्कन्धावार का ही अंग मानी जाती थी। दिल्ली के लालकिले के सामने का जो लम्बा-चौड़ा मैदान है वह मध्यकाल में उर्दू-बाजार अर्थात् छावनी का बाजार कहलाता था, जो विपणिमार्ग का ही मध्यकालीन रूप था।[1]

सिंहद्वार

राज्यप्रासाद स्थापत्य में राज्यद्वार का महत्त्वपूर्ण स्थान था। राजभवन का प्रारम्भ राज्यद्वार के बाद ही होता था। राज्यद्वार के बाहर जो स्थान पड़ा रहता था, वहाँ तक आम जनता बेरोक-टोक जा सकती थी तथा राजा से मिलने की प्रतीक्षा में मुख्य द्वार के बाहर अपने तम्बू लगाकर पड़ाव डाल लेती थी। महाकवि बाण ने दस प्रकार के ऐसे शिविरों का उल्लेख किया है, जो राजा से मिलने के उत्सुक थे।[2] उद्द्योतनसूरि ने कुवलयमाला में इस बात की पुष्टि की है। कोसाम्बी नगरी का महामन्त्री वासव बाह्य उद्यान में मुनिराज के आगमन की सूचना देने राजा पुरन्दरदत्त के भवन में जाता है।[3] राज्यप्रासाद के सिंहद्वार पर पहुँचते ही वासव ने अपने-अपने कार्यों को पूरा कराने के इच्छुक हजारों व्यक्तियों को वहाँ संचरण करते हुए देखा।[4] वह द्वार के समीप अश्व से उत्तर गया। और पैदल ही राजा के समीप चला गया (३२:३२)।

यहाँ सिंहद्वार का अर्थ राजभवन की ड्योढ़ी से है। यहाँ पर बाह्य प्रतिद्वारों का पहरा रहता था। यह राजभवन की सुरक्षा के अनुरूप था। सम्भवतः द्वार पर कड़ा पहरा होने के कारण ही इसे सिंहद्वार कहा जाने लगा होगा। बाद में तो मुख्य द्वारों पर दोनों ओर सिंह की मूर्त्तियाँ भी बनायी जाने लगी थी।

बाह्य-आस्थान-मण्डप

प्राचीन भारतीय राजकुल-स्थापत्य में आस्थान मण्डप उस स्थान को कहते थे, जहाँ राजा सिंहासन पर बैठकर अन्य राजाओं एवं मंत्रियों के साथ विचार-विमर्श करता था। इसके दो भाग होते थे—बाह्य-आस्थान-मण्डप और अभ्यन्तर आस्थानमण्डप। कुव० में इन दोनों का वर्णन प्राप्त होता है।

उद्द्योतनसूरि ने बाह्य-आस्थानमण्डप का उल्लेख इन प्रसंगों में किया है। राजा दृढ़वर्मन् महानरेन्द्रों की मंडली से घिरा हुआ बाह्य-आस्थानमण्डप में बैठा हुआ था। जैसे ही उसे अन्तःपुर-महत्तरिका ने आकर कोई सूचना दी उसने राजाओं की सभा को विसर्जित कर दिया एवं वह वासभवन में चला गया

१. अ०—ह० अ०, पृ० २१७.
२. अ०—ह० अ०, पृ० २०३.
३. आरूढो तुरंगमे, पत्थिओ य राय-पुरंदरदत्तस्स भवणं। —३२.३१.
४. कज्जत्थिणा-जण-सय-सहस्सेहिं अण्णिज्जमाणो ताव गओ जाव राइणो सीह-दुवारं।—वही—३२.३२

(११.१५)। प्रियंगुश्यामा द्वारा स्वप्न देखने पर राजा दैनिक कार्य सम्पन्न-कर बाह्य-आस्थान भूमि में आकर चमकते हुए रत्ननिर्मित सिंहासन पर आकर बैठा।[1] राजा के बैठते ही उस महाआस्थान मंडप में विभिन्न विद्याओं में पारंगत अन्य राज्य-सभासद आकर अपने-अपने स्थान पर बैठ गये (१६.१७-१८)। ऐसी कोई कला, कौतुक एवं विज्ञान नहीं था, जिसके विद्वान् उस आस्थानिका के मध्य में न हो (१६.२७)। इस प्रकार की वासव-सभा एकत्र होते ही राजा ने रानी के स्वप्नदर्शन के सम्बन्ध में विचार किया। तथा विविध कला, शास्त्र, विज्ञान, विद्या, कथा आदि द्वारा अपना मनोरंजन करता हुआ राजा कुछ समय वहीं ठहरा एवं बाद में उठकर उसने अन्य दैनिक कार्य किये (१७.६)।

उज्जयिनी के राजा अवन्तिवर्द्धन के आस्थान-मण्डप में सभी महाराजा अपने-अपने स्थान पर बैठते थे -(५०.३१)। भूल से मानभट के स्थान पर कोई पुलिन्दराजपुत्र बैठ गया तो मानभट ने इसे अपना अपमान समझ कर उसकी हत्या कर दी और शीघ्र ही आस्थान-मण्डप से बाहर निकल गया।[2]

कुवलयचन्द्र का युवराज-राज्याभिषेक बाह्य-आस्थानमण्डप में होता है। मांगलिक कार्य सम्पन्न करते हुए कुमार आस्थानमंडप में प्रविष्ट हुआ एवं अनेक मणियों की प्रभा से युक्त स्वर्णनिर्मित महामृगेन्द्र आसन पर बैठा (२००.८)। तदनन्तर अभिषेक कार्य सम्पन्न हुआ।

राजा दृढ़वर्मन् ने सम्यक् धर्म में दीक्षा लेने के पूर्व सभी धार्मिक आचार्यों को अपने दरबार में बुलाया। उनके आते ही वह बाह्य-आस्थान-मण्डप में आया एवं सबके यथेष्ट आशीष आदि प्राप्त किये। तदनन्तर आसन पर बैठकर प्रत्येक धार्मिक के विचार सुने।[3] ऋषभपुर के राजा चन्द्रगुप्त के आस्थान-मण्डप में नगर के प्रमुख नागरिक अपनी शिकायत लेकर आते हैं। राजा तुरन्त दण्डवासिक को बुलाकर इसकी जानकारी प्राप्त करता है तथा समस्या गंभीर होने पर सकल आस्थान-मंडल की ओर देखता है -(२४७-१४)। उसका पुत्र वैरीगुप्त इस काम को पूरा करने का वायदा करता है।

बाह्य-आस्थान मण्डप के उपर्युक्त विवरण से उसके स्थापत्य एवं महत्त्व से सम्बन्धित निम्नलिखित जानकारी प्राप्त होती है :—

१. बाह्य-आस्थानमण्डप राजाप्रसाद की दूसरी कक्षा में प्रमुख द्वार के बाद में स्थित होता था।
२. इसे बाह्य-आस्थानमण्डप, बाह्य-आस्थान-भूमि, महा आस्थान-मंडल, आस्थानिका, अस्थानी-मण्डप, भी कहा जाता था।

---

१. तओ राया कयावस्सय-करणीओ·······णिक्कंतो बाहिरोवत्थाण-भूमिं, णिसण्णो तविय-तवणिज्ज-रयण-विणिम्मविए महरिहे सीहासणे। —कुव०, १६.१८.

२. णिक्खंतो लहुं चेव अत्थाणि-मंडवाओ—वही, ५१.९.

३. धम्मिय-पुरिसा, सम्पत्ता रायमंदिरं। राया वि णिक्खंतो बाहिरोवत्थाण-मंडवं दिट्ठो सव्वेहिं जहाभिरूव-दंसणीयासीसा-पणामसंभासणेहिं।—२०३.१९.

३. बाह्य-आस्थानमण्डप में, सभी विद्याओं एवं कलाओं के जानकार सभासद होते थे।

४. राजा किसी गूढ विषय में सभासदों से विचार-विमर्श करता था।

५. सभासदों के साथ बाह्य-आस्थानमण्डप में राजा विनोदपूर्वक अपना कुछ समय व्यतीत करता था।

६. बाह्य-आस्थानमंडप अनेक राजपुत्रों और सामन्तों से भरा रहता था।[1]

७. युवराज-अभिषेक का कार्य बाह्य-आस्थानमण्डप में सम्पन्न होता था।

८. नगर के प्रमुख व्यक्ति राजा के पास अपनी शिकायत पहुंचाने उसकी आज्ञा लेकर बाह्य-आस्थान-मण्डप तक जा सकते थे।

उद्द्योतन का बाह्य-आस्थानमण्डप सम्बन्धी उपर्युक्त वर्णन महाकवि बाण के वर्णन को प्रमाणित करता है। आगे चलकर इसी स्थापत्य का अनुकरण किया गया है। अपभ्रंश ग्रन्थ भविसयत्तकहा में (९.२,३) बाह्य-आस्थानमण्डप को 'सव्वावसर', अपराजितपृच्छा (७८.३१) में 'सर्वावसर', पृथ्वीचन्द्रचरित (पृ० १३२) में 'सर्वोसर' तथा कीर्तिलता और वर्णरत्नाकर में 'सवांसर' कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि बाह्य-आस्थानमण्डप तक मध्यकाल में भी आम जनता पहुँच सकती थी। मुगलकाल में बाह्य-आस्थानमण्डप को दरबार-आम कहा जाने लगा था।[2]

धवलगृह—कुव० में धवलगृह का इन प्रसगों में उल्लेख हुआ है: —तोसल राजकुमार अपनी नगरी में घूमता हुआ महानगर-श्रेष्ठि के धवलगृह के समीप पहुंचा। वहां से जाते हुए उसने जालगवाक्ष में बैठी हुई वणिक्पुत्री को देखा।[3] रात्रि में अभिसार के योग्य वेषधारण कर तोसल धवलगृह के समीप पहुंच कर रस्सी के सहारे प्रासाद पर चढ गया (७३.२४)। चिन्तामणिपल्ली के सेनापति का धवलगृह मेरुसदृश ऊँचा, हिमालय सदृश धवल तथा पृथ्वी के समान विस्तृत था (१३८.१९)। कुवलयमाला के विवाह के समय धवलगृह सजाया गया (१७०.२२)। कुवलयचन्द्र की विदाई के असर पर धवलगृह के मध्यभाग में विविध धान्यों से चौक पूरा गया।[4] धवलगृह के ऊपर अन्तःपुर से एक सिद्ध वैरीगुप्त की पत्नी को उठा लाया (२५२.२)।

उक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि धवलगृह प्रासाद-वर्णन का अभिन्न अंग था। धवलगृह में अन्तःपुर बनाया जाता था। महाकवि बाण के वर्णन के अनुसार

---

१. परमेसरत्थाणि-मंडलि जइमिया, रायसुयाहिट्ठिया अणेय-सामंत व्व। —२७.३२.

२. द्रष्टव्य, अ०—ह० अ०, पृ० २०५.

३. संपत्तो एक्कस्स महाणयर-सेट्ठिणो धवलहर-समीवं। —७३.८.

४. कयं धवलहरस्स बहुमज्झदेसभाए सव्व-धण्ण-विरुढंकुरा चाउरंतयं—१८१.२५.

धवलगृह राज्यप्रासादों की तीसरी कक्षा से प्रारम्भ होता था। इसमें घुसते ही ऊपर जाने के लिए सोपान होते थे। शयनगृह, वासभवन, आहार-मण्डप, स्नान-गृह, क्रीडावापी आदि धवलगृह में ही बनाये जाते थे। एक प्रकार से धवलगृह में राजाओं को आराम की सभी सुविधाएं जुटायीं जाती थीं।[1] धवलगृह राजाओं का निजी वासभवन होता था तथा राजप्रासाद में सबसे बड़ा और ऊँचा होता था। यह सामान्य भवनों में भी बनाया जाने लगा था।

अन्तःपुर (११.१८, २५५.२)—अन्तःपुर का इन प्रसंगों में उल्लेख है। राजा दृढवर्मन् बाह्य-उपस्थानमण्डप में मन्त्रियों एवं राजाओं से घिरे बैठे हैं तभी धौतधवल दुकूल-युगल पहिने हुए, मंगलग्रीवासूत्र मात्र आभूषण से सुशोभित, उज्ज्वल धवल मृणाल जैसे केशकलापवाली, शरद्ऋतु में चन्द्रमा की चांदनी से श्वेतरात्रि जैसी सुमंगल नामक अन्तःपुर-महत्तरिका वहां प्रविष्ट हुई। उसने उपरिवस्त्र से अपने मुख को थोड़ा-सा ढक कर राजा के दाहिने कान में कुछ कहा और वहां से चली गयी। तभी राजा ने अपनी सभा विसर्जित की और अपनी रानी के वासभवन की ओर चल दिये।[2] दूसरे प्रसंग में कुवलयचन्द्र का जन्म होते ही अन्तःपुर की वनिताएँ विभिन्न कार्यों में व्यस्त हो गईं (१७.२३, ३०)। तीसरे प्रसंग में कुमार कुवलयचन्द्र गुरुकुल से लौटकर प्रथम अपने पिता से मिलता है और बाद में वह माता से मिलने अन्तःपुर में जाता है, जहां पर नियुक्त वामन, बर्बर खुज्जा, वटभ आदि उसका मार्गदर्शन करते है तब वह क्रमशः जननी के भवन मे पहुंचता है।[3] चौथा प्रसंग ऋषभपुर के अन्तःपुर का है, जहां से वैरीगुप्त को रानी चंपावती को अकेली सोयी हुई जानकर राक्षस उठा ले जाता है (**धवलहरोवर अंतेउ र** २५२.२)।

प्राचीन भारत में राजकुल का आभ्यन्तर भाग अन्तःपुर या धवलगृह कहा जाता था। वहीं राजा रानो का आवास होता था। अन्तःपुर में विशेष प्रकार के परिजन नियुक्त किये जाते थे। राजकुल की सामान्य परिचारिकाओं से अन्तःपुर की परिचारिकाएं अधिक विश्वास योग्य होती थीं। कादम्बरी में भी इसी प्रकार कलवर्धना नाम की महत्तरिका रानी के गर्भवती होने का हाल राजा के कान में जाकर कहती है। यह महत्तरिका अन्तःपुर की समस्त स्त्री-प्रतिहारियों की अध्यक्षा होती थी। इसका पद विशिष्ट माना जाता था, जो विशेष निपुण एवं वयोवृद्ध प्रतिहारो को प्राप्त होता रहा होगा। क्योंकि अन्तःपुर की सर्वविध रक्षा का भार महत्तरिका पर ही होता था। कालिदास ने उसे 'शुद्धान्तरक्षी' इसी कारण कहा है।[4]

१. विशेष वर्णन एवं चित्र के लिए द्रष्टव्य, अ०—हृ० अ०, पृ० २१५.
२. धोय-धवल-दुगुल्ल-जुवलय-सुमंगला णाम राइणो अंतेउरि-महत्तरि त्ति—११.१६-२०
३. पयट्टो जणणीए भवणं। ताव य पहावियाओ बब्बर-वावण-खुज्जा-वडभियाओ देवीए वद्धावियाओ त्ति। ताव य कमेण संपत्तो जणणीए भवणं। — २२.२८, २९.
४. अ०—का०सां०अ०, पृ० ७३, (नोट)

कुमारीअन्तःपुर (१६४.८, १६८.८)—कुवलयमाला में कुमारी कुवलयमाला के अन्तःपुर का उल्लेख है। यह कन्या-अन्तःपुर रानियों के अन्तःपुर से भिन्न होता था। राजा विजयसेन अन्तःपुर के ऊपरी भाग (**भवणनिज्जूहए**) में बैठकर कुमार कुवलयचन्द्र और जयकुंजर हाथी का युद्ध देख रहा था। जयकुंजर को वश में करने के बाद उसने कुवलयचन्द्र को अपने पास बुलाया और कुवलयमाला से उसके अन्तःपुर में चले जाने के लिए कहा (१६४.८)। कुवलयमाला अपने अन्तःपुर में चली गयी—(१६४.१३)। उद्द्योतनसूरि ने कुवलयचन्द्र एवं कुवलयमाला के प्रथम दर्शन से लेकर उनके विवाह सम्पन्न होने तक का जो वर्णन किया है उससे कुमारी-अन्तःपुर के सम्बन्ध में निम्नोक्त जानकारी मिलती है :—

युवति राजकन्याओं के लिए जो विशेष आवास होते थे उन्हें अन्तःपुर या कन्या-अन्तःपुर कहा जाता था। महाकवि बाण ने इसी के लिए कुमारीपुरप्रासाद एवं कन्या-अन्तःपुर शब्दों का प्रयोग किया है—(कादम्बरी, पृ० १४७, १५१)।

कुमारीअन्तःपुर की सुरक्षा एवं प्रबन्ध के लिए निपुण स्त्री-कर्मचारियों की नियुक्ति होती थी। दारिका (१६०.८), कंचुकी (१६५.१), चेटी (१६७.११), विलासिणी (१६७.१४) एवं धात्री (१६१.२६) उनमें प्रमुख थीं। रानियों के अन्तःपुर में जो महत्त्व महत्तरिका का होता था वही कुमारी-अन्तःपुर में धात्री का। कुवलयचन्द्र से कुमारी-अन्तःपुर की धात्री भोगवती का परिचय कराती हुई दारिका कहती है—'कुमार, यह कुवलयमाला की जननी, धात्री, प्रियसखी, किंकरी, शरीर, हृदय एवं जीवन है।'[1] कालिदास ने भी कुमारी की रक्षिका को धात्री (रघु० ६.८२), जन्या (रघु० ६.३०), सखो (६.८२) कहा है। अतः यह कुमारीअन्तःपुर की अधिकारिणी अन्तःपुर की रक्षा तो देखती ही थी, कुमारी की प्रत्येक देखभाल का भार भी उसी पर होता था। भोगवती यद्यपि मध्य वयवाली स्त्री थी, किन्तु कुमारी कुवलयमाला के लिए वह सखी सदृश थी। उसका कुवलयचन्द्र से मिलन कराने की पूरी व्यवस्था वह अपनी जिम्मेवारी पर करती है।[2]

कुमारी-अन्तःपुर का आन्तरिक संरक्षण भोगवती के अधिकार में अवश्य था, किन्तु उसे कुमारी-अन्तःपुर के प्रधान रक्षक का भी ध्यान रखना पड़ता था। उद्द्योतनसूरि ने उसे **कण्णंतेउर-महल्लओ** (१६८.९) एवं **कण्णंतेउर-पालओ** (१६८.१५) कहा है। यह कन्या-अन्तःपुरपालक वृद्धवय का कुरूप व्यक्ति होता

---

१. कुमार, एसा कुवलयमालाए जणणी धाई पियसही किंकरी सरीरं हिययं जीवियं व। कुव० —१६१.२६.

२. कुमार, जइ तुब्भे राइणो भवणुज्जाणं वच्चह, तओ अहं कुवलयमालं कहं-कहं पि केणावि वा मोहेणं गुरुयणस्स महिल्लयाणं च तम्मि उज्जाणे णेमि। —कुव० १६५.३०.

था। कुवलयमाला ने कुमार से उसका भेद करते हुए कहा है—कुमार तो मधुरभाषी, सुन्दर और हृदय जीतने वाले हैं, जबकि यह निष्ठुर वचन बोलनेवाला, विषदल से निर्मित शरीरवाला तथा जीवनहरण करने वाला है।[1] वंजुल नामक यह अधिकारी तुरन्त ही कुवलयमाला को कुमार के पास से अन्तःपुर में ले जाता है। इससे ज्ञात होता है कि कन्या-अन्तःपुर पालक के प्रवन्ध में शिथिलता नहीं होती थी। वही एकमात्र पुरुष कुमारी-अन्तःपुर में नियुक्त था और किसी भी पुरुष का प्रवेश वहाँ निषिद्ध था। स्त्रीवेष बनाकर वहां जाने में कुवलयचन्द्र भी वहाँ की दण्ड-व्यवस्था के कारण साहस नहीं कर सका।[2] महाकवि बाण ने यद्यपि कादम्बरी के अन्तःपुर का विस्तृत वर्णन किया है। किन्तु कहीं बूढे कंचुकी के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष अधिकारी का उल्लेख नहीं है। सम्भवतः ८ वीं सदी में अन्तःपुर की सुरक्षा और दृढ़ कर दी गयी थी।

बाल-वृक्षवाटिका एवं गृहशकुनशावक—उद्द्योतन ने कुवलयमाला के निजी भवन के साथ बालवृक्षवाटिका (१८०.२६) तथा घर के पक्षियों के बच्चों (१८१.२५) का भी उल्लेख किया है, जिनसे विदा होते समय कुवलयमाला गले मिलती है। प्राचीन भारतीय साहित्य में यह एक प्रचलित अभिप्राय है। स्थापत्य में भी इसको गुप्तकाल तक स्थान मिल चुका होगा और कुमारी-अन्तःपुर का इसको अंग मान लिया गया होगा।

आपानक-भूमि—राजकुल का वर्णन करते समय उद्द्योतनसूरि ने आपानकभूमि का उल्लेख किया है। कुवलयचन्द्र का नामसंस्करण सम्पन्न होते ही राजा दृढवर्मन् स्नान कर आपानभूमि में जा बैठा। आपानकभूमि विविध प्रकार के पुष्पो की रचना से शोभित थी। ताजे नीलकमल के पराग से विशिष्ट मधु तैयार की गयी थी। कर्पूर एवं केशर मिश्रित स्वच्छ विशिष्ट आसव दिये जा रहे थे। जैसे ताजे जातिपुष्पों की सुरभि पर भँवरे मंडराते हैं वैसे ही सुराओं के रस से लोग उत्कंठित हो रहे थे। राजा ने यथेष्ट मदिरापान किया।[3] मदन-महोत्सव के प्रारम्भ होते ही नागर लोग मदिरा पीते एवं गीत गाते थे (५१.३४)। ग्राम तरुणियाँ भी पुरानी सुरा का पान कर मदोन्मत अवस्था में प्रलाप करने लगती थीं।[4]

एक अन्य प्रसंग में मदिरापान के दुष्परिणाम का वर्णन ग्रन्थ में आया है। दर्पफलक को राजा न बनाने के लिए उसकी सौतेली माँ, मन्त्री और वैद्य से

१. दिट्ठो य सो वंजुलो कण्णंतेउर-पालओ। तेण य खर-णिट्ठुर-कक्कसेहिं वयणेहिं अंबाडिऊण·······विसदल-णिम्मिय-देहो—(१६८ १५-१८).

२. महिला-वेसं को णाम कुणइ जा अत्थि भुय-दण्डो—कुव० १५८.२९.

३. समुट्ठिओ राया कय-मज्जणो उवविट्ठो आवाणय भूमि····पाऊण य जहिच्छं. —२०.२७-३०.

४. सरिस-गाम-जुवई-तरुणीहिं जुण्ण-सुरा-पाण-मउम्मत्त-विहलालाव जंपिरीहिं काहिं वि हसिआ। —५२.१६.

मिलकर उसे मद्य में मरण-फल (सम्भवतः धतूरे के बीज आदि) मिलाकर पिला देती है।[1] उस मद्य को पीते ही दर्पफलक पागल हो जाता है और इधर-उधर भटकता हुआ शराबियों की तरह प्रलाप करता रहता है (१४५.११-१३)। उद्द्योतन ने डूबते हुए सूर्य की उपमा भी मदिरापान से प्रमत्त हाथ में लालकमल रूपी चषक लिए हुए किसी शराबी से दी है।[2] तथा म्लेच्छपल्ली में सुरापान करना यज्ञ करने के सदृश था—पुरोडासु-जइसओ सुरा-पाणु—(११२.२२)।

भोजन-मण्डप—राजकुल में भोजन-मण्डप अभ्यन्तर-आस्थानमण्डप, के समीप में होता था। उद्द्योतनसूरि ने इन प्रसंगों में इसका उल्लेख किया है। राजा दृढ़वर्मन् ने स्नानकर देवताओं की आराधना एवं परिजनों को प्रसन्नकर भोजन-मण्डप में प्रवेश किया तथा यथारुचि भोजन करके वह अभ्यन्तर आस्थान-मण्डप में चला गया।[3] अन्यत्र राजा दृढ़वर्मन् आपानकभूमि में यथेष्ट मद्यपान कर भोजनमण्डप में प्रवेश करता है एवं भोजन करके आस्थान-मण्डप में चला जाता है (२०.३०)। महापल्लि के भिल्ल-परिवार के गृहों में भी भोजनमण्डप की अलग व्यवस्था होती थी (१४५.२५)।

अभ्यन्तर-आस्थानमण्डप

कुव० में अभ्यन्तर-उपस्थानमण्डप का इन प्रसंगों में उल्लेख हुआ है—राजादृढवर्मन् कतिपय मित्र, मंत्रियों, परिवार के लोगों एवं रानी प्रियंगुश्यामा के साथ 'अब्भतरोवत्थाण-मंडव' में बैठा हुआ था, जहां प्रतिहारी ने आकर सुषेण नामक सेनापति के पुत्र के आगमन की सूचना दी।[4] राजा निजी मामलों में मंत्रियों से इसी आस्थानमण्डप में सलाह लेता था, जहां सुखपूर्वक बैठा जा सकता था (१३.१३, १४५.२५)। कुलदेवता से वरदान प्राप्ति के बाद भी राजा ने इसी स्थान पर मंत्री से सलाह ली (१५.१८, २३)। पुत्रजन्म के बाद राजा ने आपानक-भूमि में मद्यपान किया तदनन्तर भोजनकर आस्थान-मण्डप में आकर बैठ गया। वहां उसने विविध खाद्य, पेय, का आनन्द लेते हुए दान, विज्ञान, परिजन-कथा आदि कार्य करते हुए अपना दिन व्यतीत किया (२०.३०)।

महाकवि बाण ने इस अभ्यन्तर-आस्थान-मण्डप को मुक्तास्थान-मण्डप कहा है, क्योंकि सम्राट भोजन के उपरान्त अपने अन्तरंग मित्रों और परिवार के साथ यहां बैठते थे। उद्द्योतनसूरि द्वारा इसे अभ्यन्तर-आस्थान-मण्डप कहने से स्पष्ट है कि यह राजकुल की अभ्यन्तर-कक्ष्या में स्थित होता था। भोजनमण्डप,

१. कालंतर-विडम्बणा-मरण-फलं दिण्णं च मज्जपाणं—१४४.३०.
२. वारुणि-संग-पमत्तो पल्हत्थिय-रुइर-कमल-वर-चसओ—७३.१७.
३. तओ ण्हाय-सुइ-भूओ.....णिसण्णो भोयण-मंडवे तत्थ जहाभिरुइयं च भोयणं भोत्तूण आयंत-सुइ-भूओ णिग्गओ अब्भंतरोवत्थाण-मंडवं। —१५. १५-१८.
४. अण्णम्मि दिवसे अब्भंतरोवत्थाण-मंडवमुवगयस्स राइणो कइवय-मेत्त-मंति-पुरिस-परिवारियस्स पिय-पणइणी-सणाह... ।—९.१८-२४.

अभ्यन्तर-अस्थानमण्डप एवं राजा-रानो का वासभवन एक साथ आस-पास में ही बनते रहे होंगे। धवलगृह के ऊपरी तल पर इनका निर्माण होता था। उद्द्योतन के वर्णन के अनुसार अभ्यन्तर-आस्थान-मण्डप का आकार स्पष्ट नहीं होता, किन्तु बाण के अनुसार मुख्यतः यह खुला हुआ मण्डप था जिसकी छत स्तम्भों पर टिकी हुई थी। मध्यकाल में इसे दरबार-खास कहा जाता था। दिल्ली के लाल किले में बना हुआ दरबार-खास भी चारों ओर से खुला हुआ केवल खम्भों पर टिका हुआ है।[1]

वासभवन

उद्द्योतनसूरि ने वासभवन का पाँच प्रसंगों में उल्लेख किया है। राजा दृढ़वर्मन् ने आमसभा का विसर्जन कर रानी प्रियगुश्यामा के वासभवन में प्रवेश किया (११.२१)। कुमार कुवलयचन्द्र के जन्म की सूचना राजा के वासभवन में जाकर प्रियंवदा परिचारिका के द्वारा दी जाती है। तब राजा वर्द्धापन मनाने का आदेश देता है (१८.७)। कौसाम्बी नगरी में शाम होते ही कामिनीघरो में प्रियतम के स्वागत में तैयारियाँ प्रारम्भ हो गयीं—वासघर सजाया जा रहा था, चित्रशालिकाओं की धूल साफ की जा रही थी, मदिरा में कपूर के टुकड़े डाले जा रहे थे, घरों पर पुष्पमालाएं लटकायी जा रही थीं, फर्श पर पत्रलता चित्रित की जा रही थी, पुष्प-शैया तैयार की जा रही थीं, धूप-पात्रों में सुगन्धित द्रव्य जलाये जा रहे थे, शिक्षित शुक-सारिकाओं को पिंजरों में मधुर-प्रलाप के लिए रखा जा रहा था, नागवली के पत्तों के बीड़ा बनाकर उन्हें पानदान में रखा जा रहा था, कर्पूर की छड़े सन्दूकचो में रखी जा रही थीं, कक्कोल के गोले रखे जा रहे थे, जाल-गवाक्षो पर विछावन और आसन रखे जा रहे थे, शृंगाटक, वलाक्ष-हार एवं कर्णाभूषण पहिने जा रहे थे, प्रदीप जलाये जा रहे थे, मधु यथास्थान रखी गयी, बालों को अच्छी तरह सजाने के लिए स्नान-पात्रों में स्नान किया जा रहा था, मदिरा-पात्रों में मदिरा उड़ेली गई, हाथों में चसक ले लिए गये, शैया के समीप मे अनेक खाद्य एवं पेय सामग्री के पात्र रख लिए गये, इस तरह कामिनियों के वासघरो में प्रियतम के स्वागत की तैयारियाँ पूरी नही हो पा रही थीं (८३.४.१०)।

तीसरे प्रसंग में राजा पुरन्दरदत्त सभी दैनिक कार्यों से निवृत होकर वास-भवन में प्रविष्ट हुआ (८४.५)। वहां एकान्त में उसने मुनियों की चर्या पर विचार किया एवं उसे देखने के लिए अपना रूप परिवर्तन कर सभी परि-चारको एवं अंगरक्षको को छोड़कर वासभवन से बाहर निकला।[2] तथा दद्दर-सोपान-वीथि से उतरकर नीचे चला गया (८४ २५)। दो तरुण युवतियों की

---

१ अ०—का० सां० अ०, पृ० ३२.

२. सव्वहा णिग्गओ राया वास-घराओ—(८४.२५).

बातचीत के प्रसंग में वासभवन का उल्लेख हुआ है।[1] तथा कुवलयचन्द्र और कुवलयमाला के विवाह के उपरान्त उन्हें वासघर की शैया पर एक साथ बैठाया गया (१७१.२८)।

वासभवन के उक्त प्रसंगों से ज्ञात होता है कि धवलगृह के ऊपरिभाग में वासभवन निर्मित होते थे, जहां सोपान-वीथि द्वारा पहुँचा जाता था। वासभवन मुख्यरूप से दाम्पत्य सुखों के आगार थे। आराम की प्रत्येक वस्तु वहां उपलब्ध होती थी। यह राजाओं के सामान्य शयनागारों से भिन्न होता था। इसकी स्थिति धवलगृह के ऊपरीतल में प्रगीवक के समीप में होती थी। दूसरी ओर सौध होता था, जहाँ केवल रानियाँ उठती-बैठती थीं। उक्त विवरण से यह भी स्पष्ट है कि राजा के वासभवन से प्रसूतिगृह अलग होता था। सम्भवतः यह ऊपरीतल के पीछे भाग में स्थित रहा होगा, जिसे बाण ने चन्द्र-शालिका कहा है, जहाँ बैठकर यशोवती गर्भावस्था में शालभंजिकाओं को देखा करती थी।[2]

कुवलय० में पति-पत्नी के शयनगृह को वासघर भी कहा गया है। मानभट की पत्नी उद्यान से लौटकर अपने वासघर में प्रविष्ट होती है ताकि उसे एकान्त मिल जाये। उसकी सास वासघर को सोवणय कहती है (५३.७३)। अतः गावों मे शयनगृह वासघर अथवा सोवणक के रूप में जाने जाते थे। भोजपुरी में विवाह के बाद प्रथम दिन पति-पत्नी से मिलने के लिए 'गृहवास' कहते हैं।

भवन-उद्यान

उद्द्योतन ने कुवलयचन्द्र और कुवलयमाला के प्रथम मिलन-स्थान के रूप मे भवन-उद्यान का वर्णन किया है।[3] कुवलयमाला की धात्री भोगवती के संकेत देने पर कुमार अपने मित्र महेन्द्र के साथ भवन उद्यान में पहुँचता है। वह उद्यान अनेक पादप, वल्ली, लता आदि से युक्त था।[4] प्राचीन भारतीय राजकुल स्थापत्य में धवलगृह के साथ भवन उद्यान (गृहोद्यान) का निर्माण एक आवश्यक अंग था। उद्द्योतनसूरि के पूर्व एवं बाद के साहित्य में गृह-उद्यान-स्थापत्य के अनेक उल्लेख मिलते हैं। प्राचीन राजमहलों के अवशेषों में भी गृह-उद्यान के दर्शन होते हैं। दिल्ली के लालकिले का नजारबाग और उसमें बना हुआ तालाब प्राचीन गृह-उद्यान और वापी का मध्यकालीन रूप है। लन्दन के हेम्पटन कोर्ट महल में इसे ही प्रिविगार्डन या पाउण्डगार्डन कहा गया है।[5]

भवन-उद्यान के उक्त वर्णन के प्रसंग में उद्द्योतन ने उद्यान के इन प्रमुख अंगों और क्रीडाशैल का उल्लेख किया है :—

---

१. भणमाणीओ णिग्गयाओ वास-भवणाओ— (८५.२०).
२. अ०—ह० अ०, पृ० २०८.
३. जइ तुब्भे राइणो भवणुज्जाणं वच्चह... । —१६५-३१.
४. संपत्ता य तमुज्जाणं अणेय-पायव-वल्ली-लया-संताण-संकुलं । —१६६-१५.
५. अ०—ह० अ०, पृ० २१३.

१. मरकयमणि-कोट्टिम (१६६ २१)
२. कदलीघर (१६६.२२, १६७.१३)
३. चंपकवीथि (१६७.१३)
४. लवलीवन (१६७.१३)
५. गुल्मवन (१६६ २३)
६. लताघर (१६६.२३)
७. दीर्घिका (१६६.२५)
८. वापी (१६६.२६)
९. कमलाकर (१६६.२६)
१०. गंजालिया (१६६.२६)
११. घर-हंसा (१६६.२६)

इनमें से अधिकांश का ग्रन्थ में कई बार उल्लेख हुआ है, जिससे इनको समझने में सहायता मिलती है। उद्द्योतनसूरि के वर्णन के अनुसार गृह-उद्यान के इन अन्य उपादानों का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट होता है :—

मरकतमणिकोट्टिम—मरकतमणिकोट्टिम का उद्द्योतन ने इन प्रसंगो में उल्लेख किया है। कोशाम्बी नगरी के भवनों के फर्श मणिरत्नों के बनाये गये थे, जिनमें प्रतिबिम्ब दिखायी पड़ते थे।[1] वहाँ के मोर फर्श पर अपना प्रतिबिम्ब देखकर चकित रह जाते थे। लोभदेव तारद्वीप से किसी प्रकार समुद्र के किनारे पहुँचा। वहाँ उसने किनारे के वन में घूमते हुए एक वट-प्रारोह में मरकतमणि से निर्मित फर्श देखा, जिस पर अनेक पुष्पों से रेखाएँ बनायी गयीं थीं (७०.२२)। सौधर्म स्वर्ग मे माणिक्यों का फर्श चमक रहा था—(९२.१५)। कुमार ने भवन-उद्यान में मरकतमणिओं के फर्श पर पुष्पों का रेखांकन देखा (१६६ २१)। इन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन भवनों के फर्श मणियो से बनाये जाते थे तथा मनोरंजन के स्थानो पर भी मणि-फर्श बनाये जाने की प्रथा थी। आधुनिक भवनों में चिप्स के फर्श मणिकोट्टिम का आधुनिक रूप कहा जा सकता है।

कदलीगृह—कदलीगृह उद्यान में केलों के वृक्षों से बनी हुई एक कुटी होती थी, जहाँ राजकुल के लोग विश्राम किया करते थे। उद्द्योतन ने कदली-गृह के पास चंपकवीथि और लवंगवन के होने का भी संकेत दिया है (१६७.१३)।

गुल्मवन एवं लतागृह—अनेक नागवल्ली की लताओं से घिरे हुए प्रदेश को गुल्मवन कहा जाता था, जिसके बीच में अनेक छिद्रों वाला लतागृह होता था।[2] लतागृह लवंग, बकुल एवं ऐला की लताओं के बनते थे, जहाँ ठंडक पाने के लिए कामाग्नि से पीड़ित व्यक्ति बार-बार जाना चाहते थे (१६५.१४)।

गृहदीर्घिका दीर्घिका शब्द का प्रयोग उद्द्योतन ने आस्थानमण्डप तथा भवन-उद्यान के सन्दर्भ में किया है। कोशाम्बी नगरी के महा-आस्थानमंडप

१. हम्मिय-तलेसु जम्मि य मणि-कोट्टिम-विप्फुरंत-पडिबिंबा।
पडिसिहि-जायासंका सहसा ण णिलेंति सिहिणो वि ॥—३१.२४

२. उवगया एक्कं अणेय-णाय-वल्ली-लया-संछण्णं गुम्म-वण-गहणं। ताणं च मज्झे एक्कं अइकडिल्ल-लवली-लयाहरयं।—(१६६ २३)

की दीर्घिका में राजहंसों का गमन दिखायी पड़ता था।[1] भवन-उद्यान में महेन्द्र के पूछने पर कि यह राजहंस जैसा मधुर शब्द यहां कैसे हो रहा है? कुवलयचन्द्र उत्तर देता है कि क्या यहां भवन-उद्यान में दीर्घिका नहीं है?, वापी नहीं नहीं है?, सरोवर नहीं है?, गहरी पुष्करिणी नहीं है?, उनमें गृहहंस विचरण नहीं करते हैं? जो तुम राजहंसो की संभावना करते हो। गृहहंस यहां विचरण करते हैं। उनका ही यह शब्द है (१६६.२४, २७)। वर्णन के इस क्रम से ज्ञात होता है कि महास्थान मण्डप से लेकर भवन-उद्यान तक जो दीर्घिका बहती थी उससे आगे चलकर कहीं वापी, कहीं सरोवर एवं कहीं गहरी पुष्करिणी बना ली गयी थीं। अन्य साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों से कुवलयमाला का यह वर्णन प्रमाणित होता है।

प्राचीन प्रासाद-शिल्प में दीर्घिका एक पारिभाषिक शब्द था। यह एक प्रकार की लम्बी नहर होती थी जो राजप्रासादों से एक ओर से दूसरी ओर दौड़ती हुई अन्त में गृहउद्यान को सींचती थी। बीच-बीच में जल के प्रवाह को रोक कर पुष्करिणी, क्रीड़ावापी, सरोवर आदि बना लिये जाते थे। कहीं जल को अदृश्य करके विविध प्रकार के जलयन्त्र बना दिये जाते थे। सोमदेव के यशस्तिलकचम्पू में दीर्घिका से पुष्करिणी, गंधोदककूप, विविध जलयन्त्र आदि बनाने का उल्लेख है।[2] लम्बी होने के कारण ही इस नहर को दीर्घिका कहा गया है।

राजभवनों में दीर्घिका-निर्माण की परम्परा भारतवर्ष में प्राचीनकाल से लेकर मुगलकाल तक प्राप्त होती है। कालिदास ने रघुवंश (१६.१३) में दीर्घिका का वर्णन किया है। बाणभट्ट ने हर्षचरित एवं कादम्बरी में दीर्घिका का विस्तृत वर्णन किया है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस सामग्री पर विशेष प्रकाश डाला है।[3] १० वीं शताब्दी में सोमदेव ने यशोधर के महल में दीर्घिका का विस्तृत वर्णन किया है (पूर्वा० पृ० ३८)। मध्यकाल में विद्यापति ने अपनी कीर्तिलता (पृ० १३९) में कृत्रिमनदी का उल्लेख किया है, जो भवन-दीर्घिका का ही एक रूप था। मुगलकालीन राजप्रासादो में भी दीर्घिका बनायी जाती थी, जिसका उर्दू नाम नहरेबिहिश्त था। वर्तमान में दीर्घिका के मुगलकालीन रूप को दिल्ली के लालकिले के महल में स्थित नहर को देखकर समझा जा सकता है।

दीर्घिका का निर्माण केवल भारतवर्ष में ही नहीं पाया जाता, प्रत्युत विदेशों में भी राजप्रासाद की वास्तुकला की यह विशेपता पायी जाती है। ईरान में खुसरू परवेज के महल में भी इस प्रकार की नहर थी। ट्यूडर राजा हेनरी अष्टम के हेम्पटन कोर्ट में जिसे लांगवाटर कहा गया है वह दीर्घिका के ही समान है।

---

१. राय-हंस-परिगयाओ दीसंति महत्थाण-मंडलीओ दीहियाओ व। —३१.१६
२. द्रष्टव्य, जै०—यश० सां० अ०, पृ० २५६
३. ह०—हृ० अ०, पृ० २०६ एवं का० सां० अ०, पृ० ३७२

वापी—उद्द्योतन ने घरवापी (८.८), मंदिरउद्यान वापी (१६.१०), क्रीड़ावापी (९४.१२), द्वारवापी (९७.५), उद्यानवापी (१६६.२६) तथा वापीकामिनी (२४०.१६) का कुवलयमालाकहा में वर्णन किया है। घरवापी के कुमुद युवतियों के मुख-चन्द्रों को देखकर बन्द नहीं होते थे।[1] सौधर्मकल्प स्वर्ग में लोभदेव क्रीडावापी में स्नान करने आता है। उस मंजनवापी (९४.१४) का फर्श अनेक रंगों की मणियों से बना था, जिनकी किरणों में इन्द्रधनुष दिखायी पड़ता था। उसके किनारों पर उगे वृक्षों एवं लताओं के पुष्पों से दिशाएँ सुरभित हो रहीं थीं। उसकी सीढ़ियाँ मणियों से बनी थीं, जिनपर रखी हुई स्वर्ण-प्रतिहारी श्रीदेवी जैसी शोभित हो रही थी। जिस स्वर्ण के ऊँचे तोरण बने थे। उसमें लटकती हुई घंटियों की माला हवा से हिलने पर मधुर शब्द कर रही थी। उसके परकोटे में अनेक गवाक्ष एवं निर्गमद्वार बने हुए थे। इस प्रकार वह वापी सुर-वधू के समान थी—**दिट्ठा वावी सुर वहु व्व** (९४.१६,२३)। इस वापी में जलयन्त्र भी लगे हुए थे—**जल-जंत-णीर-भरियं** (९४.३१)।

समवसरण-रचना में द्वार-संघात के बाद स्वर्ण के कमल, कुमद आदि से युक्त स्वच्छ जल से भरी हुई द्वारवापी भी बनायी गयी थी।[2] कामगजेन्द्र विद्याधर-कन्याओं को जलांजली देने कामिनी सदृश वापी में उतरता है, जो स्वच्छजल से भरी हुई थी।[3]

उक्त विवरण से ज्ञात होता है कि वापी दीर्घिका का ही एक अंग थी। राजप्रासाद में वह जलक्रीड़ा एवं स्नान के लिए प्रयुक्त होती थी। वह जल से पूर्ण एव स्वर्ण कमलों से युक्त होती थी। वापी में जलक्रीड़ा के लिए जलयन्त्र भी लगाये जाते थे तथा वापी के जल को अनेक छोटी-छोटी नहरों एवं छिद्रों द्वारा अन्यत्र पहुँचाया जाता था। वापियों में कमल की शोभा का वर्णन प्राचीन भारतीय साहित्य में बहुत हुआ है। बाण ने कादम्बरी में कमलयुक्तवापी को कमलवन-दीर्घिका कहा है। सोमदेव ने भी कमलयुक्त वापी का उल्लेख किया है।[4] इन वापियों का उपयोग हंसों के रहने के लिये एवं भांति-भांति के पुष्पों की शोभा के लिए भी होता था।

उक्त विवरण में लटकती हुई घंटियों की माला का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन भारत में राजकीय आमोद-प्रमोद में इनका प्रमुख स्थान था। कादम्बरी मे कुसुमदामदोला के वर्णन में इन घंटियों के लटकने का उल्लेख हुआ है। आजकल इन्हें फूलडोल कहते हैं, जो मथुरा-बृन्दावन के मंदिरों में भगवान् के लिए बनाये जाते हैं।[5]

---

१. जुवईयण''''घरवावी-कुमुयाइं मउलेउं णेय चाएंति। —८.८.
२. अच्छच्छ-वारि-भरिया रइया दारेसु वावीओ—९७.५.
३. इमाए सच्छच्छ-खीर-वारि-परिपुण्णाए''''वावी कामिणीए—२४०, १४-१६.
४. 'वनस्थलीष्विव सकमलासु'-यशस्तिलकचम्पू, पूर्वा०, पृ० ३८.
५. अ०—का० सां० अ०, पृ० ३७६.

मंदिर-उद्यान-वापी—कुव० में मंदिर-उद्यान-वापी का दो प्रसंगों में उल्लेख हुआ है। रानी प्रियंगुश्यामा ने वासभवन में सोते हुए स्वप्न देखे। तभी पटु-पटह के बजने से मंदिर-उद्यानवापी के हंस जाग गये और कंठ-कलरव की मीठी आवाज से रानी जाग गयी।[1] कुवलयचन्द्र और कुवलयमाला ने विवाह के बाद वासभवन में सुखद वार्तालाप करते हुए रात्रि व्यतीत की। तभी मंदिर-उद्यान-वापी के कलहंस एवं सारस पटह के शब्दों को सुनकर मधुर आवाज करने लगे। तूर बजा। मंगलपाठकों ने मंगल पढ़े। वार-विलासिनी मुख धुलवाने तथा मंजन कराने आ गयीं (१७३.१८-२१)।

इस वर्णन से ज्ञात होता है कि वासभवन के नजदीक ही उद्यान होता था, जिसमें वापी बनायी जाती थी, जो हंस एवं सारस पक्षियों का निवास स्थान थी। वासभवन के समीप में होने से ही इसे मंदिर-उद्यानवापी कहा गया है। यद्यपि धवलगृह में अन्य वापियां भी होती थीं।

क्रीडाशैल—क्रीडाशैल का दो बार उल्लेख हुआ है। कोशाम्बी नगरी के क्रीडाशैल की प्रसिद्धि देवताओं में भी थी।[2] समुद्र में राक्षस द्वारा जहाज इस प्रकार तोड़कर फेंका गया मानों रत्नों की वर्षा हो रही हो। मुक्ताफल चमक रहे हों तथा श्वेत ध्वजा उड़ रही हो, जैसे किसी क्रीड़ाशैल का टुकड़ा गिर रहा हो।[3] यहां क्रीड़ाशैल के सम्बन्ध में उद्द्योतन ने कोई विशेष परिचय नहीं दिया। ज्ञात होता है कि तत्कालीन राजकीय प्रासादशिल्प में क्रीड़ाशैल का निर्माण पर्याप्त प्रचलित था। बाण की कादम्बरी एवं हर्षचरित में क्रीड़ाशैल के वर्णन के अनुसार यह भवन-उद्यान के समीप ही अन्तःपुर के किसी भाग में बनाया जाता था। क्रीड़ाशैल नाम से ही स्पष्ट है कि इसका निर्माण भवन के ऊपरी भाग में होता था। क्रीडाशैल नामक भवन में एक मणिमंदिर भी होता था, जहां आमोद-प्रमोद की सभी वस्तुएं उपलब्ध होती थीं तथा जो स्थापत्य की दृष्टि से भी सर्वाधिक सुन्दर कमरा होता था।[4] कालिदास ने यक्षिणी के आगार की वापी के तट पर कोमल इन्द्रनील मणियों से रचित शिखर तथा कनककदलियों के वेस्टन से प्रेक्षणीय क्रीडाशैल का वर्णन किया है।[5]

देवगृह—राजप्रासाद का देवगृह एक प्रमुख अंग था, जहां राजपरिवार के लोग पूजन-दर्शन आदि धार्मिक क्रियाएं करते थे। देवगृह में स्थापित देवता को कुलदेवता कहा जाता था। उद्द्योतनसूरि ने कुलदेवता तथा देवगृह का अनेक

१. पहय-पडु-पडह-पडिरव-संखुद्ध-विउद्ध-मंदिरुज्जाण-वावी-कलहंस-कंठ- कलयलाराव-रविज्जत-सविसेस-सुह-सुहेणं पडिबुद्धा देवी।—१६.१०
२. कीलासेलं ति इमं जीय णिसम्मंति गयणयरा। ३१.२०
३. णिवडंत-रयण-णिवहं मुत्ताहल-धवल-सोहिओऊलं।
धुव्वंत-धया-धवलं कीला-सेलस्स खंडं व॥—६९.३
४. द्रष्टव्य, अ०—का० सां० अ०, पृ० ३७१.
५. मेघदूत, २.१७.

बार उल्लेख किया है। राजा दृढ़वर्मन् के महल में वंशपरम्परा से पूजित कुल-देवता राजश्री देवी थी।[1] पुत्र प्राप्ति के लिए राजा कुलदेवता की अर्चना करने देवगृह में प्रविष्ट हुआ था। (पविट्ठोराया देवहरयं १४.८)। देवी ने उसे वरदान दिया था (१५.१२)। वासवमन्त्री के महल में अर्हन्त भगवान् का देवगृह था (३२.१७)। चिन्तामणिपल्ली के सेनापति के अन्तःपुर में देवगृह स्थित था (१३९.५)। उसमें स्वर्ण के दरवाजे लगे हुए थे तथा उसके भीतर स्वर्ण एवं रत्नमयी प्रतिमा स्थित थी।[2] देवगृह में स्नान करके लोग पूजा के लिए जाते थे (१४५.२२)।

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि देवगृह का निर्माण धवलगृह के ऊपरी तल पर होता था तथा राजप्रासाद के अतिरिक्त महापल्ली के स्थापत्य में भी देवगृह बनाये जाते थे। लालकिले में स्थित मोतीमस्जिद देवगृह का ही मुगलकालीन रूप है। लन्दन के हेम्पटन कोर्ट में राजकीय पूजा स्थान को रायल-चेपल कहा गया है।[3]

१. अत्थि देवस्स महाराय-वंस-प्पसूया पुव्व-पुरिस-संणेज्झा रायसिरी-भगवई कुल-देवया—१३.२८.
२. महंतं कणय-कवाड-संपुड-पडिच्छण्णं दिट्ठं देव-मंदिरं। तत्थ उग्घाडिऊण दिट्ठाओ कणय-रयण-मइयाओ पडिमाओ—१३९.६.
३. अ०—ह० अ०, पृ० २१३.

परिच्छेद पांच

भवन स्थापत्य

उद्द्योतनसूरि ने कुवलयमालाकहा मे भवन-स्थापत्य से सम्बन्धित अनेक पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख किया है। विभिन्न प्रसंगों में उल्लिखित निम्न शब्द स्थापत्य की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

ध्वजा—ध्वजा के लिए धवल-ध्वजपट (७.१८), कोटिपताका (३१.२२, १०३.४, १४०.२) तथा सिहपट (१९९.३०) आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। भवनों की ध्वजाएँ इतनी ऊँची होती थी कि सूर्य के घोड़े उनकी हवाओं से अपने परिश्रम को शान्त करते थे (७.१६)। इस साहित्यिक अभिप्राय का भारतीय साहित्य में वहुत उल्लेख हुआ है।

तुंगभवन—ऊँचे भवनों के लिए तुंगभवन (७.१५), तुंग-अट्टालक (३१.१८), तुंग-शिखर (९२.२५) एवं तुंग (९७.७) शब्दो का प्रयोग हुआ है। सम्भवतः तुंग शब्द भवन के ऊँचे कंगूरों के लिए प्रयुक्त होता था।

शिखर—विनीता नगरी के भवन-शिखर कृष्णमणियों से बनाये गये थे जो मेघसमूह सदृश थे (७.१७)। समवसरण की रचना में रत्नों के शिखर बनाये गये थे (९६.३३)। प्राचीन स्थापत्य में चौसर भवनों के स्थान पर शिखरयुक्त भवन बनाने का अधिक प्रचलन था।

तोरण—भवन के प्रमुख द्वार पर तोरण बनाये जाते थे। विनीता नगरी के भवनों के तोरण मणियों से (७.१५) तथा समवसरण के तोरण स्वर्ण से बनाये गये थे (९७.२)।

कुवलयचन्द्र को देखने के लिए नगर की कुल-बालिकाएँ भवन के विभिन्न स्थानों पर बैठीं थीं,[1] जहां से राजमार्ग में जाता हुआ कुमार दिखायी

१. इय जा तूरंति दढं णयर-कुल-बालियाओ हियएण।
ता णयरि-राय-मग्गं संपत्तो कुवलयमियंको ॥ —२५.७.

पड़ता था। साहित्यिक दृष्टि से कुवलयमालाकहा का यह वर्णन परम्परागत है।[1] किन्तु स्थापत्य की दृष्टि से इसमें भवन के कई मार्गों का उल्लेख है। यथा-कोई युवती रक्षामुख पर, कोई द्वार-देश पर, कोई गवाक्ष पर, कोई मालए पर (घर के ऊपरी तल पर), कोई चौपाल में, कोई राजांगण में, कोई दरवाजे की देहली पर, कोई वेदिका पर, कोई कपोतपाली पर, कोई हर्म्यतल पर, कोई भवन-शिखर पर तथा कोई युवती ध्वजाग्रभाग पर स्थित थी।[2] इनमें से अधिकांश की पहिचान प्राचीन साहित्यिक उल्लेखों एवं पुरातत्त्व की सामग्री के अध्ययन से की जा सकती है।

गवाक्ष—उद्द्योतन ने इन प्रसंगों में गवाक्ष का उल्लेख किया है। गवाक्ष से कुमार को देखती हुई स्त्रियाँ (२५.८)। तोसल राजकुमार ने महानगर श्रेष्ठी के धवलगृह के जालगवाक्षविविर के भीतर से मेघों के विविर से निकले हुए चन्द्र सदृश किसी बालिका के मुखकमल को देखा।[3] सुवर्णदेवी मनोहर जीव-दर्शन करने के लिए जालगवाक्ष पर बैठी थी।[4] वासभवन को सजाते हुए जाल-गवाक्ष पर आसन और शैया रखी गयी—**ठवेसु जाल-गवक्खए अत्थुर-सेज्जं** (८३.७)। कामगजेन्द्र की कल्पना जालगवाक्ष जैसी फैल गयी—**पसरइ व जाल-गवक्खएसु** (२३८.७)।

इस विवरण से ज्ञात होता है कि गवाक्ष भवन के ऊपरी तल पर बनाये जाते थे, जो राज्यपथ पर खुलते थे। जालगवाक्ष उन गोल खिड़कियों को कहते थे, जिनसे भवन में हवा आती-जाती थी। सम्भवतः इस समय तक जाल गवाक्ष कुछ बड़े आकार के बनने लगे थे। डा० कुमारस्वामी के अनुसार गुप्तयुग के वातायन गोल होते थे तभी उनका नाम गवाक्ष (बैल की आँख की तरह गोल) पड़ गया।[5] गवाक्षों से झाँकते हुए स्त्रीमुख न केवल साहित्य में[6] अपितु कला में भी अंकित पाये जाते हैं। अजन्ता की गुफा १९ के मुखभाग में स्त्रीमुखयुक्त गवाक्ष-जालों की पंक्तियाँ अंकित है।[7]

मालाए, वेदिका एवं ध्वजाग्रभाग भी गवाक्ष के प्रकार प्रतीत होते हैं। मालए का अर्थ शब्दकोश में घर का उपरिभाग किया गया है। जिसे उर्दू में

१. द्रष्टव्य, अ०—का० सां० अ०, पृ० ९२,
२. का वि रच्छा-मुहम्मि संठिया, का वि दार-देसद्धए, का वि गवक्खएसुं, अण्णा मालएसुं, अण्णा चौपालएसुं, अण्णा रायंगणेसुं, अण्णा णिज्जूहएसुं, अण्णा वेइयासुं, अण्णा कओलवालीसुं, अण्णा हम्मिय-तलेसुं अण्णा भवण-सिहरेसुं, अणा धयग्गेसुं ति।—२५.८-९.
३. दिट्ठं जाल-गवक्ख-विवरन्तरेण जलहर-विवर-विणिग्गयं पिव ससि-बिंबं वयण-कमलं कीय वि बालियाए।—७३.८,
४. तओ सुदिट्ठं जीव-लोयं करेमि त्ति चिंतयन्ती आरूढा जाल-गवक्खए—७४.१९.
५. कुमार स्वामी, एन्शेण्ट इंडियन आरकिटेक्चर, पैलेसज, का चित्र।
६. सान्द्रकुतुहलानां पुर-सुन्दरीणां मुखैः गवाक्षाः व्याप्तान्तराः—रघुवंश, ११.७५
७. कुमार स्वामी, इंडियन एण्ड इन्डोनेशियन आर्ट, चित्र १५४.

मंजिल तथा गुजराती में मालो कहा जाता है। सम्भवतः यह छोटी बालकनी के सदृश रही होगी। वैदिका वातपान का उल्लेख शुंगकाल और कुषाणकाल के स्थापत्य में मिलता है।[1] सम्भवतः रोशनदान के लिए यह पुराना नाम ८वीं सदी में भी प्रचलित रहा हो। बालकनी के लिए कुवलयमाला कहा में निज्जूहय (२५.८) तथा मत्तवारण (२३२.२७) शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। सम्भवतः इनके आकार में कुछ भेद होने से इन्हें भिन्न नाम प्रदान किये गये हैं।

कपोतपाली—कपोतपाली का उद्द्योतन ने केवल एक बार उल्लेख किया है—**अण्णा कओलवालीसु** (२५.९)। यहाँ उद्द्योतन ने प्राचीन भारतीय स्थापत्य की उस पारावतमाला की ओर संकेत किया है, जो भवनों के शिखरों पर बनायी जाने लगी थी। अनेक अलंकरणों के साथ भवनों के शिखरों पर पत्थरों के कबूतर भी शोभा के लिए बना दिये जाते थे, जिन्हें कापोतपाली> कपोताली>केवाली कहा जाता था।[2] गुप्तकालीन 'पादताडितकम्' नामक ग्रन्थ में वारवनिताओं के भवनों के वर्णन में कपोतपाली[3] तथा कादम्बरी में **शिखरेषु-पारावतमाला** (पृ० २६) का उल्लेख हुआ है। कुवलयमाला के वर्णन में नगर की युवतियाँ सम्भवतः शिखरों पर चढ़ कर कपोतपाली के समीप से कुमार कुवलयचन्द्र को देख रही थी।

सोपानपंक्ति—उद्द्योतनसूरि ने धवलगृह का जितनी बार उल्लेख किया है सर्वत्र उसे ऊपरीतल पर स्थित कहा है। इससे स्पष्ट है कि धवलगृह में सोपान पंक्ति भी बनायी जाती थी। भवन-स्थापत्य में उसका प्रमुख स्थान था। उद्द्योतन ने पुरन्दरदत्त के वासभवन की दद्दर-सोपानपंक्ति (८४-२५) का उल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि सीढ़ियाँ अधिक घनी बनायीं जाती थीं, जिससे चढ़ने-उतरने में परिश्रम न हो। प्राचीन स्थापत्य के अनुसार धवलगृह के द्वार में प्रवेश करते ही ऊपर जाने के लिए दोनों ओर सोपानमार्ग होता था।

उपघर—कुवलयमाला में भवन के छोटे कमरों के लिए कई शब्द प्रयुक्त हुए हैं। मायादित्य को जब चोर समझकर पकड़ लिया गया तो उसे उपघर में बन्द करने का आदेश दिया गया (५९.२१)। उसके विलाप करने पर भी उसे घर-कोट्ठ में बन्द कर दिया गया (५९.२६)। नरक के दुखों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वहाँ छोटे घरों के दरवाजे भी छोटे होते थे—**घडियालयं मडह-बारं** (३६.१६)। ये शब्द तत्कालीन भवन-स्थापत्य में भी प्रयुक्त होते रहे होंगे।

इन प्रमुख पारिभाषिक शब्दों के अतिरिक्त उद्द्योतन ने भवन-स्थापत्य से सम्बन्धित निम्न शब्दों का भी उल्लेख किया है—णिज्जूहय (२४९.१७),

---

१. कुमारस्वामी, एन्शेण्ट इंडियन आरकिटेक्चर, पैलेसज।

२. अ०—का० सां० अ०, पृ० ३९.

३. अ०—ह० अ०, पृ० २१० पर उद्धृत।

आलय (२४९.१७), चुंपाल, वेदिका (२४९.१७), घर-फलिह (४७.१०), कोट्ठय कोणाओ (४७-१५), घरोवरिकुट्टिम (२३२-२९), द्वारसंघात (९७-४), द्वारदेश (२५.८), द्वार-मूल (१९९.२९), मणिकुट्टिम (३१.२४), मणिमयभित्ति (७.१५), हर्म्यतल (१६९.१५), प्रासादतल (१७३.३१), प्रासाद (९१.६), प्रासाद-शिखर (१६३.१९), उल्लोक छत्त (१७०.२२)। इनके अतिरिक्त विनीता नगरी (७.१५), कौसाम्बी नगरी (३१.१९) एवं समवसरण वर्णन (९६.२९) स्थापत्य की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

यन्त्रशिल्प :

कुवलयमालाकहा में तीन प्रकार के यान्त्रिक उपादानों का इन प्रसंगों में उल्लेख है। वासभवन की सज्जा में प्रियतम के आने की प्रतीक्षा के समय में यन्त्र-शकुनो को मधुर-संलाप में लगा दिया गया।[1] वापी में स्नान करते हुए किसी प्रौढ़ा ने लज्जा को त्यागकर जलयन्त्र की धार को अपने प्रियतम की दोनों आँखों पर कर दिया और लपककर अपने प्रेमी का मुख चूम लिया।[2] यन्त्रजलघर से आकाश में मायामेघों द्वारा ठगे गये भवनों के हंस पावस ऋतु मानकर मानसरोवर को नहीं जाते थे।[3] उज्जयिनी नगरी के जलयन्त्रों से मेघों की गर्जना होने से भवनों के मोर हर्षित होकर नाचने लगते थे (५० ११)। उद्योतन ने यन्त्रशिल्प के सम्बन्ध में कोई विवरण नहीं दिया है। अन्य सन्दर्भों के आधार पर उनके इन तीन उल्लेखों को स्पष्ट किया जा सकता है।

यन्त्रजलघर—विनीता नगरी के यन्त्रधारागृह में इस यन्त्रजलघर की रचना की गयी थी। यन्त्रधारागृह में मायामेघ या यन्त्रजलघर का निर्माण प्राचीन वास्तुकला का एक अभिन्न अंग था। महाकवि बाण ने कादम्बरी में मायामेघ का सुन्दर दृश्य प्रस्तुत किया है—बलाकाओं की पंक्तियों के मुखों से निकलती हुई सहस्र धाराएँ बनावटी मेघमाला का दृश्य उपस्थित कर रही थीं।[4] जिनसेन ने आदिपुराण (८.२८) में धारागृह में गिरती हुई धाराओं से घनागम का दृश्य उपस्थित किया है—**धारागृहेसु निपतद्धाराबद्ध घनागमे।** सोमदेव ने यन्त्रजलघर के झरने से स्थलकमिलिनी की क्यारी सींचने का उल्लेख किया है।[5] भोज ने शाही घरानों के लिए जिस प्रवर्षण नामक वारिगृह का

---

१. संजोएसु महुर-पलावे जंत-सउणए, ८३.६.

२. जल-जंत-णीर-भरियं लोयण-जुयलं पियस्स काऊण।
चुंबइ दइयस्स मुहं लज्जा-पोढत्तणुप्फालं॥ ९४.३१.

३. जल-जंत-जलहरोत्थय-णहंगणाहोय-वेलविज्जंता।
परमत्थ-पाउसे वि हु ण माणसं जंति घर-हंसा॥ ८.१०.

४. स्फटिकबलाकावलीवान्तवारिधारा लिखितेन्द्रायुधाः संचार्यमाणाः मायामेघमालाः।
द्रष्टव्य, अ०—का० सा० अ०, पृ० २१५.

५. पर्यन्तयन्त्रजलधरवर्षाभिषिच्यमानस्थलकमलिनीकेदारम्। यश०, सं० पृ० ५३०.

उल्लेख किया है, उसमें आठ प्रकार के मेघों की रचना की जाती थी।[1] हेमचन्द्र ने यन्त्रधारागृह में चारों ओर से उठते हुए जलौघ का वर्णन किया है।[2] इस तरह ज्ञात होता है कि यन्त्रजलधर द्वारा मायामेघ बनाने का प्रचलन ६-७ वीं सदी से १२ वीं सदी तक बराबर बना रहा। न केवल यन्त्रधारागृह में, अपितु भवन के अलंकरणों में भी मायामेघ बनाने की प्रथा गुप्तायुग से मुगलकाल तक बनी रही।[3]

यन्त्रशकुन—उद्द्योतन ने यन्त्रशकुन का उल्लेख वासभवन सज्जा के सन्दर्भ में किया है। अतः कहा नहीं जा सकता कि यन्त्रधारागृह से इस यन्त्रशकुन का क्या सम्बन्ध था? सम्भवतः यह वासभवन का ही कोई अलंकरण विशेष रहा होगा, जो पक्षी के आकार का बना होगा तथा जिसे नियोजित कर देने पर मधुर-संलाप होने लगता होगा। वासभवन में यन्त्रशिल्पों को रखे जाने की प्राचीन परम्परा थी। सोमदेव ने यशोमती के भवन के यन्त्रपर्यंक और यन्त्र-पुत्तलिकाओं का वर्णन किया है, जिसके यान्त्रिकविधान का परिचय डा० गोकुलचन्द्र जैन ने 'यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन' (पृ० २६२) में दिया है।

जलयन्त्र—उज्जयिनी नगरी के वर्णन में तथा वापी में जलयन्त्र का उल्लेख करते हुए उद्द्योतन ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि वह किस प्रकार का जलयन्त्र था। भोज के अनुसार कमलवापी में कृत्रिम शफरी, मकरी तथा अन्य जलपक्षी बनाना चाहिए।[4] अतः सम्भव है, कुवलयमाला में उल्लिखित यह जलयन्त्र (९४-३१) किसी जलजीव के आकार का रहा हो, जिसके मुख से धाराएँ निकलती होंगी।

●

---

१. समरांगणसूत्रधार, ३१.११७, १४२.
२. कुमारपालचरित, ४.२६.
३. द्रष्टव्य, अ०—का० सां० अ०, पृ० २१५.
४. कृत्रिमशफरीमकरीपक्षिभिरपि चाम्बुसम्भवैर्युक्ताम्।
कुर्यादम्भोजवतीं वापीमाहार्य योगेन ॥ —समरांगणसूत्रधार, ३१.१६३.

परिच्छेद छह

मूर्त्ति शिल्प

उद्द्योतनसूरि ने मूर्त्तिशिल्प के सम्बन्ध में यद्यपि अधिक जानकारी नहीं दी है, किन्तु जहां कहीं भी किसी मूर्त्ति का उल्लेख किया है उसका वर्णन भी किया है। कुवलयमालाकहा में मूर्त्ति शिल्प से सम्बन्धित जितने उल्लेख हैं उन्हें विषयानुसार इस प्रकार विभक्त किया जा सकता है।

तीर्थङ्कर मूर्त्तियां

पद्मप्रभ देव सौधर्म विमान में जिनगृह में प्रविष्ट हुआ (९५.७)। वहाँ उसने अन्यान्य वर्णों से युक्त, निज वर्ण, प्रमाण, मान द्वारा निर्मित शाश्वत जिनवर बिम्ब को देखा। कोई जिनप्रतिमा स्फटिकमणि से, कोई सूर्यकान्तमणि से, कोई महानीलमणि से, कोई कर्केतनरत्न से निर्मित थी।[1] तथा कोई प्रतिमा मुक्ताफल से निर्मित तेजस्वी थी। कोई श्रेष्ठ पद्मराग जैसी प्रभायुक्त थी, एवं कोई मरकत-मणि द्वारा निर्मित होने से श्यामदेह वाली थी (८.१.)। अन्य प्रसंगों में उद्द्योतन ने प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव की मुक्ताशैल निर्मित[2] तथा स्फटिकरत्न द्वारा निर्मित —उसहसामिस्स फलिहरयणमई महापडिमा (१२८.६) प्रतिमाओं का उल्लेख किया है। इस संक्षिप्त विवरण से निम्न तथ्य ज्ञात होते हैं—

१. मूर्तियां कई वर्णों के मिश्रित रंग वाली होती थीं।

२. अपने रंग के अनुसार प्रमाण और मानयुक्त होती थीं।

३. स्फटिकमणि, सूर्यंकान्तमणि, महानीलमणि, कर्केतनरत्न, पद्मराग-मणि, मरकतमणि तथा मुक्ताशैल द्वारा मूर्त्तियां बनती थीं।

---

१. अण्णोण्ण-वण्ण-घडिए णिय वण्ण-पमाण-माण-णिम्माए।
उप्पत्ति-णास-रहिए-जिणवर-बिंबे पलोएइ ॥
फलिह-मणि-णिम्मलयरा के वि जिणा पूसराय-मणि-घडिया।
के वि महाणीलमया कक्केयण-णिम्मिया के वि ॥ कुव० ९५.८-९.

२. दिट्ठा तेण मुत्तासेल-विणिम्मिया····पढम जिणवरस्स पडिमा ११५.४, ११९.३.

उपर्युक्त विवरण में 'अण्णोण-वण्णघडिए' शब्दों से ज्ञात होता है मूर्त्तियां कई द्रव्यों के मिश्रण से भी बनायी जाती थीं, जिन्हें धातु की ढली हुई मूर्ति कहा जाता था। आठवीं सदी की ऐसी कई मूर्त्तियां प्राप्त हुई हैं।[1] आठवीं सदी तक मूर्त्तियों के शुभ-अशुभ लक्षण निश्चित हो चुके थे। प्रमाण एवं मान युक्त मूर्त्तियां ही श्रेयस्कर समझी जाती थीं।[2] तथा मूर्ति बनाने के लिए शास्त्रविहित द्रव्यों में स्फटिक, पद्मराग, वज्र, वैदूर्य, पुष्प तथा रत्न का उल्लेख किया गया है।[3] उद्द्योतन द्वारा मुक्ताशैल का उल्लेख सम्भवतः सफेद संगमरमर के लिए है। सफेद संगमरमर की तीर्थङ्कर मूर्त्तियां आठवीं सदी से मध्ययुग तक बराबर पायी जाती हैं।[4] मुक्ताशैल से निर्मित शिवलिंग (काद० १३९ अनु०) तथा चषक (हर्ष० पृ० १५८) का उल्लेख बाण ने भी किया है।

तीर्थङ्कर को सिरपर धारण की हुई यक्षप्रतिमा :

उद्द्योतन ने रत्नशेखर यक्ष की कथा के प्रसंग में उल्लेख किया है कि उसने भगवान् ऋषभदेव की भक्ति करने के लिए अपनी मुक्ता शैल से एक बड़ी प्रतिमा बनायी तथा उसके मुकुट के ऊपर ऋषभदेव की मूर्त्ति को धारण किया।[5]

इस उल्लेख से दो बातें ज्ञात होती हैं कि आठवीं सदी में तीर्थङ्करों की प्रतिमाओं पर पृथक-पृथक चिन्ह अंकित होने लगे थे, तभी उद्द्योतन ने ऋषभदेव की प्रतिमा का स्पष्ट उल्लेख किया है—**पढमजिणवरस्स पडिमा**—(११९.३)। इस युग की मथुरा संग्रहालय में प्राप्त तीर्थङ्करों की ३३ प्रतिमाओं में से ३ पर विशेष चिन्ह भी अंकित पाये गये हैं।[6] आदिनाथ की मूर्ति पर वृषभ का चिन्ह प्राप्त होना उद्द्योतन के उल्लेख को प्रमाणित करता है।

लगभग ८ वीं सदी से तीर्थङ्करो की प्रतिमाओ के साथ उनके अनुचर के रूप में यक्ष-यक्षिणिओं की प्रतिमाएँ भी बनायी जाने लगी थीं। प्रत्येक तीर्थङ्कर का एक-एक यक्ष और यक्षिणी भक्त माना जाता था। भक्ति विशेष के कारण यक्ष-यक्षिणी तीर्थङ्कर को अपने सिर पर भी धारण करने लगे थे। उद्द्योतन के समय इस परम्परा का अधिक प्रचार रहा होगा, इसीलिए उन्होंने एक कथा का रूप देकर इसका उल्लेख किया है। वर्तमान में ऋषभदेव की मूर्त्ति को सिर

१. भारतीय पुरातत्व विभाग के महानिदेशक का वार्षिक विवरण, १९०२-३ प्लेट, ३४.

२. सम्पूर्णावयवा या स्यादायुर्लक्ष्मी प्रदा सदा।
एवं लक्षणमापाद्य कर्तव्या देवता बुधैः॥
—विष्णुधर्मोत्तर में मूर्त्तिकला, २८-२९, बद्रीनाथ मालवीय, १९६०.

३. वही, पृ० ३०.

४. उ०-कुव० इ०, पृ० १२३.

५. विउव्विया अत्तणो महंता मुत्ता-सेल-मई पडिमा।""इमीय य उवरिं णिवेसिओ एस मउलीए भगवं जिणयंदो त्ति—(१२०.१५, १६)।

६. जै०—भा० सं० यो०, पृ० ३४८.

पर धारण किये हुए यक्षिणी की दो प्रतिमाएँ उपलब्ध हैं। मथुरा संग्रहालय में ढाई फुट ऊँची यक्षिणी की पाषाण मूर्ति है, जिसके ऊपर पद्मासन और ध्यानरूप जिनप्रतिमा है। दूसरी, मध्यप्रदेश के बिलहरी ग्राम (जबलपुर) के लक्ष्मणसागर तट पर एक खेरामाई की मूर्ति है, जो चक्रेश्वरी यक्षिणी है तथा जिसके मस्तक पर आदिनाथ की प्रतिमा है।[१] यक्षिणी की मूर्ति के ऊपर जिन प्रतिमा का स्थापन लगभग ६ वीं शताब्दी से प्राप्त होने लगता है। डा० यू० पी० शाह ने इस पर विशद प्रकाश डाला है।[२] जिनप्रतिमा को सिर पर धारण किये हुए यक्ष-मूर्तियाँ ११ वीं सदी से पहिले की प्राप्त नहीं होतीं। किन्तु उद्द्योतनसूरि के उल्लेख से ज्ञात होता है ८ वीं सदी में भी ऐसी मूर्तियाँ बनने लगी थीं। राजस्थान में चित्तौड़ के पास बांसी नामक स्थान से जैन कुबेर की मूर्ति प्राप्त हुई है, जिसके सिर तथा मुकुट पर जिन प्रतिमा स्थापित है।[३]

आठ देव-कन्याओं की मूर्त्तियाँ

पद्मविमान के वर्णन के प्रसंग में उद्द्योतन ने आठ देवकन्याओं का उल्लेख किया है। (९३.१७-१८)। यथा—

१. स्वर्णकलश लिए हुए (भिंगार)
२. पंखा धारण किए हुए (तालियण्टे अण्णे)
३. स्वच्छ चांवर लिए हुए (अण्णेगेण्हंति चामरे विमले)
४. श्वेत छत्र लिए हुए (धवलं च आयवत्त)
५. श्रेष्ठ दर्पण लिए हुए (अवरे वर दप्पण-विहत्था)
६. वीणा धारण किए हुए (वीणा-मुंइगहत्था)
७. मृदंग धारण किए हुए (मुंइगहत्था)
८. वस्त्र एवं अलंकार लिए हुए (वत्थालकार-रेहिर-करा य)

इनको इन्द्र की आठ अप्सराएँ कहा गया है। तथा भारतीय साहित्य में अष्ठकन्या या सभाकन्या के रूप मे इनका पर्याप्त उल्लेख हुआ है।[४] बाल्मीकि की रामायण में रावण के विमान के साथ इन आठ कन्याओं का उल्लेख है, जिनमें से दो वीणा और मृदंग के स्थान पर स्वर्णप्रदीप एवं तलवार धारण किये हुई हैं।[५] राम के अभिषेक के समय भी इन कन्याओं का उल्लेख है।[६] महाभारत में राजा युधिष्ठिर प्रातःकाल अन्य मांगलिक द्रव्यों के साथ इन आठ

१. जै०—भा० सं० यों०—पृ० ३५४.५५.
२. अकोटा ब्रोन्जेज,— उमाकान्त शाह,
३. रिसर्चर, १, पृ० १८.
४. उ०-कुव० ई०, पृ० १२२
५. रामायण, सुन्दरकाण्ड, १८.१४, ४.
६. वही, अयोध्याकाण्ड, १५.८.

कन्याओं को भी देखता है।[1] यात्रा प्रारम्भ करते समय इनको देखना शुभ माना गया है (२.२८)। ललितविस्तर में इन आठ कन्याओं के नाम इस प्रकार आये हैं—

१. पूर्णकुम्भ कन्या २. मयूरहस्त कन्या ३. तालवृन्टक कन्या ४. गंधोदक भृंगार कन्या ५. विचित्र पटलक कन्या, ६. प्रलम्बकमाला कन्या ७. रत्नभद्रालंकार कन्या तथा ८. भद्रासनकन्या।[2]

ये आठ दिव्य कन्याएँ बौद्ध तथा जैनधर्म में समानरूप से मांगलिक मानी जाती थीं। वास्तुकला में भी इनका अंकन होने लगा था। मथुरा में प्राप्त रेलिंग पिलर्स में इनका अंकन पाया जाता है।[3]

शालभंजिकाओं की मूर्त्तियाँ :

उद्द्योतनसूरि ने शालभंजिकाओं का इन प्रसंगों में उल्लेख किया है। समवसरण की रचना में ऊँचे स्वर्ण निर्मित तोरणों पर मणियों से निर्मित शालभंजिकायें लक्ष्मी की शोभा प्राप्त कर रही थीं।[4] ऋषभपुर में चोर के भवन में ऊँचे स्वर्ण के तोरणों पर श्रेष्ठ युवतियां सुशोभित हो रही थीं।[5] शालभंजिका और लक्ष्मी की तुलना बाण ने हर्षचरित (पृ० ११४) में भी की है।

शालभंजिकाएँ भारतीय स्थापत्य में प्राचीन समय से प्रचलित रही हैं। प्रारम्भ मे फूले हुए शालवृक्षों के नीचे खड़ी होकर स्त्रियाँ उनकी डालों को झुकाकर और पुष्पों के झुग्गे तोड़कर क्रीड़ा करती थीं, जिसे शालभंजिका क्रीड़ा कहते थे। पाणिनी की अष्टाध्यायी में (६.७, ७४) इस प्रकार की क्रीड़ाओं के नाम आये है। वात्स्यायन की जयमंगला टीका में इनका विस्तार से वर्णन किया गया है। धीरे-धीरे क्रीड़ा की मुद्रा और उस मुद्रा में खड़ी हुई स्त्री भी शालभंजिका कही जाने लगी। और बाद में इस मुद्रा में स्थित स्त्रियों का अंकन स्थापत्य में होने लगा। सांची, भरहुत और मथुरा में तोरण, बडेरी और स्तम्भ के बीच में तिरछे शरीर से खड़ी हुई स्त्रियों के लिए तोरणशालभंजिका कहा गया है। कुषाणकाल में अश्वघोष ने इसका उल्लेख किया है।[6] मथुरा के कुषाणकालीन वेदिका-स्तम्भों पर निर्मित इसी प्रकार की स्त्रियों को स्तम्भशालभंजिका कहा

१. 'स्वालंकृताः सभाकन्याः,' द्रोणपर्व, ५८.२०
२ ललितविस्तर, अध्याय ७, पृ० ७१.
३. उ०—कुव० इ०, पृ० १२२.
४. अह तुंग-कणय-तोरण-सिहरोवरि चलिर-धयवडाइल्लं।
मणि-घडिय-सालभंजिय-सिरि-सोहं चामरिदं-सुहं॥ —९७.२.
५. कंचण-तोरण-तुंग-वर-जुवइ-रेहिर-पयारं— २४९.१९.
६. अवलम्बय गवाक्ष पार्श्वमन्या शयिता चापविभुग्नगात्रयष्टिः।
विरराज विलम्बिचारुहारा रचिता तोरण शालभंजिके वा॥—बुद्ध चरित, ५-२२

गया है।[1] कालिदास ने स्तम्भों पर बनी योषित मूर्त्तियों का उल्लेख किया है।[2] उद्द्योतनसूरि ने इन्हीं को शालभंजिका एवं वरयुवति कहा है। शालभंजिकाओं की परम्परा तुलसीदास के समय में भी स्थित थी, जिसे उन्होंने **प्रतिमा खंभनि गढ़ि-गढ़ि काढ़ीं** कह कर व्यक्त किया है। इस प्रकार भारतीय स्थापत्य की यह विशेषता लगभग दो सहस्र वर्षों तक अक्षुण्ण बनी रही है।[3]

विभिन्न पुत्तलियाँ

उद्द्योतन ने इन प्रसंगों में पुत्तलियों का उल्लेख किया है। कुवलयचन्द्र से पराजित होकर जब सेनापति ने अपने भिल्लपुरुषों को आदेश दिया कि सार्थ को मत लूटो तो वे भित्ति में लिखित पुतली के समान स्तम्भित हो गये—**कुड्डालिहिया इव पुत्तलया थंभिया** (१३८.२)। भानुमती ने मरकतमणि की पुतली की सदृश श्याम रंग की बालिका को जन्म दिया—**जाया मरगय-मणि-बाउल्लिया इव सामलच्छाया बालिया** (१६२.८)। कुवलयमाला के मणिमय पुतले के सदृश सुकुमार हाथ-पैरों वाला पुत्र उत्पन्न हुआ।[4] विद्याधर राजकुमारी की मृत्यु होने पर वह निमीलित लोचन एवं निश्चल अंगोपांग वाली दंतनिर्मित पुतली के सदृश हो गयी—**दंत-विणिम्मियं पिव बाउल्लियं ति**—(२३६.१)। कामगजेन्द्र ने महागजेन्द्र के दांतो से गढ़ी हुई पुतली के सदृश उस विद्याधर बालिका को अग्निसंस्कार के लिए चिता पर रख दिया।[5]

इस विवरण से ज्ञात होता है कि दीवालों में पुतलियो के चित्र बनाये जाते थे, मरकत मणि की पुतलिया बनती थीं, हाथीदात की पुतलियां बनायी एवं गढ़ी जाती थीं। इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञात होता है कि ७-८वीं सदी में स्थापत्य एवं मूर्तिकला आदि का चरम विकास होने के कारण साहित्य में उनकी उपमा देना एक परम्परा बन गयी थी। उद्द्योतन के पूर्व महाकवि बाण ने स्थापत्य, चित्र, शिल्प एवं मृण्मयमूर्त्ति कलाओं से उत्प्रेक्षाए ग्रहण की हैं।[6]

अन्य फुटकर मूर्त्तियां

उद्द्योतन ने वापी के वर्णन के प्रसंग में सोपान पर बनायी गयी स्वर्ण की प्रतिहारी का उल्लेख किया है।[7] इस स्वर्ण-निर्मित प्रतिहारी का सम्बन्ध

---

१. अ०—हु० अ०, पृ० ६२
२. रघुवंश, १६-१७
३. अ०—का० सां० अ०, पृ० ३२
४. सुकुमाल-पाणि-पाओ जाओ मणिमय-वाउल्लओ विय दारओ त्ति।—२१२.२५
५. पक्खित्ता य सा महागइंद-दंत-घडियव्ववाउल्लियाविज्जाहर-बालिया—२३९.२६.
६. अ०—का० सां० अ०, पृ० २६६.
७. मणि-सोमाण-विणिम्मिय-कंचण-पडिहार धरिय-सिरिसोहा—९४.१७.

किसी जलयन्त्र विशेष से होना चाहिए, किन्तु उद्द्योतन ने ऐसा कोई संकेत नहीं दिया है। अभ्यग केश सम्हारने के ब्याज से स्तनभाग दिखाती हुई कुवलयमाला का उल्लेख है—केससंजयण-मिसेण-दंसियं थणंतर (१५९.३०)। यह प्राचीन मूर्तिकला की एक प्रसिद्ध भाव-भंगिमा थी। चन्डसोम आदि पांच व्यक्तियों द्वारा अपनी-अपनी रत्न की प्रतिमाएं स्थापित करने का भी उल्लेख कुवलयमाला में है।[1] इससे ज्ञात होता है कि देवों के अतिरिक्त व्यक्तिगत मूर्त्तियां भी निर्मित की जाने लगी थीं।

प्रतिमाओं के विभिन्न आसन :

उद्द्योतन ने धर्मनन्दन मुनि के शिष्यों की चर्या के सम्बन्ध में ध्यान के विभिन्न आसनों का उल्लेख किया है।[2] यथा—

१. प्रतिमागता (**पडिमा-गया**)
२. नियम में स्थित (**णियम-ट्ठिया**)
३. वीरासण (**वीरासण-ट्ठिया**)
४. कुक्कुट आसन (**उक्कुडुयासण**)
५. गोदोहन आसन (**गोदोहसंठिया**)
६. पद्मासन (**पउमासण-ट्ठिय**)

प्रतिमाविज्ञान में आसनों का विशेष महत्त्व है। किस देवता की मूर्ति किस आसन में बनायी जाय इसमें दो बातों का ध्यान रखा जाता था। प्रथम, देव के स्वभाव एवं पद-प्रतिष्ठा के कारण उसके अनुकूल आसन स्थिर किया जाता था। दूसरे, ध्यान एवं योग की सिद्धि के लिए प्रतिमाओं को विशेष आसन प्रदान किये जाते थे।[3] क्योंकि उपास्य एवं उपासक दोनों में एकात्मकता स्थापित करने के लिए दोनों के ध्यान के आसनों में भी एकरूपता आवश्यक समझी जाती थी।[4] कुवलयमाला के उपर्युक्त सन्दर्भ में जैन साधु उन्हीं आसनों (प्रतिमाओं) में स्थित होकर ध्यान कर रहे थे, जिनसे उनकी चित्तवृत्ति का निरोध हो सके। इन आसनों का प्रतिमा-स्थापत्य में भी प्रभाव रहा है।

उपर्युक्त आसनों में से गोदोहन-आसन को छोड़कर शेष सभी भारतीय मूर्त्तियों में प्रयुक्त हुए हैं। हिन्दू, जैन एवं बौद्ध इन सभी मूर्त्तियों में पद्मासन प्रतिमाएं उपलब्ध हैं। ऐसी प्रतिमाओं का पूजा के लिए अधिक प्रयोग होता है।

---

१. णिम्मवियाइं अत्तणो-रूव-सरिसाइं रयण-पडिरूवयाइं—१०२.२९.
२. जिण-वयणं झायंता अण्णे पडिमा-गया मुणिणो—३४.२८
३. 'ध्यान योगस्य संसिद्धयै प्रतिमाः परिकल्पिताः'।
४. द्रष्टव्य, शु०—भा० स्था०, पृ० ४५६.

नियमासन (योगासन) अर्चना के लिए लगायी जाती थी।[1] वीरासन में नागपुर की शिवप्रतिमा द्रष्टव्य है। गोदोहन-आसन में अभी तक कोई मूर्ति उपलब्ध नहीं हुई है। भगवान् महावीर को इसी आसन में केवल ज्ञान प्राप्त हुआ था। अतः यह आसन जैन-परम्परा में अधिक प्रचलित हो गया। इस आसन की ध्यान और योग की दृष्टि से कई उपयोगिताएँ भी हैं। इसमें योगी निरन्तर सजग रहता है तथा धरती (भौतिक जगत्) से कम से कम उसका सम्बन्ध रह जाता है।[2]

---

१. प्रतिमा-विज्ञान, पृ० २११.

२. द्रष्टव्य-आचार्य रजनीश, 'महावीर : मेरी दृष्टि में', पृ० ६१४.२०

अध्याय सात

धार्मिक जीवन

परिच्छेद एक

प्रमुख धर्म

कुवलयमालाकहा के रचनाकार श्री उद्द्योतनसूरि जैनधर्म के श्वेताम्बर सम्प्रदाय के साधु थे। जैनधर्म एवं दर्शन के प्रकाण्ड पंडित। उन्होंने ग्रन्थ में जैनधर्म का सांगोपांग वर्णन किया है। जैनधर्म के वर्णन के प्रति ग्रन्थकार जितने उदार हैं उतने ही अपने समय की अध्यात्मचेतना एवं धार्मिक गतिविधियों के प्रति सजग भी। प्रसंगवश उद्द्योतन ने अन्य धर्मों के सम्बन्ध में विस्तृत एवं विविध सामग्री प्रस्तुत की है। विभिन्न धार्मिक आचार्यों, तपस्वियों, प्रवर्तकों, मठो, दार्शनिक मतो, देवी-देवताओं एवं तीर्थयात्रियों के सम्बन्ध में कुव० में जो विवरण उपलब्ध है, उसके अध्ययन से ८ वीं शताब्दी के धार्मिक जगत् का स्पष्ट चित्र उपस्थित हो जाता है।

उद्द्योतनसूरि ने कुव० में धार्मिक विवरण किसी एक प्रसंग में नहीं दिया है। राजा दृढवर्मन् की दीक्षा के समय विभिन्न धार्मिक आचार्यो एवं उनके मतों का विस्तृत वर्णन है। शेष जानकारी छुट-पुट प्रसंगों से मिलती है। सम्पूर्ण धार्मिक सामग्री को जांचने एवं वर्गीकृत करने से प्राचीन भारत के प्रायः सभी प्रमुख धर्मों, सम्प्रदायों एवं विचारधाराओं के सम्बन्ध में कुछ न कुछ प्रकाश पड़ता है। अतः ग्रन्थ के वर्णानुक्रम की अपेक्षा विषय के वर्गीकरण के अनुसार ही इस धार्मिक विवरण का अध्ययन प्रस्तुत करना उचित होगा।

शैव धर्म

आठवीं शताब्दी में शैव धर्म पर्याप्त विकसित हो चुका था। उसके स्वरूप में पौराणिक तत्त्वों का समावेश हो गया था। रुद्र एवं शिव के सम्बन्धों में घनिष्ठता थी। लिंगपूजा का सूत्रपात हो चुका था। वैदिक शैव धर्म अब अनेक सम्प्रदायों में विभक्त था। कापालिक, कारुणिक, कौल, शाक्त आदि उनमें प्रमुख थे। शिव के विभिन्न रूप-महाकाल, शशिशेखर, हर, शंकर, त्रिनेत्र, अर्धनारीश्वर,

योगीराज आदि तत्कालीन समाज में प्रसिद्ध थे। शैव परिवार में रुद्र, स्कन्द, षड्मुख, गजेन्द्र, विनायक, गणाधिप, वीरभद्र, आदि देवता कात्यायनी, कोट्टजा, दुर्गा, अम्बा आदि देवियाँ, भूत-पिशाच आदि गण सम्मिलित थे, जिनके सम्बन्ध में कुवलयमालाकहा से पर्याप्त जानकारी मिलती है।

उद्द्योतनसूरि ने इस ग्रन्थ में राजा दृढ़वर्मन की दीक्षा के समय जिन ३३ आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है उनमें शैव, वैष्णव, वैदिक, पौराणिक, आजीवक आदि धर्मों के विभिन्न सम्प्रदायों का समावेश है। धार्मिक आचार्य अपने-अपने मत का परिचय देते हैं। राजा उनके हिताहित का विचार करता है। इस सन्दर्भ में शैव धर्म के निम्नांकित सम्प्रदायों का वर्णन उपलब्ध होता है।

अद्वैतवादी—'भक्ष्य-अभक्ष्य में समान तथा गम्य-अगम्य में कोई अन्तर नहीं है (यह) हमारा उत्तम धर्म अद्वैतवाद कहा गया है।'[1] इस विचारधारा का सम्बन्ध वेदान्त के अद्वैतवाद से नहीं है। वस्तुतः ऐसे आचार्यों का सम्बन्ध उस समय कापालिकों आदि से अधिक था। शैव सम्प्रदाय की कई शाखाएँ खान-पान एवं आचरण में उचित-अनुचित का विचार नहीं करती थीं। १०वीं शताब्दी तक कौल सम्प्रदाय की यह मान्यता बन चुकी थी कि सभी प्रकार के पेय-अपेय, भक्ष्य-अभक्ष्य, आदि में निःशंकचित्त होकर प्रवृत्ति करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[2] मांसाहार और मद्य का व्यवहार इनकी धार्मिक क्रियाओं में सम्मिलित था।[3] राजा दृढ़वर्मन् ऐसी क्रियाओं को लोक एवं परलोक के विरुद्ध कहकर अस्वीकार कर देता है। क्योंकि इन्द्रियों का निग्रह करना ही वास्तविक धर्म है।[4]

सद्वैतवादी—हे राजन्! आप ठीक कहते हैं। पांच पवित्र आसनों से युक्त हमारा उत्तम धर्म सद्वैतवादी कहा गया है।[5] इस मत के आचार्य का किस सम्प्रदाय से सम्बन्ध था यह स्पष्ट नहीं है। क्योंकि पांच पवित्र उपासनाओं (आसनों) को स्पष्ट नहीं किया गया। किन्तु राजा के इस खण्डन-युक्त कथन द्वारा कि स्वाद-इन्द्रिय के अनुकूल भोजन करना एवं स्पर्श-इन्द्रिय के सुख आदि

---

१. भक्खाभक्खाण समं गम्मागम्माण अंतरं णत्थि।
अद्दंत-वाय-भणिओ धम्मो अम्हाण णिक्खुद्दो॥—वही, २०४ : १९

२. सर्वेषु पेयापेयभक्ष्याभक्ष्यादिषु निःशंकचित्तोद्वृतात् इति कुलाचार्याः।
—यशस्तिलक, पृ० २६९, उत्तरार्ध

३. रण्डाचण्डादिक्खियाधम्मदारा मज्जं मंसं पिज्जए खज्जए च।
भिक्खा भोज्जं चम्मखण्डं च सेज्जा कोलो धम्मो कस्स न होई रम्मो॥
—कर्पूरमंजरी, १-२३ :, भावसंग्रह, १८३

४. एयं लोय-विरुद्धं परलोय-विरुद्धयं पि पच्चक्खं। —कुव०, २०४.२१.

५. विण्णप्पसि देव फुडं मंच-पवित्तेहिं आसण-विहीय।
सद्दइत-वाय-भणिओ धम्मो अम्हाण णिक्खुद्दो॥ —वही २०४.२३.

अधर्म है,'[1] । ऐसा प्रतीत होता है कि इस मत के आचार्य मद्य-मांस द्वारा देवता की अर्चना करते रहे होंगे एवं प्रसाद के रूप में अपनी जिह्वा इंद्रिय की तृप्ति । सोमदेव ने इसी प्रकार के सम्प्रदायों की आलोचना करते हुए कहा कि लोग इंन्द्रियलोलुपता तथा अपने स्वार्थ के कारण मांस खाते हैं । उसके साथ धर्म और आगम को व्यर्थ ही जोड़ रखा है ।[2] उद्द्योतन के समय ये सद्वैतवादी क्यों कहलाते थे, यह स्पष्ट नहीं होता । शायद अद्वैत के साथ द्वैत मानने के कारण इन्हें सद्वैत-वादी कहा गया है जिसमें दर्शन की दृष्टि से विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत संज्ञायें आ सकती हैं । किन्तु मांस-भक्षण इनके अनुयायियों द्वारा नहीं होता था । शैव-परम्परा में अद्वैतवाद के साथ द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत की परम्परा रही है । जिसमें उपासना प्रचलित होगी उसे सद्वैतवाद कहा गया है । यह सद्वैतवाद पांचरात्र परंपरा का भी प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उसमें मांस-भक्षण प्रचलित नहीं था । उसमें वासुदेव की पूजा, अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय एवं योग इन पांच विधियों द्वारा की जाती थी ।[3]

कापालिक—'धर्म में स्थित (साधु) को जो अपना एवं अपनी पत्नी का शरीर समर्पित करता है, वह साधु तैरते हुए तूंबे के समान उस व्यक्ति को इस भव-समुद्र से पार कर देता है ।[4] इस मत के आचार्य का सम्बन्ध उस समय में प्रचलित कापालिक साधुओं के धर्म से प्रतीत होता है । कापालिक-सम्प्रदाय के सम्बन्ध में साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों से जो जानकारी प्राप्त होती है उससे स्पष्ट है कि वे शैव सम्प्रदाय की शाखा के साधु थे । कापालिकों का उल्लेख ललितविस्तर (अ० १७), भवभूति के मालतीमाधव (अंक १), समराइच्चकहा (भव ४), यशस्तिलक (उत्तरार्ध, पृ० २८१) यामुनाचार्य के आगम-प्रमाण आदि ग्रन्थों में मिलता है, जिससे उनकी धार्मिक क्रियाओं पर प्रकाश पड़ता है ।[5]

उद्द्योतन ने कापालिकों का दो बार उल्लेख किया है । मित्रद्रोह का पाप कापालिक व्रत धारण करने से दूर हो सकता है ।[6] तथा महामसान में सुन्दरी अपने पति के शव की रक्षा करती हुई कापालिक बालिका सदृश दिखायी पड़ती थी ।[7] इससे स्पष्ट है कि आठवीं सदी में कापालिक मत के प्रचारक थे एवं

---

१. लोमसहारे जिब्भिंदियस्स अणुकूलमासणं फंसे । धम्माओ । —वही, २५.

२. लोलैन्द्रियैर्लोकमनोनुकूलैः स्वजीवनायागम एष सृष्टः ।
 —यशस्तिलक, पृ० १३०. उत्तरार्ध ।

३. ब्रह्मसूत्र, २.२.४२ पर शंकराचार्य की टीका.

४. धम्मट्ठियस्स दिज्जइ णियय-कलत्तं पि अत्तणो देहं ।
 तारेइ सो तरंतो अलाबु-सरिसो भव-समुद्दं ॥ —कु० २०४.२७.

५. यशस्तिलक एण्ड इंडियन कल्चर, पृ० ३५६-५७.

६. कउं प्राव मित्तस्स वचण । कावालिय-व्रत-धरणे । —कुव० ६३.२२.

७. कावालिय-बालिय व्व····महा-मसाण-मज्झम्मि । —वही २२५-३१.

श्मशान में स्त्रियों के साथ मद्य-मांस आदि का सेवन करना कापालिकों में प्रचलित था।

कापालिकों की धार्मिक क्रियाओं में स्त्रियों के सहवास पर कोई निषेध नहीं था। कापालिक साधु भगासनस्थ होकर आत्मा का ध्यान करता था।[1] १०वीं सदी तक ये त्रिकमत को मानने लगे थे, जिसके अनुसार बांयी ओर स्त्री को बैठाकर स्वयं शिव और पार्वती के समान आचरण करना विहित था।[2] मद्य-मांस एवं स्त्रियों के सहवास के कारण ही सोमदेव ने जैन साधुओं को कापालिकों का सम्पर्क होने पर मन्त्र-स्नान करने को कहा है। सम्भवत: इसीलिए दृढ़वर्मन् भी इन कापालिकों को भोगी होने से मुनि नहीं मानता एवं जो मुनि नहीं हैं, उन्हें कुछ देने से क्या फायदा? वे जल में शिला की भाँति दूसरे को तारने में कहाँ तक समर्थ हो सकते हैं?[3]

महाभैरव—कुवलयमाला में सुन्दरी की अवस्था की उपमा महाभैरव के व्रत से दी गयी है। श्मशानभूमि में कन्धे पर शव को लादे हुए, जर्जर चिथड़े पहने हुए, धूल से धूसरित शरीर वाले, बिखरे केश एवं मलिन वेषधारी महाभैरव के व्रत के समान आचरण करती हुई वह सुन्दरी भिक्षा मांगती थी।[4] शाक्त सम्प्रदाय में शक्ति सम्पन्न देवियों की अर्चना, आराधना आदि सम्मिलित थी। क्योंकि शक्ति के उपासक होने के कारण ही इस मत को मानने वाले शाक्त कहलाते हैं। शाक्त सम्प्रदाय के तन्त्र साहित्य में शक्ति के विभिन्न रूपों का वर्णन है। देवियो मे आनन्दभैरवी, त्रिपुरसुन्दरी, ललिता आदि प्रमुख हैं। आनन्दभैरव को ही महाभैरव कहा गया है, जो नौ व्यूहो से निर्मित है। यह महाभैरव ही देवी की आत्मा होता है तथा संहार में प्रधान होता है। सृष्टि में महाभैरवी प्रमुख होती है।[5]

कुवलयमाला के उक्त सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि श्मशान में मलिन वेष धारण किये हुए शव को कन्धे पर रखकर महाभैरवी की साधना की जाती थी। श्मशान भूमि में भैरवों द्वारा व्रतों की साधना बाण के समय में भी प्रचलित थी।[6] भैरवाचार्य के स्वरूप एवं उनकी वेताल-साधना का अनुकरण आठवीं सदी में भी हो रहा था। १०वीं सदी में कापालिक शिव के भैरव रूप की साधना

---

१. द्रष्टव्य, ब्रह्मसूत्र २.२.३५-३६ पर रामानुज का भाष्य।
२. यशस्तिलक, उत्तरार्ध, पृ० २६९.
३ जइ भुंजइ कह व मुणी अह ण मुणी किं च तस्स दिण्णेण।
आरोविया सिलोवरि किं तरइ शिला जले गहिरे॥ —कुव० २०४.२९.
४. तत्थ खंधारोविय-कंकाला जर-चीर-णियंसणा धूलि-पंडर-सरीरा उद्ध-केसा मलिण-वेसा महाभइरव-वयं पिव चरंती भिक्खं भमिऊण। —कु० २२५.२७.
५. सौन्दर्यलहरी-टीका-लक्ष्मीधर,—मैसूर संस्करण, श्लोक ३४.
६. अ०—ह० अ०, पृ० ५७-६०.

मनुष्य की बलि देकर करते थे।[1] कर्पूरमंजरी में भैरवानन्द का स्वरूप एवं कार्य इसी प्रकार का वर्णित है।

आत्म-वधिक—'हे नरनाथ! जो जीव साहस एवं बलपूर्वक सत्यक्रिया (आत्मवध) का आलम्बन करता है उसकी सुगति होती है ऐसा हमारे धर्म में कहा गया है।'[2] इस प्रकार का कथन करने वाले आचार्य का सम्बन्ध महासाहसिक आदि शैव सम्प्रदाय के साधुओं से रहा होगा, जो आत्मवध एवं आत्म-रुधिरपान आदि भयंकर साधना किया करते थे।

आत्मवध करने के अनेक सन्दर्भ जैन-सूत्रों में मिलते हैं।[3] किन्तु आत्म-पीड़न का धार्मिक-क्रियाओं के साथ सम्बन्ध विशेषतया शैव प्रम्प्रदाय की शाखाओं में ही अधिक प्रचलित रहा। जातकों एवं लौकिक कथाओं में भी सत्यक्रिया (आत्मवध) के सन्दर्भ प्राप्त होते है। लगभग छठी शताब्दी में भी कापालिक महाकाल को प्रसन्न करने के लिए आत्ममांस का अर्पण करते रहते थे। पाशुपत मत के अनुयायी द्रविण मुण्डोपहार द्वारा वेताल को प्रसन्न करते थे।[4] चीनी यात्री युवानच्वांग ने प्रयाग के एक मंदिर का वर्णन करते हुए लिखा है कि वहाँ कुछ भक्त स्वर्ग की प्राप्ति के लिये आत्मवध कर रहे थे।[5] उद्द्योतन के समय तक आत्मवध की परम्परा और विकसित हो चुकी थी। १० वीं सदी में आत्मवध करने वाले साधु अपने को महाव्रती कहने लगे थे, जो अपना मांस काटने के लिये हमेशा हाथ में तलवार लिये रहते थे।[6] आत्मवध की इस प्रकार की घटनायें कुछ धार्मिक अवधतों द्वारा आजकल भी यत्र-तत्र दिखायी पड़ती हैं।

जैनधर्म ने आत्मवध द्वारा धार्मिक क्रियायें करने का हमेशा विरोध किया है। इनको लोकमूढता की संज्ञा दी गयी है, जो पापबन्ध का कारण है। इसीलिये दृढ़वर्मन् भी ऐसे धर्म का विरोध करता हुआ सोचता है कि आत्मवध वेद एवं

---

१. जैन—यश० सां० अ०, पृ० १०४.
२. जो कुणइ साहस-बलं सत्तं अवलंबिऊण णरणाह।
   तस्स किर होइ सुगई मह धम्मो एस पडिहाइ॥ —वही, २०४.३१
३. ज०—जै० आ० स०, पृ० ३७५.
४. अ०—ह० अ०, पृ० ८९.
५. The Chinese travellers Yuan-chwang, in the first half of the seventh centuary, describes a temple, at Prayāga (Allahabad), where certain devotees commited suicide in the hope of gaining the paradise of the gods.
   —Watters : On Yuan Chwang, 1, p. 362.
६. यशस्तिलक, पृ० १२७.

श्रुति के विरुद्ध एवं बुद्धिमानों द्वारा निन्दित किया गया है। यदि आत्मवध से सुगति प्राप्त होने लगे तो विष को भी अमृत हो जाना चाहिए।[१]

पर्वत-पतनक—'जो कोई महाधीर ऊँचे पर्वत पर जाकर अपने को गिराता है, वही उसका धर्म है।'[२] यह आत्मवध करने वाले साधुओं का मत था। इसके अनेक प्रकार थे। पर्वत से गिरना, नदी में डूबना, वृक्ष की शाखा से लटकना एवं अग्नि में प्रवेश करना आदि। इन साधनों से अपने जीवन का अन्त करना एक धार्मिक विश्वास बन गया था। हर्षचरित में भृगुपतन स्थान में अपने आपको नीचे गिराकर आत्माहुति देने वाले व्यक्तियों का उल्लेख है—**केचिद्वात्मानंभृगुषुबबन्धुः**—। भृगुपतन, काशीकरवट, करीषाग्नि-दहन और समुद्र में आत्मविलय, जीवन को अन्त करने के प्रमुख साधन थे।[३] कुछ विद्वानों ने जैनधर्म की सल्लेखना को भी आत्मवध की श्रेणी में रखा है, किन्तु यह भूल सल्लेखना के मर्म को न समझने के कारण हुई है। अन्य साधनों से आत्मवध करते समय व्यक्ति सरागी एवं स्वर्गफल आदि की इच्छा करने वाला होने से कुगति प्राप्त करता है,[४] जबकि सल्लेखना परिणामों को शुद्ध करने की एक प्रक्रिया है, जहाँ किसी प्रकार की इच्छा-अभिलाषा को स्थान नहीं दिया जाता।[५]

गुग्गुलधारक—गुग्गुल को धारण करना भी धर्म है (धम्मो जो गुग्गुलं धरइ, २०४.३५)। गुग्गुल धारण करने को धार्मिक क्रियाओं के अन्तर्गत छठी शताब्दी तक सम्मिलित कर लिया गया था। महाकवि बाण ने महाकाल की पूजा के सम्बन्ध में उल्लेख किया है कि नये सेवकों के सिर पर गुग्गुल जलाकर महाकाल को प्रसन्न किया जाता था। सिर पर गुग्गुल जलाने से कपाल की हड्डी तक दिखने लगती थी। सेवक पीड़ा से छटपटाते रहते थे। ये सब रौद्र के भक्त होते थे।[६] आठवीं शताब्दी में इस प्रकार की विकट साधना करने वाले धार्मिकों की भरमार थी। १० वीं सदी में इस प्रकार की सिद्धि करने वालों को साधक कहा जाता था, जो गुग्गुल जलाने की परम्परा के संवाहक थे।[७] दृढ़वर्मन् ने इस प्रकार की आत्मपीड़न की क्रियाओं को तामस मरण कहा है।[८] एक अन्य प्रसंग में उद्द्योतन ने मथुरा के अनाथमंडप में अन्य भिखारियों के

---

१. वेय-सुईसु विरुद्धो अप्पवहो णिंदिओ य विबुहेहिं।
   जइ तस्स होइ सुगई विसं पि अमयं भवेज्जासु॥ —कुव० २०४.३३.
२. वही—२०४ ३५.
३. अ०—ह० अ०, पृ० १०५
४. अत्ताणं मारेंतो पावइ कुगई जिओ सराय-मणो। —कुव० २०५.१.
५. जैन—भा० जै० यो०
६. 'दग्धगुग्गुलवः रौद्राः' —हर्षचरित, पृ० १०३, १५३.
७. साधकलोकनिजशिरोदह्यमानगुग्गुलरसम्। —यशस्तिलक, पृ० ४९.
८. एयं तामस मरणं गुग्गुल-धरणाइयं सव्वं॥ —कुव० २०५.१.

साथ इनका (गुग्गुल) उल्लेख भी किया है।[1] प्रारम्भ में सम्भवतः गुग्गुल बेचने वाले को गुग्गुलिक कहा जाता रहा होगा। किन्तु आठवीं सदी में इनकी कोई विशेष प्रतिष्ठा नहीं थी, क्योंकि ये भिखारी के रूप में अपना भरण-पोषण करते थे।

पार्थिव-पूजनवादी—'मिट्टी की मूर्त्ति बनाकर मन्त्रोच्चारण द्वारा पापों को जलाने से सुख की प्राप्ति होती है, दीक्षा लेने वालों के लिए यही एक धर्म है।'[2] इस मत के आचार्य का सम्बन्ध मन्त्रवादियों से रहा होगा, जो मन्त्रों द्वारा अनेक चमत्कार दिखाने के लिए प्रसिद्ध थे। मन्त्रों द्वारा पापों से मुक्त होना राजा को नहीं जंचता, क्योंकि पाप-बन्धन तो तप और ध्यान द्वारा ही नष्ट हो सकते हैं।[3] शंकर की पार्थिव मूर्ति बनाकर पूजन करना आज भी प्रचलित है। विवाह कार्य में भी गौरी गणेश आदि की मूर्तियाँ पार्थिव ही होती हैं, जिनका मन्त्रो से पूजन किया जाता हैं।

कारुणिक—'दुखी कीट पतंगों को उनके इस कुजन्म से छुटकारा दिलाकर अगले जन्म में वे सुखी होंगे ऐसा सोचना ही करुणामय धर्म है।'[4] इन कारुणिको का सम्बन्ध वाचस्पति मिश्र के अनुसार शैव सम्प्रदायों से था। ९वीं सदी में शैवधर्म में प्रमुख चार सम्प्रदाय थे—शैव, पाशुपत, कापालिक एवं कारुणिक—सैद्धान्तिक। ब्रह्मसूत्र के शंकरभाष्य में कारुणिकों को कारुक-सिद्धान्ती कहा गया है। यामुनाचार्य के आगमप्रमाण में इनको कालमुख कहा गया है।[5] सम्भवतः कारुणिक, कारुक एवं कालमुख इन तीनों के सिद्धान्तों में समानता रही होगी।[6] राजा दृढ़वर्मन् जीवों पर इस प्रकार की करुणा को उचित नहीं समझता, जिसमें उन्हे अपना जीवन खोना पड़े। क्योंकि जो जीव जिस योनि मे जन्म लेता है वहीं संतुष्ट रहता है। कोई भी जीव मरना नहीं चाहता। अतः करुणापूर्वक किसी को मार कर उसके वर्तमान जीवन से छुटकारा दिलाना उचित नही है।[7]

दुष्ट-जीवसंहारक—शार्दूल, सिंह, रीछ, सर्प एवं चोर आदि दुष्ट हैं। ये सैकड़ों जीवों को मारते हैं। अतः उनका वध करना ही धर्म है। (कुव०

१. एकम्मि अणाह-मंडवे—गुग्गुलिय भोया। —वही ५५.१०,१२.
२. काऊण पुढवि-पुरिसं डज्जइ मंतेहिँ जत्थ जं पावं।
दीविज्जइ जेण सुहं सो धम्मो होइ दिक्खाए॥ —कुव० २०५.१९.
३. वही, २०५ २१.
४. दुक्खिय-कीड-पयंगा मोएऊणं कुजाइ-जम्माई।
अण्णत्थ होंति सुहिया एसो करुणापरो धम्मो॥ —वही २०६.३.
५ इ०—य० इ० क०, पृ० २३४.
६. शा०—रा० ए०, पृ० ४१३.
७. कु०—२०६.५.

२०६.७)। ऐसा मत किस सम्प्रदाय विशेष में प्रचलित था, कुछ ज्ञात नहीं हो सका। जीवहिंसा प्रधान होने के कारण राजा इसे धर्म नहीं मानता (२०६.९)। सम्भवतः तत्कालीन शैवधर्म के किसी सम्प्रदाय में ऐसी धारणा रही हो।

देवी-देवता

कुवलयमालाकहा में अनेक देवी-देवताओं के उल्लेख विभिन्न प्रसंगों में प्राप्त होते हैं, जो इस बात के प्रमाण हैं कि उद्द्योतनसूरि अपने समय के धार्मिक जीवन से पूर्ण परिचित ही नहीं अपितु सूक्ष्मदृष्टा भी थे। इन्होंने ऐसे अनेक देवी-देवताओं का उल्लेख किया है, जो आठवीं सदी में भारत के विभिन्न स्थानों पर पूजे जाते थे। इस देव-परिवार के कवि ने दो भेद किये हैं—सरागी और विरागी देवता। सर्वज्ञदेव के अतिरिक्त अन्य सभी देवताओं को उन्होंने सरागी कहा है, जो पूजन, अर्चन एवं भक्ति से प्रसन्न होकर धनादि फल प्रदान करते हैं तथा भक्ति न करने पर रुष्ट हो जाते हैं।[1] ग्रन्थ में उल्लिखित देव-परिवार इस प्रकार हैं—

(अ) आर्यदेवता

अरविन्द, अरविन्दनाथ आदित्य, गजेन्द्र, गणाधिप, गोविन्द, त्रिदशेन्द्र, नागेन्द्र, नारायण, पुरन्दर, प्रजापति, बलदेव, बुद्ध, महाकाल, रवि, सूर्य, रुद्र, रेवन्तक, महाभैरव, विनायक, स्कन्द, स्वामीकुमार, शंकर, शशिशेखर, हर, हरि।

(आ) अन्य देवता

किन्नर, किंपुरुष, गन्धर्व, नाग, महोरग, यक्ष, लोकपाल, व्यन्तर, सिद्ध, राक्षस, भूत, पिशाच, वेताल, वइसदेव, पुढविपुरिस।

(इ) देवियां

अम्बा, कात्यायनी, कुट्टजा, चण्डिका, जोगिनी, दुर्गा, माता, दिघि, लक्ष्मी, सरस्वती, सावित्री, श्री, ह्री, सप्त-मातृकाएँ, पन्थदेवी (८३.२६), जातापहारिणी, पूतना, सकुनी (२७४.३४), विजया, अपराजिता जयन्ती, कुमारी, अम्बाला (२०१ २१)।

ग्रन्थ में उल्लिखित इन समस्त देवी-देवताओं को उनके स्वरूप एवं कार्य आदि के आधार पर शैव, वैष्णव, वैदिक, पौराणिक, जैन एवं लोकधर्म से सम्बन्धित देव-परिवारों में विभक्त किया जा सकता है। इन धर्मों के पृथक्-पृथक् अध्ययन के साथ ही इनके देवी-देवताओं पर भी प्रकाश डाला जायेगा। यहाँ शैव परिवार के देवताओं का विवरण प्रस्तुत है।

शिव के विभिन्न रूप—कुव० में शिव के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन प्राप्त होता है। शशिशेखर (जिनके मस्तक पर चन्द्रमा सुशोभित है), की आराधना

---

१. भत्तीए जे उ तुट्ठा णियमा रूसंति ते अभत्तीए। —कुव० २५७.३.

आत्ममांस के समर्पण द्वारा की जाती थी, जिसमें प्राण-संशय बना रहता था।[1] सिर पर चन्द्रधारी शिव की तत्कालीन प्राप्त मूर्त्तियों से उद्द्योतन का यह वर्णन प्रमाणित हो जाता है।

शिव को विभिन्न प्रसंगों में उद्द्योतन ने त्रिनयन, हर, धवलदेह एवं शंकर नाम से सम्बोधित किया है। कुमार कुवलयचन्द्र के अंगों की उपमा त्रिनयन से दी गयी है, किन्तु कुमार त्रिनयन जैसा नहीं हो सकता क्योंकि युवती के शरीर से युक्त उसका वामांग हीन नहीं है।[2] शिव के त्रिनेत्र एवं अर्धनारीश्वर रूप का स्पष्ट उल्लेख है। शिव का त्रिनेत्र और अर्धनारीश्वर रूप साहित्य एवं कला में अति प्रचलित है। डा० आर० सी० अग्रवाल ने आबानेरी, ओसिया एवं मेनाल की अर्धनारीश्वर मूर्त्तियों का सुन्दर वर्णन किया है एवं खण्डेला अभिलेख का उल्लेख किया है जिसमें लगभग ७वीं (६४५ ई०) सदी में अर्धनारीश्वर के मंदिर बनवाने का उल्लेख है।[3]

शिव के शरीर का रंग, वाहन एवं सिर पर गंगाधारण करने की प्रचलित मान्यताओं को उद्द्योतन ने एक पंक्ति में सुन्दर एवं अलंकृत रूप में रखा है—**धवल-वाहण-धवल-देहस्स सिरे भमिति जा विमल-जल** (कुव० ६३.२५)। श्वेत शिवमूर्ति, श्वेत नन्दी एवं शिव के सिर पर गंगा की धारा साहित्य में तो प्रचलित थी ही, उस समय कला में भी इसका अंकन होने लगा था।

संकट के समय हर-हर महादेव का स्मरण किया जाता था तथा हर की यात्रा करने की मनौती मानी थी।[4] इस यात्रा का लक्ष्य हर के किस मंदिर की अर्चना करना था यह स्पष्ट नहीं है। सम्भवतः यह महाकालशिव से भिन्न कोई शिवतीर्थ होना चाहिए। यात्रियों का जहाज सोपारक बन्दरगाह की तरफ लौट रहा था। समुद्री तूफान में फँसे हुये यात्री हर की मनौती मानकर उससे बचना चाहते थे। अतः सम्भव है, यह हर का प्रसिद्ध मन्दिर कहीं राजस्थान में ही रहा होगा। राजस्थान में कालकालेश्वर का मन्दिर महाकाल की तरह ही ही पवित्र माना जाता था।[5] आबू का अचलेश्वर का मंदिर भी उन दिनों प्रसिद्ध था।

शिव के योगी स्वरूप की तुलना उद्द्योतन ने विजयापुरी के पामरजनों से की है। वहाँ के कुछ लोग शंकर जैसे अपार वैभव के स्वामी एवं रमांते हुये मत्त वृषभ को वश में करने वाले थे (शरीर में भभूति लपेटे हुए शिव वृषभ

---

१. ससिसेहर…समाराहण-प्पमुहा पाण-संसय-कारिणो उवाया। — कुव० १३.२७.
२. अण्णेक्काए भणियं-अंगेहिं तिणयणो णज्जइ। अण्णेक्काए भणियं—होज्ज हरेण समाणो जइ जुवई-घडिय-हीण-वामद्धो। —वही २६.८, ९.
३. रिसर्चर, २, पृ० १७.
४. को वि हरस्स जत्तं उवाइएइ। —कुव० ६८.१८.
५. श०—रा० ए०, पृ० ३७७.

पर आरूढ़)।[१] बघेरा से प्राप्त शिव की योगीश्वर मूर्ति से कुवलयमाला का यह कथन प्रमाणित होता है।[२] साहित्य में तो योगिराज शिव के अनेक उल्लेख हैं।

महाकाल—महाकवि बाण के बाद उद्द्योतनसूरि द्वारा महाकाल का उल्लेख एक महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ है। आठवीं शताब्दी में भी जोग, जोगिनी, सिद्ध, तान्त्रिक एवं यन्त्रवादियों के द्वारा सेवित महाकाल शिव की आराधना तथा प्रभाव का इस ग्रन्थ से पता चलता है। उस समय महाकाल की आज्ञा समस्त पृथ्वी के देवी-देवता मानते थे।[३] उद्द्योतन ने महाकाल के मन्दिर में दी जाने वाली बलि आदि का जो वर्णन किया है, वह पूर्व वर्णनों से विस्तृत एवं सूक्ष्म है।[४]

उज्जयिनी के महाकाल शिव को उद्द्योतन ने महाकाल भट्टारक के रूप भी स्मरण किया है। महाकाल भट्टारक की प्रसिद्ध उज्जयिनी से मथुरा तक व्याप्त थी। भक्तों में ऐसा विश्वास था कि महाकाल भट्टारक की सेवा में जो व्यक्ति ६ माह रह लेता है उसका कोढ़ रोग जड़ से समाप्त हो जाता है।[५] उद्द्योतन द्वारा महाकाल शिव का उल्लेख करना इस बात का प्रमाण है कि राजस्थान में भी महाकाल शिव की वही प्रतिष्ठा थी कि प्रतिवर्ष हजारों यात्री राजस्थान से उनके दर्शनों के लिए उत्तर भारत में जाते रहे होंगे।

रुद्र—उद्द्योतन ने अपने ग्रन्थ में रुद्र का केवल तीन बार अन्य देवताओं के साथ उल्लेख किया है। रानी प्रयंगुश्यामा के कहने पर पुत्र प्राप्ति के लिए राजा ने पूस नक्षत्र एवं भूत दिवस में (पूस-णक्खत्त-जुत्ते-भूय-दियहे—१४.४)। स्कन्द एवं रुद्र आदि देवताओं को बलि प्रदान की (१४.५)। दूसरे प्रसंग में स्कन्द एवं रुद्र आदि देवताओं को सरागी कहा गया है, जो भक्ति से प्रसन्न होकर वर प्रदान करते हैं (२५६.३१)। तीसरे प्रसंग में कहा गया है कि सन्ध्या होते ही नगर के रुद्रभवनों में मनोहर गीत होने लगते थे (८२.३२)। तथा एक अन्य प्रसंग में कुवलयचन्द्र ने विन्ध्यगिरि में ऐणिका नामक तपस्विनी की कुटिया में पुत्र-बीजक वृक्ष से बनी हुई रुद्राक्ष की मालाओं को देखा था (१२२.५)।

---

१. अण्णि-पणि संकर-जइसय भूई-परिभोग-ढेक्कंत-दरिय-वसहेक्क-वियावड व त्ति। —कुव० १४९.१५.

२. श०—रा० ए०, पृ० ३७६.

३. सयल-धरा-मंडलब्भंतरे जोय-जोयणी-सिद्ध-तंत-मंत-सेवियस्स महाकालस्स व तुज्झ देव-देवा वि आणं पडिच्छंति। —१२.२६.

४. The description given by Uddyotanasūri is much more detailed about the bloody affering and secrifices and use as wine and the skull of human beings and Vetāla-Sādhanā carried on the temple.—Kuv. Int., p. 115 (V.S, Agrawala).

५. महाकाल-भडारयहं छम्मासे सेवण्ण कुणइ जेण मूलहेज्जे फिट्टइ।—कुव० ५५.१८.

रुद्र के सम्बन्ध में उपर्युक्त सन्दर्भों से यह स्पष्ट है कि दुःखनिवारण एवं पुत्र प्राप्ति के लिए रुद्र को बलि देकर प्रसन्न किया जाता था। रुद्र भक्ति, पूजा, अर्चना से प्रसन्न होता था। रुद्रपूजा के लिए अलग मंदिर बनने लगे थे एवं स्तोत्रों को उनमें गाया जाता था। रुद्र के स्वरूप एवं उसकी धार्मिक मान्यता के विकास पर दृष्टिपात करने से उपर्युक्त विवरण प्रमाणित ठहरता है। ऋग्वेद में रुद्र को परमशक्ति के रूप में स्वीकार कर उसकी अनेक प्रार्थनाएँ की गयी हैं (ऋ०—१.११४.८; ७.४६.२)। बच्चों की रक्षा करने के लिए रुद्र इस समय प्रसिद्ध था। उसे दिव्य चिकित्सक कहा गया है।[1] सम्भवतः इसी मान्यता के कारण राजा ने उससे पुत्रप्राप्ति की आकांक्षा की हो। आगे चलकर रुद्र इन्द्र के साथी, शिव के अनुचर तथा यम के रक्षक स्वीकार किये गये हैं।[2] मृत्युञ्जयमन्त्र द्वारा रुद्र को प्रसन्न कर मृत्यु से मुक्ति का प्रयत्न किया जाता था। उसी से रुद्राभिषेक की परम्परा विकसित हुई है। रुद्र भवनों में रुद्र की मूर्त्ति भी स्थापित रही होगी। क्योंकि प्राचीन साहित्य में काष्ठ की रुद्र-प्रतिमा बनाये जाने का उल्लेख है।[3]

स्कन्द (स्वामीकुमार)—कुवलयमाला में स्कन्द का अन्य देवताओं के साथ चार वार उल्लेख हुआ है (२ २९, १४.४, ६८.१९, २५६.३१)। रामायण (१.३७) एवं महाभारत (वनपर्व, २१९) में स्कन्द को अग्नि और गंगा का पुत्र कहा गया है। जबकि पुराण-परम्परा में स्कन्द अथवा कार्त्तिकेय शिव-पार्वती के पुत्र और युद्ध के देवता माने गये हैं। जैनसूत्रों के अनुसार स्कन्द-उपासना महावीर के समय में भी प्रचलित थी। स्कन्द की मूर्त्ति काष्ठ की बनायी जाती थी।[4] अमर कोष में स्कन्द के सात नाम दिये गये हैं। गुप्तकाल तक स्कन्द महत्त्वपूर्ण देवता हो गया था। गुप्त राजाओं के नाम (कुमार एवं स्कन्द) तथा मुद्राओं से यह स्पष्ट है। इस युग के साहित्य से भी इसी बात की पुष्टि होती है। कालिदास ने कुमारसंभव कुमार कार्तिकेय की उत्पत्ति से तारकासुर के विनाश की कथा को लेकर लिखा है। उन्होंने मेघदूत में भी उनकी आराधना का वर्णन किया है। गुप्त काल मे उत्तर भारत में भी स्कन्दकुमार की पूजा प्रचलित थी।

स्कन्दपुराण से ज्ञात होता है कि स्कन्द के साथ सात मातृकाये भी सम्बन्धित थीं। स्कन्द अनेक रोगों को दूर करने वाला तथा दुष्ट आत्माओं के उपद्रव को शान्त करने वाला देवता था।[5] स्कन्द की यह प्रसिद्धि ८वीं सदी में भी थी, तभी कुव० में समुद्री तूफान से बचने के लिये यात्री उसका स्मरण करते

---

१. डा० भण्डारकर—वै०शै०ध०म०, पृ० ११७ १३२.
२. हापकिन्स, एपिक माईथोलाजी, पृ० १७३.
३. ज०—जै०आ०भा०सं०, पृ० ४३३.
४. आवश्यकचूर्णी, पृ० ३१५ एवं ११५.
५. स्कन्दपुराण, कौमारिखण्ड २४-३०.

हैं।[1] स्कन्द कार्तिकेय की मूर्ति के हाथ में शक्ति का अंकन देखा जाता है,[2] जो स्कन्द के शक्तिशाली होने का प्रमाण है। स्कन्द की सुन्दर मूर्ति कोटा-संग्रहालय में उपलब्ध है। सम्भवतः १०वीं सदी तक स्कन्द की प्रसिद्धि कम होने लगी थी, क्योंकि तत्कालीन साहित्य—उपमितिभवप्रपंचकथा, यशस्तिलक, बृहत्कथा-कोश आदि—में स्कन्द का उल्लेख नहीं मिलता।[3] कुवलयमाला में स्कन्द को खंद कहा गया है। सम्भवतः आगे चलकर यही खंद महाराष्ट्र का खंडोबा देवता है, जिसकी पूजा-आरती अभी भी की जाती है।[4]

स्वामीकुमार स्कन्द का अपर नाम है। उद्द्योतन ने स्वामीकुमार का दो बार (१३.२७, २६.१२) उल्लेख किया है, जिससे ज्ञात होता है कि इसको पूजा बलि आदि देकर की जाती थी, जिसमें प्राण-संशय बना रहता था (१३.२७)। स्त्रियाँ कुवलयचन्द्र के सौंदर्य की तुलना स्वामीकुमार से करती हैं। किन्तु उसके षड्मुख होने के कारण वे कुवलयचन्द्र को ही श्रेष्ठ मानती हैं।[5] इस समय तक षड्मुख वाले स्वामीकुमार की मूर्तियाँ भी बनने लगी थीं। उद्द्योतन ने एक षड्मुखालय (मंदिर) का उल्लेख किया है जिसमें सायंकाल मयूर, कुक्कुड एवं चडक का कलरव होता रहता था (८३.२)। उपर्युक्त प्रसंग में कहीं भी उद्द्योतन ने स्कन्द के तीसरे नाम कार्त्तिकेय का उल्लेख नहीं किया है।

गजेन्द्र—कुवलयमाला में गणेश-उपासना सम्बन्धी उल्लेख महत्त्वपूर्ण हैं। गणेश के तीन नाम—गजेन्द्र (२.१९, १४.४), विनायक (६८.१८) एवं गणाधिप (२५७.३१) कुवलय० में प्राप्त होते हैं। गजेन्द्र धार्मिक-देवता के रूप में प्रचलित था तथा उसे पुत्रप्राप्ति आदि के लिए बलि भी दी जाती थी। विनायक को संकट के समय लोग स्मरण करते थे। गणाधिप की पूजा द्वारा लोग अनेक फलो की इच्छा रखते थे। उद्द्योतन ने ऐसे देवताओं को सरागी कहा है। गणेश का यह गणाधिप नाम अमरकोश (स्वरादि खंड, ३८) में प्राप्त आठ नामों में से एक है।

विनायक—कुवलय में विनायक का उल्लेख समुद्री तूफान की विपत्ति के समय संकट-मोचन के लिए किया गया है। व्यापारी विनायक की मनौती बोलते हैं।[6] विचरण करने वाली आत्माओं के लिए 'विनायक' शब्द का प्रयोग गणपत्य-

१. को वि खंदस्स, कुव० ६८.१९.
२. भटशाली, द आइकोनोग्राफी आफ बुद्धिस्ट एण्ड ब्राह्मेनिकल स्कल्पचर्स, पृ० १४७ फलक ५७ चित्र ३(ए).
३. शा०—रा०ए०, पृ० ३९२.
४. द्रष्टव्य, ज०—जैं०आ०भा०स०, पृ० ४३२.
५. गज्जइ मुद्धत्तणेण सामिकुमारो। अण्णाए भणियं—सच्चं होज्ज कुमारो जइ ता बहु-खंड-संघडिय-देहो। —वही० २६.१२, १३.
६. को वि विणायगस्स—उवाइय-सहस्से भणइ। —कु० ६८.१८.

सम्प्रदाय में होता था। अथर्वसिरस् उपनिषद् में रुद्र का अनेक देवों या आत्माओं से समीकरण किया गया है, जिनमें से एक विनायक भी है।[1] महाभारत में गणेश्वरों और विनायकों का देवताओं के साथ उल्लेख हुआ है, जो मनुष्यों के कार्यों को देखते हैं तथा सर्वत्र विद्यमान रहते हैं।[2] यहाँ यह भी कहा गया है कि स्तुति किये जाने पर विनायक अनिष्टों को दूर करें।[3] आगे चल कर मानवगृह्य-सूत्र (२.१४) में विनायकों का विस्तृत वर्णन मिलता है, जिसमें विनायक को विघ्नकारी देवता माना है तथा अन्त में कहा गया है कि स्तुति करने पर वह कल्याणकारी देवता बन जाता है।

स्कन्धपुराण में विनायक का स्वरूप नास्तिकों के मार्ग में विघ्न उपस्थित करने तथा भक्तों के विघ्न दूर करने के रूप में वर्णित है।[4] सिद्धर्षि ने भी उसे शान्त, विघ्न-विनाशक कहा है।[5] इससे स्पष्ट है कि विनायक स्वभावतः अनिष्ट-कारी देवता था तथा स्तुति करने पर कल्याणकारी हो जाता था। डा० भण्डारकर का मत है कि गणपति विनायक उपास्य देवता के रूप में ईस्वी सम्वत् के पूर्व ही प्रचलित हो गये थे। याज्ञवल्क्यस्मृति में इनका जो वर्णन उपलब्ध है, उससे ज्ञात होता है कि गुप्तकाल में गाणपत्य-सम्प्रदाय में विनायक प्रमुख हो गये थे। कुवलयमाला के विनायक संबन्धी इस साहित्यिक सन्दर्भ की पुष्टि ८-९वीं शताब्दी के पुरातात्विक साक्ष्य से भी होती है।[6] जोधपुर से २२ मील दूर उत्तर-पश्चिम में घटियारा नामक स्थान पर जो वि० सं० ९१८ (८६२ ई०) का स्तम्भ मिला है उस पर उत्कीर्ण अभिलेख में विनायक को नमस्कार किया गया है। इससे एक बात और स्पष्ट होती है कि जोधपुर एवं जालौर के इलाके में विनायक विघ्नविनाशक देवता के रूप में प्रसिद्ध थे, जिससे उद्द्योतनसूरि परिचित थे।

अन्यगण—ग्रन्थ में शिव के अन्यगणों का भी उल्लेख है। किन्तु इनका तीर्थवन्दना के प्रसंग में उल्लेख किया गया है। वीरभद्र, भद्रेश्वर उनमें प्रमुख हैं। भूत, राक्षस, पिशाच एवं वेताल भी शिव के गण थे, जो महाकाल की सेवा किया करते थे। इनका परिचय व्यन्तर-देवता के अन्तर्गत दिया गया है।

शैव सम्प्रदाय से सम्बन्धित कुछ देवियों का उल्लेख भी कुवलयमाला में हुआ है। उनमें कात्यायनी और कोट्टजा प्रमुख हैं। उनके परिचय इस प्रकार है।

कात्यायनी—राजा दृढ़वर्मन् अपनी रानी को सान्त्वना देते हुए कहता है कि त्रिशूलधारिणी एवं भैंसा के ऊपर सुन्दर चरण रखने वाली कात्यायनी के

१. डा० भण्डाकर—वै० शै० म०—पृ० १६८.७१.
२. अनुशासन पर्व, १५१.२६.
३. वही, १५०.५७.
४. स्कन्दपुराण, कौमारिक २७ पृ० ९.१५.
५. उप० भ० प्र०- पृ० १.
६. ब्र०, श०—रा० ए०, पृ० ३९०.

सामने मैं अपने सिर की बलि देकर भी तुझे एक पुत्र की प्राप्ति कराऊँगा।[1] किन्तु उसके मन्त्री उसे सलाह देते हैं कि कात्यायनी की आराधना में प्राण-संशय बना रहता है।[2] अतः कुलदेवता की आराधना कर पुत्र प्राप्ति करो। उद्द्योतन ने अन्यत्र भी चण्डिका को पशुबलि चढ़ाने का उल्लेख किया है।[3]

प्राचीन भारत में कात्यायनी शक्ति की देवी के रूप में पूजी जाती थी।[4] कात्यायनी के चण्डिका, दुर्गा, भवानी, ईश्वरी, अम्बिका, काली, चांदमारी, कौशिकी आदि अनेक नाम प्रचलित हुए हैं।[5] समराइच्चकहा एवं वासवदत्ता में इसका कात्यायनी नाम भी प्रयुक्त हुआ है।[6] लगभग ७वीं सदी से १०वीं तक कात्यायनी की आराधना मनुष्य एवं पशुओं की बलि अर्पण द्वारा होती रही है। सम्भवतः हिंसक आराध्य होने के कारण शबर, भील एवं अन्य आदिवासी इसके अधिक भक्त थे। किन्तु १०वीं सदी तक समाज का उच्च वर्ग भी कात्यायनी को आराधना अपने मनोरथपूर्ति के लिए करता था।[7] कुछ ब्राह्मण परिवारों की अपनी इष्टदेवियाँ बन गई थीं। जैसे—कात्यों की कात्यायनी और कुशिक ब्राह्मणों की कौशिकी।[8] बृहत्कथाकोश की चंडमारी एवं 'नाभिनन्दनजिनोद्धार' ग्रंथ की चण्डिका के उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि धीरे-धीरे कात्यायनी को पूजा अहिंसक होती जा रही थी। मिष्टान्न-अर्पण से भी वह संतुष्ट होने लगी थी।[9]

कात्यायनी के विभिन्न नामों एवं रूपों का साक्ष्य तत्कालीन अभिलेखों एवं मूर्तियों से प्रमाणित होता है। नरहड से प्राप्त ८वीं सदी की महिषासुरमर्दिनी की मूर्ति उद्द्योतन की कात्यायनी से एकदम मिलती जुलती है।[10] तथा इन्द्रराज चौहान के प्रतापगढ़ अभिलेख में महिषासुरमर्दिनी, दुर्गा, कात्यायनी के नाम भी प्राप्त होते हैं।

कोट्टजा—कुवलयमाला में उल्लिखित धार्मिक स्थानों में कोट्टजा-गृह का उल्लेख अधिक महत्त्वपूर्ण है। डा० वासदेवशरण अग्रवाल ने इस सम्बन्ध में 'हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन' मे विशेष प्रकाश डाला है। तदनुसार यह

---

१. जइ वि तिसूल-णिवडिय-महिसोवरि णिमिय चारु-चलणाए।
   कच्चाइणीएँ पुरओ सीसेण बलिं पि दाऊण॥ —कु० १३.६.
२. कच्चायणी-समाराहण-प्पमुहा पाण-संसय-कारिणो उवाया। —कुव० १३ २७.
३. को वि चंडियाए पसुं भणइ—वही ६८ १७
४. चारुदत्तनाटक (भास).
५ अन्य नामों के लिए द्रष्टव्य—महाभारत (भीष्मपर्व अ० २३)
६. यत्र···भगवती कात्यायनी चण्डाभिधाना स्वयं निवसति। —वासवत्ता.
७. ह०—य०इ०क०, पृ० ३९१-९४.
८. डा० भण्डारकर, वही—पृ० १६५.
९. द्रष्टव्य, शा०—रा० ए०, पृ० ३७९ (फुटनोट).
१०. मरुभारती, अक्टूबर, १९५८.

कोट्टजा-गृह कोटवी देवी का होना चाहिये। कोटवी दक्षिण भारत की मूलदेवी कोट्टवे थी, जिसका रूप राक्षसी का था। पीछे वह दुर्गा या उमा के रूप में पूजी जाने लगी। बाण के समय में वह दुर्भाग्य की सूचक मानी जाने लगी थी और उत्तर भारत में के लोग भी उससे खूब परिचित हो गये थे।[1]

बाण ने इसे नग्नदेवी के रूप में उल्लेख किया है।[2] हेमचन्द्र के अनुसार बाल खोले हुए नग्न स्त्री कोटवी कही जाती थी।[3] अतः ज्ञात होता है कि इसकी मूर्ति नग्न ही बनायी जाती होगी। अहिच्छत्रा के खिलौनों में तर्जनी दिखाती हुई एक नग्न स्त्री अंकित की गयी है। डा० अग्रवाल के अनुसार वह कोट्टवी की आकृति होनी चाहिये। अल्मोड़े जिले में एक कोटलगढ़ नामक स्थान है, जो कोट्टवी का गढ़ कहा जाता था। कोट्टवी बाणासुर की माता थी, जिसका आधा शरीर कवच से ढका हुआ एवं आधा नंगा माना जाता है।[4] इन साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि काट्टवी देवी की पूजा दक्षिण भारत से उत्तर भारत एवं हिमालय के अभ्यन्तर तक में प्रचलित थी।

जैन सूत्रों में आर्या और कोट्टकिरिया इन दोनों देवियों को दुर्गा का रूप माना है।[5] कुवलयमाला में भी कोट्टवई को दुर्गा ही माना गया है, जिसके अम्बा (२३४.१९), आर्या (१०४.१७), चंडिका (६८.१७), दुर्गा (२५७.१) एवं कात्यायनी (१३.५) अपर नाम मिलते है। इन सबको मांस-बलि के द्वारा संतुष्ट किया जाता था, जो कोट्टवई के राक्षसी रूप का परिचायक है।[1] कल्प-द्रुमकोश (१२७) के अनुसार भी कोट्टवी अम्बिका का एक रूप था। इससे स्पष्ट है कि कोट्टवी एक लौकिक देवी थी, जिसकी दक्षिण से उत्तर भारत तक तक विभिन्न रूपों में पूजा होती थी और जिसके स्वतन्त्र मंदिर बनने लगे थे।

वैदिक धर्म

उद्द्योतनसूरि का युग यद्यपि विभिन्न धार्मिक मत-मतान्तरों से युक्त था, अनेक स्वतन्त्र सम्प्रदाय विकसित हो गये थे तथापि वैदिक विचार धारा का प्रतिनिधित्व करने वाले कुछ आचार्य भी इस समय उपस्थित थे। वर्णाश्रम, अग्निहोम, क्रियाकाण्ड, पशुयज्ञ, वेदपाठ आदि धार्मिक अनुष्ठान सम्पादित होते

---

१. वही, पृ० १३४ (नोट मी)
२. हर्षचरित, पृ० २००
३. 'नग्ना तु कोटवी', अभिधानचिंतामणि, ३.९८.
४. हर्ष०, पृ० १३५ (नोट)
५. ज०—जै० भा० स०, पृ० ४४९ पर उद्‌धृत।
१. द्रष्टव्य, ह०—य० इ० क०, पृ० ३५२। इसमें महाबलिपुरं में दुर्गा के एक मंदिर को कोटिकल मंडप कहा गया है, सम्भवतः प्रारम्भ में वह कोटवई देवी का मंदिर रहा हो।

रहते थे। कुवलयमालाकहा में वैदिकधर्म से सम्बन्ध रखने वाले निम्नांकित सन्दर्भ प्राप्त होते हैं।

राजा दृढ़वर्मन् की दीक्षा के समय उल्लिति निम्न धार्मिक आचार्यों के मत वैदिक धर्म से सम्बन्धित प्रतीत होते है।

एकात्मवादी—"अचेतन पदार्थों में स्वयं गतिशील, नित्य-अनित्य से रहित, अनादिनिधन एक ही परमात्मा है, जो परम पुरुष है (२०३.३५)।" यह एकात्मवादियों का सिद्धान्त था। राजा इसे यह कह कर अस्वीकार कर देता है कि यदि एक ही आत्मा होता तो सुख-दुख, अनेक रूप आदि का व्यवहार नहीं होता तथा एक के दुखी होने से सभी दुखी होंगे (२०४.१)। भारतीय दर्शन में एकात्मवादियों का यह सिद्धान्त आत्माद्वैतवाद के नाम से जाना जाता है, उपनिषदों में '**एकादेवः सर्वभूतेषुगूढः**'[१] **एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म**'[२] आदि वाक्यों से ही इसका विकास हुआ है। गीता में परमात्मा कृष्ण को प्रतिष्ठापना आत्माद्वैतवाद से ही प्रभावित है।[३] जैन दार्शनिक ग्रन्थों में एकात्मवाद का अनेक तर्कों द्वारा खण्डन किया गया है।[४]

पशु-यज्ञ समर्थक (कर्मकाण्डी)—'मन्त्रों द्वारा पशुओं का मारकर गोमेध आदि यज्ञ करना ही धर्म है'। इस मत के समर्थक आचार्य का मत भी राजा ने स्वीकार नहीं किया। क्योंकि कुलदेवी ने इस प्रकार के हिंसक कार्यों को अधर्म बतलाया है।[५] इसी प्रसंग में 'अव्यापार देने' और मातृपितृमेध' का भी उल्लेख है, जो समस्यामूलक है। इस सन्दर्भ से यह स्पष्ट होता है कि उद्द्योतनसूरि के समय में वैदिक यज्ञ प्रचलित थे एवं उनका प्रचार करने वाले धार्मिक आचार्य थे। जैन-साहित्य में वैदिक हिंसक यज्ञो का प्रारम्भ से ही विरोध किया गया है। सोमदेव के समय तक इन यज्ञो के कर्ताओ को यागज्ञ कहा जाने लगा था। सोमदेव ने जैनों को इनके साथ सहवास आदि करने का निषेध किया है।[६]

अग्निहोत्रवादी—'काकबलि द्वारा वैश्वदेव को मनाने एवं अग्नि में अन्न की आहुति देने से देवता प्रसन्न होते हैं तथा संतुष्ट होकर वर (धर्म) प्रदान करते हैं।'[७] यह अग्निहोत्रवादी आचार्यों का मत था। राजा को यह भी स्वीकार

१. श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.११.
२. छान्दोग्योपनिषद्, ६ २, १. 'एक एवहि भूतात्मा'०, अमृतबिन्दु, उप० म० प० १२ पृ० १५.
३. भगवद्गीता, अध्याय ६.२९. १३.१६, १८.२० आदि।
४. सूत्रकृताग १.१०, सत्यशासनपरीक्षा-सम्पा०, डा० गोकुलचन्द्र जैन, पृ० २-३.
५. कुव०—२०४.३, ५.
६. जैन—यश० सां० अ०, पृ० ७९.
७ काय-बलि-वइस-देवो कीरइ जणम्मि खिप्पए अण्णं।
सुप्पीया होंति सुरा ते तुट्ठा देंति धम्मं तु ॥ —कुव० २०४.७.

नहीं हुआ। क्योंकि अग्नि में डाली हुई वस्तु देवताओं तक पहुँचती है यह जानना तो दूर, अग्नि में भात पकाने वाला व्यक्ति स्वयं यह नहीं जानता कि वह उसे मिलेगा या दूसरे को (२०४.९)।

अग्निहोम द्वारा स्वर्गगमन के अभिलाषी आचार्यों को अग्निहोत्रवादी कहा जाता था। सूत्रकृतांग (७, पृ० १५४) में इन्हें कुशील साधुओं की श्रेणी में रखा गया है। आठवीं सदी में अनेक यज्ञ एवं बलि आदि का प्रचार था। अतः अग्निहोत्रवादी भी प्रमुख धार्मिक आचार्यों में गिने जाते रहे होंगे। १०वीं सदी तक इनकी अधिक प्रसिद्धि हो गयी थी। जैनधर्म पर भी इनका प्रभाव पड़ा होगा तभी सोमदेव ने पांच अहिंसक यज्ञों का जैन श्रावकों के लिए दान के रूप में विधान किया है।[1] तत्कालीन अभिलेख आदि साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि जैन संस्थाओं को अनुदान देते समय बलिचरुदान, वैश्यदेव, एवं अग्निहोत्र आदि के लिए अलग से दान की व्यवस्था की जाती थी।[2] उद्द्योतनसूरि के समय यद्यपि अग्निहोत्रवादियों के सिद्धान्त को जैनधर्म की तुलना में स्वीकार नहीं किया गया, किन्तु १०वीं सदी तक अहिंसक अग्निहोम जैनधर्म के क्रियाकाण्डों में सम्मिलित हो चुके थे।[3] यहाँ भी राजा ने काकबलि को यह कहकर स्वीकार किया है कि काकबलि कौन नहीं देना चाहता? किन्तु अग्नि में अन्न जलाना उन्हें उचित प्रतीत नहीं हुआ।[4]

वानप्रस्थ—'सभी परिग्रह को छोड़कर, वन में जाकर, बल्कल धारण कर कन्दमूल, फलपुष्प आदि का भोजन करना ऋषियों का धर्म है।'[5] इस मत के आचार्य वानप्रस्थ कहलाते थे। वानप्रस्थों की क्रियाओं के आधार पर उनके औपपादिकसूत्र में अनेक भेद गिनाये गये हैं।[6] तदनुसार कुवलयमाला के ये आचार्य वकवासी वानप्रस्थ प्रतीत होते है। राजा को इनका निःसंग रहना तो पसन्द है किन्तु अन्य क्रियाओं में जीवघात होने के कारण वह इनका मत नहीं स्वीकार करता।[7] बल्कल धारण कर राजा के सन्यस्त होने की परम्परा उद्द्योतन के पूर्व हर्षचरित में भी प्राप्त होती है।[8]

वर्णवादी—'राजाओं का राजधर्म, ब्राह्मणों का ब्राह्मणधर्म, वैश्यों का वैश्यधर्म तथा शूद्रों का अपना कर्तव्य करना ही धर्म है।'[9] यह विचार-धारा

१. ह०—य० इ० क०, पृ० ३३३.
२. अ०—रा० दे० टा०, पृ० ३१४.
३. द जैन एण्टीक्यूरी भा० ६, नं० २, पृ० ६४.
४. कुव०, २०४.९.
५. कुव०, २०४.११.
६. ज०—जै० भा० स०, पृ० ४१३-१५.
७. कुव०, २०४.१३.
८. अविनाम—गृहणीपाद् बल्कले—हर्षचरित, उ० ५.
९. कुव०—२०५.११.

वैदिक धर्म में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था पर निर्भर है। उद्द्योतनसूरि को वर्णों के अनुसार धर्म का विभाजन युक्तिसंगत नहीं लगता। अतः वे धर्म की जैनसम्मत परिभाषा देते हैं कि वस्तु-स्वभाव ही धर्म है। अपने-अपने स्वभाव के अनुसार आचरण करना वास्तविक धर्म है, परलोक आदि का प्रलोभन देने वाली क्रियाएँ धर्म नहीं हैं।[1]

ध्यानवादी—'ध्यान से मोक्ष प्राप्त होता है, परमात्मा के दर्शन होते हैं तथा उससे ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है अतः ध्यान ही सुधर्म है।' किन्तु राजा के विचार से ध्यान के साथ तप, शील और नियम का भी पालन होना चाहिए तभी ध्यान से मोक्ष प्राप्ति की बात सत्य हो सकती है।[2]

एकदण्डी— सिंह के पूर्वजन्म के वृतान्त के प्रसंग में एकदण्डी शब्द का उल्लेख हुआ है। ब्राह्मण ही गार्हस्थ्य धर्म का पालनकर एकदण्डी तापस बन गया, एकदण्डियों के आश्रम के उपयुक्त संयम एवं योग का पालन करता हुआ मरकर वह ज्योतिषि देव हुआ।[3] एकदण्डी साधुओं का सम्बन्ध सम्भवतः वैदिक धर्म से था। जैन साधुओं के इनसे वाद-विवाद होते रहते थे।[4] एक दण्ड धारण करने के कारण इन्हें एकदण्डी कहा जाता रहा होगा। आज भी एक मात्र ब्रह्म की सत्ता के प्रतिपादक वैष्णव साधु एकदण्ड धारण कर चलते हैं। किन्तु बृहज्जातक के टीकाकार महोत्पल ने अजीवक और एकदण्डी सम्प्रदाय को पर्यायवाची माना है।[5] सम्भवतः आजीवक सम्प्रदाय की मान्यताओं में निश्चितता न होने के कारण इस तरह का भ्रम होने लगा होगा। वस्तुतः एकदण्डी आजीविकों से भिन्न थे। वैदिक धर्म से उनका सम्बन्ध था।

तपस्वी तापस—तपस्वी तापस धर्म के साधक को कहा गया है। किन्तु जैन धर्म के अनुसार जिसका मन ज्ञान से, शरीर चरित्र से और इंद्रियाँ नियमो से सदा प्रदीप्त रहती हैं वही तपस्वी है, कोरा वेष बनाने वाला तपस्वी नहीं है।[6] तपस्वी के स्वरूप के सम्बन्ध में कुवलयमाला में अन्यत्र कहा गया है (३४.२५)। आचार्य धर्मनन्दन के शिष्य विभिन्न धार्मिक क्रियाओं में व्यस्त

---

१. धम्मो णाम सहावो णियय-सहावेसु जेण वट्टंति।
तेणं चिय सो भण्णइ धम्मो ण उणाइ पर-लोओ ॥—कुव० २०५.१३.

२. झाणेण होइ मोक्खो सच्चं एयं ति ण उण एक्केण।
तव-सील-णियम-जुत्तेण तं च तुब्भेहिं णो भणियं ॥—कुव० २०५.२५

३ गारुहत्थं पालेऊण एग-डण्डी जाओ। तत्थ य आसम-सरिसं संजम-जोयं पालिऊण,
—कुव० १२५.३१.

४. सूत्रकृतांग, २०६.

५. ज०—जै० भा० स०, पृ० १७ में उद्धृत।

६. ज्ञानैर्मनोवपुर्वृत्तैर्नियमैरिन्द्रियाणि च।
नित्यं यस्य प्रदीप्तानि स तपस्वी न वेषवान ॥ —कल्प० ३३, श्लोक ८७७.

थे। जो साधु अस्थिपंजर मात्र होकर तपस्या में लीन थे वे तपस्वी थे। बनवासी साधुओं को तापस कहा गया है। जैनसूत्रों में तापस धर्म एवं उनके आश्रमों के सम्बन्ध में प्रचुर सन्दर्भ प्राप्त होते हैं।[1] आठवीं शताब्दी में तापस मत का पर्याप्त प्रचार था। हरिभद्र ने तापस एवं तपस्विनी का सूक्ष्म वर्णन किया है।[2] कुवलयमाला के अनुसार तापस गृहस्थों से भोजन, वसन आदि दान में लेने लगे थे।[3]

पाखण्डी (पासंडी)—कुवलयमाला में पाखण्डी शब्द तीन बार प्रयुक्त हुआ है। तीन जगह पाखण्डी साधु को विपरीत आचरण करने वाला कहा गया है। किसी को फुसलाकर साधु बना लेना,[4] किसी की पत्नि के साथ अनैतिक सम्बन्ध रखना[5] एवं अपनी प्रशंसा करना[6] आदि। यद्यपि यहाँ स्पष्ट नहीं है कि पाखण्डी का सम्बन्ध किस मत के साधुओं के साथ है। वैसे पाखण्डी शब्द का सामान्य प्रयोग श्रमण, भिक्षु, तापस, परिव्राजक, कापालिक, पांडुरंग के लिए भी किया जाता था।[7]

भिक्षुक—भिक्षावृत्ति पर निर्भर रहने वाले साधु भिक्षुक कहे गये हैं। कुवलयमाला में इन्हें दान देने का उल्लेख है (१४.६)।

भोगी—मथुरा के अनाथमंडप में अन्य लोगों के साथ भोगी साधु भी रहते थे।[8] इनके वेष एवं आचरण आदि के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं है। सम्भवत: यहाँ 'भोया' का अर्थ भोपा भी हो सकता है, जो राजस्थान की एक जाति विशेष है।

त्रिदशेन्द्र—कुवलय में वैदिक देवताओं में केवल इन्द्र का ही उल्लेख हुआ है। वलि देने के प्रसग में अन्य देवताओं के साथ त्रिदशेन्द्र का भी उल्लेख है। यह इन्द्र का अपर नाम है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में इन्द्र का तीन बार उल्लेख हुआ है (१४८.११, १९०.३, २५७.१)। इन्द्र वैदिक धर्म एवं जैनधर्म में समान रूप से प्रतिष्ठित है। किन्तु जैनधर्म में उसे सरागी कहा गया है। इन्द्र लौकिक जीवन में भी लोकप्रिय रहा है। इन्द्रमह नाम से लोक-उत्सव मनाने की परम्परा का

---

१. ज०—जै० भा० स०, पृ० ४१२.१५.
२. समराइच्चकहा, प्रथम एवं पंचम भव
३. कुव० १४.६.
४. णिसुवं च मए किल एसो केण वि पासंडिएण वेयारिऊण पव्वाविओ। —वही, १२५.१५.
५. पर-पुरिसो को वि पासंडिओ मह जाय महिलसइ त्ति।—वही० १२५.१८.
६. पासंडाणं पसंसा तु।—वही० २१८.२८.
७. ज०—जै०भा०स०, पृ० ४२६ (नोट).
८. एक्कम्मि अणाह-मंडवे ···गुग्गुलिय-भोया।—वही० ५५.१२.

उद्द्योतन ने भी उल्लेख किया है। इन्द्र शक्ति एवं हजार नेत्र के लिए उद्द्योतन के समय में भी प्रसिद्ध था।[१]

सप्त मातृकाएँ--पुत्रप्राप्ति के लिए राजा दृढ़वर्मन् रौद्र सप्त मातृकाओं की आराधना करने के लिए भी तैयार था।[२] यद्यपि सप्तमातृकाओं का सम्बन्ध भयंकर एवं निर्दय सम्प्रदाय से था। किन्तु उन्हें प्रारम्भिक चौलुक्य राजाओं ने अपनी संरक्षिका देवी के रूप में माना है।[३] सम्भवत: उद्द्योतनसूरि के समय में सप्त-मातृकाएँ पुत्र प्राप्ति का वरदान देने के लिए प्रसिद्ध रही होंगी। क्योंकि तत्कालीन सप्त-मातृकाओं की उपलब्ध मूर्तियों में प्रत्येक माता के साथ एक बच्चे की भी मूर्ति प्राप्त होती है। एलौरा की १४वीं गुफा की दक्षिणी दीवाल एवं धारवाड़ जिले के ह्रावेरी का सिद्धेश्वर मंदिर सप्त-मातृकाओं की मूर्तियों के लिए दर्शनीय है।[४]

इसके अतिरिक्त कुवलयमाला में दिधि, सरस्वती, सावित्री, श्री (२३४.१९) देवियों का और उल्लेख मिलता है, जिनका सम्बन्ध वैदिकधर्म से अधिक रहा है। यद्यपि सरस्वती और श्री जैनधर्म में भी देवियों के रूप में स्वीकृत हैं। इन देवी-देवताओं के लिए उस समय अनेक पूजागृह भी निर्मित हो गये थे।

धार्मिक मठ—उद्द्योतन ने एक धार्मिक मठ का वर्णन कुवलयमाला में किया है। शाम होते ही अनेक तरह के शब्द होने लगे। मन्त्र-यज्ञ मंडपों में हवन में तिल, घी, समिधा की आहुति देने से तड-तड का शब्द हो रहा था (८२.३१)। ब्राह्मणशालाओं में वेद के गंभीर पठन-पाठन का शब्द हो रहा था (३२)। रुद्र भवनों में मनोहर, चित्ताकर्षक गीत गाये जा रहे थे। धम्मियमठों में गला फाड़ कर लोग चिल्ला रहे थे (३२)। कापालिकगृहों में घंटा और डमरू बजायी जा रही थी। चत्वरशिवमंडप में तोडहिया वाद्य फूंका जा रहा था (३३)। अवसथों (पाठशालाओं) में भगवद्गीता का पाठ हो रहा था (८२.३३)। जिनघरों (जैनमंदिरों) में सद्भूत गुणों का बखान करने वाले स्तोत्रों द्वारा स्तुति हो रही थी (८३.१)। बौद्धविहारों में एकान्त करुणा से युक्त अर्थगर्भित वचनों का पारायण हो रहा था। दुर्गागृहों में बड़े-बड़े घण्टे बज रहे थे। (१)। कार्त्तिकेय गृहों में मोर, मुर्गा एवं चटकों का शब्द हो रहा था तथा ऊँचे देवगृहों में (कामदेवभवन) मनहर कामनियों के गीत एव मृदंग के स्वर निकल रहे थे (८३.२)। धार्मिक मठ के इस विवरण से स्पष्ट है कि आठवीं शताब्दी मे विभिन्न धर्मों के देवी-देवताओं के स्वतन्त्र पूजागृह स्थापित हो चुके थे।

१. सत्तीए पुरंदरो य णज्जइ–वही० २६.६, ओ ए पुरंदरो व्विय जइ अच्छि-सहस्स-संकुलो होज्ज।–वही २६.७.
२. आराहिउं कुडं चिय रोद्दं जइ माइ-सत्थं पि।—कुव० १३.९.
३. भ०—अ० हि० डे०, (तृ० सं०) पृ० ८३.
४. ह०—य० इ० क०, पृ० ३९७.

पौराणिक धर्म

वैदिक धर्म ने गुप्तयुग में पौराणिक धर्म का स्वरूप ग्रहण कर लिया था। पुराणों के वर्णनों के आधार पर इस समय के धर्म का जो स्वरूप स्पष्ट होता है उसमें परोपकार, दान, तीर्थवन्दना, मूर्त्तिपूजा, ईश्वरभक्ति, विनय आदि समाविष्ट हैं। दार्शनिकता की अपेक्षा आचारमूलक धर्म को इस युग में प्रमुखता दी जाने लगी थी। उद्द्योतनसूरि ने राजा दृढ़वर्मन् की दीक्षा वाले प्रसंग में कुछ ऐसे धार्मिक आचार्यों के मतों को भी उपस्थित किया है, जिनका सम्बन्ध पौराणिक धर्म से है अथवा वे उससे प्रभावित हैं। उनकी संक्षिप्त जानकारी यहाँ प्रस्तुत है।

दानवादी—ब्राह्मण, श्रमण, विकल, दीन, दुखी को कुछ दान देना तथा गुरु की पूजा करना ही सभी धर्मों का सार गृहस्थ धर्म है।[1] प्रायः सभी धर्मों में दान की महिमा बतलायी गयी है। किन्तु जैनधर्म इसे धर्म का एक उपकरण मानता है, पूर्ण धर्म नहीं। दान देना तो दिखाई देता है, किन्तु घर में इससे जो अनन्त जीवघात होता है वह दिखायी नहीं देता।[2] अतः केवल दान देने से इस संसार से मुक्ति नहीं हो सकती, इस कारण राजा इसे स्वीकार नहीं करता।

पूर्तधार्मिक—'कुएं, तालाब खुदवाना, वापिकाओं को बंधवाना तथा प्याऊ खोलना ही परमधर्म है, जो हमारे हृदय में स्थित है।'[3] इस प्रकार के परोपकार से सम्बन्धित कार्यों को करने में धर्म की प्राप्ति वैदिकधर्म में प्रचलित थी। मान्यता का प्रचार करने वाले पूर्तधार्मिक कहलाते थे। पुरातात्विक एवं साहित्यिक उल्लेखों से पूर्तधार्मिकों की प्राचीनता सिद्ध होती है। इस धर्म के अन्तर्गत कुएं, तालाब खुदवाना, भोजन बांटना, बगीचे बनवाना एवं विभिन्न प्रकार के दान देना इत्यादि कार्यों को अधिक महत्त्व दिया जाता था।[4] कुवलयमाला के एक प्रसंग में धन का सही उपयोग करने के लिए इन्हीं परोपकारी कार्यों को करने को कहा गया है।[5] किन्तु जैनधर्म के सिद्धान्तों के अनुसार अल्पमात्र आरम्भ भी साधुओं को नहीं करना चाहिए इसलिए जैनशास्त्रों में इस प्रकार के पूर्तधर्मों की आलोचना की गयी है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं

---

१. दिज्जई बंभण-समणे विहले दीणे य दुक्खिए किंचि।
   गुरु-पूयण पि कीरइ सारो धम्माण गिहि-धम्मो ॥ —कुव० २०४.१५.

२. जं दाणं तं दिट्ठं अणत-घाओ ण पेच्छइ घरम्मि। —वही० १७.

३. कुव० २०५.३.

४. श०—रा० ए०, पृ० ३९८.

५. देसु किवणाणं, विभयसु वणीमयाणं, दक्खेसु बंभणे, कारावेसु देवउले, खाणेसु तलाय-बंधे, बंधावेसु वावीओ, पालेसु सत्तायारे, पयत्तेसु आरोग्ग-सालाओ, उद्धरेसु दीण-विहले त्ति। —कुव० ६५.८, ९.

वनस्पति स्थावर जीवों को मारने से यदि धर्म होता है तो अग्नि को भी शीतल होना चाहिए।[1]

मूर्तिपूजक—न्यायोपार्जित धन से देवमंदिर बनवाकर देवताओं की पूजा, आराधना करना ही धर्म है।[2] आठवीं शताब्दी में विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना प्रचलित थी। अतः ऐसे भी कुछ आचार्य उस समय रहे होंगे जो मंदिर बनवाने और देव-पूजा के प्रचार-कार्य में संलग्न थे। स्वयं उद्द्योतन मूर्तिपूजक श्वेताम्बर परम्परा से सम्बन्धित थे। अतः वे इतना तो स्वीकार करते हैं कि मंदिर बनवाये जाने चाहिये, किन्तु उनमें किस देवता की स्थापना एवं अर्चना की जाय यह उनके सामने प्रश्न था।[3]

विनयवादी—'हे नरवर! माता-पिता, गुरुजन, देव, मनुष्य अथवा सभी को नित्य विनय करना ही धर्म है।'[4] यह विनयवादियों का मत था। विनयवादियों का अस्तित्व उद्द्योतनसूरि के पूर्व भी धार्मिक जगत् में था। जैनसूत्रों में चार प्रकार के मिथ्यादृष्टियों का उल्लेख है, उनमें चौथे विनयवादी हैं।[5] इस मत के अनुयायियों ने बाह्यक्रियाओं के आधार पर मोक्ष प्राप्ति के लिये विनय को आवश्यक माना है। अतएव विनयवादी कोई भी जीव सामने आ जाय उसी को प्रणाम करते थे।[6] आठवीं सदी तक उनकी इस विचारधारा में कोई अन्तर नहीं पड़ा था, यह उक्त सन्दर्भ से स्पष्ट है।

विनयवादियो को प्राचीन समय में अविरुद्ध नाम से भी जाना जाता था।[7] प्राचीन साहित्य में इन्हें महावीर का समकालीन बतलाया गया है।[8] उस समय विनयवादियों की प्रव्रज्या को प्रणाम-प्रव्रज्या कहा जाता था, क्योंकि इनका प्रमुख कर्तव्य सभी प्राणियों को बिना किसी भेद-भाव के प्रणाम करना था।[9] जैनधर्म के अनुसार सभी को प्रणाम करने से कुदेव एवं कुतीर्थों को मिथ्यादृष्टि कहकर आलोचना की गई है। उद्द्योतन के अनुसार धर्म में रत गुरुओं एवं देवों की विनय करना उचित है, किन्तु पापी-जनों को भी प्रणाम

---

१. वही—२०५.५.
२. वही—२०५.१५.
३. को ण वि इच्छइ एयं जं चिय कीरंति देवहरयाइं।
   एत्थं पुण को देवो कस्स व कीरंतु एयाइं॥—वही २०५.१७.
४. पिउ-माइ-गुरुयणम्मि य सुरवर-मणुएसु अहव-सव्वेसु।
   णीयं करेइ विणयं एसो धम्मो णरवरिंद॥ —वही २०५.२७.
५. सूत्रकृतांग, १.१२,१.
६. उत्तराध्ययनटीका, १८, पृ० २३०.
७. अविरुद्धो विणयकरो देवाईणं परा ए भत्तीए। —औपपादिकसूत्र टीका, १६९.
८. आवश्यकनिर्युक्ति, ४९४, अवश्यकचूर्णी, पृ० २९८.
९. व्याख्याप्रज्ञप्ति, ३.१.

करने से सम्यक्त्व में अतिचार लगता है। अतः विनयवादियों का धर्म उचित नहीं है।[1]

पुरोहित—'हे नरवर ! ब्राह्मणों को गाय, भूमि, धन, हल आदि का जो दान करता है, वही धर्म है, जो मुझे प्रिय है।[2] इसका सम्बन्ध ब्राह्मण धर्म से है, जिसके पुरोहित अपने यजमानों से इस प्रकार की चीजें दान में लेते रहते थे। ग्रन्थ में चंडसोम की कथा में भी ब्राह्मणों को सब कुछ दान करने को कहा गया है (पृ० ४८)। किन्तु दान में देने वालो ये सभी वस्तुएँ जीववध में सहायक हैं। अतः इनको लेने वाला एवं दान देने वाला दोनों ही अज्ञानी हैं।[3]

ईश्वरवादी—'ईश्वर के द्वारा ही प्रेरित होकर यह लोक धर्म-अधर्म में रत होता है। अतः जो धर्म को प्राप्त करने का अधिकारी है वही प्राप्त करेगा, दूसरा नहीं।'[4] ईश्वर भक्तों के इस मत का जैनशास्त्रों में अनेक तर्कों द्वारा खण्डन किया गया है। वही तर्क उद्द्योतन उपस्थित करते हैं—उस ईश्वर का क्या नाम है, किस कारण वह लोगों को प्रेरणा देता है, तथा उसमें इष्ट-अनिष्ट विवेक क्यों उत्पन्न होता है ?[5]

तीर्थ-वन्दना—'समुद्र, सरिता, गङ्गा एवं तीर्थस्थानों में नहाने से पाप-मल धुलकर शुद्ध हो जाता है। अतः तीर्थयात्रा ही श्रेष्ठ धर्म है।[6] तीर्थयात्रा द्वारा पुण्य प्राप्ति की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक धर्म के अन्तर्गत इस विचार-धारा को अधिक प्रसिद्धि मिली। प्रारम्भ मे तीर्थयात्रा करने में भले धर्म-साधना होती रही हो किन्तु बाद में यह एक देश-भ्रमण का साधन मात्र रह गया। यही कारण है कि न केवल जैन आचार्यों ने अपितु पुराणकारों ने भी यह कहा है कि—दुष्ट हृदय वाला व्यक्ति तीर्थों में स्नान कर पवित्र नहीं हो सकता, जैसे कि शराब को बोतल सौ बार धोने पर भी पवित्र नहीं होती। इंद्रियों पर पूर्ण सयम रखने वाले व्यक्ति को ही तीर्थों के दर्शन सम्भव हैं।[7] अन्य जैन आचार्यों की तरह उद्द्योतनसूरि ने भी तीर्थयात्रा के स्नान आदि को अनेक सन्दर्भों में आलोचना की है। इस प्रसंग में उन्होंने एक सुन्दर उदाहरण दिया है—'जिसकी आत्मा पाप मन वाली है उसको बाह्य जल शुद्धि से क्या फायदा? यदि कुम्हार की लड़की गर्भवती है तो लुहार की लड़की के घी पीने से कुछ फायदा नहीं।[8]

१. जुज्जइ विणओ धम्मो कीरंतो गुरुयणेसु देवेसु।
जं पुण पाव-जणस्स वि अइयारो एस णो जुत्तो ॥ —कुव० २०५.२९.
२. वही० – २०५.३५
३. देइ हलं जीयहरं पुहई जीयं च जीवियं धण्णं।
अबुहो देइ हलाइं अबुहो च्चिय गेण्हए ताइं ॥—वही २०६.१.
४. वही० २०६.२७.
५. इट्ठाणिट्ठ-विवेगो केण व कज्जेण भण तस्स। —वही, २०६.२९.
६. वही—२०५.७.
७. श०–रा०ए०,पृ० ४०४.
८. जइ अप्पा पाव-मणो बाहिजल-धोवणेण किं तस्स।
जं कुभारी सूया लोहारी किं घयं पियउ ॥—कुव० ४८.२७, २०५.९.

विविध तीर्थ-स्थान—कुवलयमाला में भ्रातृवध करने वाले चंडसोम को गाँव के पंडित सलाह देते हैं कि तुम अपने घर का समस्त धन-धान्य, वस्त्र, शयनासन, बर्तन, पशु आदि सामान ब्राह्मणों को देकर इसी हालत में शीश मुड़ा कर, भिक्षापात्र हाथ में लेकर, भिक्षा माँगते हुए गङ्गाद्वार, हेमन्त, ललित, भद्रेश्वर, वीरभद्र, सोमेश्वर, प्रभास, पुष्कर आदि तीर्थों में नहाते हुए भ्रमण करो तो तुम्हारा पाप नष्ट हो जायेगा।[1]

इन तीर्थ स्थानों की पहिचान डा० दशरथ शर्मा ने अपने ग्रन्थ 'राजस्थान थ्रू द एजेज' में की है।[2] इनके सम्बन्ध में विशेष विवरण इस प्रकार है।

गंगाद्वार—गंगाद्वार वह स्थान है, जहाँ गंगा का पवित्र पानी सपाट मैदान में पहुँचता है। सम्भवतः गंगाद्वार उस समय आधुनिक हरिद्वार को कहा जाता रहा होगा। वायुपुराण (३०.९४, ९६) एवं मत्स्यपुराण (२२.१०) में भी गङ्गाद्वार तीर्थ का उल्लेख है।

ललित—ललित सम्भवतः स्कन्दपुराण में उल्लिखित ललितेश्वर है, जो प्रयाग में स्थित था तथा जिसकी तीर्थ के रूप में प्रसिद्धि थी। महाभारत के वनपर्व (८४.३४) में भी 'ललितक' नामक तीर्थ का उल्लेख हुआ है।

भद्रेश्वर—मत्स्य एवं कूर्मपुराण में (२.४१,४) भद्रेश्वर का उल्लेख हुआ है। स्कन्दपुराण में कहा गया है कि काली (?) पर स्थित ज्योतिर्लिंग ही भद्रेश्वर है। किन्तु इसकी वास्तविक स्थिति ज्ञात नहीं हो सकी है। प्रो० काणे भद्रेश्वर नामक दो तीर्थों का उल्लेख करते हैं। एक नर्मदा के उत्तर में तथा दूसरा वाराणसी में।[3] सम्भवतः कुवलयमाला में उल्लिखित भद्रेश्वर वाराणसी में स्थित था।

वीरभद्र—इसका भौगोलिक स्थान क्या था, इस सम्बन्ध में उद्द्योतन ने कोई संकेत नहीं दिया है। शिव के गण के रूप में वीरभद्र प्रसिद्ध था। सम्भवतः उसके किसी स्थान को तीर्थ मान लिया गया होगा।

सोमेश्वर—शैव-सम्प्रदाय से सम्बन्धित किसी धार्मिक स्थान का नाम सोमेश्वर रहा होगा। क्योंकि सोमेश्वर नाम का एक आश्रम भी ज्ञात होता है।[4] सोमनाथ से यह अवश्य भिन्न था। मत्स्यपुराण (१३.४३, २२.२०) एवं कूर्म-पुराण (२.३५,२०) में सोमेश्वर तीर्थ का केवल उल्लेख मात्र है।

---

१. सयलं घर-सव्वस्सं धण-धण्ण-वत्थ-पत्त-सयणासण-डंड-भंड-दुपय-चउप्पयाइयं बंभणाणं दाऊण, इमाइ च घेत्तु—भिक्खं भमंतो कयसीस-तुंड-मुंडणो करंका-हत्थो गंगा-दुवार-हेमंत-ललिय-भद्देस्सर-वीरभद्द-सोमेसर-पहास-पुक्खराइसु तित्थेसु पिंडयं पक्खालयंतो परिभमसु, जेण ते पावं सुज्झइ ति।—कुव० ४८.२३-२५.

२. श०—रा०ए०, पृ० ४०३.

३. काणे, हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, भाग ४, पृ० ७३८.

४. पाठक, वी० एस०, शैवकल्ट इन नार्दन इण्डिया, पृ० १३, वाराणसी, १९६०.

पुष्कर—पुष्कर प्राचीन समय से ही तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध रहा है महाभारत (वनपर्व ८३.२६,२७) में इसे सिद्धि प्राप्ति का साधन कहा है। पद्मपुराण में इसे इस लोक का सर्वश्रेष्ठ तीर्थ कहा है।[1] अजमेर के नजदीक स्थित पुष्कर के साथ इसका सम्बन्ध होना चाहिये क्योंकि यह प्राचीन तीर्थ स्थान के रूप में प्रसिद्ध है। पृथ्वीराजविजय नामक ग्रन्थ मे पुष्कर का तीर्थ के रूप में सुन्दर काव्यात्मक वर्णन हुआ है।

गंगास्नान—उपर्युक्त तीर्थस्थानों का महत्त्व वहाँ के जल में स्नान करने के कारण अधिक प्रतीत होता है। जल में स्नान कर पवित्र होने का अभिप्राय हिन्दूधर्म में प्राचीन समय से सम्मिलित हो गया था। कुवलयमाला में गंगास्नान के अनेक उल्लेख हैं (४८.२७, ५५.२१, ७१.२५)[2] मानभट को माता-पिता एवं पत्नि के वध का कारण होने से गंगा-संगम में नहाने की सलाह दी जाती है, जहाँ भैरव-भट्टारक के सामने आत्मवध करने से समस्त पाप छूट जाते हैं।[3] गंगा-संगम पर आत्मवध करने में धर्म मानने की परम्परा तत्कालीन समाज में हिन्दूधर्म में प्रचलित हो चुकी थी। श्री पी० के० गुणे ने इस सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डाला है।[4]

प्रयाग के गंगा-संगम के अतिरिक्त गंगा-संगम भी तीर्थस्थान माना जाने लगा था, जहाँ गंगा और सागर का मिलन होता है। इस स्थान के सम्बन्ध में कहा जाता है कि जब तीर्थयात्री गंगा-संगम में स्नान करता था तो उसे अपनी जिन्दगी से वैराग्य हो जाता था और वह वहीं भैरव की मूर्त्ति के समक्ष अपने जीवन का अन्त कर लेता था। इस प्रसंग से ऐसा लगता है कि गङ्गा नदी के प्रमुख स्थानों पर शैवधर्म के ऐसे साधुओं का अड्डा जम गया था जो आत्मवध, मांसभक्षण, रुधिरपान आदि को अपना धर्म समझते थे। गङ्गासागर में मरण से मोक्ष की प्राप्ति की धारणा इन्हीं के उपदेशों का परिणाम रहा होगा।[5]

प्रयाग का अक्षय वट—सातवीं-आठवीं सदी में गङ्गा-स्नान की तरह प्रयाग का अक्षयवट वृक्ष भी तीर्थ-यात्रियों का आकर्षण का प्रमुख केन्द्र बन गया था। कुवलयमाला में मथुरा के अनाथमंडप में स्थित कुष्ठरोगी इस बात से परिचित थे कि प्रयाग के वटवृक्ष के समीप बलिदान करने से कुष्ट रोग नष्ट हो

---

१. नास्मात्परतरं तीर्थं लोकेऽस्मिन्पठ्यते—पद्म पु० ५.२७-२८

२. गंगा-जलम्मि ण्हाओ सायर-सरियासु तह य तित्थेसु।
धुयइ मलं किर पावं ता सुद्धो होई धम्मेण॥—कुव० २०५.७

३. महापावाइं गंगासंगमे ण्हायहं भइरव-भट्टारय-पडियहं णासंति।—कुव० ५५.२१

४. द्रष्टव्य, 'रिलीजियस सुसाइड एड द संगम',
एस० के० डे० फेलिसियेशन वालूम, बुलेटन आफ द डेकन कालेज, आर० I

५. कूर्मपुराण, उद्धृत, सरकार, स्टडीज इन द ज्योग्राफी आफ एन्शियंट एण्ड मिडिएवल इण्डिया, पृ० १७९.

जाता है।[1] पुराण-साहित्य में प्रयाग के इस वट-वृक्ष की महिमा विख्यात थी। मत्स्यपुराण में कहा गया है कि जो व्यक्ति वटवृक्ष के मूल में प्राणत्याग करता है, उसे रुद्रलोक की प्राप्ति होती है।[2] प्रयाग में आत्मवध करने का उल्लेख राजेश्वर की बालरामायण (पृ० ३६७) में भी मिलता है। वटवृक्ष के सम्बन्ध में युवान-च्वांग ने भी अपना प्रत्यक्ष अनुभव व्यक्त करते हुए कहा है कि प्रयाग में मंदिर के आगे विशाल वटवृक्ष है, जहां दायें-बायें हड्डियों के ढेर लगे हुए हैं। जो यात्री यहां आते हैं वे स्वर्गसुख की कामना में अपना जीवन यहीं समाप्त कर जाते हैं। यह धार्मिक विश्वास अत्यन्त प्राचीन समय से आज भी क्रियान्वित होता चला आ रहा है।[3]

तीर्थयात्रियों का वेष—तत्कालीन समाज में तीर्थ-यात्रा का इतना महत्त्व होने के कारण तीर्थों को जाने वाले व्यक्तियों का वेष भी निश्चित हो गया होगा। तभी उद्द्योतन ने स्थाणु एवं मायादित्य के तीर्थयात्री के वेष का वर्णन किया है। यात्रा प्रारम्भ करने के पूर्व उन्होंने अपना सिर मुंडवाया, छाता धारण किया, लम्बे डंडे पर तूंबे लटकाये, गेरुए कपड़े पहिने, कंधे पर कांवर लटका ली तथा दूर-तीर्थयात्री का वेष धारण कर लिया।[4] तीर्थयात्रियों का वेष धारण कर लेने से उन्हें दो फायदे थे। रास्ते में चोर उनकी ओर ध्यान नहीं देते थे एवं सत्रागार आदि में भोजन भी मुफ्त मिल जाता था।[5] इस तरह के वेषधारियों के लिए सम्भवतः उस समय 'देसिय' शब्द प्रयुक्त होता था,[6] जो एक देश (प्रान्त) से दूसरे देश की यात्रा करने के कारण कहा जाता होगा। 'देसिय' लोग शहर में बनी सराय में ठहर जाते थे, जहां अन्य लोग भी ठहते थे।[7]

यद्यपि आठवीं सदी में तीर्थयात्रा का महत्व पर्याप्त था फिर भी उसके साथ लोक-मूढ़ता जुड़ी हुई थी। न केवल जैन आचार्य अपितु हिन्दु, लेखक भी

---

१. अण्णेण भणियं-प्रयाग-वड-पडियहं चिर-पल्ढ पाय वि हत्थ वि फिट्टंति। —कुव० ५५.१९.

२. वटमूलं समासाद्य यस्तु प्राणान्विमुंचति।
सर्वान्लोकानतिक्रम्य रुद्रलोकं स गच्छति॥ —मत्स पु० १०६.११

3. Before the hall of the temple there is a great tree"" heaps of bones...From very early days till now this flase custom has been practised'.
—Beal I, P. 232, Kuv. Int. P. 136 (Notes), पद्मपुराण, स्वर्गखण्ड (४३), श्लोक ११.

४. कयाइं मुंडावियाइं सीसाइं। गहियाओ छत्तियाओ। लंबियं डंडयग्गे लाबुयं। धाउरत्तयाइं कप्पडाइं। विलिग्गाविया सिक्कए करंका। सव्वहा विरइयो दूरतित्थयत्तिय-वेसो। —कुव० ५८.२, ३.

५. अलक्खिया चोरेहिं, कहिंचि सत्तागारेसु कहिंचि उद्ध-रत्थासु भुंजमाणा—कुव० ५८.३, ४.

६. कोवि 'देसिओ' णिवडिओ।, वही—६२.१५.

७. देसिय-तित्थयत्तिय—।, वही—५५.१२.

मन की पवित्रता के बिना तीर्थयात्रा को निष्फल मानने लगे थे। अन्य जैन आचार्यों की तरह उद्द्योतन ने गंगा-स्नान एवं तीर्थयात्रा को व्यक्ति के कर्म नष्ट करने में समर्थ नहीं माना। उद्द्योतन का तर्क है कि यदि मात्र शरीर-स्नान से पापमुक्ति होती है तो मत्स्य, केवट आदि सभी स्वर्ग चले जाने चाहिए और यदि मात्र चिंतन से स्वर्ग मिल सकता है तो दूर दक्षिण के लोग क्यों यहाँ गङ्गा-स्नान को आते हैं। वहीं बैठे-बैठे वे स्वर्ग जाने की क्यों नहीं सोचते।[1] अतः गङ्गा-स्नान करने एवं सोचने से पाप मुक्ति नहीं है, अपितु वह संयम और तपस्या से सम्भव है।

वैष्णव धर्म

वैष्णव धर्म वैदिकयुग से विकसित होता हुआ गुप्तयुग में पर्याप्त प्रसिद्ध हो गया था। प्रारम्भ में इसका नाम एकान्तिक धर्म था। जब यह साम्प्रदायिक बन गया तो भागवत या पांचरात्र धर्म कहलाने लगा। धीरे-धीरे वासुदेवोपासना में नारायण और विष्णु की उपासना घुल-मिल गयी। विष्णु ने देवताओं में प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया था। सम्भवतः आठवीं शताब्दी में शैव सम्प्रदायों का आधिक्य और प्रभाव होने के कारण वैष्णव धर्म की स्थिति में कुछ कमी आयी हो। इस समय वैष्णव धर्म का वही स्वरूप प्रचलित रहा जिसमें भक्ति की प्रधानता थी। शंकर के अद्वैतवाद एवं जगन्मिथ्यात्व के सिद्धान्त ने वैष्णव धर्म के इस स्वरूप को परिवर्तन की ओर प्रेरित किया।[2]

कुवलयमालाकहा में जितने शैवधर्म के सन्दर्भ हैं, उतने वैष्णव धर्म के नहीं। स्वयं विष्णु का ही उल्लेख ग्रन्थकार ने नहीं किया है। सम्भवतः इस समय उनके बुद्ध, नारायण आदि अवतार अधिक प्रचलित रहे होंगे, जिनका प्रस्तुत ग्रन्थ में उल्लेख है। साथ ही कुछ वैष्णव देवताओं के नाम भी ग्रन्थ में विभिन्न प्रसंगों में आते हैं। उनके सम्बन्ध में विशेष विवरण इस प्रकार है।

विष्णु—कुव० में 'विष्णु' शब्द का उल्लेख देखने को नहीं मिला। कुवलयचन्द्र और उसके अश्व की उपमा के प्रसंग में कहा गया है कि वह चक्री के गरुड़ की तरह आकाश में उड़ गया (२७.६)। चक्र एवं गरुड़ दोनों विष्णु से सम्बन्धित हैं। इनसे युक्त विष्णु की मूर्त्तियाँ भी उद्द्योतन के समय में थीं। किन्तु विष्णु पूजा आदि के सम्बन्ध में लेखक ने कुछ नहीं कहा है।

---

१. जइ अंग-संगमेणं ता एए मयर-मच्छ-चक्काई।
केवट्टिय-मच्छंधा पढमं सग्गं गया णंता ॥
अहव परिचिंतियं चिय कीस इमो दूर-दक्खिणो लोओ।
आगच्छइ जेण ण चिंतिऊण सग्गं समारुहइ ॥
—वही—४८.३२, ४९.१.

२. भण्डारकर, वै० शै० धा० म०, पृ० ११३.

गोविन्द—ग्रन्थ में गोविन्द का चार बार उल्लेख हुआ है—(२.२९, १०.५, १४६.२३, २५६.३१)। गोविन्द धार्मिक-देवता के रूप में पूजित था, जिसे बलि भी दी जाती थी। सम्भवतः इसलिए उसे सरागी कहा गया है। गोविन्द विष्णु का अपर नाम है। राजस्थान में आठवीं सदी में विष्णु की उपासना काफी प्रचलित थी।[1] ग्रन्थ में गोविन्द विष्णु के कृष्ण अवतार के लिए प्रयुक्त नाम है। क्योंकि गोविन्द (कृष्ण) का निवास-स्थान द्वारिकापुरि बतलाया गया है (१४९.२३)। कृष्ण के साथ 'गोविन्द' विशेषण जुड़ने के सम्बन्ध में डा० भण्डारकर ने विशेष प्रकाश डाला है। कृष्ण इसलिए गोविन्द कहलाते हैं कि उन्होंने वराह के रूप में पृथ्वी को (गां) जल में पाया था (विन्दति) (महा० आदिपर्व, २१.१२)। शान्तिपर्व (३४२.७०) से भी इस कथन की पुष्टि होती है। इससे पूर्व भी ऋग्वेद में गोपालन के अर्थ में इन्द्र के विशेषण 'गोविद्' का उल्लेख हुआ है। सम्भवतः यह 'गोविद्' गोविन्द का प्रारम्भिक रूप है तथा जब कृष्ण प्रधान देव के रूप में माने जाने लगे होंगे उस समय वासुदेव-कृष्ण के लिए यह विशेषण अपना लिया गया होगा।

नारायण—नारायण का ग्रन्थ में तीन बार उल्लेख हुआ है, (२६.२, ६८.१५, १४९.१४)। कुमार कुवलयचन्द्र के नगर-भ्रमण के समय नगरवधुएँ उसकी उपमा अनेक देवताओं से देती हैं। एक कहती है—'सखि, देख, देख, वक्षस्थल की विशालता के कारण यह नारायण है।' दूसरी कहती है—'सखि, यदि यह श्यामल कृष्णवर्ण वाला होता तब तो नारायण था, किन्तु इसका तो तप्तसुवर्ण की भाँति रंग है।'[2] समुद्री तूफान के समय नारायण को यात्री स्मरण करते हैं।[3] तथा विजयापुरी के पामरजन गायों एवं उनके बछड़ों में व्यस्त तथा गोपीजन को उज्जवल कटाक्षों के अभिलाषी बचपन के नारायण (बालकृष्ण) जैसे थे।[4]

यहाँ स्पष्ट रूप से नारायण कृष्ण के लिए प्रयुक्त हुआ है। कृष्ण का श्यामरंग एवं उनकी बाल-लीलाएँ साहित्य एवं पुरातात्विक सामग्री में यत्र-तत्र उल्लिखित हैं। आठवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक विष्णु के अवतार के रूप में कृष्ण पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हो चुके थे। सम्भवतः इसीलिए विष्णु के अनेक नाम केशव,[5] नारायण, गोविन्द आदि कृष्ण के लिए प्रयुक्त होने लगे थे। डा०

---

१. श०—रा० ए०, पृ० ३६८.

२ अण्णेक्का ए भणियं-'सहि, पेच्छ पेच्छ णज्जइ वच्छत्थलाभोगेण णारायणो' त्ति। अण्णाए भणियं। 'सहि, होज्ज फुडं णारायणो त्ति जइ गवल-कज्जल-सवण्णो। एसो पुण तविय सुवण्ण-सच्छहो विहडए तेण' ॥—कुव० २६.१-२.

३. कोवि णारायणस्स थयं पढइ।—वही—६८.१७.

४. अण्णि पणि बाल-कालि णारायणु जइसय रंभिर-गो-वग्ग-तण्णय-वावडा गोवविलासिणी-धवल-वलमाण-णयण-कडक्ख-विक्खेव-विलुप्पमाण व,—वहीं, १४९.१४,१५.

5. In Haribhadra's Dhurtākhyāna Keshava and Krişņa have been identified with Vișņu, showing thereby that by the middle of eighth centuary, the position of Krişņa as an Avatār had become fully established. —S. RTA. P. 371.

भण्डारकर ने नारायण की प्राचीनता एवं वासुदेव व कृष्ण के साथ उनके सम्बन्ध पर विशेष प्रकाश डाला है।[1]

बलदेव—विजयापुरी के पामर मदयुक्त चलायमान दीर्घ-लोचन वाले एवं हल-णंगल से युक्त बलदेव के सदृश थे।[2] बलदेव उत्सव के पूर्ण होने पर सभी धान्य पुष्ट बालियों से पूर्ण हो चुके थे।[3] कृष्ण के साथ बलराम की पूजा भी देश के विभिन्न स्थानों पर होती थी। बलराम की आँखें मदपान के कारण हमेशा रक्तवर्ण रहती थी। हल उनका अस्त्र था, इसी से उन्हें हलधर भी कहा जाता है। बलराम की मूर्त्तियाँ भी बनायी जाती थीं। दिल्ली में १२वीं सदी की एक बलराम की मूर्त्ति प्राप्त हुई है।[4]

बुद्ध—कुवलयमाला में बुद्ध शब्द का दो बार उल्लेख हुआ है, (६८.१९, २४३.२६)। प्रथम उल्लेख में स्पष्ट नहीं है कि बुद्ध के नाम से किसे स्मरण किया गया है। क्योंकि आठवीं सदी तक विष्णु के अवतार के रूप में भी बुद्ध को स्वीकार कर लिया गया था। दूसरे उल्लेख में बुद्ध जैन तीर्थङ्कर सीमंधर स्वामी के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो अपरविदेह में विराजमान थे।[5] सातवीं सदी तक बुद्ध के लिए जिन शब्द प्रयुक्त हुआ है।[6] सम्भवतः आठवीं सदी में जिन के लिए बुद्ध शब्द प्रयुक्त होने लगा होगा।

वैष्णव धर्म के इन देवताओं के अतिरिक्त इस धर्म की किन्हीं देवियों का उल्लेख ग्रन्थ में नही है। केवल लक्ष्मी का उल्लेख ग्रन्थकार ने किया है।

लक्ष्मी—कुवलयमाला में लक्ष्मी के अनेक सन्दर्भ उपलब्ध हैं। कुछ शोभा एवं सुन्दरता के अर्थ में तथा कुछ धन एवं समृद्धि की अधिष्ठात्री देवी के रूप में। राजा दृढ़वर्मन् की कुलदेवी का नाम राजलक्ष्मी था, जो उसे पुत्र प्रदान करने एवं श्रेष्ठ धर्म में दीक्षित होने में सहयोग प्रदान करती है। लोभदेव रत्नदीप की यात्रा करके धन कमाने के लिए भद्रश्रेष्ठि को उत्साह दिलाता है कि पराक्रम और साहस करने वाले व्यक्ति के पास ही लक्ष्मी ठहरती है। निरारम्भी (प्रयत्न-रहित) होने पर तो लक्ष्मी हरि को भी छोड़ देती है—

'जइ होइ णिरारंभो वयंस लच्छीए मुच्चइ हरी वि' (६८.१८)।

---

१. भण्डारकर, वै० शै० धा० म०, पृ० ३५.३६.

२. मयल-घुम्मिरायवुलोयण णंगल-वियावड वबलदेवुजइसयपामर, कुव० —१४९.१४.

३. बलदेवूसवे णिप्फज्जमाणेसु सव्व-सासेसु बद्ध-कणिसासु कलमासु —१४८.१२.

४. मरुभारती, ७ अंक ४, पृ० ३७, १२.१ पृ० १०७.

५. दंसण-मेत्तेणं च्चिय भगवं बुद्धाण एत्थ लोगम्मि।
मण्णे हं ते पुरिसा किं पुरिसा वण-मया वरई॥ —कुव०, २४३.२६.

६. कुवलयमाला, द्वितीय भाग (कल्चरल नोट), डा० वी०एस० अग्रवाल, पृ० १२५.

इस सन्दर्भ में लक्ष्मी और हरि का सम्बन्ध स्पष्ट किया गया है। गुप्तयुग में प्रमुख देवताओं के साथ उनकी शक्तियों का भी उल्लेख साहित्य और पुरातत्व में प्रचुरमात्रा में किया जाने लगा था। विष्णुपुराण में विष्णु के प्रत्येक अवतार के साथ लक्ष्मी के भी विभिन्न रूपों का उल्लेख किया गया है।[१] गुप्तकालीन मुद्राओं में एक ओर नारायण और दूसरी ओर लक्ष्मी के चित्र अंकित पाये जाते हैं।[२] कुवलयमाला में लक्ष्मी का सम्बन्ध समुद्र एवं कमल के साथ भी बताया गया है (११५.१५)। जिसके अनेक सन्दर्भ पुराण साहित्य में मिलते हैं। पुरातत्व के साक्ष्यों के द्वारा भी यह अनुमोदित होता है। उदाहरणार्थ अजन्ता की कला में एक स्थान पर द्वार-भाग में लक्ष्मी का आकार प्रदर्शित किया गया है। लक्ष्मी का अभिषेक दो गज सूड़ों में घड़ा लेकर संपन्न कर रहे हैं।[३] मथरा से प्राप्त लक्ष्मी की एक कुषाणकालीन मूर्ति उपलब्ध है, जिसमें लक्ष्मी की प्रतिष्ठा कमलों के बीच की गई है।[४]

---

१. द्रष्टव्य, सिद्धेश्वरीनारायण राय, पौराणिक धर्म एवं समाज, पृ० २२.२५.
२. अल्तेकर, गुप्तकालीन मुद्राएं, पृ० १०२.
३. कुमारस्वामी, ए० के०, 'यक्षाज,' भाग २, पृ० ८२.
४. वही—पृ० ८४.

परिच्छेद दो

भारतीय दर्शन

उद्द्योतनसूरि ने कुवलयमालाकहा में शिक्षणीय विषयों के अन्तर्गत प्रमुख भारतीय दर्शनों का परिचय दिया है। विजयपुरी के मठ में इनका विधिवत् अध्ययन होता था। अन्यान्य प्रसंगों में भी इन दर्शनों से सम्बन्धित जानकारी ग्रन्थ में प्राप्त होती है। इन समग्र सन्दर्भों का विवेचन करने से निम्न दार्शनिक मतों का स्वरूप स्पष्ट होता है—

बौद्धदर्शन

विजयपुरी के मठ के दूसरे कक्ष में 'रूप, रस, गंध, स्पर्श एवं शब्द के संयोग मात्र से कल्पित यह संसार है, तथा रूप एवं अर्थ क्षणभंगुर हैं, इन विचारों से युक्त बौद्धदर्शन पर व्याख्यान दिया जा रहा था।[1] बौद्धदर्शन की यह प्रमुख विचारधारा उसके प्राचीन रूप हीनयान के अनुकूल है।[2] सम्भव है, दक्षिण भारत में महायान का अधिक प्रचार न होने से वहां उसका पठन-पाठन न होता रहा हो।

एक दूसरे प्रसंग में दृढ़वर्मन् के समक्ष बौद्ध आचार्य ने 'जीव की क्षण-भंगुरता, वृक्षों की अचेतनता, जगत् की अनित्यता एवं निर्वाण के अभाव होने में विश्वास करना अपना धर्म स्वीकार किया है।[3] राजा ने अपने कुलदेवता के धर्म (जैनधर्म) से विपरीत होने के कारण इस बौद्ध धर्म को दूर से ही त्याग दिया (२०३.२५)। इस प्रसंग में भी महायान के किसी सिद्धान्त का उल्लेख

---

१. एक्कं वक्खाण-मंडलि जाव पयइ-पच्चय''''अण्णत्थ रूव-रस-गंध फास-सद्द-संजोय-मेत्त-कप्पणा-रूवत्थ-खण-भंग-भंगुरं बुद्ध-दरिसण वक्खाणिज्जइ, १५०.२६.

२. द्रष्टव्य, डा० उपाध्याय—बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग १.

३. जीवो खण-भंगिल्लो अचेयणा तरुवरा जगमणिच्चं।
   णिव्वाणं पि अभावो धम्मो अम्हाण णरणाह॥—२०३-२३

नहीं हुआ है। अन्यत्र ग्रन्थकार ने जैनधर्म में दीक्षित नये साधु को प्रत्येकबुद्ध कहा है—'इय णव-उवहि-सणाहो जाओ पच्चेय-बुद्धो सो'—(१४१.४, ५)। प्रत्येक बुद्ध हीनयान सम्प्रदाय में ही अधिक प्रचलित शब्द है, जो अपनी मुक्ति की कामना से प्रव्रजित होता है। धार्मिक मठ के प्रसंग में उद्द्योतन ने कहा कि नगर में सन्ध्या समय बौद्ध विहारों में एकान्त करुणा से युक्त अर्थगर्भित वचनों का पारायण होता था (८३.१)। राजा दृढ़वर्मन् ने पुत्रप्राप्ति के लिए अन्य तपस्वियों के साथ शाक्य भिक्षुओं को भी भोजन-पान एवं चीवरादि दान में दिये थे (१४.६)। आपत्ति के समय व्यापारी बुद्ध की मनौती मांगते थे (६८.१९)।

बौद्धधर्म के सम्बन्ध में उपर्युक्त संक्षिप्त जानकारी से यह स्पष्ट नहीं होता कि विवेच्यकाल में उसकी क्या स्थिति थी। अन्यान्य साक्ष्यों के आधार पर बौद्धधर्म पश्चिम में सिन्ध एवं पूर्व में बिहार और बंगाल में उस समय अधिक प्रचलित था। राजस्थान में इसका स्थान गौण होता जा रहा था। यद्यपि इस समय तक महायान शाखा पर्याप्त विकसित हो चुकी थी, फिर भी उद्द्योतन के किसी सन्दर्भ से इसका संकेत नहीं मिलता।

लोकायत (चार्वाक) दर्शन

उद्द्योतन ने दो प्रसंगों में लोकायत दर्शन की विचारधारा का उल्लेख किया है। उपर्युक्त मठ के आठवें व्याख्यानकक्ष में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एव आकाश के सयोग विशेष से उत्पन्न चैतन्य मदिरा के मद के समान है, अतः आत्मा नहीं है, इन वादो का प्रतिपादिक लोकायत-दर्शन पढ़ाया जा रहा था।[1] राजा दृढवर्मन् के समक्ष एक आचार्य ने अपना मत प्रगट किया—'न कोई जीव है, न परलोक और परमार्थ (मोक्ष) ही। अतः इच्छानुसार खाना-पीना ही इस संसार में एकमात्र सार है।[2] यद्यपि इस प्रसंग में ग्रन्थकार ने किसी दर्शन का नाम नहीं लिया, किन्तु इस विचारधारा का सम्बन्ध चार्वाक दर्शन से ही है।[3] जैसा कि सर्वदर्शन-संग्रह की पक्तियों की तुलना करने से स्पष्ट हो जाता है—

'न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।'

तथा

'यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणंकृत्वा घृतं पिवेत्।'

राजा दृढ़वर्मन् ने इस विचार का खण्डन करते हुए कहा है कि यदि कोई जीव नहीं है तो यह कथन कौन कर रहा है? अतः इन मूढ नास्तिकवादियों को तो

---

१. कत्थइ पुहइ-जल-जलणाणिलागास-संजोय-विसेसुप्पण्ण-चेयण्णं मज्जंग-मदं पिव अत्तणो णत्थि-वाय-परा लोयायत्तिय त्ति।—१५१.२

२. णवि अत्थि कोइ जीवो ण य परलोओ ण यावि परमत्थो।
भुजह खाह जहिच्छं एत्तिय-मेत्तं जए सारं॥—कुव० २०५.३१

३. द्रष्टव्य, नन्दिसूत्र (४२, पृ० १९३), दीघनिकाय १, ब्रह्मजालसुत्त पृ० ११ में लोकायत का वर्णन।

देखना भी योग्य नहीं है।[1] प्रायः सभी दर्शनों में चार्वाक के उपर्युक्त मत का खण्डन किया गया है। तदनुरूप ही उद्द्योतन ने भी किया है।

लोकायत दर्शन के उपर्युक्त सन्दर्भों में प्रथम सन्दर्भ में चार्वाक द्वारा पाँच महाभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश) को मानना हमारे सामने एक समस्या उपस्थित करता है। अभी तक चार्वाक दर्शन को प्रगट करने वाले जितने भी सन्दर्भ या उद्धरण प्राप्त हुए हैं वे सभी यह एकमत से स्वीकार करते हैं कि चार्वाक चार महाभूत ही मानता है। आकाश को स्वीकार नहीं करता। इस सम्बन्ध में बृहस्पति का सूत्र विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

वस्तुतः प्रत्यक्ष के अतिरिक्त प्रमाण को न स्वीकार करने के कारण तथा आत्मा जैसे किसी अतिभौतिक पदार्थ को न मानने से यह अत्यन्त तर्कसंगत होगा कि चार्वाक आकाश को स्वीकार न करे। जिन चारभूतों को वह मानता है उनका भी स्थूल रूप ही वह स्वीकारता है, सूक्ष्म रूप नहीं। क्योंकि सूक्ष्मरूप अनुमानगम्य ही हो सकता है।[2] ऐसी स्थिति में उद्द्योतनसूरि द्वारा 'आकाश' को लोकायत-दर्शन में सम्मिलित करना या तो उनकी पंचमहाभूत की धारणा के कारण भ्रान्ति हो सकती है अथवा लिपिकार का प्रमाद हो सकता है। यद्यपि इस सन्दर्भ का कोई पाठभेद उपलब्ध नहीं है।

लोकायत दर्शन की उपर्युक्त विचारधारा के सम्बन्ध में बृहस्पति के निम्नांकित सूत्र द्रष्टव्य हैं—

२. 'पृथिव्यपस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि'—पृथ्वी, जल, तेज, वायु ये चार तत्त्व हैं।

३. 'तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा'—इन्हीं भूतों के संगठन को शरीर, इन्द्रिय तथा विषय नाम दिया गया है।

४. 'तेभ्यश्चैतन्यम्'—इन्हीं भूतों के संगठन से चैतन्य उत्पन्न होता है।

५. 'किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानम्'—जिस प्रकार किण्व आदि अन्न के संगठन से मादक शक्ति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार इन भूतों के संगठन से विज्ञान (चैतन्य) उत्पन्न होता है।

---

१. जइ णत्थि कोइ जीवो को एसो जंपए इमं वयणं।
मूढो णत्थिय-वाई एसो दट्ठु पि णवि जोग्गो॥—२०५.३३.

2. 'Commanly Hindu thought recognizes five elements—earth water, fire, air and ākasā, while the first four of these are matters of ordinary sense—experience, the last is the result of inference. The Cārvāka, because he admits only the immediate evidence of the senses, denies the last'.
—M. Hiriyanna, Outlines of Indian Philosophy, P. 191.
Oxford University Press London, 1965.

६. 'जलबुद्बुदवज्जीवा :—'जल के बबूले के समान आत्मा शीघ्र नष्ट हो जाती है।'[1]

यही बात सर्वदर्शनसंग्रह में भी इस दर्शन के प्रतिपादन के प्रसंग में कही गयी है—

अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवायुरनलानिला: ।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ।।
किण्वादिभ्यः समंतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत् ।
अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः ।।
देहस्थौल्यादियोगाच्च स एवाऽऽत्मा न चापरः ।
(स० सं० पृ० ३)

अनेकान्तवादी (जैनदर्शन)

विजयपुरी के मठ में छात्रों को 'जीव, अजीव आदि पदार्थों में द्रव्य-स्थित पर्याय को मानने वाले, नय का निरूपण करने वाले, नित्य, अनित्य को अपेक्षाकृत मानने वाले अनेकान्तवाद को पढ़ाया जा रहा था।'[2] उद्द्योतन द्वारा प्रस्तुत इस सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि जैन दर्शन के लिये उस समय अनेकान्त-वाद शब्द प्रयुक्त होता था, जिसमें सप्त पदार्थनिरूपण, स्याद्वादनय, जगत् की नित्यता-अनित्यता आदि पर विचार जैसे सिद्धान्त सम्मिलित थे। प्रस्तुत प्रसंग में यह विचारणीय है कि 'अनेकान्तवाद' शब्द कब से इस दर्शन में प्रयुक्त हुआ तथा आचार्य अकलंक का इसके साथ क्या सम्बन्ध था, जिसके सम्बन्ध में उद्द्योतन ने कोई संकेत नहीं दिया है। दोनों ही आचार्य आठवीं शताब्दी के होने के कारण, इस प्रश्न पर विचार करना महत्त्वपूर्ण हो जाता है। हरिभद्रसूरि ने अनेकान्तवाद' शब्द का प्रयोग किया है। इसके पूर्व भी इस शब्द के प्रयुक्त होने की सम्भावना है।

जैनधर्म एवं दर्शन के सम्बन्ध में उद्द्योतन ने ग्रन्थ में यत्र-तत्र पर्याप्त जानकारी दी है, जिसके अध्ययन से तत्कालीन जैनधर्म का स्वरूप स्पष्ट होता है। इस सम्बन्ध में आगे विवरण प्रस्तुत किया गया है।

सांख्य (योग) दर्शन

सांख्य दर्शन से सम्बन्धित जानकारी कुवलयमाला के दो-तीन प्रसंगों से मिलती है। दक्षिण भारत के उक्त मठ में 'उत्पत्ति, विनाश से रहित अवस्थित, नित्य, एक स्वभावी पुरुष का तथा सुख-दुःखानुभव रूप प्रकृति विशेष (वैषम्या-वस्था को प्राप्त प्रकृति) को बतलाते हुए सांख्य-दर्शन का व्याख्यान हो रहा

---

१. डा० उमेशमिश्र, भारतीय दर्शन, पृ० ८६.

२. कहिंचि जीवाजीवादि-पयत्थाणुगय-दव्वट्ठिय-पज्जाय-णय-णिरूवणा-विभागो-वालद्ध-णिच्चाणिच्चाणेयंतवायं परूवेंति। —१५१.१.

था।'[1] इस सन्दर्भ में 'उग्गाहीयइ' क्रिया से ज्ञात होता है कि सांख्य-दर्शन का व्याख्यान गाथाओं को गाकर किया जा रहा था। सम्भव है, 'सांख्यकारिका' की कारिकायें गाकर समझाई जा रही हों। आठवीं शताब्दी तक सांख्यकारिका निश्चित रूप से प्रसिद्ध हो चुकी थी। उसका चीनी अनुवाद इस समय किया जा चुका था, जो इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि का द्योतक है।[2]

कुवलयमाला में धार्मिक आचार्यों के साथ कपिल का भी उल्लेख हुआ है। ये कपिल निरीश्वर सांख्य मत के आदर्श थे। इनका सांख्यदर्शन के साथ प्राचीन साहित्य में भी उल्लेख मिलता है। सांख्यदर्शन क्रमशः विकसित होने पर अनेक मत के साधुओं द्वारा अपना लिया गया था। उद्द्योतनसूरि ने अन्य प्रसंगों में त्रिदण्डी, योगी, चरक, परिव्राजक साधुओं की विचारधारा का उल्लेख किया है, जिसका सम्बन्ध सांख्य-दर्शन के मूल सिद्धान्तों से है। इनके सम्बन्ध में संक्षिप्त जानकारी इस प्रकार है—

त्रिदण्डी—'जीव सर्वगत है, ध्यान-योग से वह प्रकृति से मुक्त होता है तथा मिट्टी एवं जल से शौच क्रिया करने पर शुद्धि होती है, यह त्रिदण्डियों का प्रमुख सिद्धान्त है।'[3] एक आचार्य द्वारा ऐसा कहने पर राजा दृढ़वर्मन् ने इसे यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि यदि आत्मा सर्वगत है तो कौन ध्यान करेगा, कौन चिन्तन करेगा? तथा पृथ्वी एवं जल सजीव हैं। उनको मारने से कैसे शुद्धि होगी? (२०३.२१)।

त्रिदण्डी आचार्य का सम्बन्ध सांख्य-योग दर्शन की शाखा से प्रतीत होता है। प्राचीन समय में ऐसे परिव्राजकों का उल्लेख मिलता है जो त्रिदण्ड धारण करते थे एवं सांख्य-दर्शन के पंडित होते थे। सम्भवतः त्रिदण्ड धारण करने से ही ये उद्द्योतन के समय तक त्रिदण्डी कहे जाने लगे थे। शौचमूलक धर्म सांख्यमत में लगभग दूसरी शताब्दी में भी था, जिसके अनुसार कोई भी अपवित्र वस्तु मिट्टी से माँजने एवं शुद्ध जल से धोने से पवित्र हो जाती है तथा जल के अभिषेक से पवित्र होकर प्राणियों को स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[4] आठवीं शताब्दी के त्रिदण्डी सांख्य-योग मत के शौचमूलक धर्म का प्रचार कर रहे थे। तापस, मुनि एवं अन्य साधुओं से त्रिदण्डी का स्वरूप भिन्न होता था (१८४.२८)।

योगी—'आत्मा सर्वगत है, जिसे प्रकृति नहीं बाँध सकती तथा योगाभ्यास से मुक्ति पाकर व्यक्ति निरंजन होता है।'[5] इस सिद्धान्त को मानने वाले आचार्य

---

१. कत्थइ उप्पति-विणास-परिहारावत्थिय-णिच्चेग-सहावायरूव-पयइ-विसेसोवणीय-सुह-दुक्खाणुभवं संख-दरिसणं उग्गाहीयइ।—१५०.२७.
२. हरिदत्त वेदालंकार, 'भारत का सांस्कृतिक इतिहास,' पृ० ९६.
३. सव्व-गओ अह जीवो मुच्चइ पयईए झाण-जोएहिं।
पुहइ-जल-सोय-सुद्धो एस तिदंडीण धम्मवरो॥ —कुव० २०३.२७.
४. ज्ञाताधर्मकथा, ५, ७२
५. सव्व-गओ इह अप्पा ण कुणइ पयडीए बज्झए णवरं।
जोगब्भासा मुक्को इय चेय णिरंजणो होइ॥—२०३.३१

का नाम कुवलयमाला में नहीं दिया है। विचारधारा के आधार पर प्रतीत होता है कि इसका सम्बन्ध भी योग से प्रभावित दर्शन से रहा होगा, जो सांख्य की ही एक शाखा है। त्रिदण्डियों के मत से कुछ भिन्नता होने के कारण ये अपने को योगाभ्यासी कहते रहे होंगे। पांच यम और पांच नियम ये दस परिव्राजक धर्म सांख्यदर्शन के साधु भी मानते तथा इनका उपदेश देते थे। राजा दृढ़वर्मन् ने इस मत के आचार्य का धर्म इसलिए स्वीकार नहीं किया क्योंकि उसे सर्वगत आत्मा होने पर योगाभ्यास विपरीत प्रतीत होता है।[1] उपर्युक्त इन दोनों त्रिडण्डी और योगी की विचारधारा से इतना स्पष्ट होता है कि इस समय भी सांख्य दर्शन में आत्मा को सर्वगत और पुरुष को प्रकृति से मुक्त माना जाता था, जो उसके मूल सिद्धान्त रहे हैं।

चरक—कुवलयमाला में चरक का उल्लेख दान आदि देने के प्रसंग में अन्य साधुओं के साथ हुआ है (१४.६)। इनकी क्या विचारधारा थी, उद्द्योतन ने इसकी कोई जानकारी नहीं दी। प्राचीन भारतीय साहित्य में 'चरक' के कई उल्लेख प्राप्त होते हैं।

पाणिनि ने एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर ज्ञान का प्रचार करने वाले विद्यार्थियों को चरक कहा है।[2] जातकों में चरक इसी अर्थ का द्योतक है।[3] किन्तु जैनसूत्रों में परिव्राजक साधुओं के एक भेद को चरक कहा गया है। चरकों की अनेक क्रियाओं का वर्णन भी इन सूत्रों में मिलता है।[4] प्रज्ञापनाटीका (मलयगिरि. २०, पृ० १२१४) में चरक परिव्राजकों का कपिलमुनि का पुत्र तथा आचारांगचूर्णी (८, पृ० २६५) में उनके भक्त सांख्य बतलाये गये हैं। अतः चरक का सम्बन्ध साख्यदर्शन की किसी शाखा से रहा होगा। यद्यपि उसके मत का स्पष्टीकरण नहीं होता।

उद्द्योतनसूरि ने सांख्यदर्शन के आचार्यों में केवल कपिल का एक बार अन्य आचार्यों के साथ उल्लेख किया है (२.२९)। कपिल निरीश्वर सांख्यमत को मानने वाले थे।

सांख्य-आलोचक—राजा दृढ़वर्मन् के समक्ष एक आचार्य ने अपना मत इन शब्दों में प्रगट किया—'पच्चीस पुरुषों (तत्त्वों) को जान लेने पर व्यक्ति यदि ब्रह्म-हत्या भी करे तो जल में कमल की भाँति वह पाप से लिप्त नहीं होता।'[5]

---

१. अप्पा सरीर-मेत्तो णिय-कम्मे कुणइ वज्जए तेणं।
सव्व-गए कह जोओ विवरीयं वट्टए एयं ॥—२०३.३३

२. अग्रवाल, पा० का० भा०, पृ० २९७

३. सोनक जातक, ५.२४७

४. द्रष्टव्य, ज०—जै० आ० भा० स०, पृ० ४१६ (नोट)

५. णाऊण पंचवीसय-पुरिसं जइ कुणइ बंभ हच्चाओ।
तो वि ण लिप्पइ पुरिसो जलेण जह पंकयं सलिले ॥—२०६.३५

यह कथन सम्भवतः सांख्य-सिद्धान्त पर व्यंग करते हुए कहा गया है कि इस मत के अनुयायी सब कुछ प्रकृति को छोड़कर पुरुष को निर्लिप्त मानते हुए कुछ भी करते रहते हैं। सांख्यमत के मानने वालों में इस समय बढ़ी हुई मांसाहार की प्रवृत्ति के प्रति सम्भवतः किसी ने उक्त कथन द्वारा प्रहार किया है। आगे चलकर १०वीं शताब्दी में सोमदेव ने भी सांख्यमत में मांसाहार के प्रचलन के कारण उनके सिद्धान्त को त्याग देने की सलाह दी है।[1]

मांसाहार एवं जीवहत्या के प्रति उद्द्योतनसूरि का भी यही दृष्टिकोण था। राजा आचार्य के उक्त कथन को यह कहकर अस्वीकार कर देता है कि एक बार कालकूट विष खाकर व्यक्ति जीवित रह जाय, किन्तु जीवहत्या से सम्पृक्त मत कभी धर्म नहीं हो सकता (२०७.१)।

वैशेषिक-दर्शन

विजयपुरी के धार्मिक मठ में 'द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय पदार्थों के स्वरूप निरूपण में अवस्थित भिन्न गुण एवं अवयवों का निरूपण करने वाला वैशेषिक दर्शन पढ़ाया जा रहा था।'[2]

उपर्युक्त सन्दर्भ में इस दर्शन के सातवें 'अभाव' पदार्थ का उल्लेख न करने से यह कल्पना की जा सकती है कि कणाद-प्रणीत 'वैशेषिकसूत्र' इस समय पाठ्य-ग्रन्थ रहा होगा। जिसमें छह पदार्थों का ही कण्ठतः उल्लेख है और सूत्र में आये 'च' शब्द के आधार पर बाद में अभाव नामक सातवें पदार्थ को माना गया है।

एक अन्य प्रसग में उद्द्योतनसूरि ने कणाद का भी उल्लेख अन्य आचार्यों के साथ किया है (२.२६)। कणाद वैशेषिक दर्शन के प्रमुख आचार्य थे। वैशेषिकसूत्र-भाष्य के अन्त में भाष्यकार प्रशस्तपाद ने सूत्रकार कणाद की बन्दना की है और कहा है कि उन्होंने (कणाद) योग और आचार से महेश्वर को प्रसन्न करके वैशेषिक-शास्त्र की रचना की थी। योग और आचार पशुपत एवं शैव दोनों ही सम्प्रदाय में मान्य है। अतएव कणाद पशुपत या शैव सम्प्रदाय के भी अनुयायी रहे होंगे। आचार्य हरिभद्रसूरि ने भी कणाद के दर्शन को शैवधर्म का प्रचारक कहा है।[3]

न्याय-दर्शन

'मठ के छठवें व्याख्यान-मण्डप में प्रमाण, प्रमेय, संशय, निर्णय, छल, जाति निग्रहवादी नैयायिकों का दर्शन छात्रों को पढ़ाया जा रहा था।'[4] न्याय-

---

१. हन्दिकी, यश० इ० क०, पृ० २३०
२. कत्थइ दव्व-गुण-कम्म-सामण्ण विसेस-समवाय-पयत्थ-रूव-णिरूवणावट्ठिय-भिण्ण-गुणायवाय-परूवणपरा वइसेसिय-दरिसणं पढ्वेंति। —१५०.२८
३. भण्डारकर, वै० शै० धा० म०, पृ० १३५.
४. अण्णत्थ पमाण-पमेय-संसय-णिण्णय-छल-जाइ-णिग्गहत्थाण-वाइणो णइयाइय-दरिसण-परा। —१५०.३०.

दर्शन सोलह पदार्थ स्वीकार करता है। गौतमप्रणीत न्यायसूत्र का प्रथम सूत्र इन सोलहों पदार्थों का नाम निर्देश करता है।[1] उद्द्योतनसूरि ने उन सोलह पदार्थों में से आरम्भ के तीन, मध्य का एक (निर्णय) तथा अन्त के तीन पदार्थों का समास में निर्देश करते हुए अपने समय में न्यायसूत्र का पढ़ाया जाना ध्वंजित किया है। कुवलयमाला में अन्यत्र न्याय-दर्शन के सम्बन्ध में इसके अतिरिक्त और कोई जानकारी नहीं दी गयी है।

मीमांसा-दर्शन

उपर्युक्त धार्मिक मठ के प्रसंग में ग्रन्थकार ने मीमांसा-दर्शन के पठन-पाठन की भी बात कही है। एक व्याख्यानकक्ष में 'प्रत्यक्ष, अनुमान आदि छह प्रमाणों से निरूपित जीव आदि को नित्य मानने वाले, सर्वज्ञ (ईश्वर) नहीं है, तथा वाक्य, पद एवं शब्द-प्रमाण को स्वीकारने वाले मीमांसकों का दर्शन पढ़ाया जा रहा था।'[2]

आठवीं शताब्दी में पूर्व एवं उत्तर मीमांसा के दिग्गज विद्वान् उपस्थित थे, जिन्होंने अन्य भारतीय दर्शनों को भी प्रभावित किया था। प्रभाकर, कुमारिलभट्ट एवं शंकराचार्य उनमें प्रमुख थे। उपर्युक्त सिद्धान्त इनमें से किससे अधिक सम्बन्धित थे इस पर विचार किया जा सकता है।

उपर्युक्त सन्दर्भ में छह प्रमाणों की बात कही गई है। मीमांसा के भाट्ट तथा प्रभाकर सम्प्रदायों में से भाट्ट सम्प्रदाय ही छह प्रमाणों को मानता है। प्रभाकर केवल पाँच प्रमाण मानते हैं। अतः इस आधार पर कहा जा सकता है कि कुमारिल के ग्रन्थ का अध्ययन इस मठ में कराया जा रहा था। इसका एक सहायक प्रमाण यह भी है कि उक्त सन्दर्भ में 'सर्वज्ञ नहीं है', इस सिद्धान्त का भी प्रतिपादन हुआ है। सर्वज्ञ की नास्तिता का स्पष्ट उल्लेख कुमारिल ने ही किया है।[3] जीव को नित्य मानना मीमांसकों का सामान्य सिद्धान्त है।[4]

कुवलयमाला कहा में भारतीय दर्शन के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि प्राचीन शिक्षा केन्द्रों में सभी दर्शनों का एक साथ पठन-पाठन होता था। इससे तत्कालीन शिक्षाविदों एवं धार्मिक आचार्यों के उदार दृष्टिकोण का पता चलता है। जिज्ञासुओं में चिन्तन और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता विद्यमान थी। इसके साथ यह भी ज्ञात होता है कि मूल सिद्धान्तग्रन्थों का व्याख्यान किया

---

१. प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डा-हेत्वाभास-छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः—न्यायसूत्र, १.१.

२. कहिंचि पच्चक्खाणुमाण-पमाण-छक्क-णिरूविय-णिच्च-जीवादि-णत्थि-सव्वणु-वाय-पद-वक्कप्पमाणाइवाइणो मीमंसया। —१५०.२९.

३. एम० हिरियण्णा, आउट लाईन्स आफ इण्डियन फिलासफी, पृ० १३८.

४. श्लोकवार्तिक, १.५.

जाता था। सांख्यकारिका, वैशेषिकसूत्र, न्यायसूत्र, आदि सूत्र ग्रन्थ पाठ्यक्रम में सम्मिलित थे।

उपर्युक्त भारतीय दर्शनों में वेदान्त और योग का दर्शन के रूप में ग्रन्थकार ने उल्लेख नहीं किया है। जबकि न्याय, वैशेषिक का पृथक-पृथक उल्लेख है। इस विवरण के प्रसंग में एक बात और उभर कर सामने आती है कि उद्द्योतनसूरि ने अनेकान्तवाद के साथ अकलंक और मीमांसा (वेदान्त) के साथ शंकराचार्य के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं दिया है। जबकि ये दोनों आचार्य ग्रन्थकार के समकालीन और इस युग के प्रसिद्ध तार्किक थे। शंकराचार्य तो दक्षिण के रहने वाले थे। अतः वहाँ के धार्मिक मठ मे उनका प्रभाव होना स्वाभाविक है। सम्भव है, उद्द्योतनसूरि ने जब कुवलयमाला की रचना की हो उस समय शंकराचार्य को किसी मत के प्रतिष्ठापक के रूप में प्रसिद्धि न मिल पायी हो। इनके और उद्द्योतन के समय में भी लगभग ५० वर्षों का अन्तर रहा होगा। उद्द्योतन ने ७७९ ई० में अपना ग्रन्थ लिखा था और शंकराचार्य का समय ७८८-८२० ई० माना जाता है।

अनेकान्तवाद के प्रतिष्ठापक अकलंक भी उद्द्योतनसूरि के निकट-परवर्ती आचार्य जान पड़ते हैं। समकालीन होने पर उद्द्योतन अवश्य उनका उल्लेख करते। उद्द्योतनसूरि के ५ वर्ष बाद रचना करने वाले आचार्य जिनसेन ने भी अपने हरिवंशपुराण में अन्य जैन आचार्यों के साथ अकलंक को स्मरण नहीं किया।[1] अतः इस युग में अनेकान्तवाद की प्रसिद्धि तो हो चुकी थी किन्तु उसे पूर्ण प्रतिष्ठा आठवीं शताब्दी के उत्तरार्घ में होने वाले अकलंक के द्वारा ही मिली होगी।

●

१. द्रष्टव्य, पं० पन्नालाल द्वारा संपादित हरिवंशपुराण की भूमिका।

परिच्छेद तीन

धार्मिक जगत्

अन्य धार्मिक मत

उद्द्योतनसूरि ने अपने ग्रन्थ में कुछ ऐसे आचार्यों के मतों का भी उल्लेख किया है, जो उपर्युक्त प्रमुख धर्मों के अन्तर्गत नहीं आते तथा जिनकी परम्परा बुद्ध और महावीर के युग से चली आयी प्रतीत होती है। इनमें आजीवक, नियतिवादी, अज्ञानवादी एवं भाग्यवादी प्रमुख हैं। कुवलयमाला के सन्दर्भों के आधार पर इनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दे देना उचित होगा।

पंडर-भिक्षुक—'गाय के दही, दूध, गोरस, घी आदि को मांस की भांति समझकर नहीं खाना पंडर-भिक्षुओं का धर्म है।'[1] प्राचीन जैनसूत्रों में पंडरभिक्षुओं का पंडुरंग परिव्राजक के नाम से उल्लेख मिलता है[2] निशीथिचूर्ण (ग्रन्थ ४, पृ० ८६५) के अनुसार आजीवकों की संज्ञा पंडरभिक्षु थी।[3] तथा अनुयोगद्वार-चूर्णि (पृ० १२) में उन्हें ससरक्ख भिक्खुओं का पर्यायवाची माना है।[4] शरीर में श्वेत भस्म लगाने के कारण इन्हें पंडुरंग या पण्डरभिक्षु कहा जाता था[5] लगभग ६-७वी सदी में ये शयनादि एवं पहनने के लिए श्वेत दुकूलवस्त्रों का प्रयोग करते थे।[6] डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार ये लोग ठाठबाट से रहनेवाले महन्त थे।

---

१. दहि-दुद्ध-गोरसो वाघ यं व अण्णं व किं पि गाईणं।
मांसं पिव मा भुंजउ इय पंडर-भिक्खओ धम्मो ॥ —कुव० २०६.११.

२. अनुयोगद्वारसूत्र २०, ज्ञाताधर्मकथा टीका १५.

३. एन० शास्त्री, डवलपमेण्ट आफ रिलीजन इन साउथ इण्डिया, पृ० ११५.

४ जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ४१७ (नोट)।

५. जर्नल आफ द ओरियण्टल इन्सटीट्यूट पूना, २६, नं० २ पृ० १२०.

६. हर्षचरित—एक अध्ययन, पृ० १०७.

कुवलयमाला के उक्त प्रसंग से पण्डरभिक्षुओं के सम्बन्ध में यह विशेष ज्ञात होता है कि बाण के समय इनके मत में जो सिद्धान्त प्रचलित था उसका पूर्णतया उद्द्योतन के समय तक निर्वाह हो रहा था। पंडरभिक्षु गोरस का बिलकुल व्यवहार न करते थे अतः बाण ने इनके शरीर को जल से सींचा हुआ कहा है।[1] उक्त प्रसंग में भी इन्होंने सभी प्रकार के गोरस का निषेध बतलाया है। पंडरभिक्षु गोरस का त्याग क्यो करते थे, इसका कोई स्पष्ट कारण ज्ञात नहीं होता। पंडरभिक्षुओं का आजीवक सम्प्रदाय से सम्बन्ध होने के कारण हो सकता है कि उनमें रसों के त्याग की भावना रही हो, जो आज भी जैनव्रतियों में पर्युषणपर्व आदि के समय देखी जाती है।

राजा दृढ़वर्मन् ने पंडरभिक्षुओं के उक्त सिद्धान्त को यह सोचते हुए अस्वीकार कर दिया कि गो-मांस का प्रतिषेध तो ठीक है, किन्तु ये मंगलकारी दही आदि की भी वर्जना करते हैं, जो साधुओं के शील की रक्षा करते हैं। इससे तो हमारे विहार करने का भी कोई प्रयोजन नहीं।[2]

अज्ञानवादी—'कौन जानता है कि धर्म नीला, पीला अथवा श्वेत है? इस प्रकार के ज्ञान का क्या प्रयोजन? अतः जो होता है उसे सहन करना चाहिए।'[3] यह अज्ञानवादियों का मत है। सूत्रकृतांग में अज्ञानवादियों के मत की अनेक तर्कों द्वारा आलोचना की गई है,[4] जो अज्ञानवादी अज्ञान के कारण अपने को शिक्षा देने में समर्थ नहीं हैं वे दूसरों को क्या शिक्षा देगें?[5] उद्द्योतन ने भी अज्ञानवादियों का खण्डन करते हुए कहा है कि धर्म के स्वरूप को अनुमान, ज्ञान एवं मोक्ष के कारणों द्वारा ही जाना जा सकता है। मूढ़ अज्ञानियों के द्वारा धर्म का साधन नहीं हो सकता।[6]

चित्रशिखण्डि—'जिसने मोर को रंग-विरंगा तथा हंस को श्वेत बनाया है उसी ने हमें बनाया है। वही हमारे धर्म-अधर्म की चिन्ता करेगा। हमारे सोच करने से क्या प्रयोजन?'[7] हितोपदेश में विलकुल इसी प्रकार की विचारधारा को

---

१. क्वचिद् ' शीकरासारसिच्यमानतनवः, हर्ष० पाँचवे उच्छवास में।

२. गो-मासे पडिसेहो एसो वज्जेइ मंगलं दहियं।
समणय-सीलं रक्खसु मज्झ विहारेण त्रिण्ण कज्जं॥ – कुव० २०६.१३,

३. को जाणइ सो धम्मो णीलो पीओ व सुक्किलो होज्ज।
णाएण तेण किं वा जं होहिइ तं सहीहामो॥ —ही १५,

४. माहणा समणा एगे सब्वे णाणं सयं वए।
सव्वलोगे वि जे पाणा न ते जाणंति किंचण॥ —सूत्रकृताङ्ग, २.१४.

५. सूत्रकृताङ्ग, २.१७.

६. णज्जइ अणुमाणेणं णाएण वि तेण मोक्ख-कज्जाइं।
अण्णाण-मूढयाणं कत्तो धम्मस्स णिप्फत्ती॥—कुव० २०६.१७

७. जेण-सिही चित्तलि धवले हंसे कए तह म्हे त्रि।
धम्माहम्मे चिंता काहिइ सो अम्ह किं ताए॥ —वही २०६ १९, ८१.२८.

व्यक्त किया गया है।[१] सोमदेव ने चित्रशिखण्डि नाम के साधुओं का उल्लेख किया है, जिसका अर्थ श्रुतदेव ने सप्तर्षि किया है।[२] सम्भवतः ये सप्तर्षि कुवलयमाला के उक्त सिद्धान्त को ही मानने वाले रहे होगें, जिससे इनका नाम चित्रशिखण्डि पड़ा होगा। महाभारत के शान्तिपर्व के नारायणीखण्ड में राजा उपचरि की कथा-प्रसंग में यह कहा गया है कि मरीचि, अत्रि, अंगिरस, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु एवं वशिष्ठ ये सप्तर्षि एवं आठवें स्वायम्भुव ने इस मत के शास्त्र का परमभगवत् के समक्ष प्रकाशन किया था। ये चित्रशिखण्डि इस धर्म के प्रचारक थे।[३] इस प्रकार महाभारत काल से १० वीं शताब्दी तक चित्रशिखण्डि मत धार्मिक जगत् में प्रसिद्ध था। विधि को प्रधानता देने वाले इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए दृढ़वर्मन् सोचता है कि मोर की चित्रता आदि सभी कार्य कर्मों के अनुसार ही होते हैं। अतः कर्म को विधि मानना चाहिए।[४]

नियतिवादी—'जो धार्मिक पुरुष हैं, वही हमेशा धर्मरत रहेगें तथा जो पापी है वह हमेशा पाप कर्म करता रहेगा। अतः किसी प्रकार की धार्मिक क्रिया आदि करना व्यर्थ है।'[५] इस मत का सम्बन्ध आजीवक सम्प्रदाय से है। इनके नियतिवाद की भारतीय धर्म-दर्शन के क्षेत्र में अनेक बार आलोचना हुई है। उद्द्योतनसूरि ने भी इनके मत के विरोध में यह आपत्ति उठायी है कि यदि एक ही जीव सभी जन्मों में धर्मरत रहे तो वही नरक में एवं वही स्वर्ग में कैसे जायेगा?[६] फिर मुक्ति का कोई प्रयत्न ही क्यों करेगा?

मूढपरम्परावादी—'धर्म-अधर्म का विवेक इस पृथ्वी में किस पुरुष को हो पाता है? अतः अन्धों की भाँति मूढपरम्परा द्वारा ही यह सब धर्म रचा गया है।'[७] किन्तु राजा को यह मत स्वीकार नहीं होता क्योंकि इस ससार में धर्म, अधर्म में अन्तर करने वाले कई पुरुष अवश्य हैं। अन्यथा धर्म में प्रव्रजित होकर कौन दुर्द्धर-तप आदि करता है?[८]

कुतीर्थिक—जैनधर्म के अतिरिक्त अन्य मत के साधुओं को जैनग्रन्थों में कुतीर्थिक शब्द से अविहित किया गया है। कुतीर्थिकों में क्रोध, मान, माया, लोभ

---

१. येन शुक्लीकृता हंसा शुकाश्च हरितीकृताः।
मयूराश्चित्रिता येन स ते वृत्तिं विधास्यति॥ —हितोपदेश १.१८३.

२. जै०—य० सां० अ०, पृ० ७७.

३. डा० भण्डारकर—वैं० शैं० धा० म०, पृ० ५-६.

४. कुव०, २०६.२१.

५. कुव० २०६ २३.

६. जइ एक्को च्चिय जीवो धम्म-रओ होइ सव्व-जम्मेसु।
ता कीस णरय-गामी सो च्चिय सो चेय सग्गम्मि॥—२०६ २५

७. कु०—२०६ ३१.

८. कु०—२०६ ३३.

आदि से युक्त प्रवृत्तियाँ पायीं जाती हैं।[1] अपरविदेह में केवल एक-तीर्थी (जैनधर्मावलम्बी) रहते हैं, जबकि भरत क्षेत्र में अनेक कुतीर्थिक निवास करते हैं।[2]

परतीर्थक—जैनधर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों के साधुओं को परतीर्थक कहा गया है, जो विद्या, मन्त्र, बल, आदि के द्वारा योग साधना करते हैं तथा सांसारिक भोगों को सुन्दर कहते हैं।[3]

परिव्राजक—जैन साहित्य में परिव्राजकों के अनेक रूप वर्णित हैं।[4] बौद्ध एवं जैन दोनों परम्पराओं में श्रमणों को इनसे दूर रहने को कहा कहा है। परिव्राजक ब्राह्मण धर्म के प्रतिष्ठित पंडित होते थे। अतः वाद-विवाद के लिए दूर-दूर तक पर्यटन करते थे। कुवलयमाला में परिव्राजकों को भोजन, वसन आदि का दान देने का उल्लेख है।[5] यद्यपि यह प्रसंग अंध-विश्वास का परिचायक है।

गच्छ-परिग्रह—जैन साधुओं में गच्छ-परिग्रह साधु वे आचार्य कहलाते थे, जिनके साथ अन्य शिष्य भी भ्रमण करते थे, शिष्यों का समुदाय (गच्छ) जिनका परिग्रह था। नये साधु को दीक्षित करने का अधिकार इन आचार्यों को ही था। जो साधु अकेले भ्रमण करते थे उन्हें चारण-श्रमण कहा जाता था। इन्हें किसी व्यक्ति को दीक्षा देने का अधिकार नहीं था।[6] जो साधु अकेले घूमते थे वे दीक्षित व्यक्ति की प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति न कर पाते होंगे। इसीलिए चारण-श्रमण दीक्षा देने के अधिकारी नहीं माने गये। वैराग्य को प्राप्त विद्याधर श्रमण-धर्म में प्रव्रजित हो चारण-श्रमण बन जाते थे, जिन्हें गगनांगण में विचरण करने की विद्या सिद्ध हो जाती थी।[7] कुवलयमाला में चारण-श्रमण का दो बार उल्लेख हुआ है (८०.१७, ११.२२)। इनका प्रमुख कार्य भव्य-जीवों को उनके पूर्वभव का स्मरण दिलाकर जैनधर्म का अनुयायी बनाना है (८०.२३)। ग्रन्थ में विद्याधर-श्रमणों का उल्लेख हुआ है, जो सम्भवतः चारण-श्रमण का अपर नाम है (१६२.१४, १५)।

व्यन्तर देवता

विभिन्न धर्मों से सम्बन्धित प्रमुख देवताओं के अतिरिक्त कुवलयमालाकहा में कुछ ऐसे देवताओं का भी उल्लेख है, जिन्हें जैनपरम्परा में व्यन्तर देवता कहा

१. कोह-लोह-माण-मायाद णं कुतित्थाणं च। —वही ५ ९.
२. एत्थ एगतित्थिया, तत्थ बहु-कुतित्थिया। —वही २४३.१६.
३. इह विज्जा-मंत-बलं पच्चक्खं जोग-भोग-फल-सारं।
   एयं चिय सुन्दरयं पर-तित्थिय-संथवो भणिओ॥—कुव० २१८.२७.
४. ज०—जै० आ० भा० स०, पृ० ४१५.
५. कुव०—१४.६.
६. ओग्गो तुमं पव्वज्जाए, किन्तु अहं ण पव्वावेमि'त्ति—अहं चारण-समणो, ण अहं गच्छ-परिग्गहो।— वही ८०.१५, १६.
७. जे विज्जाहरा—गयणांगण-चारिणो—होंति। —कुव० ८०.१७.

जाता है। पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, महोरग और गन्धर्व ये आठ देव व्यन्तर कहलाते हैं। इनकी पूजा के लिए प्रत्येक के अलग-अलग चैत्यवृक्ष थे। पिशाच का कदम्ब, यक्ष का वट, भूत का तुलसी, राक्षस का कांडक किन्नर का अशोक, किंपुरुष का चंपक, महोरग का नाग और गन्धर्व का तेन्दुक।[1] उद्द्योतनसूरि ने इन आठों देवताओं का सरागी देव के रूप में उल्लेख किया है।[2] स्वरूप एवं कार्यों के आधार पर इन्हें दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) सहयोगी देवता—किन्नर, किंपुरुष, गन्धर्व, नाग, नागेन्द्र, महोरग, यक्ष, लोकपाल (५३.६) एवं विद्याधर (२३४.२५)

(२) उत्पाती देवता—भूत, पिशाच, राक्षस, वेताल (१३.७), महाडायिनी (६८.२४), जोगिनी (१५६.१), कन्या पिशाचनी (१५६.१)।

प्राचीन भारतीय साहित्य में इनके सम्बन्ध में प्रचुर उल्लेख मिलते हैं। पुराणकाल में उक्त उत्पाती देवताओं को शंकर के अनुचरों के रूप में स्वीकार कर लिया गया था। वे इनके अधिपति माने जाते थे।[3] कुवलयमाला में इन सब देवताओं के विभिन्न कार्यों का भी उल्लेख हुआ है। तदनुसार उनके स्वरूप आदि के सम्बन्धमें विचार किया जा सकता है।

किन्नर—विन्ध्या अटवि में किन्नर मिथुनों का गीत गूंजता रहता था (२८.९)। अन्यत्र भी किन्नर निर्जन-प्रदेश में रहने वाले बतलाये गये हैं। महाभारत में (६६ अ०) राक्षसों, वानरों, किन्नरो तथा यक्षो को पुलस्त्य ऋषि की सन्तान माना गया है।[4] राजप्रश्नीयसूत्र में विमान के शिखर पर किन्नरों की आकृतियाँ बनाये जाने का उल्लेख है। सिंहल (श्री लंका) के चित्रकार भी किन्नरो के चित्र बनाते थे। किन्नर ऊपर से मनुष्यो के समान और नीचे से पक्षियों के समान होते थे।[5]

किंपुरुष—इनका उल्लेख हमेशा किन्नरों के साथ ही हुआ है। इनका भी पूरा शरीर मनुष्य का नहीं रहा होगा।

गन्धर्व—कुव० में गन्धर्वों का सामान्य उल्लेख है। जाति एवं विद्या को भी गन्धर्व कहा जाता था। जैनसूत्रों में गन्धर्व देश का भी उल्लेख है। उसके निवासियों की विवाहविधि को बाद में गन्धर्व-विवाह कहा जाने लगा होगा। यद्यपि वैदिक युग से गन्धर्वों का उल्लेख मिलता है। किन्तु पुराणों में इनकी उत्पत्ति एवं भेद-प्रभेदों का भी वर्णन उपलब्ध है। वे देवयोनि में माने जाते

१. स्थानाङ्गसूत्र, ८.६५४.
२. २५६.३१, ३२.
३. वायु पुराण ६९.२८९ एवं ब्रह्माण्ड पुराण ३.७, ४११.
४. मोनियर विलियम डिक्शनरी मेंउद्धृत—किन्नर शब्द।
५. के० के० कुमारस्वामी, मैडिवल सिंहलीज आर्ट, पृ० ८१. आदि

थे। उनकी पूजा होती थी। इन्द्र एवं सूर्य के वे अनुचर थे। गन्धर्वों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा गया है कि ये ब्रह्मा की आज्ञा से दक्ष द्वारा उत्पन्न किये गये। ब्रह्मा का तेज (गा) पान करने (ध्यायति) के कारण ही इन्हें गन्धर्व कहा जाता है। हेमकूट एवं सुमेरुगिरि इनका निवासस्थान माना जाता है।[1]

नाग, नागेन्द्र, महोरग—नाग एवं महोरग को बलि देकर सन्तान प्राप्ति की कामना कुव० में की गयी है। यह एक प्राचीन परम्परा थी। ज्ञाताधर्मकथा (२, पृ० ४६) में भी बन्ध्या स्त्रियाँ इन्द्र, स्कन्द, नाग, यक्ष आदि की पूजा किया करती थीं। जैनपरम्परा में राजा भागीरथ के समय से नागबलि का प्रचार हुआ था।[2] २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ से भी नागकुमार का श्रद्धालु के रूप में सम्बन्ध रहा है। महाभारत (७-८) में नागों को कद्रू अथवा सुरसा की जाति का कहा गया है। बौद्ध साहित्य में साधारण मनुष्यों के रूप में इनका वर्णन मिलता है। वराहपुराण में नाग की उत्पत्ति के सम्बन्ध में रोचक वर्णन प्राप्त है।[3] कुछ आधुनिक विद्वानों ने भी नाग जाति के सम्बन्ध में अध्ययन प्रस्तुत किये हैं।[4]

यक्ष—कुवलयमाला में यक्षों का वर्णन भगवान् ऋषभदेव के भक्तों के रूप में किया गया है। यक्षराजा रत्नशेखर की कथा से प्रतीत होता है कि यक्ष साधारण-मनुष्यों की आकृति के होते थे, किन्तु उनमें कई ऋद्धियां होती थीं। वे सामान्यतः लोगों के सहायक देवता थे। इस कारण प्राचीन भारत में यक्ष-पूजा का बहुत महत्त्व था। यक्षों की पूजा के लिए नगरों यक्षायतन बने होते थे, जिन्हें चेइय अथवा चैत्य कहते थे।[5]

भूत—कुवलयमाला में भूत का पिशाच के साथ उल्लेख हुआ है, जिसे राजा ने बलि दी थी (१४.५)। पुराणों में इन्हें भयंकर और मांसभक्षी कहा गया है। कथासारित्सागर में इनका परिचय देते हुए कहा है कि भूतों के शरीर की छाया नहीं पड़ती, वे हल्दी सहन नहीं कर सकते तथा हमेशा नाक से बोलते हैं (१, परि० १)। जैन साहित्य में भी इनके प्रचुर उल्लेख मिलते हैं। भूतमह नाम का उत्सव चैत्रपूर्णिमा को मनाया जाने लगा था।[6]

पिशाच—उद्द्योतन ने पिशाचों के सम्बन्ध में कुछ विशेष नहीं कहा है। वर्णन प्रसंगों से ज्ञात होता है कि वे श्मशानों में रहते थे तथा अपनी भाषा

---

१. राय, पौ० ध० एवं स०, पृ० ९५-९६.
२. ज०, जै० आ० सा० भा० स०, पृ० ३६.३७.
३. वाचस्पत्यम्, भाग, ८.
४. द्रष्टव्य—हार्डी, मैनुएल आफ बुद्धिज्म, पृ० ४५, बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० २२०.
५. ज०, जै० आ० भा० स०, पृ० ४३७-४३.
६. वही—पृ० ४४७-४८.

पैशाची में बोलते थे। पार्जिटर, ग्रियर्सन के अनुसार पिशाच प्रारम्भ में वास्तविक जाति की संज्ञा थी। बाद में उसका रूप विकृत हुआ है।[1]

राक्षस—कुवलयमाला में एक राक्षस का वर्णन है, जिसने लोभदेव का जहाज अपना बदला लेने के लिए समुद्र में डुबो दिया था और अपनी दायीं दीर्घभुजा के प्रहार से जहाज के टुकड़े-टुकड़े कर दिये थे (६८.३३)। एक अन्य प्रसंग में भी भूत-पिशाच के साथ राक्षसों को भी श्मशान में मांस खरीदने के लिए बुलाया गया है (२४७.३१)।

वेताल—वैरगुप्त की कथा में वेताल इसका मांस खरीदने श्मशान में आता है। तथा उसके कच्चे मांस को चखकर अग्नि में पकाकर हड्डियों सहित खरीदने को तैयार होता है। वैरगुप्त अपने मांस की कीमत के बदले उससे एक चोर का रहस्य जानना चाहता है। वेताल उसके साहस एवं बलिदान पर प्रसन्न होकर उसे वर प्रदान करता है (२४८.१,३९)। कच्चा मांस खाने के लिए वेताल बाण के समय में भी प्रसिद्ध थे।[2]

महाडायिनी—राक्षस के वर्णन के प्रसंग में उद्द्योतन ने कहा है कि मुख-कुहर से अग्नि की ज्वाला निकल रही थी, बड़े-बड़े जिसके दांत थे, बगल में बच्चे रो रहे थे तथा श्रृगालों की तरह भयंकर आवाज करती हुई नृत्य में तल्लीन महाडायिनी का हास लोक में व्याप्त था (६८.२४)। उसके गले में नरमुण्डों की माला पड़ी हुई थी (६८.२५)। इस स्वरूप से तो यह महाडायिनी दुर्गा के किसी रूप का प्रतिनिधित्व करती है।

ये भूत-पिशाच इत्यादि देवयोनि में होते हुए भी मांसभक्षण जैसे निःकृष्ट कार्य को क्यों करते थे? इस प्रश्न का उत्तर ग्रन्थकार ने स्वयं भगवान् महावीर के मुख से दिलवाया है। उसमें कहा गया है कि व्यन्तरजाति के देव वास्तव में माँस आदि नहीं खाते हैं। स्वभाव से कुछ विनोदप्रिय होने के कारण ये नाना क्रियाओं द्वारा मनुष्यों के सत्य, साहस एवं लगन की परीक्षा लेते हैं और सन्तुष्ट हो जाने पर उनकी सहायता करते हैं—'**इमे वंतरा तस्स सत्तं णाणा-खेलावणाहिं परिक्खंति**—(२४८.११,१३)।

वेतालों द्वारा मांस-भक्षण का यह औचित्य ग्रन्थकार ने अपनी अहिंसक संस्कृति से प्रभावित होकर संभवतः दिया है। वास्तव में ७-८वीं शताब्दी में वेतालों को मांस-विक्रय ने एक साधना का रूप ले लिया था। बाण ने हर्षचरित के स्कन्धावार के वर्णन में कहा है कि कुछ राजकुमार खुलेआम वेतालों को मांस-बेचने की तैयारी कर रहे थे। महाकाल के मेले में प्रद्योत के राजकुमार द्वारा महामांस का उल्लेख है (हर्ष० १९९)। वास्तव में यह क्रिया शैवों में कापालिक

१. जे० आर० ए० एस०, १९१२, पृ० ७१२.
२. हर्षचरित, सूर्यास्तवर्णन (उ०—८).

लोगों की थी, जो अपने आपको महाव्रती भी कहते थे।[1] स्वयं उद्द्योतनसूरि ने भी ऐसे कापालिकों का उल्लेख किया है। महामांस-विक्रय की यह प्रथा इस समय बीभत्स और भीषण थी।[2] इसके साथ ही तन्त्र-मन्त्र से सम्बन्धित कई उपासनाएँ भी प्रारम्भ हो गयी थीं।

तान्त्रिक साधनाएं और उनकी विफलता

उद्द्योतनसूरि ने विभिन्न प्रसंगों में तान्त्रिक साधनाओं का उल्लेख किया है, जो उनके समय के धार्मिक-जगत् में अपना प्रमुख स्थान बना चुकी थीं। किन्तु सम्भवतः इन साधनाओं के साथ हिंसा, अनाचार एवं स्वार्थ-सिद्धि इतनी जुड़ी हुई थी कि कोई भी आत्मकल्याण के मार्ग का साधक इनका अनुमोदन नहीं कर सकता था। उद्द्योतनसूरि ने इसीलिए इन सबका उल्लेख तो किया है, किन्तु इनके माध्यम अपने कार्य की सिद्धि चाहने वाले को अन्त में विफल ही बतलाया है। उनका यह दृष्टिकोण तान्त्रिक-साधनाओं के निम्नांकित विवरण से स्पष्ट हो जाता है।

चम्पानगरी के दो वणिक्पुत्र जब अन्य साधनों से धन कमाने में असमर्थ हो गये तो उन्होंने तान्त्रिक-साधना द्वारा अपना कार्य पूरा करना चाहा। कुवलयमाला मे इस सब का वर्णन एक चित्रपट में अंकित बतलाया गया है। मुनिराज राजकुमार को वह यह दिखलाते हुए कहते हैं—

'किसी प्रकार अन्य कार्यों में चूक हो जाने पर वे दोनों अनेक प्रकार के अजन-योग मे प्रवृत्त हुए। अंजन लगाते ही आँखों में घाव हो गया (१९१.२८)। यह मैंने इन्हें हाथ में पोथी लिये हुए किसी पुरुष को आगे करके बिल में प्रवेश करते हुए चित्रित किया है (२९)। इन्होंने सोचा था कि इससे हमें यक्षिणी सध जायेगी, जो हमारे अभीष्ट को पूरा कर देगी। किन्तु तब तक उस बिल से विकराल मुख वाला व्याघ्र सहसा प्रगट हो गया (३०)। इधर ये दोनों वणिक् गुरुजनो के मुख से मन्त्र ग्रहणकर मुद्रा, मंडल, समय आदि के द्वारा साधना मे संलग्न हैं (३१)। किन्तु उनकी साधना के बीच में ही उनके पूर्वकृत पाप कर्मों के कारण सहसा भयंकर राक्षसरूपी रौद्र प्रगट हो गया (३२)। इस प्रकार जो-जो कार्य उन्होंने किये पूर्वकर्मों के दोष के कारण वे सब रेत के महल की भाँति विघटित हो गये (३३)। इस प्रकार असफल होकर ये दोनों काम, रति, भोग से निर्विण्ण एक देवी के चरणों में जाकर निश्चिन्त होकर बैठ गये (१९२.१)। किन्तु वह देवी कहीं दूर प्रवास में गई हुई थी। अतः यह देखो, बेचारे पत्थर के खम्भे की तरह वहीं पड़े हुए हैं (१९२.२)। जब कुछ दिनों बाद उनका शरीर सूखकर अस्थि-पंजर मात्र रह गया तो उन्होंने

---

१. अग्रवाल, हर्ष० सां० अ०, पृ० ९०.

२. द्रष्टव्य, महामांस-विक्रय पर सदानन्द दीक्षित का लेख,—इंडियन हिस्ट्री कांगरेस प्रोसीडिंग्स, बम्बई, १९४७, पृ० १०२-९.

सोचा—यह देवी भी हमारे समर्पण से क्रोधित हो गई है (१९२.४)। इसलिये अब पर्वत पर से गिरकर अपना प्राणान्त कर लेना चाहिये (१९२.९)। किन्तु वहाँ उनको एक मुनिराज की दिव्यवाणी ने ऐसा करने से बचा लिया (१९२.१३)।

इस प्रमुख प्रसंग के अतिरिक्त ग्रन्थ में अन्यत्र भी तन्त्र-मन्त्र से सम्बन्धित कुछ सन्दर्भ मिलते हैं। विजयसेन की रानी भानुमति ने सन्तान प्राप्ति के लिये अनेक मंडल लिखवाये तथा तन्त्रवादियों को एकत्र किया तब कहीं उस पर किसी भूत की कृपा हुई (१६२.४, ५)। एक अन्य कथा में सुन्दरी जब अपने मृत जवान पति को मोह के कारण जीवित मानती हुई उसे जलाने न दे रही थी तो उसके स्वजनों ने उसे गारूल्लवादियों, भूत-तान्त्रिको एवं मन्त्रवादियों से दिखवाया, फिर भी कोई फायदा नहीं हुआ (२२५.१३)। इत्यादि।

उपर्युक्त विवरण में अजन-जोग, बिलप्रवेश, मुद्रा, मण्डल, समय, साधन, भूततन्त्र, गारुल्लविद्या, मन्त्रविद्या ऐसे पारिभाषिक शब्द है, जो तत्कालीन तान्त्रिक साधना में प्रचलित थे। पशुपत एवं कापालिक शैव सम्प्रदायों में इनके बहुविध प्रयोग होते थे।[1]

कुवलयमाला में दो बार जोगिनी का भी उल्लेख हुआ है—(१२.२७ एवं १९६.१३)। जोगिनी का सम्बन्ध महाकाल शिव से था एवं किसी विद्या को सिद्ध करने के साथ यहाँ वर्णित हुआ है (१९६.१३)। इससे ज्ञात होता है कि उस समय कई प्रकार की जोगिनी होती थीं, जिन्हे कई प्रकार के कार्य के लिए सिद्ध किया जाता होगा। जोगिनियों का सम्बन्ध तान्त्रिक विद्या से था। १०वीं सदी तक तान्त्रिक विद्या इतनी विकसित हुई कि जोगनियों की मूर्त्तियाँ बनने लगी थी। ६४ जोगिनियो को मूर्त्तियाँ भेड़ाघाट एव खजुराहो के मन्दिरों में उत्कीर्ण प्राप्त होती हैं।[2]

सूर्य-उपासना

कुवलयमालाकहा में सूर्य उपासना से सम्बन्धित जो सन्दर्भ उपलब्ध हैं उनसे ज्ञात होता है कि इस युग तक सूर्य-पूजा पर्याप्त विकसित हो चुकी थी। सूर्य के अरविन्द, आदित्य, रवि आदि नाम ग्रन्थ मे प्रयुक्त हुए हैं। मूलस्थान सूर्यपूजा का प्रमुख केन्द्र था। रेवन्तक नामक देवता भी सूर्य-उपासना के अन्तर्गत सम्मिलित था। इन सबके सम्बन्ध मे संक्षिप्त जानकारी इस प्रकार है—

अरविन्दनाथ, आदित्य, रवि—कुवलयमाला में अरविन्द का दो बार उल्लेख है (२.२९, १४.५)। प्रथम उल्लेख में अरविन्द का धर्म लोकप्रसिद्ध है तथा दूसरे में अरविन्दनाथ को पुत्र प्राप्ति के लिए बलि दी गयी है। अन्यत्र

१. शास्त्री, शिवशंकर अवस्थी, 'मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य,' वाराणसी, ६६.

२. यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, पृ० ३.६९-९७.

आदित्य को सरागी देव कहा गया है[1] तथा संकट के समय रवि को प्राणरक्षा के लिए स्मरण किया गया है।[2] अरविन्द, अरविन्दनाथ, आदित्य, रवि ये सभी नाम सूर्य के हैं। सूर्य देवता भारतीय समाज में अत्यन्त प्राचीन समय से पूजा जाता रहा है।[3] पहले गोलाकार, कमल आदि प्रतीक के रूप में सूर्य की पूजा होती थी। बाद में सूर्य देवता की मूर्त्तियाँ भी बनने लगीं, जिनके लिए पृथक स्तोत्र भी थे। सातवीं शताब्दी में हर्षवर्धन के दरबार के कवि मयूर ने कुष्ठरोग से मुक्ति पाने के लिए सूर्य-शतक की रचना की थी। आठवीं सदी में भवभूति ने मालतीमाधव में सूर्य की स्तुति की है।

राजस्थान में सूर्य-उपासना पर्याप्त प्रचलित थी। उद्योतन के समय तक सूर्य एक प्रमुख देवता माना जाने लगा था। सूर्य का आदित्य नाम राजाओं के नाम के साथ जोड़कर सूर्यमन्दिर बनवाये जाते थे। इन्द्रराज चाहमान ने इन्द्रादित्य नाम का एक सूर्यमन्दिर बनवाया था।[4] भीनमाल उस समय सूर्य-पूजा का प्रधान केन्द्र था, जहाँ के सूर्यदेवता को जगत-स्वामिन् कहा जाता था।[5] डा ओझा के अनुसार ६वीं से १४ वीं सदी तक सिरोही राज्य (राजस्थान) में ऐसा कोई गांव नहीं था जहाँ सूर्यमन्दिर या सूर्यदेवता की खंडित मूर्ति न हो।[6] सूर्य-उपासना की इस प्रसिद्धि के परिप्रेक्ष्य में सम्भव है, उद्द्योतन के समय अरविंदनाथ के नाम से कोई सूर्यमन्दिर रहा हो।

मूलस्थान-भट्टारक—उद्द्योतन ने केवल राजस्थान में प्रचलित सूर्य-उपासना का ही परिचय नहीं दिया, अपितु राजस्थान के बाहर के प्रसिद्ध सूर्य-उपासना के केन्द्र मूलस्थान-भट्टारक का उल्लेख किया है। मथुरा के अनाथमण्डप में कोढ़ियों का जमघट था। उसमें चर्चा चल रही थी कि कोढ़ रोग नष्ट होने का क्या उपाय है? तब एक कोढ़ी ने कहा—मूलस्थान-भट्टारक लोक में कोढ़ के देव हैं, जो उसे नष्ट करते हैं।[7] इस प्रसंग की तुलना साम्ब की कथा से की जा सकती है। साम्बपुराण, भविष्यपुराण (अ० १३९), वराहपुराण एवं स्कन्दपुराण से यह ज्ञात होता है कि यादव राजकुमार साम्ब, जो कोढ़ से पीड़ित था, ने सूर्य-उपासना के नये स्वरूप को प्रारम्भ किया तथा मूलस्थान के प्रसिद्ध सूर्य-मंदिर का निर्माण कराया। यह मूलस्थान पंजाब की चिनाव नदी के तट पर था। इसको मूलस्थान सम्भवतः इसलिए कहा गया है

१. गहाइच्चा—एए सव्वेदेवा सराइणो दोस-मोहिल्ला—कुव० २५६.३२.
२. को वि रविणो—उवाइय-सहस्से भणइ—वही, ६८.१८-१९.
३. द्रष्टव्य, डा० भण्डारकर—वै० शै० धा० म० पृ० १७४-७५.
४. महेन्द्रपाल, द्वितीय, का प्रतापगढ़ अभिलेख।
५. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य, श०—रा० ए०, पृ० ३८१-८६.
६. सिरोहीराज्य का इतिहास, पृ० २६.
७. मूलत्थाणु भण्डारउ कोढइं जे देइ उद्दालइज्जे लोयहुं। —कुव० ५५.१६.

कि सूर्य की नवीन पूजा को पहली बार इसी स्थान पर संगठित किया गया था तथा सूर्यपूजा का यह मूल-अधिष्ठान था।

उद्द्योतन के इस सन्दर्भ से यह स्पष्ट होता है कि मूलस्थान का यह सूर्यमंदिर राजस्थान में प्रसिद्ध था। प्रतिहारों ने मुल्तान पर जब कब्जा करना चाहा तो अरब के शासकों ने वहाँ के सूर्यमंदिर की मूर्ति को नष्ट कर देने की धमकी दी, जिससे प्रतिहारों को पीछे लौटना पड़ा। क्योंकि वे सूर्य के उपासक थे।[१] मूलस्थान का यह सूर्यमंदिर युवानच्वांग तथा अल्बरूनी को भी ज्ञात था।[२] सत्रहवीं शताब्दी तक इसका अस्तित्व रहा। बाद में औरंगजेब ने उसे पूरी तरह नष्ट कर दिया।[३] इस सूर्यमंदिर के बाद भारत में अनेक सूर्यमंदिरों का निर्माण कराया गया था। मुल्तान से कच्छ और उत्तरी गुजरात तक बहुत से सूर्यमंदिर प्राप्त हुए हैं।[४]

मूलस्थान का सूर्यमंदिर एवं सूर्य-पूजा पर विदेशी प्रभाव अवश्य रहा है। इसका पुजारी शाकद्वीप का निवासी मग ब्राह्मण था। साथ ही सूर्यदेवता एवं सूर्यमंदिर के स्थापत्य आदि में भी विदेशी तत्त्व सम्मिलित रहे हैं। इस सब के कारण डा० भण्डारकर का मत है कि सूर्यपूजा पारस से भारतवर्ष में आयी तथा उसी से प्रभाव से यहां सूर्य के अनेक मंदिर बनवाये गये। क्योंकि भारतीय सौर-सम्प्रदाय से इन बातों का सम्बन्ध नहीं बैठता।[५]

रेवन्त—कुवलयमाला में समुद्री-तूफान के समय यात्री रेवन्त का स्मरण करते हैं।[६] ग्रन्थ के गुजराती अनुवादक ने रेवन्त को रहमान लिखा है, जो उचित नहीं है। भारतीय देवताओं में रेवन्त एक स्वतन्त्र एवं प्रसिद्ध देवता रहा है। अमरकोश में यद्यपि इसका उल्लेख नहीं है, किन्तु बृहत्संहिता (५८.५६) एवं विष्णुधर्मोत्तरपुराण में यह निर्देशन दिया गया है कि रेवन्त की मूर्ति घोड़े पर आरूढ़ बनानी चाहिए, जिसके चारों ओर शिकारीदल भी हो।[७] इससे स्पष्ट है कि रेवन्त की उपासना गुप्तकाल में ही प्रारम्भ हो गयी थी। चेदि अभिलेख मे रेवन्त का मंदिर बनवाने का उल्लेख है।[८] कालिकापुराण में रेवन्त की मूर्त्ति की अर्चना अथवा उसे सूर्य की भाँति जलांजलि द्वारा पूजने का उल्लेख है।[९]

१. राजस्थान थ्रू द एजेज, पृ० ३८४.
२. सखाऊ का अनुवाद, भा १. पृ० ११६.
३. भण्डारकर—वै० शै०, पृ० १७७.
४. बर्जेस, 'आर्कीटेक्चरल एण्टिक्विटीज आफ नार्दन गुजरात,' लन्दन, १९०३.
५. वै० शै० धा० म०, पृ० १७८.
६. को वि रेमन्तस्स, कुव० ६८,१९.
७. हु०—य० इ० क०, पृ० ४६१.
८. शा०—रा० ए०, पृ० ३९२.
९. उद्धृत, डवलपमेण्ट आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, पृ० ४४२.

ओसिया के सूर्यमंदिर में दीवाल के एक आले में रेवन्त की मूर्त्ति अश्व पर आरूढ़ है। पीछे एक कुत्ता खड़ा है तथा उसके भक्त मूर्त्ति के सिर पर छाता लगाये हुए हैं।[1] इस मूर्त्ति में बृहत्संहिता के कथन का अनुशरण किया गया है। रेवन्त की पूजा आठवीं सदी में अनेकस्थानों में प्रचलित थी। उसके बाद गुजरात में रेवन्तक-उपासना का प्रमाण शारंगदेव के बन्थली अभिलेख में मिलता है।[2] मार्कण्डेय पुराण (७५.२४) में रेवन्तक को सूर्य और बडवा का पुत्र कहा गया है। रेवन्तक की मूर्त्ति के साथ अश्व की संगति सोमदेव के यशस्तिलक से स्पष्ट होती है, जिसमें रेवन्त को अश्वविद्या विशेषज्ञ माना गया है। अश्वकल्याण के लिए भी रेवन्त की पूजा की जाती थी। रेवन्त की स्तुति में शलिहोत्रकृत एक संक्षिप्त रेवत-स्तोत्र भी प्राप्त होता है।[3] इससे स्पष्ट है कि लगभग ५वीं से १०-११वीं सदी तक रेवन्तक-उपासना का प्रर्याप्त प्रचार था।[4]

जैनधर्म

उद्द्योतनसूरि जैनसाधु थे। उनका प्रमुख उद्देश्य कथा के माध्यम से तत्कालीन धर्म एवं मतों तथा विशेषतः जैनधर्म के प्रमुख सिद्धान्तों का प्रचार करना था। अतः उन्होंने कुवलयमाला में प्रसंगवश जैनधर्म के सिद्धान्तों को विस्तृत जानकारी दी है, किन्तु यह उनके लेखन की विशेषता है कि कही भी धार्मिक बोझलता से कहानी के प्रवाह में रुकावट नही आयी। जैनधर्म-दर्शन के जिन प्रमुख सिद्धान्तों का ग्रन्थ में उल्लेख है, उनके स्वतन्त्र अध्ययन से जैन-धर्म पर एक निबन्ध तैयार हो सकता है, किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ मे सांस्कृतिक अध्ययन पर विशेष दृष्टि होने के कारण यहाँ वर्णन क्रम से कुवलयमाला में उल्लिखित जैनधर्म के सिद्धान्तों का मात्र दिग्दर्शन कराया गया है—

१. ऋषभदेव, पार्श्वनाथ, महावीर एवं सीमन्धर स्वामो का उल्लेख एवं स्तुति। (अनुच्छेद १ आदि)
२. संसार-स्वरूप का वर्णन (६६, १७९, २३४)।
३. चार गतियों का वर्णन (७४-७५, २९१-३००, ३९६)।
४. क्रोध, मान, माया, लोभ एवं मोह पर विजय (१५५)।
५. जैनमुनियो की दिनचर्या का वर्णन (१६४)।
६. विपाकसूत्र को छोड़कर प्रमुख ग्यारह जैन आगमों का उल्लेख (१६४)।
७. जिनमार्ग की दुर्लभता (१६५-६६-६७)।

---

१. श०—रा० ए०, पृ० ३९३ पर उद्धृत
२. वही—३९२.
३. जै०—यश० सां० अ०, पृ० १९६.
४. द वरशिप आफ रेवन्त इन एंशियण्ट इंडिया, वि० इ० ज० भाग ७,२,१९६९.

८. समवसरण रचना (१७८)।
९. दुर्गति एवं सद्‌गति का निरूपण (१७९)।
१०. बालमुनि दीक्षा का वर्णन (१८१)।
११. यक्षप्रतिमा पर जिनमूर्ति की स्थापना (२०५, २१४)।
१२. मिच्छामि दुक्कडं (२२५, २२६)।
१३. कर्मफल का विवेचन (२३३,३५६)।
१४. सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र, पाँच महाव्रत आदि का उपदेश (अनु० २३४)।
१५. मठों में अनेकान्तवाद का अध्ययन (२४४)।
१६. तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट धर्म (२८३, २८४)।
१७. विभिन्न धर्मों के साथ जैनधर्म की तुलना (३३२)।
१८. सम्यकत्व, सर्वज्ञता, पाँच महाव्रत, पाँच समिति, श्रावक के अणुव्रत, अतिचार आदि का वर्णन (३३६, ३४६)[1]।
१९. अनित्य, अशरण आदि भावनाओं का वर्णन (३५२)।
२०. लेश्याओं का वर्णन (३७६)।
२१. वीतराग की भक्ति का फल (३९५)[2]।
२२. ममत्व को त्यागकर दीक्षा (४०२)।
२३. प्रतिक्रमण, पाँच समिति एवं तीन गुप्तियों का वर्णन (४१३)[3]।
२४. सल्लेखना का वर्णन (४१९)।
२५. पंचपरमेष्ठि को नमस्कार (४२१.४२४)।

उपर्युक्त सामग्री के अतिरिक्त कुव० में जैनधर्म के प्रसिद्ध श्लोक का भी उल्लेख हुआ है—

सर्वमंगल-मांगल्यं सर्वकल्याण कारणं।
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयति शासनं॥ पृ० १७५.१०

कुछ फुटकर रूप से भी जैनधर्म की विचारधाराओं का कुवलयमाला में यत्र-तत्र उल्लेख हुआ है। यथा—मंदिर में स्वाध्याय करना (९४.१३), जैन-मंदिरों में दर्शन करने जाना (३१.१७), धर्मलाभ कहना (१८५) दीक्षा लेने के उपकरण (१९४.१९), मरने वाले के कान में पंचनमस्कार का जाप करना (१११.३२), वैराग्यधारण करने का मार्ग तथा प्रत्येकबुद्ध को पहिचान (१४१.१, ५, १४२.१७), साधार्मिक-वात्सल्य (११६.२३, १३७.२०) आदि।

१. द्रष्टव्य, पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री—उपासकाध्ययन, भारतीय ज्ञानपीठ।
२. द्रष्टव्य, पं० हीरालाल शास्त्री—वसुनन्दिश्रावकाचार, भारतीय ज्ञानपीठ।
३. द्रष्टव्य, मुनि नथमल, जैनधर्म-दर्शन—मनन और मीमांसा।

उपर्युक्त जैनधर्म के सिद्धान्तों के उल्लेख से ज्ञात होता है कि कुवलयमाला में केवल जैनदर्शन और तत्त्वविचार का ही उल्लेख नहीं है, अपितु जैनधर्म के अनुयायी किस प्रकार का सामाजिक-व्यवहार करते थे तथा सम्यकत्व का पालन करते हुए कैसे गृहस्थ-जीवन का निर्वाह करते थे, इसका भी स्पष्ट चित्र मिलता है।

उपर्युक्त धार्मिक विवरण इस बात का प्रमाण है कि उद्द्योतनसूरि अपने समय की सभी धार्मिक विचारधाराओं से परिचित थे। शैवधर्म एवं उसके सम्प्रदायों का उस समय प्राधान्य था, किन्तु हिंसात्मक एवं अनाचार से सम्बन्धित मतों को सामान्य स्वीकृति नहीं थी। राजकीय स्तर पर धार्मिक दृष्टि से कोई बन्धन नहीं था। राजा दृढ़वर्मन् विभिन्न धार्मिक आचार्यों के मत सुन लेने के बाद उन्हें विदा करता हुआ कहता है कि आप सब लोग जायँ और अपने-अपने धर्म, कर्म, क्रिया-कलाप में संलग्न रहें।[1] यद्यपि भारतीय दर्शन की सभी शाखाओं का अध्ययन इस युग में होता था, किन्तु पौराणिक धर्म एवं मान्यताओं का समाज में अधिक प्रचलन था। तन्त्र-मन्त्र एवं अन्य अन्धविश्वासों से लोग मुक्त नहीं थे। तीर्थवन्दना धार्मिक एवं पर्यटन की दृष्टि से जोर पकड़ रही थी।

●

---

१. वच्चह तुब्भे, करेह णियय-धम्म-कम्म-किरियाकलावे— (२०७.९.).

उपसंहार

उद्द्योतनसूरिकृत कुवलयमालाकहा प्राकृत साहित्य में अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसमें प्रथम बार कथा के भेद-प्रभेदों में संकीर्णकथा के स्वरूप का परिचय दिया गया है, जिसका उदाहरण यह कृति स्वयं है। गद्य-पद्य की मिश्रित विधा होने से चम्पूकाव्य के यह निकट है। इसमें गाथा के अतिरिक्त अन्य छंदों का प्रयोग हुआ है, जिससे 'गलीतक,' 'चित्तक', एवं 'जम्मेहिका' आदि नये छन्द प्रकाश में आये हैं। क्रोध आदि अमूर्त भावों को प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत करने से कुवलयमालाकहा को भारतीय रूपात्मक काव्य-परम्परा का जनक कहा जा सकता है। इसकी कथावस्तु कर्मफल, पुनर्जन्म एवं मूलवृत्तियों के परिशोधन जैसी सांस्कृतिक विचारधाराओं पर आधृत है। उद्द्योतनसूरि ने पूर्ववर्ती साहित्यिक परम्परा का स्मरण करते हुए 'छप्पण्णय' शब्द द्वारा विदग्ध कवियों की मधुकरी का परिचय दिया है तथा 'पराक्रमांक' 'साहसाक' जैसी कवियों की उपाधियों का संकेत किया है। इससे सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वारा साहसांक उपाधि धारण किये जाने के उल्लेख को बल मिलता है। इस प्रसंग द्वारा 'बन्दिक' नामक कवि के अस्तित्व की भी सूचना मिलती है। कुव० का ऐतिहासिक महत्त्व भी कम नहीं है। तोरमाण, रणहस्तिन् श्रीवत्सराज एवं राजा अवन्ति आदि के इसमें सन्दर्भ हैं। अवन्ति की पहिचान यशोवर्मन के उत्तराधिकारी अवन्तिवर्मन से की गयी है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थ की साहित्यिक सुषमा अनूठी है।

कुवलयमालाकहा के भौगोलिक विवरण से ज्ञात होता है कि इस समय तक गुर्जरदेश और मरुदेश (मारवाड़) की सीमाएँ निश्चित हो गयी थीं। दक्षिण-भारत में व्यापारिक और शैक्षणिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण विजयानगरी आधुनिक रत्नगिरि जिले का विजयदुर्ग नामक नगर है। उद्द्योतनसूरि ने न केवल ३४ जनपदों एवं ४० नगरों का उल्लेख किया है, अपितु ग्रामसंस्कृति को उजागर करने के लिए अन्य ग्रामों के साथ चिन्तमणिपल्लि एवं म्लेच्छपल्लि का भी वर्णन किया है। इससे आर्य और अनार्य संस्कृति के निवास-स्थानों की भेदरेखा स्पष्ट होती है। एशिया के १७ प्रमुख देशों के नाम कुव० में उल्लिखित हैं।

तारद्वीप के सन्दर्भ द्वारा दक्षिण समुद्र के 'तारणद्वीप' के साथ, स्वर्णद्वीप के उल्लेख द्वारा 'सुमात्रा' के साथ तथा चीन एवं महाचीन के साथ इस विवरण द्वारा भारत के सांस्कृतिक सम्बन्धों का पता चलता है। उद्द्योतन ने प्राचीन-भारतीय भूगोल की उसी विशिष्ट शब्दावलि का प्रयोग किया है, जो तत्कालीन साहित्य और कला में प्रयुक्त होती थी।

आठवीं शताब्दी के सामाजिक-जीवन का यथार्थ चित्र उद्द्योतनसूरि ने प्रस्तुत किया है। श्रोत-स्मार्त वर्ण-व्यवस्था उस समय व्यवहार में स्वीकृत नहीं थी। ब्राह्मणों की श्रेष्ठता होते हुए भी उनकी क्रियाएं शिथिल हो रही थीं। शूद्र आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होने से प्रगति कर रहे थे। क्षत्रियों के लिए ठाकुर शब्द प्रयुक्त होने लगा था। जातियों का विभाजन हिन्दू, जैन, ईसाई आदि धर्म के आधार पर न होकर आर्य-अनार्य संस्कृति के आधार पर था। प्रादेशिक जातियों में गुर्जर, सोरट्ठ, मरहट्ठ, आदि अस्तित्व में आ रही थीं। आधुनिक अरोड़ा जाति आरोट्ट के रूप मे प्रचलित थी। विदेशी जाति हूण का क्षत्रिय और शूद्रों में विलय हो रहा था। चावला, खन्ना आदि जातियों का सम्बन्ध इन्हीं से है। उद्द्योतन ने तज्जिकों के उल्लेख द्वारा अरबों के प्रवेश की सूचना दी है। सामाजिक योजनों की भरमार थी। विवाह में चार फेरे हो लिये जाते थे। तत्कालीन ग्रामों का सामाजिक जीवन स्वतन्त्र और सादा था।

कुवलयमालाकहा से तत्कालीन समाज में व्यवहृत ४५ प्रकार के वस्त्रों ४० प्रकार के अलंकारों का पता चलता है। दुकूल का जोड़े के रूप मे प्रयोग होने लगा था। नेत्रपट के दुकूल बनने लगे थे। गंगापट जैसी विदेशी सिल्क भारतीय बाजारों में आ गयी थी। अमीरो द्वारा हंसगर्भ, कूर्पासक, रल्लक एवं निर्धनों द्वारा कंथा, चीर आदि वस्त्रों का प्रयोग होता था। अलंकारों एवं प्रसाधनों के उल्लेख से स्पष्ट है कि आभिजात्य समाज का चित्रण कथाकारों को अधिक प्रिय था। श्रेष्ठिवर्ग का तत्कालीन राज्यव्यवस्था में भी प्रभाव था। महाराजाधिराज, परमेश्वर आदि उपाधियां राजाओं की प्रभुता की द्योतक थीं। स्वामियों की सेवा के लिए 'ओलग्गउ' शब्द प्रयुक्त होता था, जो सामन्तकालीन जमींदारीप्रथा का प्राचीन रूप था। सुरक्षा की दृष्टि से इस समय राजकीय कर्मचारियों एवं अधिकारियों में वृद्धि हो रही थी। नगरमहल्ल, द्रंग, दंडवासिय, व्यावहारिन् आदि उनमें प्रमुख थे।

समाज की यह समृद्धि वाणिज्य एवं व्यापार की प्रगति पर आधृत थी। अच्छे-बुरे हर प्रकार के साधन धनोपार्जन के लिए प्रचलित थे। देशान्तर-गमन, सागर-सन्तरण एवं साझीदारी व्यापार में दुहरा लाभ प्रदान करती थी। स्थानीय व्यापार में विपणिमार्ग और मण्डियाँ क्रय-विक्रय के प्रमुख केन्द्र थे। दक्षिण में विजयपुरी, उत्तर में वाराणसी एवं पश्चिम में सोपारक और प्रतिष्ठान देशी-विदेशी व्यापार के मेरुदण्ड थे। सोपारक में १८ देशों के व्यापारियों का एकत्र होना एवं 'देसिय-वणिय-मेलीए' (व्यापारी-मण्डल) का सक्रिय होना

इस बात का प्रमाण है। साहसी सार्थवाह-पुत्रों ने जल-थल मार्गों द्वारा न केवल भारत में, अपितु पड़ोसी देशों से भी सम्पर्क साध रखे थे। आयात-निर्यात की वस्तुओं में अश्व, गजपोत, नीलगाय, महिष आदि का सम्मिलित होना तत्कालीन यायायात के साधनों के विकास को सूचित करता है। 'सिज्झउ-जत्ता' शब्द का प्रयोग यात्रा में सकुशलता, सफलता एवं समुद्र-यात्रा तीनों के लिए प्रयुक्त होने लगा था। दूर-देशों की यात्रा करते समय पूरी तैयारी के साथ निकला जाता था। समुद्र-यात्रा के प्रसंग में एक 'पंजर-पुरुष', जलवायु-विशेषज्ञ एवं सार्थ के साथ 'आडत्तिया' (दलाल) का उद्द्योतन ने सर्वप्रथम उल्लेख किया है। 'एगारसगुणा', 'दिण्णाहृत्थसण्णा', 'थोरकम्म' (विनिमय), 'समतुल' आदि तत्कालीन वाणिज्य-व्यापार में प्रचलित पारभाषिक शब्द थे। अर्थोपार्जन के लिए धातुवाद एवं स्वर्णसिद्धि का उल्लेख भी कुवलयमाला में है। विशुद्ध स्वर्ण के लिए उद्द्योतन ने 'जच्चसुवण्ण' कहा है, जिसे सोलहवानी या सोलमो सोना कहा जाता है।

तक्षशिला, नालन्दा आदि परम्परागत शिक्षा-केन्द्रों का उल्लेख न कर उद्द्योतन ने अपने युग के वाराणसी और विजयपुरी को शिक्षा के प्रधान केन्द्र माना है। विजयपुरी का मठ सम्पूर्ण शैक्षणिक प्रवृत्तियों से युक्त था। देश के विभिन्न भागों के छात्र यहाँ आकर अध्ययन करते थे। उनकी दैनिकचर्या आधुनिक छात्रावासों के समकक्ष थी। समाज के विशेषवर्ग द्वारा निजी विद्यागृहों को प्राथमिकता दी जा रही थी। शिक्षणीय विषयों में ७२ कलाओं के अतिरिक्त व्याकरण और दर्शनशास्त्र को प्रमुखता दी जा रही थी। उद्द्योतन ने उन्हीं कलाओं का सीखना सार्थक माना है, जिनका व्यावहारिक उपयोग भी हो। अरबों के सम्पर्क के कारण अश्वविद्या शिक्षा का विषय बन गयी थी। अश्वों की १८ जातियों में 'वोल्लाह', 'कयाह', 'सेराह' अश्वों को उत्तमकोटि का माना जाता था।

कुवलयमालाकहा की अप्रतिम उपयोगिता उसकी भाषागत समृद्धि के कारण है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं पैशाची के स्वरूप मात्र का परिचय लेखक ने नहीं दिया, अपितु ग्रन्थ में इन सबके उदाहरण भी दिये हैं। उनको जाँचने पर ज्ञात होता है कि समाज के प्रायः सभी वर्गों की बातचीत में अपभ्रंश प्रयुक्त होती थी। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से १८ देशों (प्रान्तों) की भाषा के नमूने एक स्थान पर पहली बार इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किये गये हैं। इस कारण कथा के पात्रों के कथोपकथनों में जो स्वाभाविकता और सजीवता आयी है, वह किसी भी साहित्य के लिए आदर्श हो सकती है। विभिन्न भाषाओं के शब्दों का इतना भण्डार संजोने वाली कुवलयमालाकहा अकेली साहित्यिक कृति है, जो प्राकृत-अपभ्रंश के शब्द-कोश निर्माण के लिए दुर्लभ सामग्री प्रस्तुत करती है।

उद्द्योतनसूरि ने ललितकलाओं में ताण्डव एवं लास्यनृत्य तथा नाट्यों का उल्लेख किया है। इन सन्दर्भों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अभिनय एवं वेश-

भूषा द्वारा पात्रों के चरित्र का यथावत् अनुकरण नाट्यों द्वारा किया जाता था, जो सामाजिक को रसानुभूति कराने में सक्षम होते थे। गाँवों में नाट्यमंडली लोक मंचों पर शृंगारिक प्रदर्शन करती हुई घूमती थीं। इनमें स्त्रीपात्र भी अभिनय करते थे, जिन्हें ग्रामनटी कहा जाता था। इनके प्रदर्शन को आधुनिक भवाई नाट्य का जनक कहा जा सकता है। उद्द्योतन ने रास, डांडिया, चर्चरी, डोम्बलिक एवं सिग्गाडाइय आदि अन्य लोक-नाट्यों का भी उल्लेख किया है। इनमें संगीत और गीत भी सम्मिलित थे। वाद्यों के लिए सामान्य शब्द 'आतोद्य' प्रयुक्त होता था। 'तूर' मंगलवाद्य के रूप में प्रचलित था, जिसका प्रयोग वाद्य-समूह के लिए भी होने लगा था। २४ प्रकार के वाद्यों के अतिरिक्त उद्द्योतन ने 'तोडहिया' 'वज्जिर' और 'वव्वीसक' जैसे लोक-वाद्यों का भी उल्लेख किया है।

भित्तिचित्र एवं पटचित्र दोनों के प्रचुर उल्लेख कुवलयमालाकहा में हैं। पटचित्रों द्वारा संसार-दर्शन कराया गया है। पटचित्रों की लोकपरम्परा में उद्द्योतन का यह महत्त्वपूर्ण योगदान है। ग्रन्थ के कथात्मक पटचित्र ने 'पावू जी की पड़' आदि को आधार प्रदान किया है। उद्द्योतन द्वारा प्रयुक्त चित्रकला के परिभाषिक शब्दों में भाव, ठाणय, माण, वट्टु, वत्तिणी, वण्ण विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। भारतीय स्थापत्य के क्षेत्र में उद्द्योतन ने प्रतोली को रक्षामुख तथा अश्व-क्रीड़ा के केन्द्र को बाह्याली कहा है। बाह्याली के वर्णन से ज्ञात होता है वह आधुनिक 'पोलो' खेल के मैदान जैसा था। बाह्यास्थान-मण्डप एवं अभ्यन्तरास्थान-मण्डप के सभी स्थापत्यों का वर्णन कुव० में हुआ है, जिनमें धवलगृह, वासभवन, दीर्घिका, क्रीड़ाशैल, कपोतपाली आदि विशिष्ट हैं। यन्त्र-जलघर एवं यन्त्रशकुन के वर्णन द्वारा उद्द्योतन ने प्राचीन जल-क्रीडा विनोद को अधिक स्पष्ट किया है। ग्रन्थ में उल्लिखित तीर्थंकर को सिर पर धारण किये हुए यक्षप्रतिमा भारतीय मूर्त्तिशिल्प का विशिष्ट उदाहरण है। आठ देवकन्याओं एवं शालभंजिकाओं की मूर्त्तियाँ परम्परागत शैली में वर्णित है। मुक्ताशैल द्वारा निर्मित मूर्त्तियों का उल्लेख उस समय मूर्त्तिकला में संगमरमर के प्रयोग को सूचित करता है। प्रतिमाओं के विभिन्न आसनों में गोदोहन-आसन चित्रवृत्ति के निरोध की दृष्टि से विशिष्ट है।

आठवीं सदी के धार्मिक-जगत् का वैविध्यपूर्ण चित्र उद्द्योतनसूरि ने कुवलयमाला में अंकित किया है। शैवधर्म के कापालिक, महाभैरव, आत्मवधिक गुग्गलधारक, कारुणिक आदि सम्प्रदाय, अर्धनारीश्वर, महाकाल, शशिशेखर रूप शिव तथा रुद्र, स्कन्द, गजेन्द्र, विनायक आदि इस समय प्रभावशाली थे। कात्यायनी और कोट्टजा देवियाँ शैवों द्वारा पूजित थी। वैदिकधर्म में कर्मकाण्डी, वानप्रस्थों, तापसों की क्रियाएँ प्रचलित थी। धार्मिक मठों में अनेक देवताओं की एक साथ पूजा-अर्चना होती थी। पौराणिकधर्म अधिक उभर रहा था। विनय-वादी, ईश्वरवादी विचारकों के अतिरिक्त तीर्थवन्दना के समर्थकों की संख्या बढ़ रही थी। गंगास्नान एवं पुष्कर-यात्रा पुण्यार्जन का साधन होने से प्रायश्चित के लिए प्रमुख केन्द्र माने जाने लगे थे। प्रयाग का अक्षयवट पाप-मुक्ति के लिए

प्रसिद्ध था। वैष्णवधर्म में भक्ति की प्रधानता थी, किन्तु शंकर के अद्वैतवाद और जगत्मिथ्यात्व के सिद्धान्त ने इसमें परिवर्तन लाना प्रारम्भ कर दिया था। गोविन्द, नारायण (कृष्ण), लक्ष्मी इस धर्म के प्रमुख देवता थे। विष्णु और ब्रह्मा की स्थिति गौण हो चली थी।

भारतीय दर्शनों में बौद्धदर्शन की हीनयान शाखा का उद्द्योतन ने उल्लेख किया है। लोकायतदर्शन के प्रसंग में 'आकाश' तत्त्व का उल्लेख पंचभूत के प्रभाव का परिणाम है। जैनधर्म को अनेकान्तदर्शन कहा जाता था। सांख्यकारिका का पठन-पाठन सांख्यदर्शन के अन्तर्गत मठों में होता था। त्रिदण्डी, योगी एवं चरक इस दर्शन का प्रचार कर रहे थे। दूसरी ओर कुछ सांख्य-आलोचक भी थे। वैशेषिक दर्शन के प्रसंग में लेखक ने 'अभाव' पदार्थ का उल्लेख नहीं किया। अतः कणाद-प्रणीत 'वैशेषिक-सूत्र' के पठन-पाठन का अधिक प्रचार था। न्याय-दर्शन के १६ पदार्थों का वाचन किया जाता था। मीमांसा-दर्शन के अन्तर्गत कुमारिल की विचारधारा अधिक प्रभावशाली थी। वेदान्त और योग दर्शन का पृथक से ग्रन्थ में उल्लेख नहीं है। अतः शंकराचार्य उद्द्योतन के बाद प्रभावशाली हुए प्रतीत होते हैं। आचार्य अकलंक का भी उद्द्योतन ने उल्लेख नहीं किया, जो उनके समकालीन माने जाते हैं।

अन्य धार्मिक विचारकों में पंडर-भिक्षुक, अज्ञानवादी, चित्र शिखंडि, नियतिवादी आदि भी अपनी-अपनी विचारधाराओं का प्रचार कर रहे थे। ये सब विचारक एक-साथ मिल-बैठकर भी तत्त्वचर्चा करते थे। इस युग मे अन्य धार्मिक विश्वासों के साथ व्यन्तर-देवताओ की अर्चना भी प्रचलित थी। यद्यपि अनेक तान्त्रिक-साधनाओं का भी अस्तित्व था, किन्तु अहिंसक चिंतक होने के कारण उद्द्योतनसूरि ने इनकी निरर्थकता प्रतिपादित की है। फिर भी कुछ विशिष्ट देवता विशेष कार्य के लिए उपकारी माने जाने लगे थे। कुष्ट-निवारण के लिए मूलस्थान-भट्टारक के उल्लेखों से तत्कालीन सूर्योपासना का स्वरूप स्पष्ट होता है। जैनधर्म के प्रमुख-सिद्धान्तो का दिग्दर्शन ग्रन्थकार ने अनेक प्रसंगों में प्रस्तुत किया है, जो उनका प्रतिपाद्य था।

इस प्रकार कुवलयमालाकहा का प्रस्तुत अध्ययन एक ओर जहा उद्द्योतन-सूरि के अगाध पाण्डित्य और विशद ज्ञान का परिचायक है, वहाँ दूसरी ओर प्राचीन भारतीय समाज, धर्म और कलाओं का दिग्दर्शक भी। पूर्वमध्यकालीन भारत के सांस्कृतिक इतिहास के निर्माण में इस ग्रन्थ के प्रामाणिक तथ्य सुदृढ़ आधार सिद्ध होगे। साहित्य वृत्तिपरिष्कार के द्वारा नैतिक मार्ग में प्रवृत्त करता है। कुवलयमालाकहा को धार्मिक एवं सदाचारपरक दृष्टि साहित्य के इस उद्देश्य को भी चरितार्थ करती है।

●

चित्र फलक

फलक १ : वस्त्र और वेश-भूषा

चित्र संख्या

१. अर्धसवर्णवस्त्र (पृ० १४१)—अजन्ता के भित्तिचित्र गुफा १७ में दो रंग वाला धोती पहिने हुए राजा बिम्बसार। (हेरिंगम, अजंता फ्रेस्कोज प्ले० १, १, केव १७)

२. उत्तरीय (पृ० १४१-४२)—स्त्री, पुरुष के उत्तरीय की गात्रिका-ग्रन्थि। (अग्रवाल, हर्षचरित, फलक १, चित्र ३)

३. धवलमद्धकसिणकार (पृ० १४१)—किनारी वाली धारीदार धोती पहने हुए राजा पद्मपाणि। (मार्शल, दि बाघ केव्स, प्लेट—बी०)

४. कसिणपच्छायण (पृ० १४१) - कमर से कन्धों तक काली चादर ओढ़े हुए कंचुकी। (हेरिंगम, वही, प्लेट २५, २८)

५. कंठ-कप्पड (पृ० १४२)—गले में रूमाल अथवा दुपट्टा लपेटे हुए एक वीणा-वादक। (हेरिंगम, वही, प्लेट ३६, ४०)

६. कच्छा (पृ० १४४)—लंगोट पहने हुए गंधार की मूर्तिकला में एक मजदूर। (फूशे, ल' आर्त ग्रेको बुधीक दु गंधार, भा० २, आ० ४१७)

७. कूर्पासक (पृ० १४५)— बिना बांह, का कूर्पासक पहिने स्त्री। (अग्रवाल, हर्ष० च०, फलक २०, चित्र ७५)

फलक १

१ अधोमवग वत्र

३ धवलमद्धकसिणकार

२ उत्तरीय (पुरुष) (स्त्री)

४ कसिण पच्छायण

५. कठ कप्पण

६ कच्छा
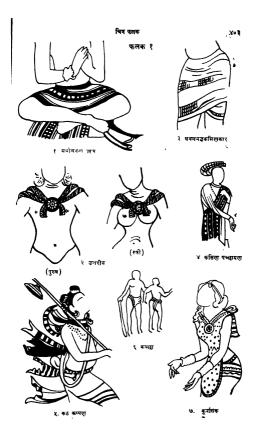
७. कूर्पासक

फलक २ : वस्त्र और वेष-भूषा

७. कूर्पासक (पृ० १४५)—पूरी बाँह का कूर्पासक पहिने स्त्री। (अग्रवाल, हर्ष० च०, फलक २०, चित्र ७५)

८. चीवर (पृ० १४७)—चीथड़ो से सिला चीवर पहने हुए एक बौद्ध भिक्षुक। (शिवराममूर्त्ति, अम० स्क०, प्लेट ९, १८)

९. क्षौम (पृ० १४५)—पारदर्शी क्षौम वस्त्र पहने हुए एक स्त्री। (हेरिंगम, वही, प्लेट ३९, ३९)

१०. दुकूल (पृ० १४९)—दुकूल की धोती व चादर पहिने हुए कोई सामन्त। (अजन्ता की १७ नं० लेण में सारिपुत्र प्रश्न भित्तिचित्र)

११. वल्कलदुकूल (पृ० १५४)—वल्कल के कौपीन और दुपट्टा पहने हुए साधु। (अमरावती स्क०, प्लेट ९, १)

१२. साटक (क) (पृ० १५४-५५)—साची के अर्धचित्रों में साड़ी पहने हुए एक स्त्री। (मोतीचन्द्र, प्रा० भा० वे०, आ० ९१)

(ख) अजन्ता के भित्ति चित्रों मे एड़ी तक साड़ी पहने हुए रानी।

(ग) सलवटों से युक्त साड़ी पहने चामरग्राहिणी। (हेरिंगम, वही, प्लेट ५, ६)

(घ) चुस्त साड़ी पहने हुए एक पूर्व गुप्त युग की नर्तकी। (मोती०, वही, आ० ४१६)

१३. हंसगर्भ (पृ० १५५)—हंस की आकृति से खचित वस्त्र पहने एक स्त्री। (अग्रवाल, ह. च., फलक १०, चित्र ४६)

फलक २

७ कूर्पासक

८ चीवर

९ क्षौम वस्त्र

१० दुकूल

११ वल्कल दुकूल

१२ (घ) साड़ी पहने नर्तकी

१२ (क) घुटनो तक साड़ी

२, (ख) एड़ी तक साड़ी

१२ (ग) सलवटदार साड़ी

१३. हंसगर्भ

फलक ३ : आभूषण

१४. अट्टहुकठयाभरण (पृ० १५८)—विभिन्न प्रकार के भारी हार पहने हुए वज्रपाणि बोधिसत्व । (अजन्ता, फलक ७८)

१५. कंठिका (पृ० १५९)—कंठिका पहने हुए स्त्री । (अमरावती स्कल्प०, फलक ४, चित्र २९)

१६, मुक्तावलि (पृ० १६१)—मुक्तामणि से युक्त एकावली पहने बोधिसत्व । (अजन्ता, फलक ७८)

१७. कर्णफूल (पृ० १५९)—कर्णफूल का एक प्रकार । (अजन्ता, फलक, ३३)

१८. कुण्डल (पृ० १६०)—अजन्ता की कला मे छल्ले के आकार का कुण्डल । (वही)

१९. कटिसूत्र (पृ० १६०)—चंडातक को कमर पर कसे हुए दो लर वाला कटिसूत्र । (याजदानी, अजन्ता, भाग २, प्लेट २१)

२०. मणिमेखला (पृ० १६१)—क्षुद्र घंटिकाओं वाली मेखला । (अमरावती०, फलक ८, चित्र २६)

२१. रसना (पृ० १६१)—दो लर वाली रसना । (वही, चित्र २८)

२२. कांची (पृ० १६०)—कमर का ढीला आभूषण काची । वही, चित्र ३४)

२३. कटक (पृ० १३८)—हाथ मे ढीली चूडी पहने चामरग्राहिणी । (याजदानी, अजन्ता, प्लेट २४, लेण. १)

२४. वलय (पृ० १६१)—जडाऊ कंगन रूप वलय । (अमरावती०, फलक ८, चित्र० १५)

२५ नूपुर (पृ० १६०) —(क) थाल मे नूपुर लिए परिचारिका । (अमरावती०, फ० ९. चि. १८)

(ख) पैर मे पहिने हुए नूपुर ।

२६. महामुकुट (पृ० १५८)—रत्नजटित मोती की लडो से युक्त राजमुकुट । (हेरिंगम, अजन्ता०, प्लेट १६, १८)

फलक ३

१४ अट्टुवठ्याभरण

१६- मुक्तावलि

१५ कण्ठिका

१७. कर्णफूल

१८ कुण्डल

१९ कटिसूत्र

२० मणिमेखला

२१ रसना

२२ काञ्ची

२४ वलय

२३. कटक

२५ (क) नूपुर

२६. महामुकुट

२५ (ख) नूपुर
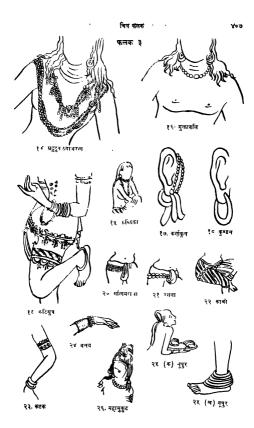
फलक ४ : केश-विन्यास

२७. धम्मिल्ल (पृ० १६२)—स्त्री के बालो का विशेष प्रकार का जूड़ा। (अग्रवाल, राजघाट के खिलौने, हर्ष० च०, फ० १४, चि० ५३)।

२८. केशप्रभार (पृ० १६३)—पत्र और पुष्पो से सजा हुआ जूडा। (राजघाट की मृणमूर्त्ति, कला और सस्कृति)

२९. चूड़ालंकार (पृ० १६३)—मयूरपिच्छ की तरह उठा हुआ जूडा। (हर्ष० च०, फलक २१, चित्र ८१)

३०. जटाकलाप (पृ० १६३)—जटाओ को बांधने का प्रकार। (अमरावती०, फ० ९, चि० २)

३१. मुंडमालुल्लिया (पृ० १६२)—जूडे में पुष्पमाला का प्रसाधन।

३२. सीमान्त (पृ० १६४)—दो भागों में विभक्त केश विन्यास।

फलक ४

२७ धम्मिल्ल

२८ केशप्रभार

३० जटाकलाप

२९ चूडालकार

३१. मुंडमालुल्लिया

३२. सीमान्त

फलक : ५ शस्त्रास्त्र

३३. असिधेनु (पृ० १६८)—अहिच्छत्रा से प्राप्त गुप्तकालीन मिट्टी की मूर्त्ति में अंकित छुरी। (हर्षचरित०, फलक २, चित्र १२)

३४. कत्तिय (पृ० १६८)—छोटी छुरी। (अमरावती०, फ० १० चि० २)

३५. कुहाडा (पृ० १६९) - लकड़ी के बेंत सहित कुठार। (वही, चि० ३)

३६ कुन्त (पृ० १६९)—इसे भाला व प्रास भी कहा गया है। (वही, चि० १)

३७. दण्ड (पृ० १७०) अहिछत्रा की मृण्मयमूर्त्ति नं० १०३ पर अंकित दण्ट या डण्डा। (हर्ष०, फ० १७, चित्र ६१)

३८. वज्र (अशनि) (पृ० १७०)—इन्द्राणी की मूर्त्ति के हाथ में स्थित वज्र। भारत कला भवन, वाराणसी। (जैन, यश० मा० अ०, फलक ६, चित्र० ४३)

३९. कोदण्ड (पृ० १६८)—(क) लपेटा हुआ धनुष। (अमरा०, फलक १०, चित्र ४)

(ख) चढाया हुआ धनुष। (वही, चित्र ११)

४०. शक्ति (पृ० १७१)—अजन्ता के चित्रों में अंकित शक्ति। (गुप्ता एवं महाजन, अजन्ता, एलौरा एण्ड औरंगाबाद केव्स, पृ० २७७, चित्र ९)

४१. चक्र (पृ० १६९)—वही, पृ० २७६, चित्र० १५।

फलक ५

३३ असिधेनु

३४ कर्तरी

३५ कुहाडा

३६ कुन्त

३७ दण्ड

३८ वज्र

३९ (ख) कोदण्ड

३९ (क) कोदण्ड

४० शक्ति

४१. चक्र
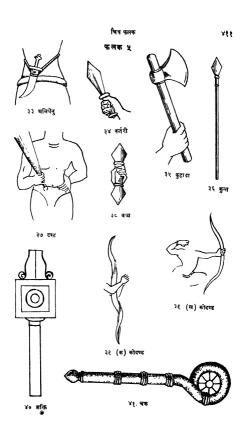
फलक ६ : वाद्य-यन्त्र

४२. तूर (पृ० २८४)—कलकत्ता संग्रहालय (७६)

४३. मृदंग (पृ० २८८)—वही (२७९)

४४. ठक्का (पृ० २८९)—ढोल, ब्रजमाधुरी, फलक १, चित्र, ७।

४५. भेरी (पृ० २८९)—कलकत्ता संग्रहालय (२६६)

४६. डमरुक (पृ० २९०)—ब्रजमाधुरी, फलक ३, चित्र १३।

४७. वेणु (२९१)—बाँसुरी (ब्रजमाधुरी, फलक २, चित्र १)

४८ शंख (पृ० २९१)—कलश लगा हुआ शंख (वही, फ० १, चित्र ८)

४९. घंटा (पृ० २९२)—बड़ा घन्टा (कलकत्ता संग्रहालय, १८५)

५०. ताल (पृ० २९३)—ताल की जोडी (ब्रजमाधुरी, फ० ४, चित्र १२)

५१. पटह (पृ० २८८)—पटह या नगाड़ा (कलकत्ता संग्रहालय, चि० २०४)

५२. वीणा (पृ० २८५)—अजन्ता चित्रों में अंकित वीणा (गुप्ता, अजन्ता० पृ० २७७, चित्र ११)

५३. झल्लिरी (पृ० २९०)—एक ओर चमडे से मढी हुई चंग या झल्लिरी।

फलक ६

४२. तूर
४३ मृदग
४४ ढक्का
४५ भेरी
४६ डमरु
४७ वेणु
४८ शख
४९. घटा
५० ताल
५१ पटह (नगाड़ा)
५३. झल्लिरी
५२. वीणा
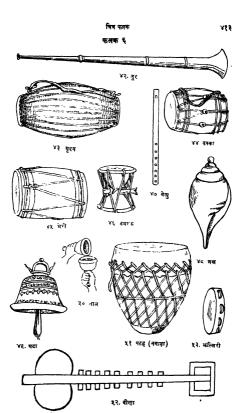
फलक ७ : समुद्रयात्रा

५४. जहाज द्वारा विदेशी-व्यापार (पृ० २०२)—(जैन जर्नल, अप्रैल ७१ में प्रकाशित चित्र की अनुकृति)

५५. पालों से युक्त जहाज (पृ० २०६)—पूर्णावदान में जहाज का चित्रण, अजन्ता (छठी श०)। (सार्थवाह, चित्र १५ से उद्धृत)

फलक ७

५४ बोरोबुदूर (जावा) के भित्ति चित्रों में भारतीय जहाज
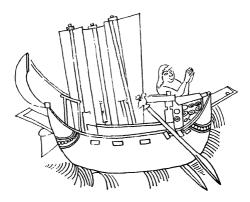
५५. पालों से युक्त जहाज

फलक ८ : समुद्रयात्रा तथा अन्य

५६. कुडुग द्वीप के जहाज भग्न का दृश्य (पृ० २१०)—बाराबडूर के शिल्प (८ वी शती) में अंकित तूफानी समुद्र और जहाज का चित्र। (सार्थवाह, चित्र, २३)

५७. शालभंजिका (पृ० ३३६) –समवशरण की रचना में अंकित शालभंजिका अथवा वरयुवति। (गुप्तकालीन स्तम्भ शा॰ भं०, भूभरा, हर्ष० फ० ८, चित्र ३३)

५८. कोट्टजा देवी (पृ० ३५४) – अहिछत्रा के खिलौनो में प्राप्त नग्न कोटवी देवी की अनुकृति। (हर्ष० फलक १७, चित्र० ६३)

फलक ८

५६ तूफानी समुद्र और जहाज

५७ शालभंजिका

५८. कोट्टजा देवी
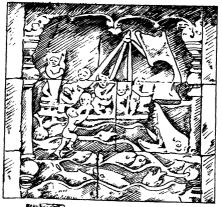
फलक ९ : देवियाँ और देव

५९. प्रज्ञप्ति देवी (पृ० ३५०)— जैन परम्परा के वर्णनो के अनुसार अंकित प्रज्ञप्ति । (बालचन्द्र जैन, जैन प्रतिमा विज्ञान, फलक १, चित्र २)

६०. अम्बिका (पृ० ३५५)—यक्षी अम्बिका । (वही, फ० ३१, चित्र २२)

६१. गन्धर्व (पृ० २८२)—वही, फ० १७ चित्र० १७ ।

६२. तुम्बरु (पृ० २८६)—वही, फलक ११, चित्र ५ ।

फलक ९

५९. प्रज्ञप्ति विद्या की देवी

६०. अम्बिका

६१ गन्धर्व

६२. तुम्बरु

फलक १० : नृत्य-नाट्य

६३. जन्मोत्सव मे नर्तकियाँ (पृ० १२६)—कल्पसूत्र ग्रह (१५५० ई०), जे०पी० गोयनका सग्रह, जैन जर्नल, अप्रैल ७०, की अनुकृति ।

६४. रासमण्डली (पृ० २८०) - अजन्ता मे अकित रासमण्डली का प्राचीन रूप । (हर्षं० फ० ४ चित्र० १७)

चित्रो के रेखाकन के लिये मै उल्लिखित ग्रन्थकारो एव श्री कर्णमान सिह, भारत कला भवन, वाराणसी का आभारी हू ।

फलक १०

६४. जन्मोत्सव में नर्तकियाँ

६५. रासमण्डली (हल्लीसक)

कुवलयमालाकहा पर शोध-सामग्री

पाण्डुलिपियाँ :

1. P. कागज पर लिखी प्रति (१५वीं शताब्दी)
   भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट, पूना में सुरक्षित ।
2. J. ताड़पत्रीय प्रति (१०८३ ई०)
   जैन ग्रन्थ भण्डार, जैसलमेर मे सुरक्षित ।
3. कुव. की पूना पाण्डुलिपि की प्रेस कापी (१९४२)
   संशोधनकर्त्ता—मुनि जिनविजय
   (मुनि जी द्वारा सम्पादन-कार्य के लिए स्व० डा० ए० एन० उपाध्ये को हस्तान्तरित)

शोध-ग्रन्थ :

4. कुवलयमाला कथा (संस्कृत रूपान्तर)—रत्नप्रभसूरि
   सम्पादक—मुनि चतुरविजय,
   श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, १९१६ ।
5. कुवलयमाला—दाक्षिण्यचिह्न उद्द्योतनसूरि,
   (प्राकृतभाषा निबद्धा चम्पूस्वरूपा महाकथा) प्रथम भाग
   सम्पादक—डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये
   सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९५९ ।
6. कुवलयमालाकथा-संक्षेप (रत्नप्रभसूरि)
   सं०—डा० ए० एन० उपाध्ये, बम्बई, १९६१
7. Kuvalayamala (Part II)
   (Introduction, Notes etc)
   By Dr A N Upadhye,
   Singhi Jain Granthamala, Bombay, 1970
8. कुवलयमाला (गुजराती अनुवाद)
   अनुवादक—श्री हेमसागर सूरि
   सह-सम्पादक—प्रो० रमणलाल शाह
   प्रकाशक - आनन्द हेम ग्रन्थमाला, बम्बई, १९६५
9. कुवलयमाला की २६ कथाओं का हिन्दी रूपान्तर
   - डा० प्रेम सुमन जैन
   श्रमणोपासक, बीकानेर (१९६७-६९)

10. Kuvalayamālā . A Cultural Study
By Dr. A P. Jamkhedkar
Journal of the Nagpur University XXI, No 1-2, 1973.

11. कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन (प्रस्तुत ग्रन्थ)
—डा० प्रेम सुमन जैन
थीसिस (१९७३), प्रकाशन (१९७५)।

12. कुवलयमाला का अध्ययन : हिन्दी के आरम्भिक चरित काव्यों के विशिष्ट सन्दर्भ में (थीसिस) १९७५।
—श्री द्वारिकादत्त शर्मा,
डी० ए० वी० कालेज, अमृतसर (पंजाब)।

अन्य ग्रन्थों व निबन्धों में कुव० पर सामग्री :

13 Muni Shri Jinavijaya — The Date of Haribhadra Sūri (in Sanskrit) a paper read at the first All India Oriental Conference, Poona, 1919. Published in the Jainasāhityasaṁśodhaka Granthamālā, Poona

14 Dalal, C. D — Kāvyamīmāṁsa of Rājaśekhara (some extracts from the Kuv. are given in its notes.), Published in Gaekwad's Oriental Series, Baroda, 1916.

15 Gandhi, L. B — A Catalogue of Manuscripts in the Jain Bhandars at Jesalmere. Published in G. O S., Baroda, 1923.

16. ,, — Apabhraṁśa-Kāvyatrayī (Sanskrit Introduction) Published in G O S. Baroda, 1927.

17 Jacobi, H — Samarāiccakahā, Vol I (Introduction) Bibliotheca Indica, Work No. 169. Calcutta, 1926.

18. जैन, जगदीशचन्द्र . प्राकृत साहित्य का इतिहास चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६१।

19. Sharma, Dashrath . Rajasthan Through the Ages. Govt. Press, Bikaner, 1966.

20. ,, : Presidental Address at the Indian History Congress, Patiala, 1966.

21. Sharma, Dashrath : The Feudal Terms 'Avalagga or Olagga. Journal of the Ganganath Jha Institute, Allahabad, Part, 1-2, 1972.

22. शास्त्री, नेमिचन्द्र : प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, वाराणसी १९६६ ।

स्वतन्त्र निबन्ध :

23. A Master : The Misterious Paiśācī Journal of the R. A. S., 1943

24. ,, : An Unpublished Fragment of Paiśācī. Bulletin of the S. O. A. S. London, 1948.

25. ,, : Gleanings from the Kuvalayamālākahā, Nos. I and II Bulletin of the S. O. A. S. London 1950

26. Kuiper, F. B. J. : The Paiśācī Fragment of the Kuvalayamālā. Indo-Iranian Journal, The Hague, 1957

27. Mura, K. P. : Toramāṇa in Kuvalayamālā Indian Historical Quarterly, Calcutta, 1957.

28. Upadhye, A. N. : Sanskrit Passages in the Kuvalayamālā Brahmavidyā, Vol XXV, 1961

29. ,, : Chappaṇṇaya Gāhāo. Journal of the Oriental Institute, Baroda, 1962.

30. ,, : On the two *Resentions* of the Kuvalayamālā Dr. V. V. Mirashi, Commemoration Vol. Nagpur, 1965.

31. ,, : Languages and Dialects used in the Kuvalayamālā. Journal of the O. I. Baroda, 1965.

32. ,, : Social and Cultural Glimpses from the Kuvalayamālā Shri Chotelal Smriti Grantha, Calcutta, 1967.

33. ,, : The Kuvalayamālā Kathā of Ratnaprabha Sūri. Annal of the B. O. R. I. Poona, 1968.

34. ,, : Authors and Works Refered to in the Kuvalayamālā. Journal of the V. V. R. I. Hosiyarpur, 1969.

35. Upadhye, A. N. : Religious Background of the Kuvalayamala.
Bhartiya Puratatva, Jaipur, 1971.

36. ,, . Bandika Hari Varsa
The Advai Library Bulletin Vol. 38, 1974.

37. मुनि जिनविजय : कुवलयमाला (गुजराती लेख)
जैन साहित्य संशोधक, ३, १९२७ ।

38. Gopani, A. S. : Kuvalayamala (English Translation of the paper of Muni Jinavijay).
Bharatiya Vidya II, Bombay, 1940.

39. Agrawala,, V S. A Cultural Note on the Kuvalayamala of Udyotansuri
(Prepared in 1967 and published in 1970).
Kuvalayamala, Part II.—by A. N. Upadhye

40. जैन, गोकुलचन्द्र कुवलयमालाकहा : एक महत्त्वपूर्ण प्राकृत चम्पू,
विश्व ज्योति, १५, १९६७

41. मालवणिया, दलसुख : कुवलयमाला अने तेना सन्ध्यावर्णनो
स्वाध्याय, बडौदा, १९६८.

42. Shah U P Chattanam Matham - A gleaning from Kuv.
Annal of the B O. R I. Vol. 48-49, 1968.

43 Upadhye, P M. : Kuvalayamala . A Cultural Study.
Journal of the O. I Baroda, 1970.

44. उपाध्याय, शालिग्राम . कुवलयमालाकादम्बर्योस्तुलनात्मकमध्ययनम्
—मागधम्, अप्रेल, १९६९

45. Buddha Prakash : Thakura
Central Asiatic Journal, Vol 3, 1957.

46. ,, : An Eighth Centuary Indian Documents on the International Trade.
Bulletin of the Institute of Traditional Culture, Madras, 1970.

47. ,, . The Jenesis and Character of Landed Aristocracy in Ancient India.
Journal of the Social and Economic History of the Orient, 1971.

48. ,, : Samudragupta and Chandragupta Vikramaditya as Samskrit Poets.
Journal of V. R. I. Hosiyarpur, 1971.

49. Bhayani, H. C. : On the Uparūpakas called Dombik and Sidagaka.
Vidyā, Vol. 12, 1969.

50. ,, : On Some Specimens of Carcari.
Sambodhi, Vol. I, 1972.

51. चौधरी, गुलाबचन्द : तथाकथित हरिवंशचरित की विमलसूरिकर्तृता का निरसन
जैनसिद्धान्तभास्कर, भा० १६, १९७१।

52. भोजक, अमृतलाल : कवि वंदिक : जैन हरिवंश के आद्य प्रणेता
सम्बोधि, भा० १, नं० ४, १९७३।

53. ठाकुर, अनन्तलाल : Some Doubtful Readings in Kuvalayamālā.
Sambodhi, Ahmedabad, 1973.

54. Chandra, K. R. : Apabhraṁsa Passages of the Kuvalayamālā
Contribution of Jainism to Indian Culture, Delhi, 1975.

55. Khadabadi, B. K. : On the Eighteen Deśī Languages.
All India Oriental Conference Kurukshetra, 1974.

56. Pandye, G. C. : Note on the Kuvalayamālā.
Jijñāsā, Journal of the Department of History, Rajasthan University, 1975.

57. जैन, प्रेम सुमन : कुवलयमालाकहा का कथा-स्थापत्य संयोजन
श्रमण, अगस्त, १९६७

58. ,, ,, : प्राचीन भारत में अर्थोपार्जन के विविध साधन
—श्रमणोपासक, १९६८

59. ,, ,, : कुवलयमाला में वर्णित ७२ कलायें
मरुधर केशरी अभिनन्दन ग्रन्थ, व्यावर, १९६८

60. ,, ,, : प्राचीन भारत में समुद्र-यात्रायें
हरिभाऊ अभिनन्दन ग्रन्थ, जयपुर, १९६९

61. ,, ,, : कुवलयमाला में उल्लिखित राजा अवन्ति
अनेकान्त, वर्ष २३, किरण, ५-६, १९७०

62. ,, ,, : पट-चित्रावली की लोक परम्परा
राजस्थान भारती, १०७१

63. ,, ,, : कुवलयमाला में उल्लिखित कुडंग, चन्द्र एवं ताराद्वीप
श्रमण, वाराणसी, १९७२

64. जैन, प्रेम सुमन : An account of the Trade and Shipping refered to in the Prakrit Texts
Contribution of Jainism to Indian Culture, Edited by Dr. R. C. Dwivedi Delhi, 1975.

65. " " : 'कुवलयमाला में प्रयुक्त अभिप्राय धर्मपरीक्षा
—जैनसिद्धान्तभास्कर, आरा, १९७५

66. " " : प्राकृत के सशक्त कथाकार उद्योतनसूरि
जैनविद्या के मनीषी, चुरू, (राज०) १९७५

67. " " : कुवलयमाला में प्रतिपादित राजस्थान
जैनदर्शनसाहित्य सेमिनार, अजमेर, १९७५ में पठित निबन्ध ।

सन्दर्भ ग्रन्थ

(क) संस्कृत, पालि एवं प्राकृत भाषाओं के मूलग्रन्थ :

अंगुत्तरनिकाय (पा०), नालन्दा देवनागरी ग्रन्थमाला बनारस, १९६०
अथर्ववेद, सातवलेकरप्रणीत भाष्य सहित, वाराणसी
अपराजितपृच्छा, गायकवाड ओरियंटल सीरीज, बड़ौदा, १९५०
अभिधान चिन्तामणि (भाग १-२) भावनगर, वीर सं० २४४१
अमरकोश, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२९
अर्थशास्त्र (भाग १-३), गणपतिशास्त्री त्रावनकोर, १९२१-२५
अष्टाध्यायी, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, १९३०
अश्वशास्त्रम्, तंजौर सरस्वती महल सीरिज, १९५२
आचारांगचूर्णि (प्रा०), रतलाम, १९४१
आदिपुराण, जिनसेन, ज्ञानपीठ, काशी
आदिपुराण (अप०), पुष्पदन्त, ज्ञानपीठ, काशी
आवश्यक निर्युक्ति (प्रा०), आगमोदय समिति, बम्बई, १९२८
उत्तराध्ययनटीका (प्रा०), नेमिचन्द बम्बई, १९३७
उत्तररामचरित, निर्णयसागर, बम्बई, १९३०
उदयसुन्दरी कथा
उपमितिभवप्रपंच कथा, सिद्धर्षि
उपासकदशा (प्रा०), पी० एल० वैद्य, पूना, १९३०
ऋग्वेद, स्वाध्यायमंडल, औंध, १९४०
ऋतुसंहार, निर्णयसागर प्रेस, १९२२
औपपातिक (प्रा०) टीका—अभयदेव, (द्वि० सं०) वि० सं० १९९४
कथाकोशप्रकरण (प्रा०), भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९४९
कामसूत्रम्, द्वितीय संस्करण, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
कर्पूरमंजरी (प्रा०), कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता, १९४८
कल्पसूत्र (प्रा०), टीका, समयसुन्दरगणि, बम्बई, १९३९
काव्यानुशासन, हेमचन्द्र, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई
काव्यप्रकाश, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, १९५५
काव्यमीमांसा, सी० डी० दलाल, बड़ौदा, १९१७
काशिकावृत्ति, चौखम्बा, वाराणसी
कुमारपालचरित, भण्डारकर ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, पूना, १९३६
कुमारसम्भव, चौखम्बा, वाराणसी, १९५१

कुवलयमालाकहा (प्रा०), सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९५९
कुवलयमालाकथासंक्षेप, (सं०) सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९६१
कुवलयमालाकहा (गुजराती), हेमसागरसूरि, आनन्द हेम ग्रन्थमाला, बम्बई, १९६५
कूर्मपुराण, सम्पादक, नीलमणि मुखोपाध्याय, कलकत्ता, १९६०
गउडवहो (प्रा०), एस० पी० पंडित, पूना, १९२७
गरुणपुराण, क्षेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, १९०६
ज्ञानपंचमीकहा (प्रा०), सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९४९
चारुदत्तनाटक, भास, निर्णयसागर संस्करण
चित्रसूत्रम्
छान्दोग्योपनिषद्, (शाकरभाष्य), वाराणसी
जसहरचरिउ (अप०), पी० एल० वैद्या, कारंजा, १९३१
जातकमाला—आर्यसूर्य
तिलकमंजरी, धनपाल, कलकत्ता
त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, हेमचन्द्र, अनुवाद—एच० एस० जानसन, १९३०
द्रव्यपरीक्षा (प्रा०), ठक्करफेरु, प्राच्यविद्या शोध प्रतिष्ठान, जोधपुर, १९६१
दशरूपक, राजकमल प्रकाशन, १९६३
दशवैकालिक निर्युक्ति, भद्रबाहु, (प्रा०),
दिव्यावदान, सम्पादक—कावेल, केम्ब्रिज, १८८६
दीघनिकाय (पा०), नालन्दा प्रकाशन
दीपवंश (पा०), ओल्डनबरी, लन्दन, १८७९
देशीनाममाला (हेमचन्द्र), एम० बनर्जी, कलकत्ता, १९३१
नाट्यशास्त्र, गायकवाड ओरियन्टल सीरिज, बड़ौदा, १९५४
नाट्यशास्त्र (हिन्दी अनु०), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६४
णायाधम्मकहा (प्रा०), सम्पादक—वैद्या, पूना, १९४०
नारदस्मृति, सम्पादक—पौली, कलकत्ता, १८८५
निशीथचूर्णि (प्रा०), सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९५७
पंचदशी, मिहिरचन्द्र प्रणीत हिन्दी टीका सहित, चौखम्बा, वाराणसी
पउमचरियं (प्रा०), सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
पद्मपुराण (सं०), भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, १९५८
पाइअसद्दमहण्णवो, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी १९६३
पार्श्वनाथ चरित, (सं०)
पुरुषार्थ चिन्तामणि (सं०)
पृथ्वीचन्द्र चरित (सं०), सत्यराजगणिविरचित
प्रश्नव्याकरण टीका (प्रा०), अभयदेव, बम्बई, १९१९
प्रज्ञापना टीका (मलयगिरि) बम्बई, १९१८–१९
बृहत्कथाकोश, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई

बृहत्कल्पभाष्य (प्रा०), (संघदासगणि), भावनगर, १९३३–३८
बृहत्पराशरहोरा (सं०), हिन्दी टीका सहित, चौखम्बा, वाराणसी
वाचस्पत्यम्, भाग १, २, ७, ८, तारानाथ वाचस्पति, वाराणसी
बौधायन धर्मसूत्र १ (सं०), सम्पादक—आचार्य, मैसूर, १९०७
भगवद्गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर
भगवती आराधना (प्रा०), देवेन्द्रकीर्ति ग्रन्थमाला, सोलापुर, १९३५
भगवतीसूत्र (प्रा०), आगमोदय समिति, बम्बई, १९२१
भागवतपुराण, गोरखपुर, वि० सं० २०१०
भावप्रकाश
मदनपराजय (नागदेव), सं०—डा० राजकुमार जैन, काशी, १९६४
मनुस्मृति, निर्णयसागर, बम्बई, १९४६
मयमतम्, गवर्नमेंट प्रेस, त्रिवेन्द्रम्, १९१९
महापुराण (सं०), भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, १९५४
महाभारत, सम्पादक –सुकथंकर, पूना, १९४२
महावग्ग (पा०), ना० दे० ग्रन्थमाला, बनारस, १९५६
महावंश (हिन्दी अनु०),
मानसागरी,
मानसार, पी० के० आचार्य, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस
मानसोल्लास (सं०), द सेन्ट्रल लायब्रेरी, बड़ौदा, १९२५
मालतीमाधव, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२६
मालविकाग्निमित्र, निर्णयसागर, बम्बई, १९३५
मार्कण्डेयपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
मिलिन्दपण्ह (पा०), सं०, आ० डी० वडेकर, बम्बई, १९४०
मुद्राराक्षस, पूना ओरियण्टल बुक एजेन्सी, १९३०
मृच्छकटिकम् (सं०, प्रा०), चौखम्बा, वाराणसी १९५४
मेघदूत, चौखम्बा, वाराणसी, १९४०
यशस्तिलकचम्पू, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१६
यशस्तिलकचम्पू (सं०, हि०), महावीर जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९६०
रघुवंश, निर्णयसागर प्रेस, १९३६
रत्नकरण्ड श्रावकाचार (सं०), समन्तभद्र, सूरत
राजतरंगिणी, स्टेइन, एम० ए०
राजतरंगिणी, दुर्गाप्रसाद, बम्बई, सं० १९८४
राजप्रश्नीयसूत्र (प्रा०), एन० वी० वैद्य, अहमदाबाद, १९३८
रामायण, निर्णयसागर प्रेस १९०५
ललितविस्तर (सं०.), वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९५८

लीलावईकहा (प्रा०) सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
वरांगचरित (सं०), माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, १९३८
बराहीसंहिता (सं०)
वसुदेवहिण्डी (प्रा०) आत्मानन्द सभा, भावनगर, १९३०
व्यवहारसूत्र (प्रा०), भावनगर, १९२६
विक्रमोवर्शीयम्, चौखम्बा, वाराणसी
विविधतीर्थकल्प, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९३४
विशेष आवश्यक भाष्य, (सटीक), रतलाम, १९३६-३७
विष्णुसंहिता
वेदव्यास स्मृति,
शतपथब्राह्मण, अच्युत ग्रन्थमाला, काशी, वि० सं० १९९४
शब्दरत्नाकर, यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, वि० सं० २४३९
शिल्परत्न, गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, १९२२
शुक्रनीति, चौखम्बा, वाराणसी
संगीतरत्नाकर, अड्यार लायब्रेरी, १९५१
समरांगणसूत्रधार, बड़ौदा संस्कृत लायब्रेरी, १९२४
समराइच्चकहा (प्रा०), कलकत्ता, १९२६
सर्वदर्शनसंग्रह,
समवायांगसूत्र (प्रा०), अहमदाबाद, १९३८
साख्यकारिका, चौखम्बा, वाराणसी
सिद्धान्तकौमुदी, चौखम्बा, वाराणसी
स्थानागसूत्र (प्रा०), अहमदाबाद, १९३७
सूत्रकृतांगटीका, आगमोदयसमिति, बम्बई, १९१७
हर्षचरित, सम्पादक—फूहरर—गव० सेन्ट्रल प्रेस, बम्बई
हितोपदेश, चौखम्बा, वाराणसी

(ख) आधुनिक शोध-ग्रन्थ (हिन्दी, अंग्रेजी) :

अग्रवाल वी० एस० : कला और संस्कृति, इलाहाबाद १९५२
" " : कादम्बरी—एक सांस्कृतिक अध्ययन, १९५८ चौखम्बा, वाराणसी
" " : जायसीकृत पद्मावत
" " : पाणिनीकालीन भारतवर्ष, वि० सं० २०१२
" " : प्राचीन भारतीय लोकधर्म, अहमदाबाद, १९६४
" " : हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन,
बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, १९६४
: अर्धमागधीकोश, भाग २, ५, जैन कान्फ्रेंस, दिल्ली

अय्यर : टाउन प्लैनिंग इन एन्शियण्ट डेकन
अल्तेकर, ए० एस० : एन्शियण्ट टाउन्स एण्ड सिटीज इन गुजरात एण्ड काठियावाड़, ब्रिटिश इण्डिया प्रेस, मेजगाँव, १९२६
" " : एजूकेशन इन एन्शियण्ट इण्डिया, बनारस, १९३४
" " : राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स, पूना, १९३४
" " : अलबरूनी इण्डिया, १
अवस्थी ए० एल० : प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप, कैलाश प्रकाशन लखनऊ, १९६४
आचार्य, पी० के० : डिक्शनरी आफ हिन्दू आर्टिटेक्चर, आक्सफोर्ड, १९२७
आचार्य, रजनीश : महावीर मेरी दृष्टि में, दिल्ली, १९७१
आप्टे : संस्कृत अंग्रेजी डिक्शनरी
इलियट एण्ड जनसन : हिस्ट्री आफ इण्डिया एज टोल्ड वाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स्, भाग १
उपाध्ये, ए० एन० : कुवलयमाला (द्वितीय भाग, अंग्रेजी प्रस्तावना) सिंघी जैन ग्रन्थमाला बम्बई, १९७०
उपाध्याय, बी. एस. : कालिदास का भारत, १-२ भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
" " इण्डिया इन कालिदास, चाँद एण्ड कम्पनी, दिल्ली
" " : गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास,
उपाध्याय, भरतसिंह : बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, प्रयाग, सं० २०१८
" " : बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग १
उपाध्याय, राम जी : प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, इलाहाबाद, १९६६
उपाध्याय, वासुदेव : पूर्वमध्यकालीन भारतीय इतिहास, भारती प्रकाशन, प्रयाग
" " : एपिग्राफिका इण्डिका, भाग १
ओम प्रकाश : फूड एण्ड ड्रिंक्स इन एन्शियण्ट इण्डिया
औंध अजन्ता
ओझा, जी० एच० : राजपूताने का इतिहास
कनिंघम, ए० : एन्शियण्ट ज्योग्राफी आफ इण्डिया, कलकत्ता, १९२४
कत्रे : प्राकृत लैंग्वेजेज एण्ड देयर कण्ट्रीब्यूशन टू द इण्डियन कल्चर, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९४५
कर्न : सद्धर्मपुण्डरीक (अंग्रेजी अनुवाद)
: कान्हड़ दे प्रबन्ध
काणे, पी० वी० : हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, भाग—१-४, पूना
कीथ : ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, आक्सफोर्ड, १९४८
कीथ एवं मैकडोनल : वैदिक इण्डेक्स, जिल्द प्रथम,
कुमारस्वामी : इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट
" : एन्शियण्ट इण्डियन आर्टिटेक्चर
कुर्ट सच : ए हिस्ट्री आफ म्यूजिकल इन्स्ट्रूमन्ट्स,
गुप्ता एण्ड महाजन : अजन्ता, एलौरा एण्ड औरंगाबाद केव्स

गेरिनी : ज्योग्राफिकल डिक्शनरी आफ़ साउथ ईस्ट इण्डिया
गैरोला, वाचस्पति . भारतीय चित्रकला
गोडे, पी० के० : स्टडीज् इन इण्डियन कल्चरल हिस्ट्री
गोपाल, लल्लन जी : द इकानामिक लाईफ आफ नार्दन इण्डिया, दिल्ली, १९६५
घुरये,, जी० सी० : कास्ट एण्ड रेस इन एन्शियण्ट इण्डिया
घुयाल : गढ़वाली लोकगीत
चकलदार, एस०सी० : सोसल लाइफ इन एन्शियण्ट इंडिया
: स्टडीज इन कामसूत्र, कलकत्ता, १९२९
चक्रवर्ती, पी० सी० : द आर्ट आफ वार इन एन्शिएण्ट इण्डिया ढाका, १९४१
चितराव, एस० : प्राचीन भारतीय स्थल कोश, पूना, १९६९
जार्ज गोड्डा : संस्कृत इन इण्डोनेशिया
जामखेडकर, ए. पी. : कुवलयमाला : ए कल्चरल स्टडी
जैन, गोकुलचन्द्र : यशस्तिलक का सास्कृतिक अध्ययन,
पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बाराणसी, १९६६
" " : सत्यशासन परीक्षा, काशी, १९६४
जैन, जगदीशचन्द्र : जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज, चौखम्बा, वाराणसी, १९६७
" " : प्राकृत साहित्य का इतिहास, वाराणसी
" " : लाइफ इन एन्शिएण्ट इण्डिया ऐज डिपिक्टेड इन जैन कैनन,
बम्बई, १९४७
जैन, ज्योतिप्रसाद : द जैन सोर्सेज आफ द हिस्ट्री आफ एन्शियण्ट इण्डिया, दिल्ली, १९६४
जैन, बालचन्द्र : जैनप्रतिमा विज्ञान, जबलपुर, १९७४
जैन, भागचन्द्र ' जैन डाक्टराइनस् इन बुद्धिस्ट लिटरेचर, १९७२
जैन, हीरालाल णायकुमारचरिउ, दिल्ली, १९७३
" " : भारतीय संस्कृति मे जैनधर्म का योगदान, भोपाल, १९६४
जोशी, उमेश : भारतीय संगीत का इतिहास
जोशी, रसिक बिहारी : श्री रासपंचाध्यायी : एक सास्कृतिक अध्ययन
ठाकुर, उपेन्द्र : द हूण इन इंडिया, चौखम्बा, वाराणसी, १९६४
डे, नन्दलाल : ज्योग्राफिकल डिक्शनरी आफ एन्शियण्ट एण्ड मिडिएवल इण्डिया
त्रिपाठी, छविनाथ चम्पू काव्य का आलोचनात्मक एव ऐतिहासिक अध्ययन
वाराणसी, १९५५
दत्त : टाउन प्लैनिंग इन एन्शियण्ट इण्डिया
दासगुप्ता, बी० सी० : जैन सिस्टम आफ एजुकेशन
द्विवेदी, रामचन्द्र : अलंकार मीमांसा, १९६५
" " : प्रिंसिपल आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत, १९६९
" " : कन्ट्रीब्यूसन आफ जैनिज्म टू इंडियन कल्चर, १९७५

द्विवेदी, हजारीप्रसाद : प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद,
" " : जायसी और पद्मावत
दीक्षित, एस० एन० : भरत और भारतीय नाट्यकला, राजकमल, दिल्ली १९७०
देसाई, एम० डी० : जैन साहित्यनो इतिहास बम्बई. १९३३
देशाई, पी० बी० : जैनिज्म इन साउथ इण्डिया एण्ड सम जैन एपिग्राफ्स
पर्सी ब्राउन : इण्डियन पेण्टिंगस्
पाठक, वी० एस० : शैव कल्ट इन नार्दन इण्डिया, वाराणसी, १९६०
पाण्डे, राजबलि : हिन्दू संस्कार, वाराणसी
पाण्डे, विमलचन्द्र : भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास,
हिन्दुस्तानी एकादमी, इलाहाबाद, १९६०
" " : प्राचीन भारत की साम्प्रामिकता, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
पी० के० गुणे स्मृतिग्रन्थ, पूना, १९६०
पार्जीटर : एन्शियण्ट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन्स
पुरी, बैजनाथ : द हिस्ट्री आफ द गुर्जर प्रतिहाराज, बम्बई, १९५७
" " : सुदूरपूर्व देशो में भारतीय संस्कृति, हिन्दी समिति लखनऊ
पुसालकर : भास—ए स्टडी
पेन्जर : द ओसन आफ स्टोरीज, लन्दन, १९३४ जिल्द ७
प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ
प्रेमी, नाथूराम : जैन साहित्य और इतिहास
फूसे : ल आर्त ग्रेकोबुधीक दु गंधार
बागची, पी० सी० : कौलज्ञान निर्णय
" " : स्टडीज इन द तन्त्राज
बाजपेयी, के० डी० . भारतीय व्यापार का इतिहास, प्रयाग' भारती प्रकाशन
बुद्धप्रकाश : आस्पेक्टस आफ इंडियन कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन
" : इण्डिया एण्ड द वर्ल्ड, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान, १९६४
" : त्रिवेणिका, त्रिवेणी प्रकाशन, प्रयाग
" . पोलिटिकल एण्ड सोशल मूभमेन्ट इन एन्शियण्ट पंजाब,
मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
" : स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन, आगरा
भण्डारकर, आर. जी. : अर्ली हिस्ट्री आफ द डेकन, कलकत्ता, १९२८
" " : प्राचीन भारतीय मुद्राशास्त्र
भटशाली : आइकोनोग्राफी आफ बुद्धिस्ट स्कल्पचर्स इन द ढाका म्युजियम,
भट्टाचार्य बी० सी० : द जैन आइकोनोग्राफी
भारिल्ल, ज्ञान : तरंगवती (हिन्दी सार), बीकानेर
मजूमदार आर०सी० : एन्शियण्ट इण्डिया, दिल्ली, १९६८
मार्शल : द बाघ केव्स

मालवीय, बद्रीनाथ : विष्णुधर्मोत्तरपुराण में मूर्तिकला, १९६०
मालकेसरा, बी०पी० : डिक्शनरी आफ पालि प्रापरनेम्स, भाग १
मिश्र, लालमणि : भारतीय संगीतवाद्यों का स्वरूपात्मक एवं प्रयोगात्मक विवेचन (थिसिस) प्रथम खण्ड, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
मेक्रिण्डिल : मेगस्थनीज एण्ड एरियन
मेनारिया, एस०एल० : राजस्थानी भाषा और साहित्य
मेहता, आर० एन० : प्री बुद्धिस्ट इण्डिया
मोती, एम० के० : इकानामिकल लाइफ आफ नार्दन इण्डिया इन द गुप्ता पीरियड, कलकत्ता, १९५७
मोनियर विलियम : संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी
मोतीचन्द्र : ज्योग्राफिकल एण्ड इकानामिकल स्टडी इन द महाभारत,
मोतीचन्द्र : जैन मिनिएचर पेंटिंग्ज इन वेस्टर्न इण्डिया, अहमदाबाद, १९४९
" : प्राचीन भारतीय वेशभूषा, प्रयाग
" : सार्थवाह, बिहार रा० भा० प०, पटना, १९५३
याजदानी : अजन्ता, भाग १
याजदानी गुलाम : अर्ली हिस्ट्री आफ डेकन, भाग १
राय, उदयनारायण : प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, हिन्दुस्थानी अकादमी इलाहाबाद, १९६५
रायकृष्णदास : भारत की चित्रकला
" . भारतीय मूर्तिकला
राय, सिद्धेश्वरीनारायण : पौराणिक धर्म एवं समाज, इलाहाबाद, १९६८
रिजस् डेविड्स : बुद्धिस्ट इण्डिया
रेजेन : टोलेमी ज्योग्राफी
रोलण्ड, वैंजामिन : 'द आर्ट एण्ड आर्टिटेक्चर आफ इंडिया; हिन्दू, बुद्धिस्ट एण्ड जैन'
ला बी० सी० : ज्योग्राफी आफ अर्ली बुद्धिज्म
" " : हिस्टोरिकल ज्योग्राफी आफ एन्शियण्ट इण्डिया
" " : ज्योग्राफिकल एसेज, भाग १, कलकत्ता, १९३८
: लिंग्विस्टि सर्वे आफ इण्डिया
बनर्जी, जे० एन० : द डवलपमेन्ट आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी,
बन्दोपाध्याय, एस.सी. : भारत कोश, भाग ३
वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ, सागर
वर्मा, गायत्री : कवि कालिदास के ग्रन्थों पर आधारित तत्कालीन भारतीय संस्कृति,
वाटरस : आन युवानच्वाग ट्रावल्स इन इण्डिया, भाग १, लन्दन, १९०४
विक्रमस्मृति-ग्रन्थ, उज्जैन
विद्यालंकार, अत्रिदेव : प्राचीन भारत के प्रसाधन, काशी
विन्टरनित्ज : हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, भाग २

विल्किन, डब्लू०जो० : हिन्दू माइथोलाजी
व्यास, सूर्यनारायण : विश्व कवि कालिदास—एक अध्ययन ज्ञानमण्डल प्रकाशन, इन्दौर
वे० राघवन : यन्त्राज् एण्ड मैकेनिकल कण्ट्राइवन्सेज इन एन्शिएण्ट इंडिया,
वेदालंकार, चन्द्रगुप्त : बृहत्तर भारत
वेल्स : द मेकिंग आफ ग्रेटर इण्डिया
शरण, अवधविहारी : मेगस्थनीज का भारत भ्रमण
शर्मा, ठाकुरप्रसाद : हुएनसांग का भारत भ्रमण
शर्मा, दशरथ : अर्ली चौहान डायनस्टीज,
" " : राजस्थान थ्रू द एजेज, गवर्नमेंट प्रेस, बीकानेर, १९६६
श्याम परमार : लोकधर्मी नाट्य परम्परा
शास्त्री, कैलाशचन्द्र : उपासकाध्ययन, काशी, १९६५
शास्त्री, एन० : डवलपमेन्ट आफ रिलीजन इन साउथ इण्डिया
शास्त्री, नेमिचन्द्र : आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९६६
" " : प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, तारा पब्लिकेशन, वाराणसी, १९६४
" " : हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन वैशाली, १९६६
शाह, यू० पी० : अकोटा ब्रोंजेज
" " : स्टडीज इन जैन आर्टस्, बनारस, १९५५
शिवराममूर्त्ति : अमरावती स्कल्पचर्स इन द मद्रास गवर्नमेन्ट म्युजियम, मद्रास, १९५६
शुक्ला, डी० एन० : वास्तुशास्त्र, लखनऊ
" " : भारतीय स्थापत्य, लखनऊ, १०६८
सत्येन्द्र : मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन, १९६०
सरकार, डी० सी० : सेलेक्टेड इन्सक्रिप्सन्स, कलकत्ता, १९४२
" " : स्टडीज इन द ज्योग्राफी आफ एन्शियण्ट एण्ड मिडिएवल इण्डिया, दिल्ली, १९६०
" " : इण्डियन एपिग्राफिकल ग्लोसरी, दिल्ली, १९६६
सांडेसरा : वर्णकसमुच्चय भाग १
सामर, देवीलाल : राजस्थानी लोकयनाट्य, उदयपुर
सालेतोर, आर०एन० : लाइफ इन गुप्ता एज,
स्मिथ, वि० ए० : द अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, १९५७
" " : द हिस्ट्री आफ फाइन आर्ट इन इंडिया एण्ड सीलोन
स्टेइन : जीनिस्टिक स्टडीज
हन्दिकी : यशस्तिलक एण्ड इंडियन कल्चर, जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर
हाफकिन्स, इ०डब्लू० : एपिक माइथोलाजी, स्ट्रासबर्ग, १९१५
हिन्दी विश्वकोश, खण्ड २

हिरीयण्णा, एम० : आउट लाइन्स आफ इण्डियन फिलासफी, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस लन्दन, १६६५
हीरर्थ, फाइडरिच : चीन एण्ड द रोमन ओरिएण्ट
हीरालाल : जैन शिलालेख संग्रह भाग १, माणिकचन्द जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
हेरिंगम : अजन्ता फ्रेस्कोज

(ग) शोध-पत्रिकाएँ एवं रिपोर्ताज :

अनेकान्त (द्विमासिक), वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली–६
इण्डियन कल्चर
इण्डियन एंटिक्वेरी, जिल्द ६२
इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, कलकत्ता, १९५७
इण्डो-ईरानियन जर्नल, द हग, १९५७, भाग १, न० ३, १६५३
ईस्ट एण्ड वेस्ट, रोम, १६७१
एनल्स आफ द भंडारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना, १६४० भाग २१, २८, ४८-४६ आदि
एनुअल रिपोर्ट आफ द डायरेक्टर जनरल आफ आर्किओलाजी आफ इण्डिया १००२-३
एन्शियण्ट इण्डिया
कल्याण, गीताप्रेम गोरखपुर, महाभारत अंक
द क्वार्टर्ली रिव्यू आफ हिस्टोरिकल स्टडीज, कलकत्ता भाग ५, अंक ४
जर्नल आफ ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, भाग ११, अंक ४
जर्नल आफ ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, पूना, १९६५
जर्नल आफ द गुजरात रिसर्च सोसायटी, अहमदाबाद, १६६०
जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, १६१५
जर्नल आफ द न्यूमेसमेटिक सोसायटी इन इंडिया, भाग १६
जर्नल आफ द बिहार एण्ड उडीसा रिसर्च सोसायटी १६२८
जर्नल आफ द युनिवर्सिटी आफ बाम्बे, जनवरी १६४०
जर्नल आफ द सोशल एण्ड एकानामिक हिस्ट्री आफ द ओरियण्ट, ई० जे० ब्रिल, लेडन हालैण्ड, १६७१
जैन जर्नल, कलकत्ता १९७०
जैन एण्टीक्वेरी, आरा
जैनदर्शन और संस्कृति परिषद् पत्रिका कलकत्ता, १६६६
जैन साहित्य संशोधक, पूना, १६२७
जैन सिद्धान्त भास्कर, आरा, १६५३
नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सं० २००५, अंक ३-४
पूना ओरियण्टलिस्ट, भाग ११, १६४६
पुराणम्, रामनगर काशी, १६६०

ब्रह्मविद्या, जुबली संस्करण, अड्यार लायब्रेरी, मद्रास, १९६१, महावीर जयन्ती अंक, १९७१
बुलेटिन आफ स्कूल आफ ओरियण्टल स्टडीज, लन्दन, भाग १३
बुलेटिन आफ द इन्स्टीट्यूट आफ ट्रेडीशनल कल्चरस् मद्रास, १९७०
बुलेटिन आफ मद्रास गवर्नमेन्ट म्युजियम, भाग १
ब्रजमाधुरी, वर्ष १३
भारतीयविद्या, बम्बई, १९४७
भारतीय साहित्य संसद पत्रिका, आरा १९६५
मरुभारती, पिलानी (राज०)
मागधम्,६९, संस्कृत विभाग, एच० डी० जैन कालेज आरा
युनिवर्सिटी आफ इलाहाबाद स्टडीज, १९५७
राजस्थान भारती, शा० रा० रि० इ०, बीकानेर, १९७० भाग १२
रिपोर्ट, ओरियण्टल कान्फ्रेंस नागपुर, १९४६, बनारस, १९६८
रिसर्चर (जयपुर), भाग १-२
विद्या, भाग १२, बम्बई
विश्वेश्वरानन्द इण्डोलाजीकल जर्नल, भाग ७, १९६९ एवं मार्च १९७१
स्वाध्याय, बड़ौदा, १९६३
सम्बोधि, त्रैमासिक, एल० डी० रिसर्च इन्स्टीट्यूट, अहमदाबाद
सम्मेलन पत्रिका, लोक संस्कृति एवं कला अंक, प्रयाग
सेण्ट्रल एशियाटिक जर्नल, भाग ३, १९५७
श्रमण, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, १९६५
द क्यू आफ हिस्टोरिकल क्वाटर्ली, कलकत्ता, १९६७
ललितकला, अप्रैल, ५९
हिन्दी साहित्य, जिल्द २, १९६२

शब्दानुक्रमणिका

इ

ई

उ

फ

म

ह